

DUE DATE SLIP

GOVT. COLLEGE, LIBRARY

KOTA (Raj.)

Students can retain library books only for two weeks at the most.

BORROWER'S No.	DUE DTATE	SIGNATURE




हिंदुस्तानी

हिंदुस्तानी एकेडेमी की तिमाही पत्रिका

जनवरी, १९३७

हिंदुस्तानी एकेडेमी

संयुक्तप्रान्त, इलाहाबाद



संपादक—रामचंद्र टंडन

संपादक-मंडल

- १—डाक्टर ताराचंद, एम्० ए०, डी० फ़िल्० (ऑक्सन)
- २—डाक्टर बेनीप्रसाद, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, डी० एस्-सी० (लंदन)
- ३—डाक्टर रामप्रसाद त्रिपाठी, एम्० ए०, डी० एस्-सी० (लंदन)
- ४—डाक्टर धीरेंद्र वर्मा, एम्० ए०, डी० लिट्० (पेरिस)
- ५—श्रीयुत रामचंद्र टंडन, एम्० ए०, एल्-एल्० बी०

लेख-सूची

- (१) मयुरा कला में ब्राह्मणधर्म-संबंधी देवताओं की मूर्तियाँ (सचित्र)—
लेखक, श्रीयुत वासुदेवशरण अग्रवाल, एम्० ए० ... १
- (२) वैष्णवधर्म का संप्रदाय का क्रमिक विकास—लेखक, श्रीयुत परशुराम
चतुर्वेदी, एम्० ए०, एल्-एल्० बी० ... ३३
- (३) सत्यवती-कथा—लेखक, ईश्वरदास कृत (स्वर्गीय रायबहादुर लाला
सीताराम के संग्रह से) ... ८३
- (४) हिंदी भारत की राष्ट्रभाषा है—लेखक, रावराजा रायबहादुर पंडित
श्यामबिहारी मिश्र और रायबहादुर पंडित शुकदेव बिहारी मिश्र १०१
- (५) स्वर्गीय लाला सीताराम ... १०७

हिंदुस्तानी

हिंदुस्तानी एकेडेमी की तिमाही पत्रिका

भाग ७ }

जनवरी, १९३७

{ अंक १

मथुरा कला में ब्राह्मणधर्म-संबंधी देवताओं की मूर्तियाँ

[लेखक—श्रीयुत वासुदेवशरण अग्रवाल, एम्० ए०]

भगवान् कृष्ण की जन्मभूमि मथुरा जिस प्रकार भारतवर्ष के धार्मिक और साहित्यिक इतिहास में अग्रणी है, उसी प्रकार भारतीय कला में भी उस का प्रमुख स्थान है। धर्म, साहित्य, और कला की रम्य त्रिवेणी ने इस पुण्यभूमि को कृतार्थ किया है। भागवत-धर्म की भक्ति-प्रधान सरिता का अमृत-स्रोत व्रज के महावनों में से निकल कर नित्य वर्धमान प्रवाह से देश के विपुल भाग को तृप्त करता रहा है। व्रज के भक्तिमय साहित्य का विस्तार भी अपनी शाखा-प्रशाखाओं द्वारा बहुव्यापी हुआ है। धर्म और साहित्य के समान मथुरा की कला ने भी भारतवर्ष की कला पर अपना गहरा प्रभाव डाला है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि मथुरा के शिल्पी लगभग बारह सौ वर्षों तक भास्कर शिल्प और स्थापत्य की एक से एक विचित्र सृष्टि करते रहे। उन के वेदिका-स्तंभों पर उत्कीर्ण स्त्रियों की मूर्ति या शालभंजिकाओं के सौंदर्य की तुलना में रखने के लिए हमारे पास अन्य कुछ नहीं है। वामनीभूत कुब्जकों के बाहनों पर चापभुगगात्रों से आसीन युवतियों की सुभग मूर्तियाँ मथुरा की शिल्प-संपत्ति का अद्भुत उदाहरण मानी जाती हैं। नाना भाँति के

ब्रह्मा

वैदिक साहित्य और पुराणों में ब्रह्मा का प्रजापति-रूप से विशद वर्णन पाया जाता है। ब्रह्मा की एक संज्ञा हिरण्यगर्भ है। हिरण्य-नामक ब्रह्मांड जिन के गर्भ में था वे प्रजापति हिरण्यगर्भ हैं। प्रजापति-रूप में मत्स्य, कूर्म, वराह, अवतार भी ब्रह्मा ने धारण किए। ब्रह्मा को चतुरानन भी कहा जाता है। चार वेदों के प्रवक्ता होने के कारण ब्रह्मा चतुर्मुख हैं। ब्रह्मा का संबंध वेदविद्या और यज्ञविद्या से था अतएव उन के हाथों में वेद, कुशा, सुवा, सुक्, कमंडलु, अक्षमाला आदि चिन्हों की कल्पना की गई थी, जिन का विशेष संबंध स्वाध्याय और कर्मकांड के साथ हो सकता है। दुर्भाग्य से ब्रह्मा की उपासना का अधिक प्रचार नहीं हुआ। कहा जाता है कि शिव के रूप की इयत्ता को नापने के लिए ब्रह्मा और विष्णु दोनों ने प्रयत्न किया। विष्णु ने शिव की अनंतता को पहचान कर 'नेति, नेति' द्वारा उन के सामने श्रद्धाजलि अर्पित की, परंतु ब्रह्मा जी ने उन को ज्ञानगम्य मान कर यह कहा कि हम ने शिव के अंत को जान लिया। इस असत्य एवं दर्पोक्ति के कारण ब्रह्मा को उपास्य देवों की पंक्ति में से पृथक् कर दिया गया। इसी कारण ब्रह्मा के मंदिरों का अभाव है। यह कथा एक दार्शनिक सत्य को अर्थात् 'ईश्वर अनंत है' बताने के लिए तो उपयोगी हो सकती है परंतु ब्रह्मा की श्रद्धा या आदर इस से कम नहीं हो सकता। किसी समय ब्रह्मा की पूजा का भी यथेष्ट प्रचार था। पुराणों की कथाओं के विकास के साथ ब्रह्मा के भी बहुत से कार्यों का अंतर्भाव विष्णु के रूप में कर लिया गया। दूसरे काव्यात्मक वर्णनों के लिए ब्रह्मा का चरित्र उतना उपयुक्त नहीं मालूम हुआ जितना शिव और विष्णु का। इसलिए भी ब्रह्मा का स्थान और चर्चा गौण पड़ गई।

मथुरा-संग्रहालय में ब्रह्मा की दो मूर्तियाँ कुपाण-काल की हैं। चित्र संख्या १ में चतुर्मुखी ब्रह्मा की बहुत ही अद्भुत मूर्ति है। भारतवर्ष की कला में यह ब्रह्मा की सबसे पुरानी मूर्ति कही जा सकती है। ब्रह्मा के तीन मुख तो एक रेखा में हैं अर्थात् मध्य शिर के दाएँ-वाएँ दो सिर और दिखाए गए हैं। चौथा मुख बीच वाले सिर के पीछे मनुष्य की पूर्वकाय-मूर्ति (वस्ट) के रूप में बनाया गया है। इसमें बौद्ध मूर्तियों की तरह अभयमुद्रा और छाया-मंडल भी दिखाए गए हैं।

इस मूर्ति के पृष्ठभाग पर एक अशोक-वृक्ष अंकित है (चित्र संख्या २)। इस अशोक वृक्ष का ब्रह्मा जी के साथ क्या अर्थ लगाया जाय, इस विषय पर विद्वानों का बहुत मतभेद है। मथुरा-संग्रहालय में एक बहुमुखी नागी की मूर्ति है जिसे पंचात्मिका शक्ति भी कहते हैं। (एफ० २) इस नागराज्ञी के पृष्ठभाग में भी एक अशोक वृक्ष है। प्रस्तुत ब्रह्माजी से रचना में बिल्कुल मिलती-जुलती इंद्र की एक मूर्ति है। वह लगभग इसी समय की है, इतनी ही बड़ी है और इसी रंग के सफ़ेद पत्थर की है (मथुरा म्यूजियम, ३९२)। उस के पृष्ठभाग पर भी अशोकवृक्ष बना हुआ है। हमारी सम्मति में इस प्रकार के वृक्ष का जो अर्थ इंद्र और नागराज्ञी मूर्तियों में है वही ब्रह्मा की मूर्ति में भी लगाना चाहिए। इन देवों को वृक्षादि देवता नहीं कह सकते और न किसी विशेष वृक्ष के साथ इन का संबंध साहित्य में ही प्राप्त होता है। ऐसी दशा में वृक्षों को केवल सजावट के लिए बनाया हुआ मान सकते हैं। अशोकवृक्ष कुषाण-काल की कला में सब से अधिक प्रिय और व्यापक पेड़ था। केवल शोभा-व्यंजना के लिए भी उस का उपयोग होता था। अशोक के नीचे खड़ी हुई तरुण स्त्रियाँ, अशोक-दोहद के दृश्य अथवा अशोक-पुष्प की कीड़ाओं में प्रसक्त युवतियों के चित्रण मथुरा कला में बहुतायत से पाए जाते हैं। उन्हीं की शैली पर इन देव-मूर्तियों में भी अशोक का चित्रण शोभार्थ ही समझना चाहिए। मथुरा के संग्रहालय में ब्रह्मा जी की एक दूसरी मूर्ति है जो इस से छोटी और मँजोटी पत्थर की बनी हुई है। उस में भी सिरों की रचना की युक्ति इसी प्रकार की है (चित्र-संख्या ३)।

मध्यकाल की बनी हुई एक बहुत ही सुंदर ब्रह्मा जी की मूर्ति महावन से मिली थी (डी २२) इस में चतुर्भुजी ब्रह्मा जी सावित्री के साथ पद्मासन पर बैठे हुए हैं—

पद्मपत्रासनस्थश्च ब्रह्मा कार्यश्चतुर्मुखः।

सावित्री तस्य कर्तव्या वामोत्संगता तथा ॥

(आदित्यपुराण)

अर्थात् कमलासन पर चतुर्मुखी ब्रह्मा और उन के बाएँ अंग में सावित्री को बनाना चाहिए। ब्रह्मा का दाहिना पैर और सावित्री का बायाँ पैर दो हंसों की पीठ पर रक्खा हुआ है। ब्रह्मा जी के हाथों में सुवा, पद्म, और वेद हैं। सावित्री दर्पण लिए हुए हैं। मूर्ति के दाहिने-बाएँ कोनों में दो विद्याधर-युगल हैं। यह सुंदर मूर्ति लगभग सातवीं आठवीं शताब्दी की होनी चाहिए। सावित्री के साथ ब्रह्मा जी की मूर्तियाँ बहुत कम मिलती हैं, इस लिए भी

यह प्रतिमा महत्वपूर्ण है। शुद्ध कला की दृष्टि से भी यह प्रतिमा शांतभाव की अभिव्यक्ति और रचना-सौष्ठव के लिए बहुत सराहनीय है (चित्र ४)।

विष्णु

देवों में विष्णु का स्थान बहुत ऊँचा है। ऋग्वेद में भी विष्णु के पराक्रमों के अनेक आलंकारिक वर्णन हैं। सूर्य की भी विष्णु संज्ञा पाई जाती है। अनेक प्रकार से विष्णु के रूपों का विस्तार पाया जाता है। कालिदास ने विष्णु की स्तुति में कहा है—

नमो विश्वसृजे पूर्वं विश्वं तदनुविभ्रते।

अथ विश्वस्य संहर्त्रे तुभ्यं त्रेधास्थितात्मने ॥

(रघुवंश, १०।१६)

अर्थात् सर्व-प्रथम तुम विश्व का सृजन करते हो, उस के पश्चात् उस का भरण करते हो और अंत में तुम्हीं विश्व का संहार करते हो। इस प्रकार तुम्हारे त्रेधा-स्थित स्वरूप को प्रणाम है। इस से ज्ञात होता है कि त्रिदेवों का समन्वय कभी विष्णु में देखा जाता था और कभी शिव में। शिव और विष्णु पृथक् देव होते हुए भी अभिन्न रूप हैं। इस प्रकार का सहिष्णु धार्मिक भाव कुपाण-काल और गुप्त-काल की विशेषता थी।

भारतवर्ष में विष्णु की पूजा के पुरातत्त्वगत प्रमाण द्वितीय शताब्दी ईस्वी पूर्व से मिलते हैं। यवन राजदूत हीलोजोडोरस का गरुड्वज प्रसिद्ध ही है। चित्तौरगढ़ के पास की नगरी स्थान में संकर्षण और वासुदेव के प्रासादों का वर्णन करने वाले शिलालेख मिले हैं। स्वयं मयुरा में महाक्षत्रप सुदास के समय (लगभग प्रथम शताब्दी ईस्वी पूर्व) का एक तोरण मिला है जिस के लेख में भगवान् वासुदेव के प्रासाद के चतुःशाल तोरण का वर्णन है। परंतु विष्णु की सब से पहली विग्रहमूर्ति मयुरा-कला में कुपाण-काल में पाई जाती है। विष्णु की सब से पुरानी मूर्ति बोधिसत्व-मूर्तियों का रूपांतर है। मुकुट आभरणधारी बोधिसत्व-मूर्तियों में दो हाथ होते हैं। उन्हीं को चतुर्भुजी बनाने से विष्णु-मूर्ति की कल्पना की गई थी (चित्र सं० ५)। विष्णु के दाहिने हाथ में स्थूल गदा और बाएँ में चक्र है। निचला दाहिना हाथ बोधिसत्व की भाँति अभयमुद्रा में है और बायाँ हाथ शंख के सदृश कुछ लिए हुए है। कुपाण-कालीन बोधिसत्व की तरह ही इस में आभूषण और वस्त्र हैं।

चित्र सं० ६ का शिलापट्ट भी कुपाण-कालीन है (ईस्वी द्वितीय शताब्दी)। इस पर नवजात कृष्ण को ऊपर उठाए हुए वसुदेव के यमुना पार करने का दृश्य है (मथुरा म्यूजियम, १३४४)। कछवे, मछली, मगर आदि जल-जंतु स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं। यमुना की लहरें भी बनाई गई हैं। सामने हाथ जोड़े पर नाग की मूर्ति है। कृष्ण की जीवन-लीला के साथ संबंध रखने वाली कुपाण-काल की यह अकेली मूर्ति है, और भारतवर्ष में अपने ढंग की सबसे प्राचीन मूर्ति है। इसके बाद पहाड़पुर (बंगाल) के मंदिर में से ही गुप्त-काल की कृष्णलीला-संबंधी मूर्तियाँ मिली हैं।

चित्र सं० ७ में मिट्टी का एक छोटा खिलौना है, जिस में गुप्त-समय की विष्णु की चतुर्भुजी मूर्ति दिखाई गई है। विष्णु के केश घुंघराले हैं, और वे जाँघियेदार धोती पहने हुए हैं। दाहिनी ओर चक्र और बाईं ओर गदा-रूप आयुध हैं। यह मूर्ति अन्यत्र अप्रकाशित है। परमभागवत गुप्त-सम्राट् श्री चंद्रगुप्त विक्रमादित्य ने हमारे अनुमान से मथुरा की कटरा केशवदेवभूमि पर एक विष्णुमंदिर का निर्माण कराया था।^१ उन्हीं के समय में मथुरा नगरी में विष्णुपूजा का अतिशय प्राधान्य हुआ प्रतीत होता है, जब कि वन्चों के सामान्य खिलौनों के रूप में विष्णु की इतनी सुंदर मूर्तियाँ बाजारों में विकती थीं।

परंतु गुप्त-काल की एक सर्वोत्तम और भव्य विष्णु की मूर्ति भी मथुरा के संग्रहालय में है (ई० ६) (चित्र ८)। चतुर्भुजी विष्णु, किरीट, मुकुट, हारावली, मुक्ताकलाप, कुंडल, अंगद, वैजयंती, यज्ञोपवीत, मेखला, नेत्र-सूत्र आदि से अत्यंत सुभग जान पड़ते हैं।

अंतर्मुखी ध्यान में लीन भाव-मुद्रा गुप्त-काल की विशेषता है। मानों कलाकार ने समाधिगृहीत शक्ति के भंडार को विष्णु की मुक्ताकृति द्वारा व्यक्त किया है। गात्रों का घन सन्निवेश भी ऊर्जित शक्ति का सूचक है। पर इस के साथ एक अलभ्य शांति और स्थिरता है जो आत्मानुभव से ही जाति या व्यक्ति में उत्पन्न होती है। गुप्त-काल की महाप्रजाओं ने आत्मोद्धार के लिए जिन दिव्याभरण-भूषित, व्यूढोरस्क, भुजंगेन्द्रबाहु आदि पुरुष का आवाहन विष्णु के रूप में किया था उन का आभास बहुत अंश में कलाकार ने इस सुंदर प्रतिमा द्वारा व्यक्त किया है।

^१काशी के 'गीताघर्म' में प्रकाशित 'कृष्णजन्मभूमि' शीर्षक हमारा लेख देखिए।

इस प्रतिमा से मिलती-जुलती एक दूसरी विष्णुमूर्ति (मथुरा म्यूजियम, २५२५) अभी हाल में प्राप्त हुई है (चित्र ९)। कला की उत्कृष्टता में यह पहली मूर्ति से उन्नीस है, परंतु मूर्तिशास्त्र के लिए इस का महत्व बहुत अधिक है। यह नृसिंह-वराह-विष्णु मूर्ति है अर्थात् वे विष्णु जिन्होंने प्रलयमग्ना पृथिवी का वराह-रूप से उद्धार किया और असुरों के उपप्लवों से त्रस्त भक्तों की रक्षा के लिए नृसिंह रूप से दुष्टों का विदारण किया। 'शकमुहंड शाहानुशाहि' और हूणों से पादाक्रांत पृथिवी का उद्धार करने वाले परम-भागवत महीपतियों ने नृसिंह-वराह-विष्णु की पूजा को पसंद किया हो तो आश्चर्य नहीं। इस प्रकार की और भी कई मूर्तियाँ मथुरा के संग्रहालय में मौजूद हैं।

चित्र सं० १० में मिट्टी के चीखटे में नृसिंह-वराह-विष्णु की बैठी हुई मूर्ति है। इस में बाएँ कंधे पर वराह का मुख है, दाहिने कंधे पर का नृसिंह मुख टूट गया है। विष्णु वैजयंती पहने हुए हैं। उन के दाहिनी ओर एक पुरुष और बाईं ओर एक स्त्री की मूर्ति है जिन को विष्णु हाथों से छू रहे हैं। ये चक्र और गदा के उपलक्षण आयुध-पुरुष हैं। मनुष्य के विग्रह में आयुधों का चित्रण गुप्त-काल में पहली बार पाया जाता है। महा-कवि कालिदास ने कौशल्यादि रानियों के स्वप्नों का वर्णन करते हुए लिखा है—

गुप्तं ददृशुरात्मानं सर्वाः स्वप्नेषु वामनैः ।

जलजासिगदाशार्ङ्गचक्रलाञ्छितमूर्तिभिः ॥

(रघुवंश, १०।६०)

अर्थात् स्वप्न में उन्होंने ने अपने आप को वामन पुरुषों द्वारा जिन के ऊपर चक्र, गदा, पद्म, खड्ग और धनुष के चिह्न थे रक्षित देखा। इस का तात्पर्य यही है कि विष्णु के आयुध-पुरुषों से अपने आप को (अपने अंदर गृहीत वैष्णव-तेज को) गुप्त देखा। वामनीभूत आयुध-पुरुषों की कल्पना इस मूर्ति में स्पष्ट देख पड़ती है। घरों को सजाने के लिए इस प्रकार के चीखटे गुप्त-काल में बहुत प्रयुक्त होते थे।

लगभग छठी शताब्दी की एक मूर्ति गोवर्धनधारी कृष्ण की है (चित्र ११)। ऊपर वसु-देव के यमुना पार जाने के जिस शिलापट्ट का वर्णन हुआ है, उस के बाद यही मूर्ति मथुरा में ऐसी मिली है जिस का गोपाल-कृष्ण की लीलाओं के साथ संबंध कहा जा सकता है। कृष्ण की तो इस को मथुरा कला में सर्व प्रथम मूर्ति ही कहना चाहिए। यह मूर्ति मथुरा शहर के गतश्रम नारायण-मंदिर के पास से मिली थी। मालूम पड़ता है वहाँ विश्रांत-

घाट के समीप गुप्तोत्तरकाल में विष्णु का एक मंदिर था। यह मूर्ति उतरती हुई गुप्त-कला का अच्छा उदाहरण है।

त्रिविक्रम विष्णु

विष्णु के दशावतारों में से केवल त्रिविक्रम विष्णु की मूर्ति मथुरा की कला में प्राप्त हुई है (चित्र १२)। यह गुप्त-काल की मूर्ति है जो उसी समय के विष्णु-मंदिर में जो कटरा केशवदेव की भूमि पर गुप्त-सम्राटों ने बनवाया था लगी थी। इस मूर्ति में विराट् रूपधारी विष्णु बाएँ पैर को बढ़ा कर द्युलोक को नाप रहे हैं। पैर के पास एक असुर का सिर है। ऊपर ऋक्षराज जांबवंत हर्ष से भगवान् की स्तुति कर रहे हैं। नीचे एक स्त्री विष्णु की वंदना कर रही है। विष्णु के त्रेधा-विचक्रमण की कथा वेदों और पुराणों में प्रसिद्ध है। उस की कलात्मक अभिव्यक्ति सर्वप्रथम गुप्त-काल में ही देखी जाती है, और वह भी मथुरा में।

बलदेव या बलराम

मथुरा जिले के बाजना गाँव से मिली हुई बलराम की एक चतुर्भुजी मूर्ति लगभग चौथी शताब्दी की है (चित्र १३)। बलराम की मूर्तियों का विकास कुपाण-कालीन नागमूर्तियों से हुआ है। नागों की भाँति ही बलराम दाहिना हाथ सिर से ऊपर नृत्यमुद्रा में उठाए हुए हैं और बाएँ हाथ में बाण-पात्र लिए हैं। ऊपर फनों का घटाटोप है।

इस से भी प्राचीन बलराम की एक बड़ी मूर्ति जो मथुरा-गोवर्धन सड़क पर जुनसुटी गाँव से रायवहादुर पंडित राधाकृष्ण को मिली थी, इस समय लखनऊ के अजायबघर में है।

शिव

महाकवि कालिदास के ग्रंथ शिव के वर्णनों से भरे पड़े हैं। उन के युग में शिव की पूजा अनेक रूपों में प्रचलित मालूम होती है। उन से भी पहले कुपाण-वंशी सम्राटों के सिक्कों पर नन्दीवृष के साथ खड़े हुए शिव की मूर्तियाँ पाई जाती हैं। महाराजाधिराज वेम कंडफाडसिज द्वितीय ने अपने आप को 'सर्वलोकेश्वर सत्यवर्मस्थित परममाहेश्वर' के

विरुद्धों से अलंकित किया था। इसी सम्राट् के एक सिक्के पर पंचमुखी शिव की मूर्ति भी पाई गई है। कुपाण-काल और गुप्त-काल में शिव-पूजा की ओर लोगों की रुचि बहुत बढ़ी। शैवधर्म के इतिहास में मथुरा का भी बहुत महत्व है जैसा कि चंद्रगुप्त द्वितीय के नए स्तंभ-लेख से विदित होता है, जिस में शैवाचार्यों द्वारा दो शिवलिंगों की स्थापना का उल्लेख है। डाक्टर भंडारकर ने इस लेख का ऐतिहासिक निरूपण करते हुए सिद्ध किया है कि लगभग प्रथम शताब्दी ईस्वी में मथुरा में लकुलीश शैवाचार्यों का केंद्र हो गया था। पुरातत्व-शास्त्र के अनुसार दक्षिण में गुडीमल्लम् स्थान का शिवलिंग सब से प्राचीन माना जाता है (डाक्टर कुमारस्वामी के मत से ईस्वी पूर्व द्वितीय शताब्दी के लगभग)। श्री राखालदास वनर्जी उसे कुछ नया मानते थे। यहाँ हम जिस शिवलिंग का वर्णन करते हैं वह ईस्वी प्रथम शताब्दी के लगभग कुपाण-काल का है। इस में कोट पाजामा पहने उदीच्यवेपधारी दो कुपाण-जाति के भक्त शिवलिंग की पूजा कर रहे हैं (चित्र १४) एक के हाथ में माला है और दूसरे के पास कमल के फूलों का गुच्छा है। बाईं ओर सुंदर अंगूरी वेल है जिस पर मयूर बैठा हुआ है। ऊपर एक देवता पुष्पवृष्टि करता हुआ दिखाया गया है। इस मूर्ति का ढंग कुपाण-कालीन बौद्ध-मूर्तियों से मिलता हुआ है। इस के दो शताब्दी बाद का एक अत्यंत विचित्र शिवलिंग मथुरा में रायवहादुर राधाकृष्ण को प्राप्त हुआ जो उन्होंने विदेश में भेज दिया था। पर उस का वर्तमान ठिकाना ज्ञात नहीं है। यह शिवलिंग गुडीमल्लम् के शिवलिंग से मिलता हुआ है, अर्थात् इस में भी लिंग के आश्रित शिव की पुरुष-विग्रह मूर्ति भी बनाई गई है। शिव चतुर्भुजी हैं। उन की चेष्टा ऊर्ध्वरेत दिखाई गई है। शिव के पैरों के पास गणों की मूर्तियाँ हैं (चित्र १५)। मूर्तिशास्त्र की दृष्टि से यह मूर्ति बहुत ही विलक्षण महत्व रखती है, क्योंकि इस में शिव के दोनों स्वरूपों (लिंग-रूप और पुरुषविग्रह-रूप) का समन्वय है।

जान पड़ता है कि लिंग-रूप के अतिरिक्त शिव के साक्षात् दर्शन की कल्पना गुप्त-काल में बहुत लोकप्रिय थी। मथुरा में एकमुखी शिवलिंग की छोटी-बड़ी अनेक मूर्तियाँ पाई गई हैं। गुप्तकालीन इन शिवमूर्तियों का सौंदर्य बहुत ही आकर्षक है। भूम्ना और खोह स्थानों के शिवलिंग अपनी सुंदरता के लिए प्रसिद्ध ही हैं। उसी शैली का एक शिवलिंग चित्र सं० १६ में दिखाया गया है। चित्र सं० १७ में पंचमुखी शिवलिंग का एक उदाहरण है (मथुरा म्यूजियम, ५१६)। इस मूर्ति में जो शिव के पाँच मुख थे उन के नाम क्रमशः ये

हैं—ईशान, तत्पुरुष, अघोर, वामदेव, सद्योजात। पूर्वदिशा की ओर रहने वाला ऊपर स्थित ईशान-नामक मुख इस में टूट गया है। योग की परिभाषा में पंचप्राणों द्वारा जो भाव व्यक्त किया जाता है, उसी को पौराणिक भाषा में शिव के पंचमुखी रूप द्वारा प्रगट करते हैं। वस्तुतः शिव योगविद्या के आचार्य हैं। शिव के योगीश्वर-रूप का चित्रण कालिदास ने अपने 'कुमारसंभव' नामक काव्य में किया है।

मथुरा में शिव-पार्वती की एक अद्भुत मूर्ति मिली है। इस में नंदीवृष के सहारे शिव-पार्वती आलिंगन मुद्रा में खड़े हैं। शिव जी के दो हाथ हैं। शिव ऊर्ध्वमेढ्र मुद्रा में हैं। उन के बाएँ हाथ में उत्पल-कलिका है, जो विवाह के उपरान्त पार्वती के साथ विहार करने की सूचक है (चित्र १८)। इस मूर्ति में पृष्ठभाग की ओर भी ठीक सामने की तरह ही शिव-पार्वती और नंदी का दर्शन है। यह मूर्ति गुप्त-कालीन कला का सुंदर उदाहरण है।

शिव-लीला

शिव की अनेक लीलाओं में से अभी तक केवल एक का उदाहरण मथुरा में उपलब्ध हुआ है (मथुरा म्यूजियम, २५७७)। इस में जब शिव-पार्वती कैलाश पर बैठे हुए हैं, उस समय रावण के कैलाश को उठाने का दृश्य है (चित्र १९)। यद्यपि अन्यत्र भी इस कथा का चित्रण मिला है, परंतु मथुरा का उदाहरण सब से प्राचीन ज्ञात होता है। दानवाकृति रावण ने अपनी पूरी शक्ति से कैलाश को उठा लिया है। शिव-पार्वती तथा कैलाश सब अपने स्थान से चलित हो गए हैं। कैलाश की संघियाँ शिथिल हो गई हैं। कालिदास ने 'मेघदूत' में इसी घटना का बड़ा सुंदर वर्णन करते हुए कहा है—

दशमुखभुजोच्छ्वासितप्रस्थसन्धेः।

कैलाशस्य

(मेघदूत, १।५८)

शिव जी अपने आप को समाहित कर के रावण के भुजदंड को अपने पैर से दबा रहे हैं जिसके कारण रावण मानों तिलमिला गया है—

यदरोदीत् तस्माद्रावणः।

स्वामी कार्तिकेय

गुप्त-काल में शिव के पुत्र सेनानी स्वामी कार्तिकेय या स्कंद की भी पूजा बहुत प्रचलित है। कार्तिकेय ने जिस प्रकार देव-सेनाओं का सेनापतित्व ग्रहण करके देवों को असुरों पर विजयी बनाया था, वैसे ही परमभट्टारक महाराजाधिराज स्कंदगुप्त ने गुप्त चतु-रंगिणी का सेनापत्य ग्रहण करके देश को हूणों के पंजे से छुड़ाया था। इस समता के कारण राष्ट्र के तत्कालीन साहित्य में स्कंद की कथा का मानो नवावतार हुआ और कवियों ने कुमार के जन्म की काव्य-रूप में जनता के समक्ष रक्खा। मथुरा में स्वामी कार्तिकेय की कई प्रतिमाएँ मिली हैं। उन सब में श्रेष्ठ मूर्ति चित्र सं० २० में दिखाई गई है। पंख फैलाए हुए मोर पर अधिष्ठित स्वामी कार्तिकेय को दाहिनी ओर चतुर्मुखी ब्रह्मा और बाईं ओर शिव आवर्जित जल-कुंभों से स्नान करा रहे हैं। इस प्रकार देवों की सेना के सेनानी पद पर स्कंद का अभिषेक दिखाया गया है। यह मूर्ति गुप्तकालीन क्षात्रधर्म के उदात्त भावों को सुंदरता से प्रगट करती है।

गणपति

चित्र सं० २१ में गुप्तकालीन गणपति की एक मूर्ति है जो नागेंद्रयज्ञोपवीत पहने हुए है। यह मूर्ति अत्यंत विशाल है और मथुरा के गेरुए पत्थर की है। यह अभी तक म्यूजियम के लिए प्राप्त नहीं हो सकी है और पास की एक बगीची में प्रतिष्ठित है।

अन्य देवता : सूर्य

चार घोड़ों के रथ में सवार सूर्य की सब से पहली भारतीय मूर्ति बोधगया की शृंग-कालीन चहारदीवारी के एक खंभे पर पाई गई है। पर वह शुद्ध भारतीय वेप में धोती पहने हुए है। मथुरा में शक राजाओं के आगमन से सूर्य की पूजा का नए रूप में प्रचार हुआ। यहाँ सूर्य की नए ढंग की अर्थात् उदीच्यवेपधारी मूर्तियाँ बनने लगीं। उस का एक उदाहरण चित्र सं० २२ में है। इस में कुपाण-सम्राट् की तरह सूर्य कोट, पाजामा, बूट पहने हुए हैं। वाएँ हाथ में पेट्टी में खोंसी हुई कटारी है और दाहिने हाथ में फूलों का गुच्छा है। सूर्य दो घोड़ों के रथ पर बैठे हुए हैं। यह सूर्य की मूर्ति ठेठ विदेशी वेपभूषा में है। इस के कोट पर सामने की ओर कुछ जड़ाऊ काम है। इस मूर्ति को देख कर पहले

कुषाण राजा का भ्रम होता है। कालांतर में इसी मूर्ति से अन्य प्रकार के सूर्यों का क्रमशः विकास हुआ। बाद को सूर्य के घोड़ों की संख्या चार हुई (चित्र २३) और फिर सात। इस दूसरी मूर्ति में सूर्य का गोला भी रथ के पीछे दिखाया गया है। शेष ढंग पहले जैसा ही है। इस में दूसरी मार्क की बात यह है कि सूर्य के कंधों पर छोटे-छोटे दो पंख हैं जैसे गरुड जी की मूर्तियों में रहते हैं। ठीक है सूर्य की भी एक संज्ञा गरुड या गरुड है। वर्तमान अजायबघर की भूमि में एक सप्तसमुद्री नामक बड़ा कूप है उसी में से यह मूर्ति निकली थी।

पिंगल

‘मत्स्यपुराण’ (अ० २६१) में लिखा है कि सूर्य के दो पार्श्वचर हैं—दंड और पिंगल। ‘भविष्यपुराण’ में लिखा है कि मनुष्यों के भले-बुरे कर्मों का लेखा रखने के लिए अग्नि, पिंगल के रूप में सूर्य के पार्श्वचर बन कर रहते हैं (अ० १२४, १३०)। मथुरा कला में पिंगल की कई मूर्तियाँ सूर्य के साथ मिली हैं। परंतु एक बड़ी महत्वपूर्ण मूर्ति पृथक् भी प्राप्त हुई है। यह गुप्त-कालीन मूर्ति पारसीक वेष में है। इस के सिर पर कुलह टोपी है। पीछे छाया-मंडल है। दाहिने हाथ में लेखनी और बाएँ में दावात है। पिंगल का उदर कुछ निकला हुआ भारी बनाते हैं। यह मूर्ति अपने ढंग की विलकुल निराली और सर्व-प्राचीन है (चित्र २४)।

अग्नि

भारतीय कला में अग्नि की मूर्तियाँ बहुत ही कम हैं। अग्नि वैदिक काल का प्रमुख देव था, पर पौराणिक धर्म में उस का माहात्म्य घट गया। देवों में अग्नि ब्राह्मण है। ब्रह्मा के समान वह तुंदिल और श्मश्रुल बनाया जाता है (चित्र २५)। अग्नि के कंधों से ज्वालाएँ निकल रही हैं। दाहिनी ओर अग्नि का मेपाकृति वाहन है। यह मूर्ति गुप्त-काल के कुछ बाद की है।

नवग्रह

ब्राह्मणधर्म के मंदिरों की सजावट के लिए गुप्त-काल में नवग्रहों की मूर्तियों का भी प्रचार हो गया था। कामवन से मिली हुई एक अत्यंत भव्य मूर्ति का चित्र यहाँ दिया जाता

है, (चित्र २६), यद्यपि यह मूर्ति पंडित राधाकृष्ण जी द्वारा कहीं विदेश में भेज दी गई थी। इस में सर्वप्रथम दो पद्म दोनों हाथों में लिए हुए सूर्य पारसीक कोट पहने खड़े हैं। उन के बाद छः मूर्तियाँ जटाजूट बाँधे क्रमशः चंद्र, मंगल, बुध, वृहस्पति, शुक्र, और शनि की हैं। आठवीं मूर्ति तर्पण-मुद्रा में राहु की है। संभवतः इसी में पुच्छाकृति केतु की मूर्ति भी जुड़ी हुई थी। नवग्रहों से चित्रित यह शिलापट्ट मथुरा की गुप्तकालीन कला का अत्यंत उत्कृष्ट उदाहरण है। विदित होता है कि नवग्रहों की स्वतंत्र मूर्तियाँ भी बनती थीं। गुप्तोत्तर कालीन राहु की एक अच्छी मूर्ति शांतनुकुंड के मंदिर में है। दो पार्श्वचरों के बीच में तर्पणमुद्रा में मुस्कराते हुए राहु दिखाए गए हैं (चित्र २७)। ये दोनों मूर्तियाँ अप्रकाशित हैं।

कामदेव

योगी शिव और ध्यानी बुद्ध की मूर्तियों के साथ ही कलाविदों ने कामदेव की मूर्तियों का भी निर्माण किया। मथुरा में कुपाण-काल की कई मूर्तियों में भगवान् कुसुमायुध का चित्रण पाया गया है। अपना इक्षुकोदंड और पंचवाण लिए हुए वसंत की पुष्पश्री के मध्य में विराजमान कामदेव की एक सुंदर मिट्टी की मूर्ति मिली है (चित्र २८)। कामदेव को 'ब्रह्मवैवर्तपुराण' में योषिद्वाहन और 'शश्वद्युनिकृताधार' (कृष्ण-जन्मखंड, अ० ३१) कहा गया है। अर्थात् युवतिजन और युवा पुरुष, ये ही काम के वाहन हैं। प्रस्तुत मूर्ति में कामदेव युवा पुरुष के ऊपर खड़े हुए दिखाए गए हैं।

देवी-मूर्तियाँ

देवताओं के साथ देवियों की मूर्तियों की कल्पना भी भक्तिधर्म का लक्षण है। मथुरा कला में प्रवान-प्रवान देवियों की मूर्तियों का भी आदिम रूप पाया जाता है। यहाँ हम केवल छः मूर्तियों का वर्णन करेंगे।

चित्र सं० २९ में कुपाणकालीन शिलापट्ट है, जिस पर सात स्त्रियाँ मालाएँ लिए हुए खड़ी हैं, और दाहिनी ओर एक पुरुष है। ये सात स्त्रियाँ सप्तमातृकाएँ हैं, जो बहुत सादा वेप में एक-सी दिखाई गई हैं। इन के दोनों ओर दो आयुध-पुरुष थे जिन में से अब केवल एक शेष है। कला की दृष्टि से यह मूर्ति श्रेष्ठ नहीं है, पर सप्तमातृकाओं की यह निस्संदेह सब से पहली कल्पना को प्रगट करती है।

चित्र सं० ३० में सिंहवाहिनी दुर्गा की अत्यंत मनोहर मूर्ति है। दाहिने हाथ में दृढ़ता के साथ भाला दबाए हुए सिंह पर देवी का आसन है। सिंह भी उन के शासन में विजित भाव से बैठा हुआ है। कुपाण-काल में शिव-मूर्तियों के साथ देवी की दो प्रकार की मूर्तियों का प्रचार हुआ। एक तो यही सिंह-वाहिनी और दूसरी महिषासुर-मर्दिनी का।

चित्र सं० ३१ में गुप्त-काल की एक महिषासुर-मर्दिनी दुर्गा का रूप है। सूक्ष्म विमल वस्त्र पहने हुए चतुर्भुजी दुर्गा महिष-नामक असुर का दमन करती हुई दिखाई गई हैं। मूर्ति में रौद्ररस सौम्यभाव में परिणत दिखाया गया है।

चित्र सं० ३२ में गज-लक्ष्मी हैं। यह कुपाण-कालीन गज-लक्ष्मी की बहुत ही सुंदर मूर्ति है जो इसी वर्ष प्राप्त हुई है। गज-लक्ष्मी की सब से पुरानी मूर्ति तो साँची के तोरणों पर पाई जाती है। परंतु कुपाण और गुप्त-काल में भी इस देवी की पूजा प्रचलित रही। यहाँ तक कि हमारे समय में भी गजलक्ष्मी की मूर्तियाँ बनती हैं। दोनों ओर दो हाथी बना कर उन के सूँडों में पकड़े हुए जलकुंभों से लक्ष्मी का मंगल अभिषेक दिखाया जाता था यही दृश्य वर्तमान मूर्ति में है। इस में केवल हाथियों के सूँड ही अवशिष्ट हैं।

गुप्तकालीन मंदिरों में गंगा और यमुना की मूर्तियाँ द्वारों पर लगाई जाती थीं। कालिदास ने भी गंगा और यमुना के द्वारा शिव की सेवा का वर्णन किया है—

मूर्ते च गंगायमुने तदानीं

सचामरे देवमसेविषाताम् ।

(कुमारसम्भव, सर्ग ७)

चित्र सं० ३३ में मूर्ति कच्छप-वाहन पर आरूढ़ यमुना जी को प्रगट करती है। यह मूर्ति कटरा केशवदेव से मिली थी और ज्ञात होता है कि यह गुप्त-कालीन विष्णुमंदिर में लगी हुई थी।

चित्र सं० ३४ में स्कंद को गोद में लिए हुए पार्वती की मूर्ति गृहस्थ जीवन के आदर्श सुख की कल्पना है। यह मिट्टी की मूर्ति गुप्त-कला का एक उत्तम उदाहरण है और इसी भाव को व्यक्त करती है। हिंस्र भाव को त्याग कर शिव-परिवार का अंग बना हुआ सिंह सौम्यवाहन की भाँति पार्वती जी के आसन के नीचे बैठा हुआ है। उस के ऊपर स्वाभाविक शांति के साथ स्थिर भाव से पार्वती जी समासीन हैं।

इस प्रकार ब्रह्मा, विष्णु, शिव, सूर्य, अग्नि, कामदेव, सप्तमातृका, दुर्गा, महिषासुर-
मर्दिनी, गजलक्ष्मी, और गंगा-यमुना आदि प्रधान ब्राह्मणधर्म-संबंधी मूर्तियों के प्रारंभ-
काल के उत्तमोत्तम उदाहरण मथुरा की कुपाण और गुप्त-समय की कला में पाए गए हैं।
न केवल कला बल्कि भारतीय मूर्ति-विद्या की दृष्टि से भी उन का अत्यधिक महत्व है।
कला के सूत्रों में जिन महार्थ धार्मिक और दार्शनिक तत्वों का आविर्भाव किया गया था,
उन की पौराणिक परिभाषाओं को जान कर उन का सहानुभूति-पूर्ण अध्ययन आवश्यक है।
इस प्रकार हम भारतीय इतिहास के सुवर्णयुग के साथ घनिष्ठ परिचय प्राप्त कर सकेंगे।
जो ब्राह्मण धर्म एक विशाल राष्ट्र का जीवन-प्राण रहा है, उस में जिन दिव्य भावों की उपा-
सना के लिए मनुष्यों ने देव और देवियों की कल्पना की उन का ज्ञान कला के अध्ययन
द्वारा हम सुलभता से प्राप्त कर सकते हैं।



२—ब्रह्ममूर्ति का पृष्ठ भाग



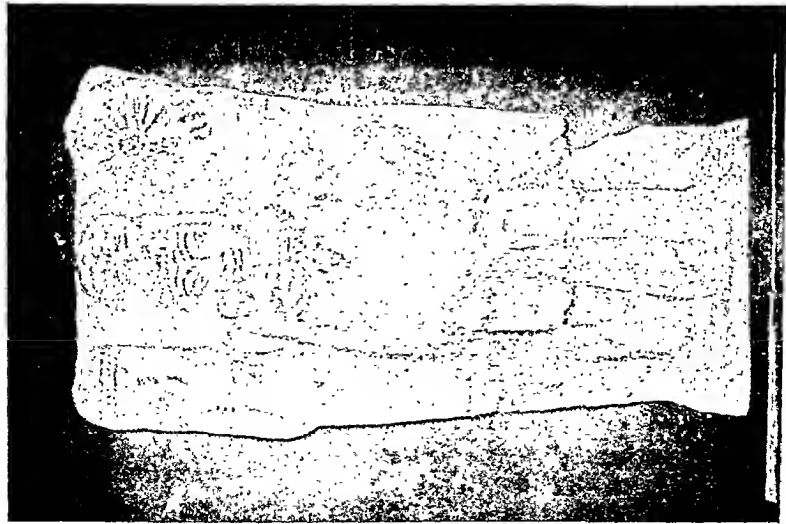
१—कुषाणकालीन ब्रह्मा

४—ब्रह्मा और सावित्री (मध्यकाल)

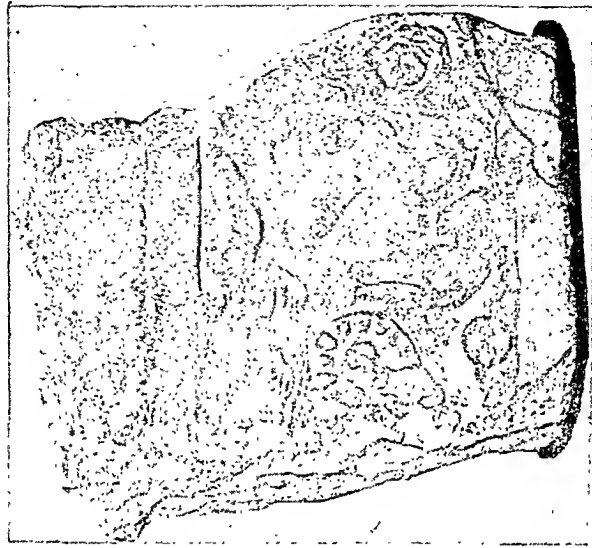


३—ब्रह्मा जी की कुषाण-समय की मूर्ति





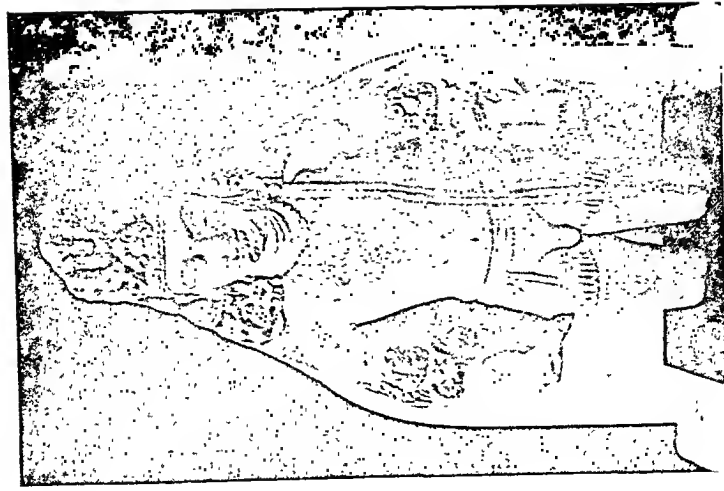
५--कुपाणकालीन चतुर्भुजी विष्णु



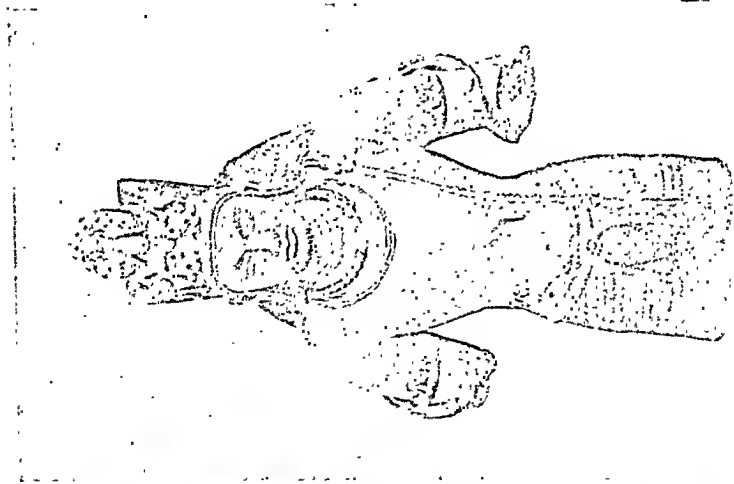
६--कृष्ण को लेकर वसुदेव का यमना पार करना



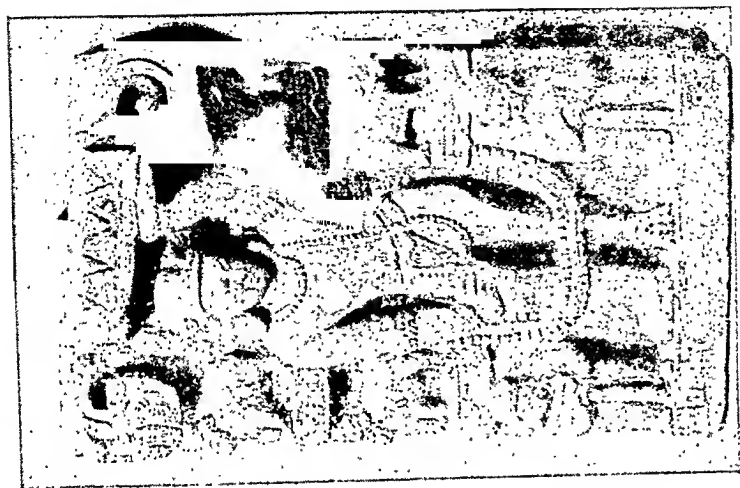
७---गुप्तकालीन चतुर्भुजो विष्णु
(मिट्टी की मूर्ति)



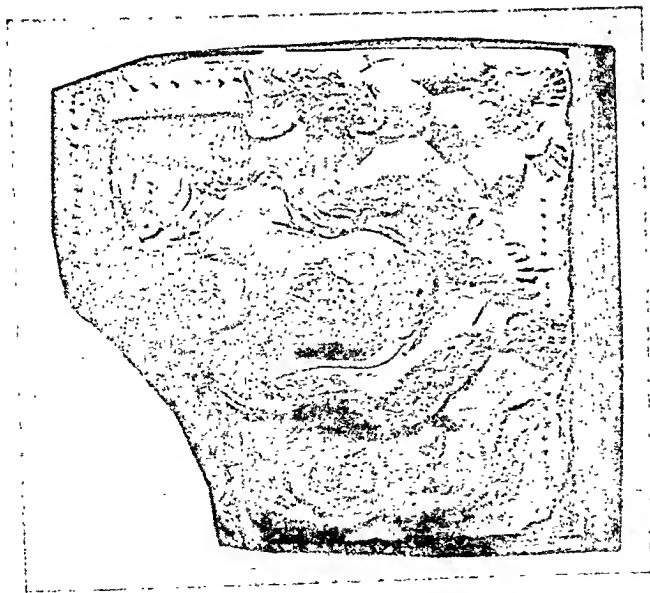
९---नृसिंह-वराह विष्णु



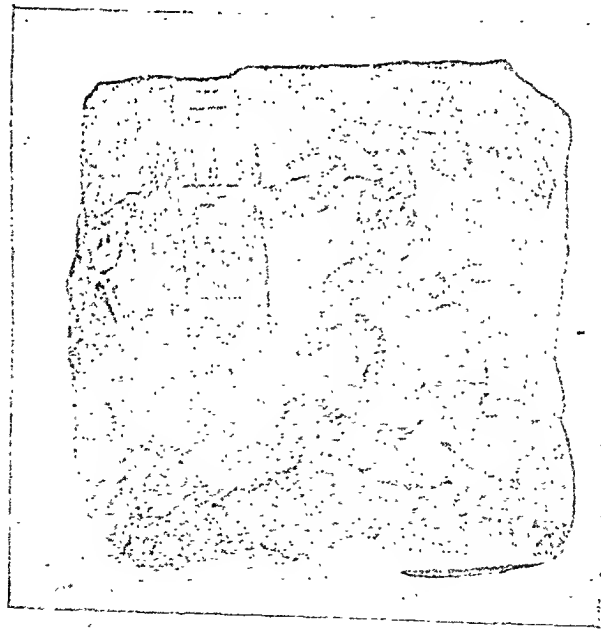
८---गुप्तकालीन विष्णु



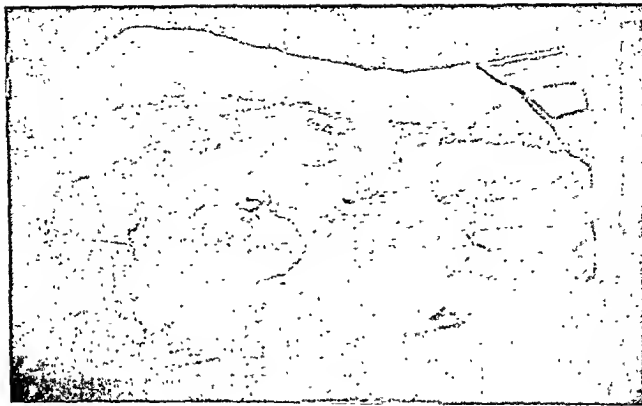
११—गोवर्धनधारी कृष्ण



१०—आयुध-पुरुषों के साथ नृसिंह-वराह विष्णु (गुप्तकाल)



१२—त्रिविक्रम विष्णु की गुप्तकालीन मूर्ति



१३—चतुर्भुजी बलराम



१४—दो कुयाण भक्तों द्वारा शिवलिंग की पूजा

१५—शिवलिंग और पुरुष विग्रह में
चतुर्भुजी ऊर्ध्वरेत शिव



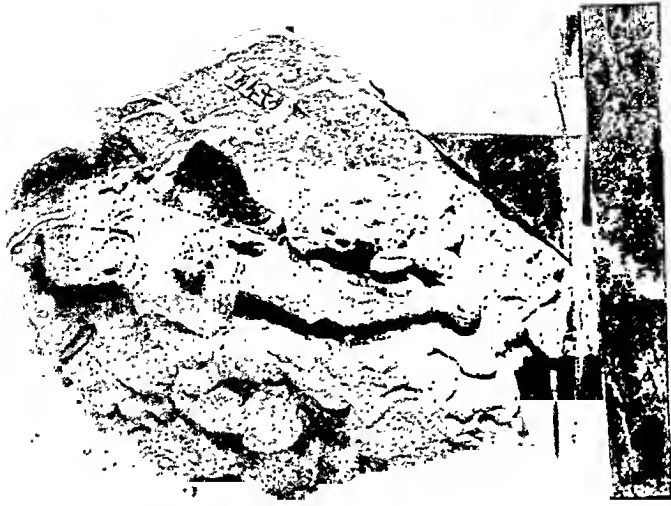
१६—एकमुखी शिवलिंग (गुप्तकाल)



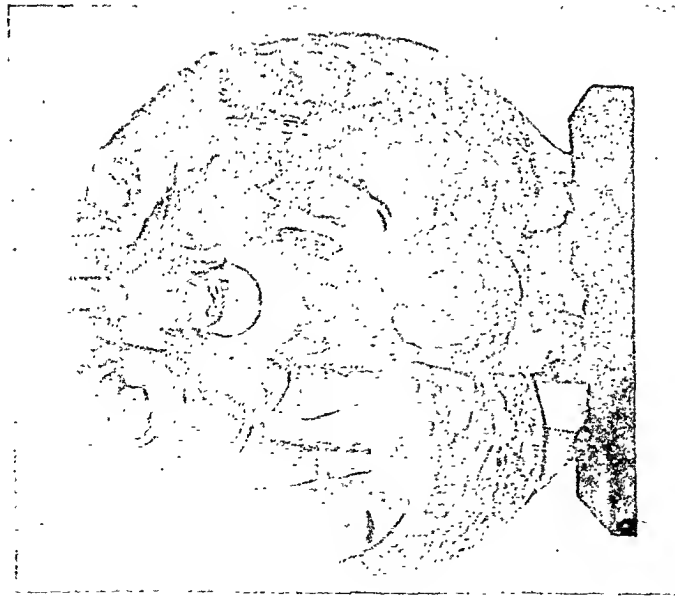
१७—पंचमुखी शिवलिंग



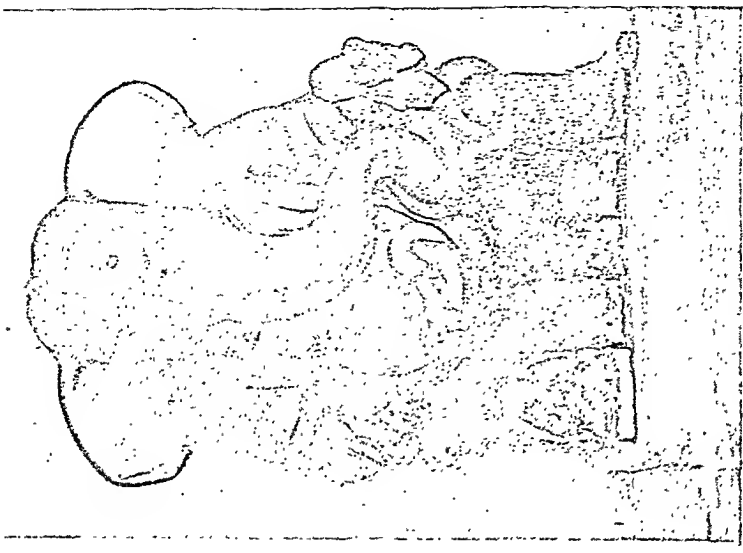
१८—शिव-पार्वती और नंदी



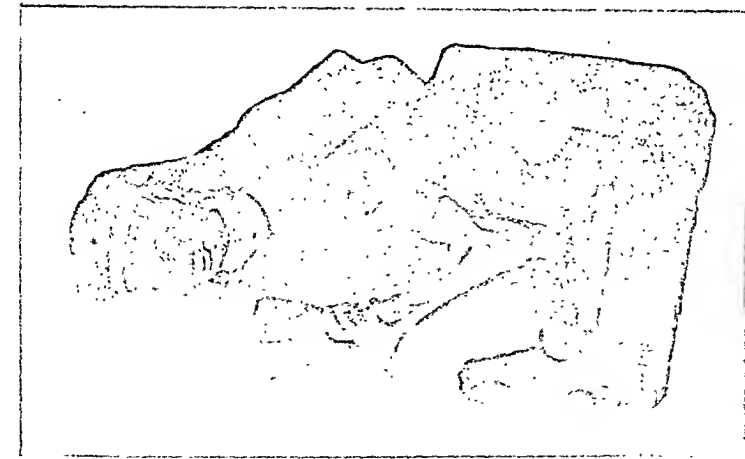
१९—रावण का शिव-पार्वती के साथ कैलाश को उठाना



२०---मयूर-गुण्डाश्रयी स्वामी कार्तिकेय का ब्रह्मा और
शिव द्वारा अभिषेक



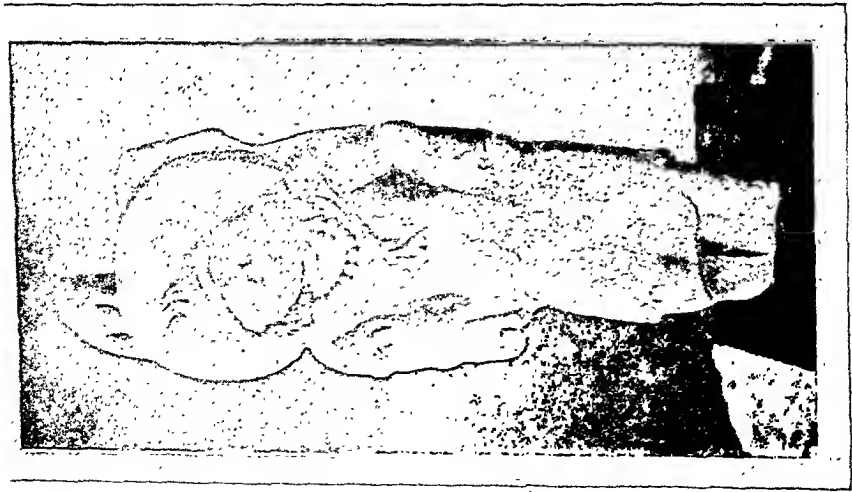
२१---गणपति



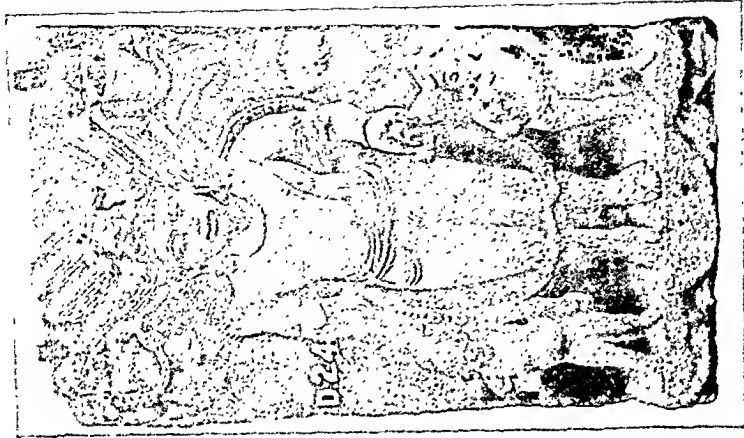
२२—कुषाण-सम्राट् की तरह उदीच्यवेधारी सूर्य



२३—चार घोड़ों के रथ पर सूर्य



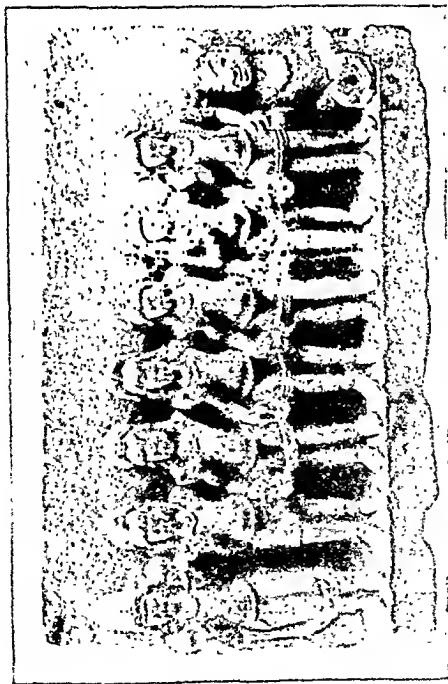
२४--कलम-दायात लिए हुए सूर्य का पादचर पिंगल



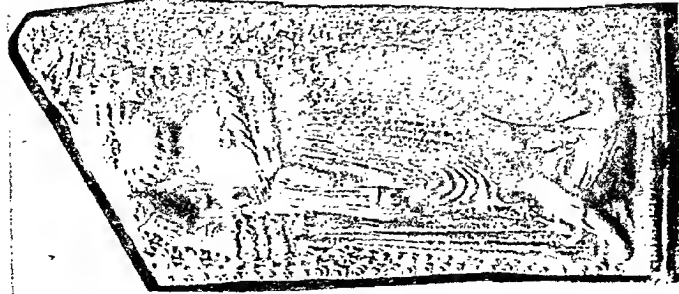
२५--अग्निदेव



२७—राहु



२६—गुप्त कालीन नवग्रह मिलापट्ट



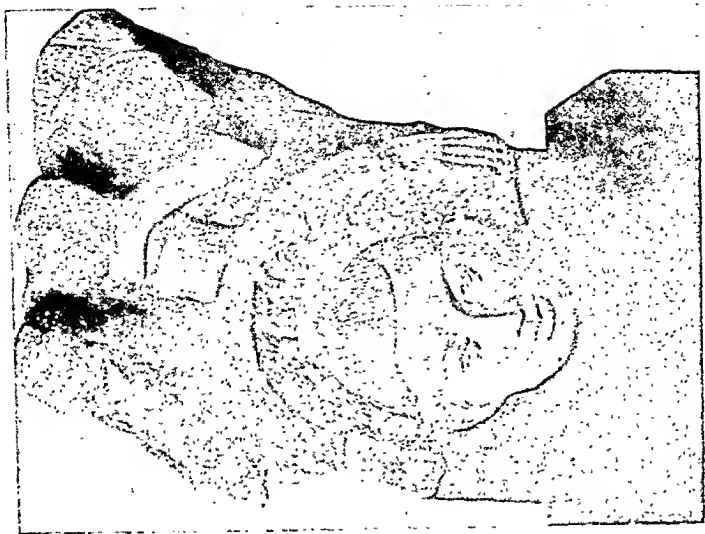
२८--भगवान् कुसुमायुध



२९--कुषाणकालीन सप्तमत्तका और भागधपुरुष



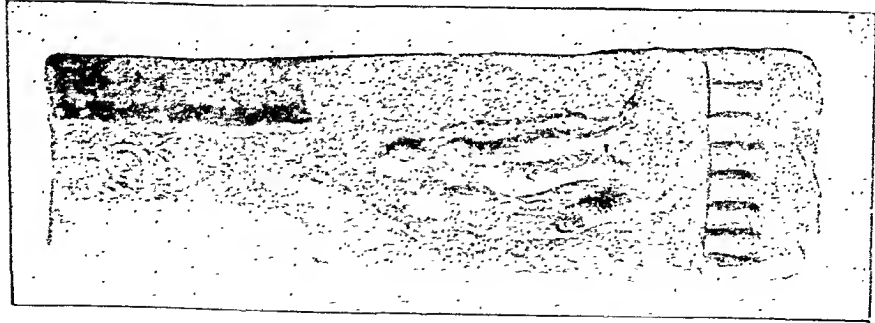
३०--सिद्धाहिनी दुर्गा



३२—गजलक्ष्मी



३१—महिषासुरमर्दिनी दुर्गा



३३—कच्छपवाहन पर यमुना



३४—स्कंद को गोद में लिए हुए पार्वती (गुप्तकाल)

वैष्णवधर्म वा संप्रदाय का क्रमिक विकास

[लेखक—श्रीयुत परशुराम चतुर्वेदी, एम्० ए०, एल्-एल्० बी०]

(१)

वैष्णव-संप्रदाय हिंदू धार्मिक समाज का एक प्रमुख अंग है और वह किसी न किसी रूप में, आज भारतवर्ष के प्रायः प्रत्येक भाग में जीवित और प्रचलित है। सिद्धांतों की दृष्टि से वह विशिष्ट धार्मिक विचारों की एक प्राचीन परंपरा है, जिस के अनुयायियों में अब तक सैकड़ों प्रसिद्ध ईश्वरभक्त, प्रकांड विद्वान् एवं धर्मनिष्ठ व्यक्ति हो चुके हैं, जिस के समर्थन एवं प्रचार में अभी तक एक से एक उत्तम ग्रंथ की रचना होती आई है, और एक महत्वपूर्ण संस्था के रूप में, जिस ने, समय-समय पर, अनेक बड़े-बड़े राजाओं अथवा राजवंशों की छत्रछाया में सहायता भी पाई है। इस के भक्तिसंबंधी सर्वजनोपयोगी एवं सुगम सिद्धांत और उन का अधिकतर जनता की ही प्रचलित भाषा द्वारा प्रचार किया जाना, ऐहलौकिक जीवन के अंतर्गत परिचित चरित्रों में ही अपने भगवान् के आंशिक रूप की भावना जाग्रत कर, इस का सुंदर आदर्शों की सृष्टि के लिए प्रयत्न करना तथा, सब से बढ़ कर, अपने इष्टदेव की अपार दया एवं प्रसाद का समान अधिकारी प्राणीमात्र को समझते हुए, इस का प्रत्येक मनुष्य के लिए, प्रेम, प्रपत्ति, आदि सुलभ साधनों द्वारा अग्रसर होने का समान अवसर देना इस की उदारता और महानता के द्योतक हैं। यह संप्रदाय, वास्तव में, मानव-समाज की अनेक दृष्टियों से, एक बहुत उपयोगी धर्मपरंपरा है और यद्यपि इस के प्रारंभिक विकास का शृंखलावद्ध इतिहास आज तक उपलब्ध नहीं, किंतु फुटकर सामग्रियों तथा आवश्यक प्रसंगों के आधार पर निर्मित की गई इस की अधूरी जीवन-कथा भी कम मनोरंजक न होगी।

वैदिक-कालीन इतिहास के अध्ययन से पता चलता है कि जिस भक्तिमार्ग के अचल शिलाधार पर आज वैष्णव-संप्रदाय की मूलभूति खड़ी है उस का, कम से कम संहिताभाग की रचना के समय तक, एक प्रकार से अस्तित्व भी नहीं था। वह काल, वास्तव में,

कर्मकांड का युग था जब कि हमारे आर्यगण प्रायः प्रत्येक प्राकृतिक वस्तु वा घटना में किसी न किसी देवता की कल्पना कर उसे प्रसन्न रखने के निमित्त यज्ञादि कर्मों का अनुष्ठान करते थे और अपने दैनिक जीवन को आनंद के साथ व्यतीत करने की इच्छा से, उन से अनेक प्रकार की प्रार्थना वा विनय भी किया करते थे। उन का उद्देश्य विशेष कर ऐहिक सुखों की प्राप्ति तक ही सीमित था और अंतःकरण की साधनाओं की अपेक्षा उन का ध्यान अधिकतर बाह्यविधान की ही ओर आकृष्ट रहा करता था। वे उस समय अपने हृदय अथवा मस्तिष्क तक के योग को जितना महत्व नहीं देते थे उतना विशेष वैदिक मंत्रों को दुहराने तथा विशिष्ट विधियों के निर्वाह की ओर दत्तचित्त थे। हाँ, ध्यान-पूर्वक देखने से यह भी प्रतीत होगा कि अपने उक्त कृत्यों के शुभ परिणाम वा सफलता में उन का दृढ़ विश्वास भी रहता था और इस दृष्टि से, यदि हम चाहें तो, कह सकते हैं कि उन के यज्ञों का मूलतत्त्व, वास्तव में, श्रद्धा में निहित था। कहते हैं कि “विना श्रद्धा के यज्ञ का कोई अर्थ नहीं। श्रद्धा ही यज्ञ की अविष्ठात्री देवी है और श्रद्धा एवं यज्ञ में वस्तुतः कोई अंतर ही नहीं।”^१ श्रद्धाहीन यजमान के सभी अनुष्ठान व्यर्थ और सारहीन हो जाते हैं।

इस श्रद्धा से ही, क्रमशः आगे चल कर, श्रद्धामूलक भक्ति वा श्रद्धाभक्ति का प्रादुर्भाव हुआ और धीरे-धीरे आर्यों का प्रारंभिक बहुदेववाद एकदेववाद में परिणत होने लगा। कारण यह है कि भक्ति की कोई भी भावना स्वभावतः अनेक की अपेक्षा एक की ही ओर अधिक अग्रसर हुआ करती है, अथवा यों कहना चाहिए कि भक्ति-संबंधिनी किसी भी भावना द्वारा प्रभावित मनोवृत्ति वाले के लिए यह स्वाभाविक है कि वह साधारण विभिन्नताओं की उपेक्षा कर अपनी अध्यात्मिक दृष्टि को अधिक से अधिक विस्तृत करने का प्रयत्न करे एवं इतस्ततः विखरी हुई शक्तियों में सामंजस्य स्थापित करता हुआ उन्हें एक-रूप में निविष्ट करे, और उसे अपना उच्चतम आदर्श का सर्वस्व भी बनावे। अतएव जिन-जिन मुख्य देवताओं की कल्पना आर्यगण पहले अलग-अलग करते थे उन्हें आगे चल कर, वे एक के ही विविध रूपों में देखने लगे और अंत में उन के नामों तक का प्रयोग एक के ही लिए होने लगा। उदाहरण के लिए इस प्रकार कहा जाने लगा कि ‘हे अग्निदेव !

तुम्हीं वरुण हो, तुम्हीं मित्र हो तथा तुम्हीं इंद्र भी हो, और तुम्हीं अर्यमा हो कर स्वामिवत् भी कार्य किया करते हो”^१, इत्यादि और कभी-कभी तो यों भी कह दिया गया कि “विद्वान् लोग उसी (सत्) को इंद्र, मित्र, वरुण, अथवा अग्नि के नाम से पुकारते हैं और वही विशाल पंखों वाला दिव्य गरुड़ भी है। उसी एक (पदार्थ) का वे अनेक प्रकार से वर्णन करते हैं अतएव वही एक सत् (सृष्टि को आविर्भाव प्रदान करने के कारण) अग्नि, (संसृति एवं परिवर्तन का मूलतत्त्व होने से) यम तथा (अखिलविश्व का आधार भूत होने से) मातरिश्वान् भी कहलाता है।”^२ इस दूसरे प्रकार की विचारधारा द्वारा ब्रह्मांड की मौलिक सत्ता की एकता प्रतिपादित हुई और वही परमात्मतत्त्व भी समझी गई।

अनुमान किया जाता है कि, अनुभववृद्धि के कारण अथवा, साथ ही, बहुधा मतभेद आदि होते रहने से भी, आर्यों ने विचार-विनिमय के निमित्त, उक्त समय के ही लगभग, अनेक परिपदों वा सभाएँ भी कीं जिन के द्वारा उपरोक्त विचारों के ही समान वैदिक धर्म के अन्य विविध मूलतत्त्वों पर भी दार्शनिक विवेचन हुआ और उस के परिणाम स्वरूप वेदों के ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषद् नामक भागों की रचना हुई। जो हो, इन रचानाओं के ही आधार पर क्रमशः वैदिक कृत्यों की विधि-परंपरा स्थिर की गई, मूल दार्शनिक तत्वों का अनुसंधान आरंभ हुआ तथा गूढ़ रहस्यों का उद्घाटन वा स्पष्टीकरण भी किया गया। एकदेव अथवा परमात्मतत्त्व के साथ ही जीवात्मा एवं अव्यक्त प्रकृति की भावना तथा कर्म वा जन्मांतरवाद की कल्पना का सूत्रपात ऐसे ही समय में हुआ और उसी समय से आर्यगण के हृदयों में कर्मबंधन के अनवरत चक्कर से जीवात्मा को उन्मुक्त करने की उत्कंठा भी जागृत हुई। फिर तो, इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए, उन्होंने ने, सांसारिक कर्मजाल से अलग रह कर परमात्मचित्त में संलग्न होने की, साधना भी आरंभ की और इस प्रकार के अभ्यासक्रम की ही दीर्घव्यापिनी क्रिया तप वा तपस्या के रूप में परिणत हुई। निरंतर ध्यान द्वारा जीवात्मा और परमात्मा के सान्निध्य का उत्तरोत्तर बढ़ता

^१ ऋग्वेद, (मं० ५, सू० ३, मंत्र १ व २)

^२ इंद्रं मित्रं वरुणमग्निं साहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गुह्यमान् ।

एकं सद्भिप्रा बहुधा चदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥

ऋग्वेद, (मंत्र १, सू० १६४, मंत्र ४६)

जाना सिद्ध होता है अतएव दूसरे शब्दों में इसे 'वैदिक उपासना' वा 'ध्यानयोग' भी कहते हैं और भक्ति भावना की दृष्टि से, यदि हम इस पद्धति पर विचार करें तो कहेंगे कि वैदिक उपासना, वास्तव में, श्रद्धाभक्ति का ही, एक अन्य प्रकार से विकसित रूप थी।

जान पड़ता है उपरोक्त समय तक वैष्णवधर्म के कदाचित् किसी भी अंग के स्पष्ट-रूप की रचना नहीं हो पाई थी और स्वयं भक्ति शब्द भी तब श्रद्धात्मक प्रेम की अपेक्षा प्रेमपात्र के ही अर्थ में अधिक प्रयुक्त होता था।^१ भक्ति की वैष्णवानुमोदित भावना का आविर्भाव, आर्यों के आध्यात्मिक व दार्शनिक विचारों में अधिक गंभीरता आने पर, आगे चलकर हुआ और तभी वह प्रारंभिक श्रद्धा वा उपासना से क्रमशः विकसित हो कर स्वयं उपास्य भगवान् के ऐश्वर्य वा सारतत्व में भाग लेना (भज्=भाग लेना, वांटना, आदि) व्यक्त करने वाले व्यापक भाव में परिणत हुई।^२ इसी प्रकार उपास्यदेव के व्यक्तित्व की कल्पना भी बहुत काल के अनंतर ही की जा सकी। संहिता-काल में विष्णु एक साधारण देवता के रूप में पहले-पहल दीख पड़ते हैं। ऋग्वेद में कई स्थलों पर वे केवल एक आदित्य मात्र ही समझे जाते हैं, और दिन भर की यात्रा को तीन पगों में ही तय करने के कारण आर्यगण उन्हें महत्व देते हैं, और उन का यशोगान भी करते हैं। उन की बड़ाई बड़े-बड़े उगों द्वारा आकाश-मंडल वा सारे ब्रह्मांड को माप देने पर ही अधिक निर्भर है। जैसे, "अविनश्चर गोपा विष्णु ने तीन पगों द्वारा ही नाँघ दिया"^३ तथा "विष्णु ने तीन पग किए और वह इसे (ब्रह्मांड को) नाँघ गए।"^४ इन तीन पगों वा पदों में से केवल पहले "दो अर्थात् पृथ्वी और अंतरिक्ष को ही मनुष्य देख वा प्राप्त कर सकते हैं। तीसरे तर्क कोई भी नहीं पहुँच पाता। वह चिड़ियों की उड़ान से भी ऊपर है।"^५ "तृतीय पद विष्णु का परम पद है। उसे विद्वान् मनुष्य ही आकाश की ओर ऊँची दृष्टि डालने पर

^१ डा० भांडारकर, 'वैष्णवविज्जम शैविज्जम ऐंड माइनर रेलिजस सिस्टम्स', पृ० ४१

^२ डा० कीय, 'कल्याण-कल्पतरु' (गोरखपुर, अगस्त सन् १९३६), पृ० ५५४

^३ त्रीणि पदानिचक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः—ऋग्वेद (मं० १, सू० २२, मंत्र १८)

^४ इदं विष्णुविचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्—ऋग्वेद (मं० १, सू० २२, मंत्र १७)

^५ द्वे इदस्य क्रमणे स्वर्दृशोभित्याय मर्त्यो भुरण्यति।

तृतीयमस्य नकिरा दधर्षति वयश्चन पतयन्तः पतत्रिणः ॥—ऋग्वेद (मं० १, सू० १५५, मंत्र ५)

सदा देखते हैं।”^१ “वहाँ विशाल उस विष्णु के परम-पद में मधुर आनंदरस का स्रोत विद्यमान है।”^२ इसी प्रकार विष्णु का नाम कहीं-कहीं “ऋतस्य गर्भम्” आदि प्रसंगों में यज्ञ के बीजरूप देवता अथवा, ब्राह्मणों की रचना के समय तक, “यज्ञोहवै विष्णुः” आदि द्वारा स्वयं यज्ञ के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है, और वे बहुधा यज्ञों की सफलता में सहायक भी समझे गए हैं।

परंतु इन दोनों प्रकार के उदाहरणों से महत्वपूर्ण वे हैं जहाँ विष्णु को इंद्र नामक अन्य वैदिक देवता का “योग्य सहायक”^३ माना गया है अथवा जहाँ-जहाँ इंद्र के साथ ही उन की भी वीरता वा पराक्रम की प्रशंसा समान रूप से की गई है^४ और उन्हें इंद्र से बड़ा तक भी स्वीकार कर लिया गया है।^५ फिर तो ब्राह्मणों की रचना के समय तक वे सचमुच सब से बड़े समझे जाने लगते हैं और अग्निदेव तक की प्रतिष्ठा उन से कहीं कम हो जाती है^६ ‘शतपथ ब्राह्मण’^७ में एक कथा आती है जिस में वर्णन किया गया है कि विष्णु ने किस प्रकार यज्ञ के विषय में सब देवताओं से बड़ कर कार्य किया जिस के कारण उन्हें सब से श्रेष्ठ समझा गया। फिर दूसरे स्थल पर उसी ब्राह्मण में^८ विष्णु के पहले वामनरूप में दिखलाई पड़ने और फिर लेट कर क्रमशः बढ़ते-बढ़ते सारे भूमंडल में व्याप्त हो जाने का प्रसंग भी आया है जिस से उस देवता की महत्ता में चमत्कार वा अलौकिक शक्ति का प्रादुर्भाव भी दीख पड़ता है। अनुमान किया जाता है कि वैदिक काल में ही सब देवताओं के राजा इंद्र विष्णु की प्रतियोगिता में नीचा देखने लगे और परमदेव अथवा देवेंद्र का पद, एक प्रकार से, क्रमशः छिना जाता हुआ इंद्र के हाथ से निकल कर विष्णु के यहाँ पहुँच गया। अंत में

^१ तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यति सूरयः । दिवीवचक्षुराततम् ॥ वही, (मं० १, सू० २२, मं० २०)

^२ उरुक्रमस्य सहिवन्धुरित्या विष्णोः पदे परमे मध्व उत्तः ॥ वही, (मं० १, सू० १५४, मं० ५)

^३ इंद्रस्य युज्यः सखा ॥ वही, (मं० १, सूची २२, मं० १९)

^४ वही, (मं० ६, सू० ६९)

^५ वही, (मं० ७, सू० ९९)

^६ अग्निर्वैदेवानामवमो विष्णुः परमः ॥—ऐतरेय ब्राह्मण, (१-१)

^७ शतपथ ब्राह्मण, (१४-१-१)

^८ वही, (१-२-५)

विजय यहाँ तक पूर्ण हो गई कि बहुत कुछ 'इंद्रसूक्त' के ही ढर्रे पर एक 'विष्णुसूक्त' की भी रचना हुई और इंद्र के लिए आए हुए, अनेक महत्तासूचक शब्द तक कालांतर में विष्णु के विषय में, किसी न किसी प्रकार, प्रयुक्त होने लगे। उदाहरण के लिए यह भली प्रकार "सिद्ध किया जा सकता है कि विष्णु के हरि, वैकुण्ठ, वृषण, ऋषभ, वासुदेव, वृष्णीपति, केशव, बृहच्छ्रवस्, आदि नाम किसी न किसी रूप में, इंद्र के अथवा इंद्र-संबंधी किसी वस्तु के नाम से लिए गए।"^१ इतना ही नहीं, विष्णु को, परमात्मदेव के पद पर पहुँचने के अनंतर अन्य अनेक देवताओं से भी बहुत से प्रतिष्ठानूचक शब्द मिले जिन में से 'चक्रपाणि'^२ तथा 'कृष्ण'^३ ऐसे शब्द तक भी वैदिक देवता सवितृदेव-संबंधी वर्णनों से, किसी न किसी भाँति, लिए गए कहे जाते हैं।

वैष्णववर्म वा वैष्णव-संप्रदाय के उपास्यदेव का एक दूसरा प्रसिद्ध नाम नारायण है, जो वैदिक साहित्य में अनेक स्थलों पर आया है। 'ऋग्वेद' में एक प्रसंग इस प्रकार मिलता है—“आकाश, पृथ्वी, वा देवताओं के भी प्रथम वह गर्भांड-रूपी वस्तु क्या थी, जो पहले-पहल जल पर ठहरी थी और जिस में सभी देवता वर्तमान थे? जल पर वही गर्भांड ठहरा हुआ था जिस में सभी देवता विद्यमान थे, और जो सब का आवार-स्वरूप है। वह विचित्र वस्तु अजन्मा की नाभि पर ठहरी हुई थी, जिस के भीतर सभी जीव थे।”^४ इस से पता चलता है कि सब से प्रथम जल की चर्चा है जिस पर गर्भांड का ठहरना बतलाया गया है और यह गर्भांड ही कदाचित् वह वस्तु है जिसे आगे चल कर जगत्स्रष्टा वा ब्रह्मदेव की पदवी दी गई और वह अजन्मा जिस की नाभि पर गर्भांड ठहरा था वही नारायण है। इस

^१ डा० गोस्वामी, 'दि भक्ति कल्ट इन ऐंशेंट इंडिया', पृ० १०१-१०२.

^२ अवर्तयत्सूर्यो न चक्रम् ॥—ऋग्वेद, (मं० २, सू० ११, मं० २०)

^३ आकृष्णेन रजसा वर्त्तमानः ॥—वही, (मं० १, सू० ३५, मं० २) तथा सविता..... कृष्णेन रजसा द्यामृणोति ॥—वही, (मं० १, सू० ३५, मं० ९)

^४ परोदिवा पर एना पृथिव्या परो देवेभिरसुरैर्यदस्ति ।

कस्विद् गर्भं प्रथमं दध्र आपो यत्र देवाः समपश्यंत विश्वे ॥५॥

तमिद् गर्भं प्रथमं दध्र आपो यत्र देवाः समगच्छंत विश्वे ।

अजस्य नाभा बध्यैकमपितं यस्मिन्विश्वानि भुवनानि तस्युः ॥६॥

—ऋग्वेद, मं० १०, सू० ८२

गर्भांड में सभी देवों का वर्तमान रहना कहा गया है अतएव 'नरों' से अभिप्राय उन सभी देवताओं से, वा मानवों से भी है, जिन के 'अयन' अथवा अंतिम लक्ष्य वा आधार नारायण हैं। इस नारायण शब्द की, वैदिक देवतावाची विष्णु शब्द से, यह विशेषता है कि इस के द्वारा पुकारे जाने वाले देवता, एक प्रकार से, सृष्टि-विषयक भावना के भी केंद्र बन जाते हैं।^१ जो हो, 'शतपथ ब्राह्मण' में एक स्थल पर ^२ कहा गया है कि पुरुष नारायण ने एक बार स्वयं यज्ञस्थान पर ठहर कर वसुओं, रुद्रों तथा आदित्यों को कहीं और भेज दिया और यज्ञ संपादित कर के सर्वाधार व सर्वव्यापी हो गए। यहाँ तथा 'तैत्तिरीय आरण्यक' ^३ में भी नारायण की विभूतियों का प्रायः वही वर्णन है जो 'ऋग्वेद' के उपरोक्त प्रसंग में दीख पड़ता है। 'शतपथ ब्राह्मण' के एक अन्य स्थल पर ^४ भी पुरुषनारायण के, पंचरात्र सत्र कर के, सर्वश्रेष्ठ बन जाने की चर्चा की गई है। नारायण या पुरुषनारायण इस प्रकार परमदेव वा परमात्मा के ही समान सर्वोच्च हो जाते हैं और 'ऋग्वेद' के 'पुरुषसूक्त' ^५ के प्रणेता नारायण ऋषि को यदि, अन्य कई स्थलों की रचना करने वालों की ही भाँति, उक्त सूक्त का विषय 'पुरुष' मान लिया जाय तो, कह सकते हैं कि, वास्तव में, 'पुरुष' और 'नारायण' शब्द वहाँ एक ही देवता के लिए प्रयुक्त हुए हैं जैसा कि 'शतपथ ब्राह्मण' के उपरोक्त पुरुषनारायण शब्द से भी सिद्ध होता है।^६ 'तैत्तिरीय आरण्यक' ^७ में इसी परमात्मस्वरूप नारायण को हरि भी कहा गया है।

(२)

वैदिक काल में विष्णु व नारायण नामक देवता पहले भिन्न-भिन्न थे और, यद्यपि इन दोनों शब्दों का प्रयोग, किसी न किसी प्रकार, परमात्मा के लिए, हो जाता था फिर भी

^१ डा० भांडारकर, 'वैष्णवविज्ञान शैविज्ञान ऐंड माइनर रेलिजस सिस्टम्स'—

पृ० ४३

^२ शतपथ ब्राह्मण, (१२-३-४)

^३ तैत्तिरीय आरण्यक, (१०-११)

^४ शतपथ ब्राह्मण, (१३-६-१)

^५ ऋग्वेद, (मं० १०, सू० ९)

^६ डा० भांडारकर, 'वैष्णवविज्ञान शैविज्ञान ऐंड माइनर रेलिजस सिस्टम्स', पृ० ४४

^७ तैत्तिरीय आरण्यक, (१२-११-१)

उन का अंतिम एकीकरण पहले-पहल कदाचित् 'तैत्तिरीय आरण्यक' की रचना के समय हुआ।^१ परंतु वैदिक काल में, अथवा उस के आगे तक भी इन दोनों में से किसी भी देवता को प्राचीन आर्यगण आधुनिक उपास्यदेव के रूप में कभी नहीं मानते थे। विष्णु का संबंध अधिकतर यज्ञ से था और नारायण एक प्रकार से सृष्टि के मूलाधार मात्र समझे जाते थे। अतएव उस समय के आर्य लोग या तो अपने यज्ञादि कर्मों में सहायता के लिए वा ऐहिक सुखों की प्राप्ति के निमित्त उन से प्रार्थना किया करते थे या, उन के, परमात्मा की परमज्योति का स्वरूप, समझे जाने पर, उन्हें प्राप्त करने के प्रयत्न में बहुधा तपस्यादि में लगते थे। उन देवताओं में दयालु भगवान् की भावना का अधिष्ठान अभी तक नहीं हो पाया था। इस अंश के प्रादुर्भाव का होना सर्वप्रथम उस समय कहा जाता है जब कि वैष्णवधर्म के विकसित रूप सात्त्वत वा भागवत धर्म-संबंधी विचारों का उदय वा प्रचार हुआ। सात्त्वतधर्म के मुख्य उपास्यदेव वासुदेव कृष्ण थे और वही उस के मूल प्रवर्तक भी समझे जाते हैं। परंतु वासुदेव और कृष्ण, ये दोनों नाम भी, पहले अलग-अलग ही प्रयुक्त होते थे और इन के संयुक्त प्रयोग का अवसर, जैसा आगे दिखाई पड़ेगा, कालांतर में उपस्थित हुआ। फिर तो अंत में ये दोनों इस प्रकार एक हो गए कि इन के द्वारा व्यक्त किए जाने वाले "वासुदेव और कृष्ण को दो भिन्न-भिन्न व्यक्ति मानना न्यायतः असंभव हो गया।"^२ वासुदेव कृष्ण भी आगे चल कर, विष्णु तथा नारायण से मिल कर एक हो गए और उसी समय वैष्णवधर्म का पूर्ण संघटन हुआ।

वैदिक साहित्य में वासुदेव का नाम किसी संहिता, ब्राह्मण वा प्राचीन उपनिषद् में नहीं आता। यह केवल एक स्थल पर,^३ 'तैत्तिरीय आरण्यक' के दसवें प्रपाठक में, पाया जाता है, वहाँ पर भी यह विष्णु के एक नाम की भाँति ही व्यवहृत है। डाक्टर राजेंद्रलाल मित्र का कहना है कि इस आरण्यक की रचना बहुत पीछे हुई थी और इस में भी उक्त स्थल, 'खिलरूप' वा 'परिशिष्टभाग' में, आया है।^४ डाक्टर कीय ने इस आरण्यक

^१ प्रो० रायचौधुरी, 'अर्ली हिस्ट्री अन् दि वैष्णव सेक्ट', पृ० १८-१९

^२ वही, पृष्ठ २२

^३ नारायणाय विद्महे, वासुदेवाय धीमहि तन्नो विष्णुः प्रचोदयात् ।

^४ डा० राजेंद्रलाल मित्र, तैत्तिरीय आरण्यक, भूमिका, पृ० ८

का समय ईसा के प्रथम तीसरी शताब्दी में निश्चित किया है,^१ जिस से उस समय तक वासुदेव तथा विष्णु व नारायण की एकता का संपन्न हो चुकना सिद्ध होता है। अस्तु महाभारत में कुछ स्थलों पर वासुदेव शब्द का अर्थ वतलाते हुए कहा गया है कि “वह वासुदेव इस लिए कहलाता है कि वह सभी प्राणियों को अपनी माया अथवा अलौकिक ज्योति द्वारा आच्छादित करता है,”^२ तथा “सूर्य के रूप में रह कर मैं अपनी किरणों से सारे संसार को ढँक लेता हूँ और सभी प्राणियों का अधिवास होने से भी मेरा नाम वासुदेव है।”^३ परंतु उसी ग्रंथ में वासुदेव को “वासुदेव का पुत्र” भी^४ वतलाया गया है और एक वनावटी वासुदेव की भी कथा आती है जो वास्तव में पौंड्रों का राजा था। उधर महाभारत के ‘श्रीमद्भगवद्गीता’ नामक प्रसिद्ध अंश में कृष्ण ने कहा है कि “मैं वृष्णियों में वासुदेव हूँ”^५ जिस से वासुदेव का वृष्णिकुल में उत्पन्न होना विदित होता है इसी प्रकार बौद्धों के ‘घट जातक’ में वासुदेव को “मथुरा प्रदेश के उत्तरी भाग में रहने वाले किसी राजवंश की संतति”^६ कहा गया है और यह भी लिखा है कि उक्त राजवंश, कान्हू दीपायन की अवज्ञा करने के कारण, नष्ट हो गया। इसी बात का उल्लेख कौटिल्य के प्रसिद्ध ‘अर्थशास्त्र’ में भी आता है, जहाँ वृष्णिकुल की जगह वृष्णियों के किसी ‘संघ’ की चर्चा है। उस में कहा गया है कि “अपनी इंद्रियों को संयत रूप में न रखने वाला शीघ्र नष्ट हो जाता है। वातापी, हर्ष के मारे फूल कर, अगस्त्य ऋषि पर आक्रमण करने के कारण और वृष्णिसंघ वाले द्वैपायन के विरुद्ध चेष्टा करने से ही विनष्ट हो गए।”^७

महाभारत के भीष्मपर्व (६५वें अध्याय) में आता है कि ब्रह्मदेव ने पुरुष परमेश्वर की स्तुति की और उन से प्रार्थना भी की कि आप चल कर यादववंश की वृद्धि कीजिए

^१ प्रो० रायचौधुरी, ‘अर्ली हिस्ट्री अन् दि वैष्णव सेक्ट’, पृ० ६३

^२ वसनात्सर्वभूतानां वसुत्वाद्देव योनितः। वासुदेवस्ततो वेद्यः—महाभारत, (५-७०-३)

^३ छादयामि जगद्विश्वं भूत्वा सूर्य इवांशुभिः। सर्वभूताधिवासश्च वासुदेव—स्ततोह्यहम्—महाभारत, (१२-३४१-४१)

^४ महाभारत, (३-१४-८)

^५ वृष्णीनां वासुदेवोस्मि—श्रीमद्भगवद्गीता, (१०-७७)

^६ प्रो० रायचौधुरी, ‘अर्ली हिस्ट्री अन् दि वैष्णव सेक्ट’, पृ० १९

^७ शामा शास्त्री, ‘अर्थशास्त्र अन् कौटिल्य’, पृ० १२-१३

और उन को वासुदेव नाम से संबोधित करते हुए यह भी कहा कि आप ने ही संकर्षण के रूप में अवतीर्ण हो कर अपने पुत्र प्रद्युम्न को भी उत्पन्न किया और प्रद्युम्न से विष्णु-स्वरूप अनिरुद्ध की उत्पत्ति हुई जिस से मेरी रचना हुई थी। उसी के अनुसार एक बार फिर भी मनुष्य-योनि में जन्म धारण कीजिए। उक्त पर्व के ६६वें अध्याय के आरंभ में, आगे, यह भी कहा गया है कि प्रजापति ने परमेश्वर से विनय की थी कि आप चल कर मानवयोनि में वासुदेव का अवतार लीजिए और परमेश्वर के स्थान पर फिर अध्याय भर में वासुदेव नाम का ही व्यवहार हुआ है। इस पर डाक्टर भांडारकर का अनुमान है कि “वासुदेव भक्ति-संप्रदाय के प्रवर्तक का ही नाम था और उक्त प्रसंग का अभिप्राय यही जान पड़ता है कि वह अन्य तीनों (अर्थात् संकर्षण, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध) के साथ किसी पहले युग में भी वर्तमान रह चुका था।”^१ वासुदेव का किसी विशेष धर्म वा संप्रदाय का उपास्यदेव होना ईसा के प्रथम ७वीं शताब्दी के प्रसिद्ध वैयाकरण पाणिनि के भी एक सूत्र^२ से सिद्ध होता है, जहाँ उक्त संप्रदाय के अनुयायियों को ‘वासुदेवक’ नाम से निर्दिष्ट किया गया है। पातंजलि ने इसे उसी अर्थ में समझा है और एक दूसरे सूत्र^३ पर भाष्य लिखते हुए यह भी कहा है कि वासुदेव और बालदेव, ये दोनों, वृष्णि नाम हैं और वासुदेव तथा बलदेव से, क्रमशः, बने हैं। बौद्धों के ‘निर्देश’ नामक एक पाली ग्रंथ से यह भी पता चलता है कि ईसा के प्रथम चौथी शताब्दी में वासुदेव तथा बलदेव के संप्रदायिक अनुयायी वर्तमान थे।^४ और ‘शतपथ ब्राह्मण’ में एक स्थल पर^५ वाष्ण्य शब्द का व्यवहार हुआ है जिस से वृष्णिवंश की प्राचीनता का भी अनुमान किया जा सकता है।

महाभारत के आदिपर्व में एक स्थल पर आया है कि वासुदेव ने एक बार वृष्णिकुल वालों को संबोधित करते हुए कहा था कि पार्थ वा अर्जुन सात्त्वतों को लालची नहीं समझते और स्वयं वासुदेव को भी उसी पर्व में एक अन्य स्थल पर सात्त्वत कहा गया है। इस प्रकार

^१ डा० भांडारकर, ‘वैष्णविज्म शैविज्म ऐंड माइनर रेलिजस सिस्टम्स’, पृ० १३-१४

^२ ‘वासुदेवार्जुनाभ्यां वृन्’, (४-३-९८) पर पातंजल महाभाष्य।

^३ ‘ऋष्यन्धक वृष्णि कुरुभ्यश्च’, (४-१-११४) पर पातंजल महाभाष्य।

^४ डा० भांडारकर, ‘वैष्णविज्म शैविज्म ऐंड माइनर रेलिजस सिस्टम्स’, पृ० ३-४

^५ शतपथ ब्राह्मण, (३-१-१-४)

वाष्णोय और सात्त्वत एक ही जान पड़ते हैं। इस बात के प्रमाण में 'विष्णुपुराण' के चतुर्थ अंश के ग्यारहवें अध्याय के अंत में पराशर द्वारा दिया हुआ यदुकुल का वर्णन^१ तथा उसी अंश के बारहवें अध्याय के अंत में आया हुआ यदु के पुत्र क्रोष्टु के वंश का विवरण^२ भी तुलना के लिए सामने रखे जा सकते हैं। पहले प्रसंग में आया है कि यदु के पुत्र सहस्रजित् की वंशावली में मधुर के पुत्र वृष्णि हुए जिन से वृष्णि वंश की संज्ञा हुई और यदु के नामानुसार इसी वंश के लोग यादव भी कहलाए। फिर दूसरे प्रसंग में यदु के क्रोष्टु के कुल की चर्चा है और कहा गया है कि इस कुल में एक अंश-नामक पुरुष हुए जिन के पुत्र का नाम सत्त्वत था और सत्त्वत से ही ये लोग सात्त्वत कहे गए। इसी प्रकार 'भागवत'^३ से पता चलता है कि सात्त्वत लोग परमेश्वर को भगवान् वासुदेव कहा करते थे और उन की पूजा का ढंग एक विशेष रूप का था और वासुदेव को फिर उसी पुराण^४ में 'सात्त्वतर्षभ' भी कहा गया है। डाक्टर भांडारकर ने इसी प्रकार के कुछ अन्य प्रमाणों के भी आधार पर यह अनुमान किया है कि सात्त्वत शब्द भी वृष्णिवंशीय के एक दूसरे नाम की भाँति ही व्यवहृत होता था और उसी में वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न व अनिरुद्ध उत्पन्न हुए थे तथा सात्त्वतों का एक अलग संप्रदाय था जिस के अनुसार वे वासुदेव की पूजा, उसे परमात्मा समझ कर, किया करते थे।^५ भीष्मपर्व के ६६वें अध्याय के अंत में भीष्म ने भी कहा है कि "अनंत और दयालु ईश्वर को हमें वासुदेव के ही रूप में जानना चाहिए तथा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन सभी को चाहिए कि उस की भक्तिभाव के साथ पूजा करें"। 'सात्त्वत' शब्द भी 'वाष्णोय' शब्द की ही भाँति 'शतपथ ब्राह्मण' के एक अन्य प्रसंग^६ में आया है जिस से दोनों एक समान ही प्राचीन समझ पड़ते हैं।

^१ वृषस्य पुत्रो मधुरभवत् ॥२६॥ तस्यापि वृष्णिप्रमुखं पुत्रशतमासीत् ॥२७॥ यतो वृष्णिसंज्ञामैतदगोत्रमवाप ॥२८॥ यादवश्च यदुनामोपलक्षणादिति ॥३०॥—विष्णुपुराण, (४-११)

^२ ततश्चांशुस्वस्माच्च सत्त्वतः ॥४३॥ सत्त्वतादेते सात्त्वताः ॥४४॥—विष्णुपुराण, (४-१२)

^३ 'श्रीमद्भागवत', (९-९-४९)

^४ वही, (११-२७-५)

^५ डा० भांडारकर, 'वैष्णविज्म शैविज्म ऐंड माइनर रेलिजस सिस्टम्स', पृ० १२

^६ शतपथ ब्राह्मण, (१३-५-४-२१)

‘वासुदेव कृष्ण’ का दूसरा अंश अर्थात् ‘कृष्ण’ शब्द पहले-पहल ऋग्वेद (मंडल ८) में सूक्त ८५ के ऋषि वा रचयिता के रूप में आया है और इस के तीसरे व चौथे मंत्रों में उक्त ऋषि अपने को स्वयं भी कृष्ण कहते हुए जान पड़ते हैं^१। अनुक्रमणी के रचयिता ने उसी कृष्ण को आंगिरसगोत्रोत्पन्न भी बतलाया है और ‘कौशीतकी ब्राह्मण’^२ में भी कदाचित् उसी कृष्ण आंगिरस का उल्लेख मिलता है। इधर ‘छांदोग्य उपनिषद्’^३ के अनुसार देवकी-पुत्र कृष्ण घोर आंगिरस के शिष्य थे और ‘कौशीतकी ब्राह्मण’^४, से विदित होता है कि ये ऋषि सूर्य के उपासक थे। परंतु क्या वैदिक सूक्त के रचयिता कृष्ण आंगिरस और घोर आंगिरस के शिष्य कृष्ण एक ही व्यक्ति थे? डाक्टर भांडारकर का कहना है कि, “यदि कृष्ण और घोर दोनों आंगिरस थे तो इस से यह परिणाम निकाला जा सकता है कि कृष्ण के ऋषि होने की परंपरा ‘ऋग्वेद’ के मंत्रों के समय से ले कर ‘छांदोग्य उपनिषद्’ के रचना-काल तक चली आई और उस समय कार्ष्णायन नाम का कोई गोत्र भी वर्तमान था जिस के मूलपुरुष कृष्ण थे। वासुदेव के आराध्यदेव बन जाने पर जब कृष्ण और वासुदेव दोनों मिल कर एक वासुदेव कृष्ण हो गए तो कालांतर में उन्हें वृष्णिकुल के वंशवृक्ष में भी स्थान मिल गया।”^५ ‘वासुदेव’ का व्यक्तिवाचक संज्ञा और ‘कृष्ण’ का गोत्रनाम होना बौद्धों के ‘घट जातक’ और “महा उम्मग जातक” में दिए गए प्रसंगों से भी सिद्ध होता है,^६ और पतंजलि के महाभाष्य में आए हुए दो स्थलों^७ की तुलना करने पर यह भी स्पष्ट हो जाता है कि उन के समय में वासुदेव और कृष्ण को लोग एक ही व्यक्ति समझा करते थे।

^१ अयं वां कृष्णो अश्विनाहवते वाजिनीवसू—ऋग्वेद (मं० ८, सू० ८५ मंत्र ३)
तथा श्रुतं जरितुहवं कृष्णस्य स्तुवतो नरा—ब्रह्मी (मं० ८, सू० ८५, मंत्र ४)

^२ कौशीतकी ब्राह्मण, (३०-६)

^३ तद्वैतघोर आंगिरसः कृष्णाय देवकी पुत्रायोक्त्वा, इत्यादि—छांदोग्य उपनिषद् (३-१७-६)

^४ कौशीतकी ब्राह्मण, (३०-६)

^५ डा० भांडारकर, ‘वैष्णविष्म शैविष्म ऐंड माइनर रेलिजस सिस्टम्स, पृ० १५-१६

^६ ब्रह्मी, पृ० १४-१५

^७ प्रहारा दृश्यंते कंसस्य च कृष्णस्य च; असाधुमर्तुले कृष्णः तथा जघान कंसं किल वासुदेवः।—‘अर्ली हिस्ट्री अफ् दि वैष्णव सेक्ट’, पृ० २२

किंतु फिर भी प्राचीन वैदिक काल के कृष्ण आंगिरस एवं उपनिषद्-काल के देवकी-पुत्र कृष्ण के केवल अधूरे आधारों पर ही द्वापर के अंत में अवतीर्ण होने वाले वासुदेव कृष्ण के व्यक्तित्व व नामादि का रचा जाना तथा, आगे चल कर, महाभारत के उसी वासुदेव कृष्ण के साथ भागवतादि ग्रंथों के गोपालकृष्ण का भी एक ही व्यक्ति समझा जाना और इस परंपरा का इतने समय तक अक्षुण्ण रूप में निर्विवाद प्रचलित रहना बड़े आश्चर्य की बातें हैं। इस का समाधान केवल प्राचीन धार्मिक ग्रंथों के ही आधार पर करना कठिन है। वास्तव में अनेक प्रसिद्ध एवं धुरंधर आचार्यों द्वारा भागवत धर्म के संबंध में बड़े-बड़े ग्रंथ लिखे जाते रहने पर भी, वासुदेव और कृष्ण को कौन कहे, इन दोनों के साथ, विष्णु और नारायण तक के एकीकरण के विषय में अभी तक कभी संदेह नहीं उत्पन्न हुआ था। यह प्रश्न ईसा की यत् १९वीं शताब्दी में पहले-पहल उस समय उठा जब कि पाश्चात्य विद्वान्, अथवा उन्हीं के समान खोज व तर्क करने वाले कतिपय भारतीय पंडित भी, कुल बातों पर गवेषणापूर्ण आलोचना करते समय, सोचने लगे कि क्या उक्त चारों आदि से ही एक थे अथवा इन का एकीकरण आगे चल कर कभी हुआ। तब से कृष्ण के ऐतिहासिक व्यक्तित्व को स्पष्ट करने की चेष्टा निरंतर होती रही है और ढेरों सामग्री एकत्रित कर उन का अनेक बार विश्लेषण व वर्गीकरण भी हुआ है, किंतु कृष्ण की समस्या आज भी वैसी ही जटिल और विवादग्रस्त बनी हुई है जैसी आरंभ में थी।^१

हाँ, इस विषय में एक बात अवश्य ध्यान देने योग्य है। 'छांदोग्य उपनिषद्' के उपरोक्त प्रसंग में घोर आंगिरस ने देवकीपुत्र कृष्ण को कुछ उपदेश दिए हैं और वहाँ जो बातें कही गई हैं वे वासुदेव कृष्ण की 'श्रीमद्भगवद्गीता' के कुछ अंशों से बहुत कुछ मिलती हैं। उक्त उपनिषद् (तृतीय प्रपाठक) के सोलहवें खंड के आरंभ में ऋषि ने पुरुष वा मनुष्य को यज्ञ-रूप माना है और आगे चल कर, (१७वें खंड में) उस के जीवन-संबंधी विविध कर्मों की, यज्ञ की दीक्षा, उपसद, स्तुतशस्त्र, असौष्ट एवं अवभृथ के साथ, समानता भी दिखलाई है। अंत में इस 'पुरुषयज्ञविद्या' को समझाकर वे देवकीपुत्र कृष्ण से फिर कहते हैं कि मनुष्य को अंत समय में इन तीन पदों का उच्चारण करना चाहिए अर्थात्, "हे परमात्मन् आप

^१ ताडपत्रीकर, 'दि कृष्ण प्राब्लम'—बी० ओ० आर० इस्टिड्यूट मैन्युअल, भाग १० (३-४), पृ० २७०

अविनाशी हूँ, आप सदा एकरस रहने वाले हूँ, तथा आप सब के प्राणप्रद एवं अति सूक्ष्म हूँ” और इस संबंध में वे ऋग्वेद व यजुर्वेद के दो आवश्यक मंत्र भी बतलाते हैं। तत्पश्चात् इस उपदेश को श्रवण कर कृष्ण की, किसी दूसरे ज्ञान को प्राप्त करने की पिपासा शांत हो जाती है।^१ इधर ‘श्रीमद्भगवद्गीता’ में हम देखते हैं कि अर्जुन को उपदेश देते समय श्रीकृष्ण ने भी मनुष्य के यज्ञार्थ किए गए कर्मों को ही अधिक महत्व दिया है और वे कहते हैं कि “हे कौंतेय, जो कुछ करते हो, खाते हो, हवन करते हो, अथवा देते हो तथा जो तप भी करते हो वह सब कुछ मुझे (अर्थात् भगवान् को) समर्पित कर दिया करो।”^२ इसी प्रकार उक्त दोनों ग्रंथों के कई अन्य अंशों की तुलना हम नीचे दिए गए ढंग से भी कर सकते हैं। जैसे,

छांदोग्य उपनिषद्

१-तपोदानमार्जवमहिंसा सत्यवचनमिति,
(३-१७-४)

२-सोऽन्तवेलायामेतत्त्रयं प्रतिपद्येत।

अक्षितमस्यच्युतमसि प्राणसंशितमसीति
(३-१७-६)

३-उद्धयं तमसस्परिज्योति पश्यन्त उत्तरं
स्वः पश्यन्त उत्तरम्। देवं देवत्रा सूर्यम्
(३-१७-६ में उद्धृत यजुर्वेद २०-२१)

श्रीमद्भगवद्गीता

१-दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्ज-
वम्। अहिंसा सत्यम् (१६-१-२)

२-अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कले-
वरम् (८-५), तथा, प्रयाणकाले...
यदक्षरं वेदविदो वदन्ति (८-१०-११)

३-सर्वस्य धातारमचिंत्यरूपमादित्यवर्णं
तमसः परस्तात् (८-९)

अतएव इन अवतरणों से पता चल जाता है कि एक के भाव तथा बहुत कुछ शब्द तक भी दूसरे के भाव एवं शब्दों से स्पष्ट रूप में मिलते हैं जिस से यह परिणाम स्वभावतः निकाला जा सकता है कि देवकीपुत्र कृष्ण ने जो उपदेश अपने गुरु घोर आंगिरस से ग्रहण किए थे उन्हीं के अनुसार वासुदेव कृष्ण ने भी गीता-द्वारा अपने मित्र अर्जुन को उपदेश दिया। उपरोक्त समानता केवल अकस्मात् वा संयोगवश ही नहीं आ गई है बल्कि इस कथन में

^१ छांदोग्य उपनिषद्, (३-१७-६)।

^२ यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।

यत्तपस्यसि कौंतेय, तत्कुरुष्वमदपंगम् ॥—श्रीमद्भगवद्गीता, (९-२७)

तथ्य अवश्य है कि देवकीपुत्र और वासुदेव कृष्ण, ब्राह्मण में, एक ही थे और उस महा-पुरुष ने अपने शिष्यत्व-काल में ग्रहण किए हुए सिद्धांतों के आधार पर ही अपने अर्जुनादि अनुयायी भागवतों को शिक्षा प्रदान की थी।^१ 'श्रीमद्भगवद्गीता' के ही "अनेक जन्मों के अनंतर यह अनुभव हो जाने से कि जो कुछ है, वह सब वासुदेव ही है, ज्ञानवान् मुझे पा लेता है"^२ से यह धारणा और भी दृढ़ हो जाती है।

(३)

देवकीपुत्र कृष्ण और वासुदेव कृष्ण को यदि हम एक ही व्यक्ति मान भी लें तो भी उन के जीवन-काल एवं जीवनचरित्र-संबंधी ऐतिहासिक बातों का पता लगाना वैसा ही कठिन बना रहता है। कारण यह है कि इस विषय की जो कुछ सामग्री इस समय उपलब्ध है उस में से अधिकांश अनुमान पर आश्रित है और अनेक बातें ऐसी भी हैं जिन्हें कल्पना के आधार पर ही निर्मित समझना चाहिए। कुछ विद्वानों ने पहले इसी लिए भारत के भक्तिमार्ग एवं कृष्ण के व्यक्तित्व को आधुनिक बतलाना आरंभ किया था और इस बात के लिए वे प्रमाण भी देते थे कि कृष्ण को केवल एक काल्पनिक पुरुष और भक्तिभाव को यहाँ पर ईसाई-धर्म के फैलने के उपरांत, प्रचलित होने वाली बात क्यों कहना चाहिए। परंतु फिर भी ऐसे विचारों को निराधार सिद्ध करने तथा, साथ ही, कृष्ण की प्राचीनता दिखलाने के लिए ऐतिहासिक सामग्री हमें कम नहीं मिलती। ईसा के पूर्व दूसरी शताब्दी के वेसनगर (ग्वालियर राज्य) शिलालेख से ग्रीक राजा ऐंटियाल्किदस के राजदूत हेलियोडोरा का भागवत होना तथा उस के द्वारा 'देवदेव वासुदेव' के नाम पर गरुडध्वज का निर्माण किया जाना सिद्ध होता है और यह भी स्पष्ट है कि उक्त शिलालेख की बहुत कुछ बातें घोर आंगिरस के उपदेश एवं गीता के सिद्धांतों से भी मिलती-जुलती हैं।^३ फिर उसी दूसरी शताब्दी के प्रसिद्ध वैयाकरण पतंजलि से, अन्य कई बातों के अतिरिक्त, यह भी पता चलता है कि उन के समय में कोई नाटक खेला जाता था जिस में कृष्ण द्वारा

^१ प्रो० रायचौधुरी, 'अर्ली हिस्ट्री अन्ड दि वैष्णव सेक्ट', पृ० ५०

^२ बहूनां जन्मनामते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।

वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥—श्रीमद्भगवद्गीता, (७-१९)

^३ प्रो० रायचौधुरी, 'अर्ली हिस्ट्री अन्ड दि वैष्णव सेक्ट', पृ० ५९-६०

कंस का वध किया जाना दिखलाया जाता था। उस समय तक यह घटना बहुत प्राचीन हो गई थी। जैसा उन के 'चिरहते कंसे' कहने से विदित होता है।^१ इसी प्रकार ईसा के प्रथम, चौथी शताब्दी में चंद्रगुप्त मौर्य के दरबार में आए हुए ग्रीक राजदूत मेगास्थनीज़ तथा एक एरियन नामी दूसरे ग्रीक के लेखों से भी प्रकट होता है कि 'हेराक्लीज़' को शौरसेन वंशवाले बड़ी प्रतिष्ठा की दृष्टि से देखते थे और उस में यह भी लिखा है कि उक्त वंशवालों के 'मेथोरा' और 'क्लेइसोवोरा' नामक दो बड़े बड़े नगर थे तथा इन के प्रदेश से हो कर 'जोवारे' नदी बहती थी।^२ डाक्टर भांडारकर ने उक्त नामों में से 'हेराक्लीज़' को हरिकुल वा वासुदेव व शौरसेन को सात्त्वत समझा है और 'मेथोरा' को मथुरा 'क्लेइसोवोरा' को कृष्णपुर तथा 'जोवारे' को यमुना भी मान लिया गया है।^३ ईसा के पूर्व सातवीं शताब्दी के वैयाकरण पाणिनि के एक सूत्र से भी जान पड़ता है कि वासुदेव नाम का व्यक्ति क्षत्रिय-वंश का था और^४ यह बात महाभारत के प्राचीन अंशों से भी प्रमाणित की जा सकती है। अतएव संहिता-काल के वैदिक ऋषि कृष्ण का विचार यदि छोड़ भी दें तभी देवकीपुत्र कृष्ण के लिए हमें, मेकडानेल के अनुसार, ईसा के पूर्व ६०० वें वर्ष से पहले का ही समय निश्चित करना पड़ेगा, क्योंकि 'छांदोग्य' आदि प्राचीनतम उपनिषदों की रचना ऐसे ही समय में हुई थी।^५ इसी प्रकार जैनधर्म वालों की परंपरा के अनुसार कृष्ण, उन के २२वें तीर्थंकर अरिष्टनेमि वा नेमिनाथ के समकालीन थे और यह नेमिनाथ उन के २३वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ के समय अर्थात् ईसा के पूर्व ८१७वें वर्ष से भी पहले हो चुके थे। अतएव, इस दृष्टि से, कृष्ण का समय ईसा के पूर्व नवीं शताब्दी के इधर का नहीं हो सकता।^६ इस के सिवाय प्रसिद्ध विद्वान् चिंतामणि विनायक वैद्य का अनुमान है कि महाभारत, हरिवंश, मेगास्थनीज़ के लेख अथवा प्रचलित परंपराओं के आधार पर भी श्री कृष्ण का जन्म-काल ईसा के पूर्व ३१८५वें वर्ष तथा मृत्यु-समय ३०७२वें वर्ष

^१ प्रो० रायचौधरी, 'अर्ली हिस्ट्री अन् दि वैष्णव सेक्ट' पृ० २२ व २९

^२ वही, पृ० ५५-५६

^३ वही, पृ० २३

^४ वही, पृ० ३२

^५ डा० मेकडानेल, 'हिस्ट्री अन् संस्कृत लिटरेचर', पृ० २२६

^६ प्रो० रायचौधरी, 'अर्ली हिस्ट्री अन् दि वैष्णव सेक्ट', पृ० ३९

में मानना चाहिए। इस हिसाब से उन की अवस्था राजसूय-यज्ञ के अवसर पर ७१ वर्ष की थी, महाभारत की लड़ाई के समय ८४ वर्ष की तथा मरने के समय ११३ वर्ष की ठहरती है, जो कुल बातों पर विचार करते हुए असंभव नहीं जान पड़ता।^१

जो हो, उपरोक्त सभी सामग्रियों को ध्यान में लाते हुए यह स्वीकार कर लेना कि श्रीकृष्ण वा वासुदेव कृष्ण एक ऐतिहासिक व्यक्ति अवश्य थे असंगत नहीं कहा जा सकता। परिणाम यह निकलता है कि वे मथुरा प्रदेश के यादव-कुल में उत्पन्न एक क्षत्रिय महा-पुरुष थे, उन्हें घोर आंगिरस ऋषि के यहाँ शिक्षा-दीक्षा मिली थी, उन्होंने ने कंस को मारा था और महाभारत के युद्ध में पांडवों की सहायता की थी। यह भी स्पष्ट है कि अपने गुरु से ग्रहण किए गए विचारों का सिद्धांत-रूप से उन्होंने ने दूसरे लोगों में भी प्रचार किया और उन के व्यक्तित्व से प्रभावित हो कर सात्वतों ने उन्हें पूजनीय भगवान् तक माना। फिर उन के जीवनकाल से ले कर आगे भी उन के प्रति प्रदर्शित की गई भक्ति वा श्रद्धा में बराबर वृद्धि होती गई, और अंत में वे पूर्णब्रह्म परमात्मा तक के स्थानापन्न समझे जाने लगे। 'महाभारत' ग्रंथ में श्रीकृष्ण दोनों रूपों में (अर्थात् मनुष्य एवं देवता-स्वरूप) दिखाई पड़ते हैं। सभापर्व में शिशुपाल कृष्ण को, ब्राह्मणों के रहते हुए, देवत्व की कोटि प्रदान करने में, स्पष्ट रूप से, विरोध करता हुआ दिखलाई देता है^२ और भरी सभा में उन्हें वह बहुत कुछ बुरा-भला तक कह डालता है। भीष्म का कहना था कि कृष्ण को सब से अधिक सम्मानित करने में दो कारणों में से एक यह भी है कि वे वेदों तथा वेदांगों के जान-कार हैं और उन्होंने ने ऋत्विज हो कर यज्ञ भी कराया है।^३ फिर भी महाभारत के ही वन-पर्व में दिए गए 'भीष्मस्तवराज' से यह स्पष्ट हो जाता है कि कृष्ण का, उक्त ग्रंथ के समाप्त होते-होते, नारायण विष्णु के साथ, एकीकरण अवश्य हो चुका था।^४ 'महाभारत' की रचना का समय ईसा की सातवीं शताब्दी (पूर्व), अर्थात् पाणिनि के समय, से भी पहले से ले कर तीसरी शताब्दी (पूर्व) तक विद्वानों ने मान लिया है^५ अतएव, इस प्रकार, वासु-

^१ वैद्य, 'एपिक इंडिया', पृ० ४१८-४२०

^२ महाभारत, (सभापर्व ४२-६)

^३ वही, ३८वाँ अध्याय।

^४ महाभारत, (वनपर्व १८९-९३-४ तथा ९९-१००)

^५ हाकिंस, 'दि ग्रेट एपिक ऑफ इंडिया', तथा वैद्य, 'एपिक इंडिया'

देव के प्रति की गई प्रतिष्ठा का विकास भी लक्षित होता है। आरंभ में श्रीकृष्ण ने अपने विचारों को अपने वर्ग वा कुल वाले लोगों में ही प्रकट किया था और उन के अनुयायी बन जाने पर, भागवतधर्म का प्रचार अन्य समाजों में होने लगा। जैसा ऊपर कहा गया है मेगास्थनीज के समय तक कृष्ण एक प्रतिष्ठित व प्रभावशाली महापुरुष थे जिन के मत का प्रचार अभी तक मथुरा प्रदेश में ही हो पाया था, परंतु तक्षशिला के हेलियोदोरा के समय तक अर्थात् ईसा की दूसरी शताब्दी (पूर्व) में यह वर्तमान ग्वालियर तक फैल गया और उस के अनुयायियों में विदेशी लोग तक सम्मिलित होने लगे। इसी प्रकार दूसरी शताब्दी (पूर्व) के ही, राजपूताना में पाए गए, 'घसुंडी शिलालेख' एवं नासिक के निकट मिले हुए प्रथम शताब्दी (पूर्व) के 'नानाघाट शिलालेख' से भी यह प्रकट होता है कि ईसा के जन्म के पहले ही इस मत का विस्तार पश्चिम एवं दक्षिण भारत में कुछ दूर तक पहुँच गया था।^१ इस मत के प्रचार का पता तत्कालीन भारतवर्ष के पूर्वी भागों में नहीं मिलता अतएव यह भी अनुमान किया जाता है कि भागवतधर्म उक्त समय तक मथुरा प्रदेश के आसपास तथा कुछ दूर तक उत्तर, पश्चिम एवं दक्षिण ही दिशा की ओर फैल रहा था। पूर्व के लोग इस से अधिकतर अपरिचित थे और इसी कारण इस ओर, मगध प्रदेश में, गौतम बुद्ध और महावीर के मतों का प्रचार सुगमता के साथ हुआ।^२

वासुदेव कृष्ण ने जिन-जिन बातों का उपदेश किया तथा जिन-जिन सिद्धांतों को उन के अनुयायी सात्वतों और भागवतों ने अपनाया था उन सब का सार 'श्रीमद्भगवद्गीता' में दिया गया है। पता नहीं श्रीकृष्ण ने अर्जुन से जो-जो शब्द कहे थे वे ठीक उसी रूप में उक्त ग्रंथ में वर्तमान हैं वा नहीं किंतु इतना तो निर्विवाद है कि उन के द्वारा प्रकट किए गए भावों का मूलरूप इस में अवश्य सुरक्षित है और यह रचना, उन के मत को मानने वालों के लिए, अत्यंत उपयोगी व महत्वपूर्ण है। 'श्रीमद्भगवद्गीता' के देखने से विदित होता है कि जिस समय उक्त उपदेश दिए गए थे उस समय यहाँ दार्शनिक व धार्मिक विचारों की दो मुख्य-मुख्य धाराएँ प्रचलित थीं जिन्हें सांख्य व योग नाम से पुकारा जाता था और, स्वीकृत पद्धतियों के अनुसार, जिन्हें, दूसरे शब्दों में, ज्ञानयोग व कर्मयोग भी कहा

^१ प्रो० रायचौधुरी, 'अर्ली हिस्ट्री अन् दि वैष्णव सेक्ट', पृ० ६९-७०

^२ डा० भांडारकर, 'वैष्णवविजय शक्तिम् एंड माइनर रेलिजस सिस्टम्स', पृ० १२

करते थे।^१ इन में से सांख्य वा ज्ञानयोग का मुख्य सिद्धांत यह था कि आत्मा नित्य, शुद्ध, एवं ज्ञानमय है और विकारों की भावना वा कर्मबंधन की अड़चनें उस में चेष्टामयी प्रकृति के संयोग से ही आती हैं, अतएव यह आवश्यक है कि, संसार के सभी बंधनों से अपना चित्त नितांत अलग रखने का अभ्यास डालते हुए, उसे स्वयं अपनी ओर उन्मुख किया जाय जिस से, अंत में, पूर्ण आत्मज्ञान हो कर, मुक्ति मिले। इस मार्ग की साधना वैदिक परमात्मोपासना की जगह आत्मोपासना वाली थी और इस का ज्ञानयोग कदाचित्, वैदिक ध्यानयोग का ही, एक प्रकार से, विकसित रूप था। इस के विपरीत योग या कर्मयोग का मुख्य सिद्धांत यह था कि आत्मा केवल सत् मात्र व सचेष्ट है और ज्ञान का आविर्भाव उस में प्रकृति के संसर्ग से ही संभव है; व्यक्तिगत चेष्टा द्वारा इच्छादि की शृंखला स्वभावतः बढ़ती रहती है और परिणाम दुःखमय होता है, अतएव अपने कर्म-संबंधी व्यापारों का निर्वाह, उन्हें यज्ञ वा कर्तव्यरूप मान कर, करना चाहिए जिस से, अंत में चल कर, दुःखों की निवृत्ति एवं स्वर्ग वा अत्यंत सुख की प्राप्ति हो। इस मार्ग की विशेषता यह थी कि इस में प्रचलित साधना ज्ञानयोग की आत्मोपासना की जगह एक प्रकार से, कर्मोपासना थी और जिस प्रकार इस का अंतिम लक्ष्य अत्यंत सुख का शाश्वत आनंद था उसी भाँति इस के यज्ञादि अनुष्ठानों में भी 'प्रीति' के अंश का विद्यमान रहना, विशेषरूप से, आवश्यक समझा जाता था।^२ इन्हीं दोनों मार्गों के दूसरे शब्दों में, क्रमशः निवृत्ति मार्ग व प्रवृत्ति मार्ग भी कहा जाता था।

उपरोक्त दोनों मार्गों के सिद्धांत, इस प्रकार परस्पर-विरुद्ध थे और दोनों की स्वीकृत पद्धतियाँ भी नितांत भिन्न-भिन्न थीं अतएव दैनिक जीवन में समस्या उपस्थित होने पर दोनों में से किसी एक को शीघ्र अपना लेना सरल नहीं था। पांडव अर्जुन के सामने भी, कुरुक्षेत्र की लड़ाई के आरंभ में ऐसी ही कठिनाई आ पड़ी थी जब वह मैदान में श्रेणीबद्ध सिपाहियों के बीच अपने संबंधी-जनों को देख कर तथा उन की भावी हत्या की आशंका से क्षुब्ध हो कर, कर्तव्यविमूढ़ हो गया और अपने मित्र सारथी कृष्ण से,

^१ लोकोस्मिद्धिविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ ।

ज्ञानयोगेन सांख्यानं कर्मयोगेन योगिनाम् ॥—श्रीमद्भगवद्गीता, (३-३)

^२ डा० गोस्वामी, 'दि भक्ति कल्ट इन ऐंडोड इंडिया', पृ० ४९

अपना श्रेयस्कर वा कल्याणमय कर्तव्य निश्चित करने के लिए, एक शिष्य की भाँति अनु-रोध करने लगा।^१ श्रीकृष्ण ने, अर्जुन के प्रश्न का उत्तर देते हुए, उसे समझाया कि “भावी सुख की प्राप्ति के लिए लड़ना अपना कर्तव्य समझ कर तुम समरक्षेत्र में आए थे और यहाँ कतिपय संबंधियों के मारे जाने की आशंका मात्र ने तुम्हें अपने लक्ष्य की ओर से उदासीन कर दिया, इस का कारण केवल यही है कि इस नैतिक स्थिति की ठीक आलोचना तुम ने नहीं की। तुम्हारा यह सोचना कि लड़ाई करने पर मेरे ऊपर कई प्रकार के उत्तरदायित्व आ जायेंगे अतएव इसे, उचित होने पर, छोड़ दें निरी मूर्खता है। वास्तव में कोई कार्य छोड़ने से नहीं छूट सकते और न केवल उन के करने मात्र से ही किसी प्रकार का बंधन आ सकता है। बंधन का मूल कारण कार्य के फल की आशा करने में निहित है, इस लिए आवश्यक है कि जो कुछ भी किया जाय वह यज्ञार्थ का कर्तव्य मात्र समझ कर ही किया जाय और उस के फल के परिणाम की बात, अपने अधीन न जान कर, भगवान् पर छोड़ दी जाय।” ऐसा करने से एक ओर अपने किसी कर्म को छोड़ने वा न छोड़ने का प्रश्न तक नहीं उठता और दूसरी ओर, फल की आशा वा वासना से निवृत्ति पा जाने पर हमें किसी बंधन का भय भी नहीं रहता। सब कुछ एक सच्चा सीधा कर्तव्य मान कर ही करना और उस के परिणाम को भगवान् के हाथ की बात समझना हमें सभी प्रकार की चिंताओं से मुक्त कर देता है और हमारे हृदय में एक अपूर्व आत्मविश्वास और आनंद का भाव भी जागृत होता है। श्रीकृष्ण ने इन उपदेशों द्वारा दोनों प्रचलित मार्गों को एक प्रकार से, मर्यादित कर उन का समन्वय किया और भगवान् पर भरोसा करने की भावना ला कर इस ज्ञान-कर्म-समुच्चय को एक नवीन कर्मयोग में परिणत कर दिया, जो भागवतों के बीच ‘एकांतिक धर्म’ के नाम से भी प्रसिद्ध है।

कहना न होगा कि भागवतों की दृष्टि में यह “‘एकांतिक धर्म’ सब से श्रेष्ठ है क्योंकि यह स्वयं नारायण वा भगवान् को भी प्रिय है।”^२ इस का सिद्धांत, एक प्रकार से, यों भी प्रकट किया जा सकता है कि मनुष्य को प्रत्येक काम करते समय यह धारणा

^१ मच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥

—श्रीमद्भगवद्गीता (२-७)

^२ नूनमेकांतधर्मोऽयम् श्रेष्ठो नारायणप्रियः ।—महाभारत, (१२-३४८-४)

बना लेनी चाहिए कि मैं इस के द्वारा भगवान् की इच्छापूर्ति में केवल एक साधन मात्र हूँ। ऐसी मनोवृत्ति के साथ निरंतर कार्य करते रहने पर मानसिक विकारों से छुटकारा मिल जाता है, ईश्वर की सर्वव्यापकता में विश्वास दृढ़तर होता जाता है और सभी वस्तुओं को एक भाव के साथ देखने का स्वभाव भी पड़ जाता है।^१ अतएव इस के द्वारा ईश्वर के प्रति-विशुद्ध प्रेम का होना एवं उस का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लेने पर उस में लीन हो जाना कोई असंभव बात नहीं। हाँ, निःस्वार्थ भाव के साथ विधिवत् कर्तव्य-पालन करते रहना सहज काम नहीं है क्यों कि इस पृथ्वी पर अथवा देवलोक में भी ऐसी कोई वस्तु नहीं जो प्रकृति के तीन गुणों से मुक्त हो।^२ ये सत्व, रज और तम देह में रहने वाले अव्यय अर्थात् निर्विकार आत्मा को भी देह में बाँध लेते हैं^३ और अज्ञानी बन कर वह अपने को वास्तव में, इन गुणों द्वारा होने वाले कर्मों का भी कर्ता मानने लगता है।^४ फिर तो अहंकारवश आसक्ति का होना स्वाभाविक है और इस से वचने का एकमात्र उपाय यह है कि, सभी प्राणियों के हृदय में रह कर अपनी माया से उन्हें “किसी यंत्र पर चढ़ाए गए की भाँति घुमाने वाले, भगवान्”^५ में विश्वास कर ‘सर्व भाव से’ उन की शरण में जा गिरे और उस के अनुग्रह द्वारा परम शांति एवं नित्य स्थान पाने^६ का भागी बने। श्रीकृष्ण ने इस धर्म का उपदेश देते समय “मुझ से परे और कुछ नहीं है और, धागे में पिरोए हुए मणियों के समान, मुझ में यह सब गुँथा हुआ है”^७ ऐसे भाव भी अनेक स्थलों

^१ डा० भांडारकर, ‘वैष्णवविज्ञान शैविज्ञ एंड माइनर रेलिजस सिस्टम्स’, पृ० ३७

^२ न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ।

सत्त्वं प्रकृतिर्जैर्मुक्तं यदेभिः स्यान्निर्भिर्गुणैः ॥—गीता, (१८-४०)

^३ सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः ।

निबन्धन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥—बही, (१४-५)

^४ प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।

अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥—बही, (३-२७)

^५ ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।

भ्रामयन्सर्वभूतानि यंत्रारूढानि मायया ॥—बही, (१८-६१)

^६ तमेवशरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।

तत्प्रसादात्पराः शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥—बही, (१८-६२)

^७ मत्तः परतरं नान्यात्किंचिदस्ति धनंजय ।

मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥—बही, (७-७)

पर व्यक्त किए थे और अर्जुन का ध्यान बार-बार इसी ओर आकृष्ट किया था कि “जो कुछ है, वह सब वासुदेव ही है।”^१ ईश्वर वा भगवान् और वासुदेव कृष्ण, इस प्रकार, इस धर्म के अनुसार एक ही थे और उसी एक की ‘अनन्य योग द्वारा उपासना’ करने के लिए “मुझ में ही मन लगा, मुझ में बुद्धि को स्थिर कर, इस से तू निःसंदेह मुझ में ही निवास करेगा”^२ वा “मुझ में अपना मन रख, मेरा भक्त हो, मेरा भजन कर और मेरी वंदना कर; मैं तुझ से सच्ची प्रतिज्ञा कर के कहता हूँ कि इस के द्वारा तू मुझ में ही आ मिलेगा”^३ कहा गया था। आत्म-समर्पण और एकांत-निष्ठा^४ इस मार्ग की मुख्य बातें थीं और इसी कारण इस का ‘एकांतिक धर्म’ नाम भी सार्थक था।

(४)

भागवत, सात्त्वत वा एकांतिक धर्म के विषय में ‘महाभारत’ के ‘नारायणीय’ नामक अंश में कहा गया है कि स्वयं भगवान् ने पहले-पहल इसे अर्जुन को बतलाया था और फिर नारायण ने भी इस का उपदेश नारद को दिया।^५ नारद इस के लिए नारायण का दर्शन करने इवेतदीप में गए थे, जहाँ पर नियम था कि बिना उन का ‘एकांतिक’ वा एकांतनिष्ठ भक्त हुए कोई उन्हें देख नहीं पाता था। नारद इस प्रकार के भक्त समझे गए थे और, इसी कारण, उन से इस ‘वासुदेव धर्म’ की व्याख्या भी की गई। वासुदेव को वहाँ आत्मा का आत्मा अथवा परमात्मा कहा गया है और उन्हें सब का स्रष्टा भी माना गया है। संकर्षण उन्हीं के एक दूसरे रूप हैं और वे सभी प्राणियों के प्रतिनिधि स्वरूप हैं। संकर्षण से प्रद्युम्न अथवा मन की उत्पत्ति होती है, और प्रद्युम्न से अनिरुद्ध वा अहंकार की। ये चारों नारायण वा वासुदेव भगवान् की ही मूर्तियाँ हैं। देवता वा सारे प्राणि-

^१ वासुदेवः सर्वमिति ।—गीता (७-१९)

^२ मय्येव मन आधत्स्व नयि बुद्धि निवेशय ।

निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥—बही, (१२-८)

^३ मन्मना भवं मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।

मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोसि मे ।

—बही, (१८-६५)

^४ मामेकं शरणं व्रज ।—बही, (१८-६६)

^५ महाभारत, (१२-३४६-१०-११, तथा १२-३४८-६-८)

वर्ग नारायण से उत्पन्न हो कर नारायण में ही विलीन होते हैं।^१ नारायण को, इस प्रसंग में, बहुधा हरि भी कहा गया है। नारायण वा हरि की उपरोक्त चारों मूर्तियाँ वा विभूतियों के संबंध में ही 'व्यूहवाद' का मत प्रचलित हुआ। व्यूहवाद का कोई उल्लेख 'श्रीमद्भगवद्गीता' में नहीं आता यद्यपि (अ० ७, श्लो० ४-५ में) वासुदेव कृष्ण की अष्टधा प्रकृति में पंचतत्त्वों के साथ-साथ मन, बुद्धि, जीव और अहंकार का भी स्पष्ट उल्लेख है। जान पड़ता है कि जीव, मन और अहंकार को ही आगे चल कर संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध का व्यक्तित्व मिल गया।^२ पतंजलि ने कदाचित् "जनादंनस्त्वात्मं चतुर्थ एव"^३ द्वारा इस व्यूहवाद की ओर ही संकेत किया है। जो हो, इस विषय की स्पष्ट चर्चा सर्वप्रथम 'महाभारत' (शांतिपर्व) के उपरोक्त 'नारायणीय' नामक अंश में ही की गई है। डाक्टर भांडारकर का अनुमान है^४ कि 'श्रीमद्भगवद्गीता' की रचना भागवत-धर्म के सुसंगठित रूप में तैयार होने के पहले ही हो चुकी थी और, वासुदेव के प्रद्युम्नादि कुटुंबीजनों के रूपों में, परमात्मा की प्रकृतियों का दिखलाया जाना, उस पिछले समय की घटना है। 'घसुंडी' के शिलालेख तथा पतंजलि के एकाध उल्लेखों^५ द्वारा यह अवश्य प्रतीत होता है कि, वासुदेव के अतिरिक्त, संकर्षण वा वलदेव का भी उपास्यदेव होना, ईसा के पूर्व, दूसरी शताब्दी से ही, सिद्ध है, और यह बात 'निर्देश' के प्रसंग से भी सूचित होती है, किंतु चारों के व्यूह का पता नारायणीय से अन्यत्र उधर नहीं चलता। 'श्रीमद्भगवद्गीता' का समय उक्त डाक्टर साहब के अनुसार^६ ईसा के पूर्व चौथी शताब्दी के आरंभ से भी पहले का है और 'नारायणीय' की रचना, संभवतः तीसरी शताब्दी (पूर्व) की है।

'नारायणीय' में उपरोक्त व्यूहवाद के प्रसंग के उपरांत ही अवतार ग्रहण करने की भी चर्चा है और भगवान् के वाराह, नृसिंह, वामन, भार्गव राम, दाशरथी राम

^१ डा० भांडारकर, 'वैष्णविज्म शैविज्म ऐंड माइनर रेलिजस सिस्टम्स', पृ० ८

^२ वही, पृ० १७

^३ पाणिनि के सूत्र (६-३-६) पर भाष्य।

^४ डा० भांडारकर, 'वैष्णविज्म शैविज्म ऐंड माइनर रेलिजस सिस्टम्स', पृ० १७

^५ पाणिनि के सूत्र (२-२-३४) पर भाष्य।

^६ डा० भांडारकर, 'वैष्णविज्म शैविज्म ऐंड माइनर रेलिजस सिस्टम्स', पृ० १८

एवं कृष्णावतार का उल्लेख किया गया है। ये छः अवतार दूसरे स्थल पर हंस, कूर्म, मत्स्य और कल्कि ले कर दस की संख्या में आते हैं और फिर आगे के पुराणों में इस में सुधार व वृद्धि बराबर होती रहती है।^१ अवतारवाद का सूत्रपात सब से पहले ब्राह्मण साहित्य में ही हो गया था क्योंकि 'शतपथ ब्राह्मण' में प्रजापति का कूर्म रूप धारण कर के संतानों की सृष्टि करने तथा वाराह बन कर समुद्र के भीतर से पृथ्वी को बाहर लाने के विषय में वर्णन किया गया है और विष्णु के वामन हो कर, देवताओं के लिए, तीन पगों द्वारा, असुरों से पृथ्वी ले लेने की भी चर्चा ब्राह्मणों में आई है।^२ परंतु इस विषय का अधिक प्रचार क्रमशः आगे होता गया। श्रीकृष्ण ने 'श्रीमद्भगवद्गीता' में स्पष्ट कहा है कि "हे भारत, जब-जब धर्म की ग्लानि होती है और अधर्म की प्रवृत्ति बढ़ जाती है तब-तब मैं स्वयं ही जन्म वा अवतार लिया करता हूँ।"^३ फिर भी 'नारायणीय' में उन्हें नारायण वा वासुदेव का अवतार बतलाया गया है और ईसा के अनंतर गुप्तकाल में जब अवतारवाद का सब से अधिक प्राबल्य हुआ तब यह बात और भी निश्चित हो गई और भागवत वा सात्त्वतधर्म के, वैष्णवधर्म में परिणत होने के कारण, उन की गणना, अन्य अवतारों में, प्रायः एक ही प्रकार से, होने लगी। भागवत वा सात्त्वतधर्म का अंतिम विकसित रूप 'पांचरात्र धर्म' था जो, लगभग तीसरी शताब्दी (ईसा के पूर्व) से, प्रचलित हुआ कहा जाता है।^४ इस रूप में भक्ति एवं वासुदेव भगवान् के व्यूह का महत्त्व अधिक रहा और इस के समर्थन में अनेक तंत्रों वा संहिताओं की रचना हुई। पांचरात्र धर्म में अवतारवाद का अधिक महत्त्व नहीं था।

सात्त्वत, भागवत, एकांतिक वा पांचरात्र धर्म, वैष्णव धर्म के रूप में, क्यों और किस प्रकार परिणत हुआ यह बतलाना कठिन है। सात्त्वत धर्म, जैसा कि अब तक दिखलाई गई उस की प्रगति से भी विदित हुआ होगा, अपनी प्रारंभिक दशा में, वैदिक कर्म-

^१ डा० भांडारकर, 'वैष्णवविष्णु शैविष्णु ऐंड माइनर रेलिजस सिस्टम्स', पृ० ५८-९

^२ शतपथ ब्राह्मण, (७-५-१-५; १४-१-२-११) तथा प्रो० रायचौधुरी, 'अर्ली हिस्ट्री अन्ड दि वैष्णव सेक्ट', पृ० ९६-९७

^३ यदायदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।

अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥—श्रीमद्भगवद्गीता, (४-७)

^४ डा० भांडारकर, 'वैष्णवविष्णु शैविष्णु ऐंड माइनर रेलिजस सिस्टम्स', पृ० ५४

कांड युग की कुछ रुढ़ियों का सुधार करने की ओर ही अग्रसर हुआ था। अतएव यज्ञादि अनुष्ठानों में बहुधा की जाने वाली हिंसा का उस ने अहिंसा के उपदेश द्वारा विरोध किया था और, ध्यानयोग द्वारा आत्म-चिंतन मात्र में अपना समय लगाने के लिए निवृत्ति-मार्ग अपनाने वालों को केवल कर्मफल के ही सन्ने त्याग की शिक्षा दी थी। इस का भक्ति-मार्ग भी, इसी प्रकार पहले समय की श्रद्धा एवं उपासना का कहीं सुधरा हुआ रूप था और इन जैसी बहुत कुछ अन्य नवीन बातों को भी ले कर अपने पांचरात्र धर्म की अवस्था तक यह बराबर प्रचलित व प्रचारित होता आया। देश में, समयानुसार, इन्हीं दिनों अन्य सुधार-प्रचारक संप्रदायों का भी प्रचार होने लगा था और जैन एवं बौद्ध धर्मों ने भी ऐसी ही भावनाएँ ले कर अपने-अपने झंडे उठाए थे। परंतु ये दोनों धर्म निरीश्वरवादी थे और सनातन वैदिक धर्म के, मूल क्या सुधरे हुए, रूपों पर भी इन का धक्का लगना स्वाभाविक था, इस लिए इन दोनों की प्रतियोगिता में अथवा उन का सामना करने के प्रयत्न में ही प्रायः सभी दूसरे दल प्रयत्नशील हो गए। ऐसी परिस्थिति में पड़ कर ही मूल वैदिक परंपराओं के विशिष्ट धार्मिक विचार सात्त्वतधर्म के सिद्धांतों के साथ समन्वित हो गए और परिणामस्वरूप नवीन वैष्णवधर्म की नींव पड़ी। इस विषय में एक उल्लेखनीय बात यह भी है कि 'श्रीमद्भगवद्गीता' के कर्मयोग में, प्रकारांतर से, जिस ज्ञान-कर्म-समुच्चय की ओर संकेत था वह पीछे 'वेदांतदर्शन' द्वारा भी अपनाया गया और पिछले कर्मकांड के समर्थन में उसे स्मार्तधर्म ने पूरा महत्त्व प्रदान किया। इस ज्ञान-कर्म-समुच्चय के अनुसार अपने कर्तव्य का पालन करते हुए, मनुष्य को, अपना चित्त सदा उस परमात्मा की ओर लगाए रहना आवश्यक है जो सभी कर्तव्यों को निर्धारित कर उन के पालन के विषय में विधान निर्मित करता है और उन की पूर्ति हो लेने पर उन्हें अपने अधिकार में ले भी लेता है। स्मार्तधर्म के दार्शनिक सिद्धांत से ज्ञाता और ज्ञेय दोनों ईश्वराधीन और, माया अथवा प्रकृति के दो भिन्न-भिन्न पक्षस्वरूप हैं और ईश्वर, माया, तथा मायातीत के बीच एक संयोजक वस्तु के समान है। यही ईश्वर नारायण वा ब्रह्मा है जिस में सब कुछ निहित है अतएव जो कुछ आत्मा के वास्तविक स्वार्थ की दृष्टि से किया जाय उस का परमात्मा के लिए भी होना समझा जा सकता है और वही सारी सृष्टि के निमित्त भी है। आत्मा, परमात्मा एवं प्रकृति, इस प्रकार, एक पूर्व के ही अंग मात्र हैं और एक के लिए जो भला-बुरा होगा वह सब के लिए हो सकता है। उस एक की आराधना

भी, इसी लिए, सब की आराधना कही जायगी क्यों कि वह सब में ओत-प्रोत है और, इस विचारधारा के अनुसार, इसी कारण, परमात्मोपासना का, पहले बतलाया गया रूप, एक प्रकार की 'भावना-भक्ति' बन जाता है।^१ नवीन वैष्णवधर्म ने इस भावना भक्ति में कदाचित् अपनी 'गीता' द्वारा प्रतिपादित निष्ठा की ही एक झलक देखी और इसे अविलंब स्वीकार कर लिया।

वैष्णवधर्म को तत्कालीन अंतिम रूप में सहायता पहुँचाने वाली एक और घटना हुई, जिस का भी उल्लेख कर देना यहाँ पर अनुचित न होगा। डाक्टर भांडारकर का कहना है कि ईसा के पूर्व पहली शताब्दी तक किसी भी प्रामाणिक भागवत धर्म-संबंधी ग्रंथ में अथवा शिलालेख आदि में भी गोपाल कृष्ण की चर्चा नहीं पाई जाती। इस के विरुद्ध ईसा के अनंतर आने वाली शताब्दियों की ऐसी सामग्रियाँ इस कृष्ण की कथाओं से भरी पड़ी हैं जिस से अनुमान किया जा सकता है कि उक्त दोनों समयों के बीच इस संबंध में कोई नवीन बात अवश्य हुई होगी। यह बात या घटना उक्त डाक्टर महोदय के अनुसार किसी आभीर नामक जाति का पश्चिम के देशों से घूमते हुए आ कर भारतवर्ष में, मथुरा प्रदेश के आस-पास से ले कर सौराष्ट्र तथा काठियावाड़ तक, बस जाना है। इस जाति की मुख्य जीविका गायों का रखना व चराना था और इस का देवता एक बालक था जिसे ईसा की दूसरी शताब्दी में वासुदेव कृष्ण के रूप में सम्मिलित कर लिया गया। क्राइस्ट के नाम-साम्य के कारण बालक कृष्ण की अनेक लीलाएँ भी ईसा मसीह की जन्म-कथाओं के ढर्रे पर ही रची गईं और पीछे लिखे जाने वाले 'हरिवंश', 'विष्णुपुराण', 'भागवत', 'वैवर्तपुराण' आदि ने इन बातों को और भी बढ़ा दिया।^२ परंतु इस मत के स्वीकार करने में एक अड़चन यह पड़ती है कि तामिल प्रदेशों में आभीरों को 'अयर' कहते हैं जिन के नाम का अकार, गाय का अर्थ सूचित करने वाले शब्द 'आ' से बना होना सिद्ध करता है और जो अपनी प्राचीन जातीय परंपरानुसार प्रसिद्ध पांडुओं के साथ, ईसा के कई शताब्दी पहले, यहाँ आए थे।^३ दूसरी बात इस संबंध में यह भी कही जा सकती है कि गोपाल-

^१ डा० गोस्वामी, 'दि भक्ति कल्ट इन ऐंशेंट इंडिया', पृ० ८०-८२

^२ डा० भांडारकर, 'वैष्णविज्म, शैविज्म ऐंड साइनर रैलिजस सिस्टम्स', पृ० ४९-५० तथा ५२

^३ कनकसभाई, 'तामील्स एंटीन हंड्रेड इयर्स एगो', पृ० ५७

कृष्ण की कल्पना तथा बहुत सी उन की वाललीला-संबंधी कथाओं के भी मूलस्रोत वैदिक साहित्य के अंतर्गत, विष्णु देवता के प्रसंगों में, वर्तमान हैं। 'ऋग्वेद' में विष्णु को 'गोपा' कहा गया है^१ और एक दूसरे स्थल पर उन के परमपद वा स्थान में उत्तम-उत्तम सींगों वाली गायों का रहना भी बतलाया गया^२ है। फिर उसी वेद में विष्णु को बाल्यावस्था पार कर युवा होता दिखलाया^३ है और उन के द्वारा शंवर तथा उस की नगरियों के नष्ट करने की प्रार्थना भी है।^४ इसी प्रकार 'वोघायन-धर्मसूत्र' में भी विष्णु को गोविंद और दामोदर कहा गया है।^५ यद्यपि वहाँ पर कृष्ण की कोई भी चर्चा नहीं है। अतएव गोपाल-कृष्ण की लीलाओं का ऋग्वेद वा ईसा की कथाओं के आधार पर बनाया जाना निर्विवाद नहीं समझा जा सकता। ईसा की जन्मकथा तथा आभीरों के बालक-देवता की लीलाओं से उस के मूल-रूप का कुछ प्रभावित हो जाना संभव है।

जो हो नवीन वैष्णवधर्म का संघटन, डाक्टर भांडारकर के अनुसार वास्तव में, चार धार्मिक विचारधाराओं के संगम का परिणाम था जिन में से पहली के मूलस्रोत वैदिक देवता विष्णु, दूसरी के दार्शनिक देवता नारायण, तीसरी के ऐतिहासिक देवता वासुदेव और चौथी के आभीर देवता बाल-गोपाल थे और उक्त चारों की कथाओं वा परंपराओं ने इस के निर्माण में कुछ न कुछ सहायता प्रदान की थी।^६ वैष्णव शब्द सांप्रदायिक दृष्टि से महाभारत के अठारहवें अर्थात् अंतिम पर्व में प्रयुक्त हुआ है जहाँ पर कहा गया है कि "इस में संदेह नहीं कि अठारहों पुराणों के श्रवण करने का जो फल होता है वह वैष्णव हो कर मनुष्य प्राप्त कर लेता है।"^७ यह श्लोक, वास्तव में, उस समय का लिखा

^१ विष्णुर्गोपा अदाभ्यः—ऋग्वेद, (१-२२-१८)

^२ यत्र गावो भूरिशृंगा अयासः—वही, (१-१५४-६)

^३ बृहच्छरीरो विनिमान ऋकृभिर्बुवा कुमारः प्रत्येत्याहवम्—ऋग्वेद, (१-१५५-६)

^४ इंद्राविष्णू दंतिहाः शंवरस्य नवपुरो नवतिचक्षुषिष्ठम्।

शतं वचिनः सहस्रं चसाकं हयो अप्रत्यसुरस्य वीराण् ॥—वही, (७-९९-५)

^५ वोघायनधर्मसूत्र, (२-५-२४)

^६ डा० भांडारकर, 'वैष्णवविज्जम्, शैविज्जम् एंड अदर माइनर रेलिजस सिस्टम्स',

^७ अष्टादश पुराणानां श्रवणाद्यत्फलं भवेत्।

तत्फलं समवाप्नोति वैष्णवो नात्र संशयः॥—महाभारत, (१८-६-९७)

हुआ है जब कि ईसा की कुछ शताब्दियाँ बीत चुकने पर अठारह पुराणों की रचना समाप्त हो चुकी थी। महाभारत के युद्ध अथवा महाभारत ग्रंथ के प्रामाणिक प्राचीन अंशों की रचना के समय वैष्णवधर्म का वही रूप वर्तमान था जिसे भागवत वा सात्वतधर्म कहते हैं। विष्णु देवता उस समय आदित्यों में से एक समझे जाते थे और श्रीकृष्ण ने भी इसी कारण अपने को 'आदित्यों में विष्णु' बतलाया था।^१ महाभारत में एक दूसरे स्थल पर विष्णु को कदाचित् भगवान्, नारायण वा हरि का रूप समझ कर ही घाता, अज एवं अमृत कहा है और उन्हें "सब के पिता-माता तथा सारे संसार के शाश्वत गुरु" की भी उपाधि दी है।^२ फिर भी उस काल के मुख्य उपास्यदेव विष्णु नहीं थे बल्कि वासुदेव थे और वही अंत में, इस धर्म के केंद्र-बिंदु का काम कर के, वैष्णवधर्म के संघटन के समय, विष्णु के एक अवतार मात्र बन गए।

वैष्णवधर्म का संघटन, भक्तियोग अथवा भक्ति-भावना के विकसित हो कर अधिक व्यापक रूप ग्रहण करने में, विशेष रूप से सहायक हुआ। जैसा पहले कहा जा चुका है भक्ति की भावना वैदिक समय में श्रद्धा के रूप में ही उत्पन्न हुई थी और क्रमशः उपासना की विविध क्रियाओं द्वारा निखरती हुई स्मार्त-धर्म के आरंभ वा प्रचार के समय तक भावना-भक्ति के, अधिकतर स्पष्ट भाव, वह अपना चुकी थी। उस के उपास्य-देव भी, इसी प्रकार वैदिक काल के अनेक काल्पनिक देवताओं की जगह पहले एक रूप में मनोनीत हुए और फिर परमात्मा अथवा आत्मा की भी भावनाओं द्वारा व्यक्त किए जाते हुए, उक्त समय तक, एक पूर्ण रूप में सब को, अंगों की भाँति, समन्वित करने वाले समझे गए। इस वैदिक परंपरा के साथ ही, उधर वासुदेव कृष्ण के, सर्व-प्रथम जीवित, जागृत रूप से चल कर, उन्हें क्रमशः महापुरुषत्व व देवत्व तक प्रदान करने की भी प्रथा चल रही थी, अतएव जब इन दोनों का पारस्परिक मिलन हुआ और, जैन तथा बौद्ध सरीखे प्रचलित निरीश्वरवादी धर्मों के प्रतिगामित्व में, जब "सावकानां हितार्थाय ब्रह्मणो रूपकल्पना" की विशेष आवश्यकता पड़ी तो नवीन आराध्यदेव विष्णु को, स्वभावतः, विग्रहत्व प्रदान कर दिया गया। विष्णु को भी, इस के लिए सभी वैदिक वा अन्य देवताओं से, अधिक

^१ आदित्यानामहं विष्णुः ।—श्रीमद्भगवद्गीता, (१०-२१)

^२ पिता माता च सर्वस्य जगतः शाश्वतो गुरुः—महाभारत, (१२-३३४-२७)

उपयुक्त समझने का कारण यह था कि, पहले तो, उन का नाम ही (विप—व्यापना के कारण) सर्व-व्यापकत्व का द्योतक था दूसरे वैदिक काल के प्रारंभ से ही उन का काम दुःखों से पीड़ित मानवों की रक्षा करना समझा जाता था^१ और वे असुरों के विरुद्ध देवताओं तक के सहायक^२ थे। इस के सिवाय ऊपर कही गई चार विचारधाराओं के संगम के आविर्भूत होने पर, आवश्यकतानुसार विष्णु-संबंधी अनेक नाम तथा प्रसंग तक नवीन भावनाओं के अधिक अनुकूल पड़ते थे। अतएव इस देवता को एक प्रकार का आध्यात्मिक और अलौकिक व्यक्तित्व प्रदान कर इस के अंशधारी भिन्न-भिन्न अवतारों की कल्पना की गई और भक्ति का उपरोक्त भावनात्मक अर्थ अधिक स्पष्टता पा कर अब अपने आराध्यदेव की शक्ति में सच्ची सहयोगिता व सहभोगिता (भज्=भाग लेना, वांटना) प्राप्त करने का भाव व्यक्त करने लगा और, इस प्रकार, विकसित हो कर साधना 'शुद्ध-भक्ति' के रूप में परिणत हो गई।

शुद्धभक्ति के अनुसार आराध्यदेव विष्णु के मुख्य तीन गुण उन की संविद्, ह्लादिनी तथा संधिनी नामक शक्तियाँ हैं जो मानवों में भी, उसी भाँति ज्ञान, आनंद एवं कर्म-संबंधिनी प्रवृत्तियों के रूप में दिखलाई पड़ती हैं और जिन्हें वेदांत के अनुसार, दूसरे शब्दों में, तथा भिन्न क्रम से भी, सत्, चित्, और आनंद भी कहा जाता है। भक्त का कर्त्तव्य भगवान् के लिए अपना सर्वस्व अर्पण कर उन के उपयुक्त गुणों की पूर्णता में भाग लेना है। वह ज्ञान की इच्छा किसी योगी से कम नहीं करता किंतु उस का उद्देश्य 'विदेहमुक्ति' नहीं है। वह, अपने भगवान् के साथ, पूर्णत्व के आनंद में भाग लेना चाहता है और उस का एकमात्र कर्त्तव्य इसी कारण, अपने भगवान् की शुद्ध और अबाधित आराधना है। उस की दृष्टि में, यज्ञादि अनुष्ठान भी केवल आत्म-समर्पण के ही प्रकारांतर हैं और उस की यह दृढ़ धारणा है कि कर्मयोग और संन्यासयोग का अंततोगत्वा भक्ति-योग में लीन हो जाना अवश्यभावी है। आदर्श कर्म उस पूर्णता की प्राप्ति के लिए, मनो-योगपूर्वक कर्त्तव्यों का पालन करना है और उसी ढंग से, आदर्श ज्ञान उस पूर्णत्व को ही,

^१ यो रजांसि विममे पार्थिवानि त्रिदिचद्विष्णुर्मनवे वाधिताय ।—ऋग्वेद, (६-४९-१३)

^२ शतपथ ब्राह्मण, (१-२-२-५)

सच्ची अनुभूति के साथ जानना है। शुद्ध भक्त उस पूर्णत्व का ही अनुभव करेगा, उसी के लिए जिएगा और उसी के साथ अनंत समय तक रहना चाहेगा। कहना न होगा कि इस भक्तिमार्ग में अंतिम पूर्णता ने भी अनुभवगम्य रूप धारण कर लिया और इस के द्वारा, वस्तुतः सभी मतों और मार्गों का समन्वय हो कर एक सच्चे और वास्तविक दिव्य जीवन का आदर्श निश्चित हो गया जिस के आलोक में, अपूर्व रूप धारण कर लेने के कारण, वैष्णवधर्म क्रमशः और भी लोकप्रिय होने लगा।

(५)

भक्तिमार्ग वैदिक युग के श्रद्धात्मक बीज से किस प्रकार क्रमशः, किंतु साथ ही स्वभावतः, विकसित हो कर ईस्वी शताब्दियों के प्रारंभ होते-होते वैष्णवधर्म के मुख्य रूप में परिणत हो गया इस का दिग्दर्शन, संक्षेप में, ऊपर कराया जा चुका है। ईसा के अनंतर तीसरी वा चौथी शताब्दी तक वैष्णवधर्म की अवस्था का प्रायः कुछ भी पता नहीं चलता। वह इस के लिए, एक प्रकार से, अंधकार-पूर्ण युग है और इस का कारण यह जान पड़ता है कि इस धर्म की जन्मभूमि मथुरा प्रदेश तक में उन दिनों शक और कुशान-वंशी राजाओं का आधिपत्य था जो अधिकतर शैव, अथवा बौद्धधर्म के माननेवाले थे। तो भी मथुरा, नासिक तथा 'चाइनास्टोन' वाले, उक्त समय के, शिलालेखों से इस विषय पर कुछ न कुछ प्रकाश अवश्य पड़ता है। इन में से नासिक वाले शिलालेख से, विशेष कर, यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उस काल तक 'संकर्षण' और 'वासुदेव' अपने वृष्णि-वंशी रूपों को बदल कर अब क्रमशः 'राम' और 'केशव' हो गए थे और दोनों को भागवत की जगह केवल पराक्रमी मात्र समझा जाने लगा था।^१ परंतु गुप्तकाल के आरंभ में ही यह धर्म पंजाब, राजपूताना, मध्य और पश्चिमी भारत तथा मगध में प्रचलित होने लगा और उस के अंत तक इन में तथा अन्य कई स्थानों में इस का प्रचार अनुदिन बढ़ता ही गया। कारण यह था कि गुप्तवंश के प्रसिद्ध महाराज चंद्रगुप्त द्वितीय, कुमारगुप्त एवं स्कंदगुप्त ने भी (ईस्वी सन् ४०० से ४६४ तक) अपनी मुद्राओं पर अपने को 'परम-भागवत' अंकित कर इसे, राजधर्म की भांति, अपना लिया और उन के समर्थन द्वारा

बल पा कर यह भारत के कोने-कोने तक फैल गया। गाजीपुर ज़िले के, स्कंदगुप्त-निर्मित, भीतरी नामक शिलालेख में सम्राट् द्वारा अपने पिता कुमारगुप्त प्रथम की पुण्यस्मृति में 'शार्ङ्गिन' की प्रतिमा स्थापित किए जाने का उल्लेख है और उसी प्रकार 'जूनागढ़' के एक दूसरे शिलालेख में 'लक्ष्मीनिवास' विष्णु की स्तुति भी की गई है।^१ महाकवि कालिदास की रचना 'मेघदूत' में एक स्थल पर इंद्रधनुष द्वारा सुशोभित काले मेघ के लिए मोरपंख धारण करने वाले गोपवेपधारी विष्णु (अर्थात् श्रीकृष्ण) की उपमा दी गई है,^२ अतएव चंद्रगुप्त द्वितीय को यदि हम उक्त कवि का आश्रयदाता विक्रमादित्य मान लें तो यह वर्णन पाँचवीं शताब्दी के आरंभ का समझा जाना चाहिए। फिर भी, कदाचित् उसी समय के, प्रसिद्ध कोषकार अमरसिंह के 'अमरकोश' के उल्लेखों के आधार पर डाक्टर भांडारकर का अनुमान है कि उस समय वैष्णवधर्म का प्रचलित रूप भागवतधर्म ही रहा होगा क्यों कि उस में, ब्रूहवाद की ओर भी संकेत है।^३

गुप्तकालीन वैष्णवधर्म की मुख्य विशेषताएँ इस प्रकार हैं—प्रथम यह कि सात्वतों वा भागवतों ने अब विष्णु के साथ कृष्ण का एकीकरण, प्रकट रूप में, स्वीकार कर लिया था; विष्णु अब देवाधिदेव थे और कृष्ण उन के केवल पूर्ण अवतार मात्र थे और दूसरे शब्दों में, भागवतधर्म वैष्णवधर्म में मग्न हो गया था। दूसरी, यह कि अवतारों की पूजा अब अधिक होने लगी थी और उन के नाम तथा संख्या में भिन्न-भिन्न प्रकार के परिवर्तन होने लगे थे। तीसरी यह कि अवतार पूजा के महत्व के सामने ब्रूहवाद गौण समझा जाने लगा था और उस की चर्चा अब बहुत कम होती थी। इस के सिवाय चौथी विषेश बात यह थी कि विष्णु वा नारायण के साथ-साथ अब लक्ष्मी की भी पूजा आरंभ हो गई और लक्ष्मीनारायण की मूर्तियाँ उस समय की मुद्राओं तक पर अंकित

^१ प्रो० रायचौधुरी, 'अर्ली हिस्ट्री अन्ड दि वैष्णव सेक्ट', पृ० १०२

^२ रत्नच्छाया व्यतिकर इव प्रेक्ष्यमेतत्पुरस्तात् ।

वल्मीकाप्राप्तप्रभवति धनुः खण्डमाखंडलस्य ।

येन श्यामं वपुरतितरां कांतिमापत्स्यते ते ।

वह्णेव स्फुरितरुचिता गोपवेपस्य विष्णोः ॥ मेघदूत, (पूर्वार्ध, श्लोक १५)

^३ डा० भांडारकर, 'वैष्णवविज्ञान, शैविज्ञान एंड माइनर रेलिजस सिस्टम्स',

होने लगीं।^१ कहते हैं कि वैदिक युग में इंद्रदेव प्रार्थियों को अपनी वृष्टि द्वारा जल और अन्न दिया करते थे और इस लिए वही 'इरा' वा 'इला' (उन दोनों के लिए प्रयुक्त एक शब्द) के मालिक थे। समयानुसार 'इरा' वा 'इला' को धन या संपत्ति समझने लगे और क्रमशः, श्री अथवा लक्ष्मी मनुष्य के उन अमूल्य पदार्थों की प्रतिनिधि बन गईं। अतएव श्री वा लक्ष्मी इंद्र के ही अधिकार में रहीं, किंतु 'विष्णुपुराण' के अनुसार, दुर्वासा के शाप के कारण, इंद्र ने लक्ष्मी को खो दिया और समुद्र-मथन के उपरान्त जब वे फिर प्रकट हुईं तो उन पर विष्णु का अधिकार हो गया।^२ विष्णुदेव तब तक सर्वश्रेष्ठ समझे जाने लगे थे, और वैष्णवधर्म के संगठन के समय तो वे ही सब कुछ थे। 'श्री मादेवता लक्ष्मी' की पूजा ईसा के पहले से ही ब्राह्मण और बौद्ध दोनों किसी न किसी रूप में, करते आ रहे थे और गुप्तकाल में जब "स्त्रियों के अधिकार का प्रबल आंदोलन उठा"^३ तो उन की प्रतिष्ठा और भी बढ़ गई इस लिए सांख्य-दर्शन द्वारा बहुत कुछ प्रभावित होने के कारण पुरुष-प्रकृति की जगह वैष्णवों ने 'लक्ष्मीनारायण' को अपना लिया।^४ अस्तु, वैष्णवधर्म इन विशेषताओं के साथ गुप्त-काल में भली-भाँति प्रचलित रहा। किंतु, गुप्तसाम्राज्य का ध्वंस होते ही, उत्तरी भारत में इस का प्रभाव क्रमशः घटने लगा। इधर के मुख्य-मुख्य महाराज मिहिरगुल, यशो-धर्मन् तथा हर्षवर्धन ने भी, भागवत से भिन्न धर्म ग्रहण करने के कारण, इसे सहायता नहीं पहुँचाई और यह अन्य अनेक साधारण संप्रदायों की ही भाँति चलता रहा। 'हर्ष-चरित' नामक वाणभट्ट के प्रसिद्ध ग्रंथ में हर्ष का जैनों तथा बौद्धों के समान ही भागवतों से भी मिलना बतलाया गया है और उस में पांचरात्रों की भी चर्चा है। शंकराचार्य ने भी अपने 'शारीरकभाष्य' में भागवतों का खंडन उन्हें पांचरात्र कह कर किया है।^५

वैष्णवधर्म उत्तरी भारत में किंचित् निर्वल दिखाई पड़ता हुआ भी इन दिनों

^१ प्रो० रायचौधुरी, 'अर्ली हिस्ट्री अन् दि वैष्णव सेक्ट', पृ० १०४-१०६

^२ डा० गोस्वामी, 'दि भक्ति कल्ट इन ऐंशेंट इंडिया', पृ० १०४

^३ भगिनी निवेदिता, 'फुटफ़ात्स अन् इंडियन हिस्ट्री', पृ० २०६

^४ प्रो० रायचौधुरी, 'अर्ली हिस्ट्री अन् दि वैष्णव सेक्ट', पृ० १०६

^५ वही, पृ० १०७

दक्षिण भारत में विशेष उन्नति करता जा रहा था। जैसा ऊपर कहा जा चुका है भागवत-धर्म 'नानाघाट' शिलालेख के समय, अर्थात् ईसा के पूर्व प्रथम शताब्दी तक नासिक के आस-पास पर्यंत, दक्षिण दिशा की ओर बढ़ गया था और कृष्णा ज़िले के द्वितीय शताब्दी (पीछे) के, 'चाइना शिलालेख' से पता चलता है कि यह और भी दक्षिण फैलता जा रहा था तथा समुद्रगुप्त की प्रयाग वाली प्रशस्ति के लिखे जाने तक अर्थात् चौथी शताब्दी के मध्यभाग से पहले ही, उस ओर की सीमा तक पहुँच गया।^१ बात यह थी कि उस समय उन प्रदेशों में प्रसिद्ध आडवार नामक भक्तों का प्रादुर्भाव हो गया था जो अपने गीतों वा भजनों द्वारा भागवतधर्म का प्रचार विशेष रूप से कर रहे थे। ये आडवार, संख्या में बारह थे और इन का समय ईसा की प्रारंभिक शताब्दियों से ले कर आठवीं के अर्ध-भाग वा नवीं के आरंभ^२ तक बतलाया जाता है। इन्हें परंपरा के अनुसार, प्राचीन, मध्यवर्ती तथा अंतिम नाम की तीन श्रेणियों में विभक्त करते हैं और प्राचीन के अंतर्गत प्वायगाइ, भूतत्तार, पे तथा तिरुमल्लाइ के नाम लेते हैं। इन चारों के संस्कृत नाम सरो-योगिन्, भूतयोगिन्, महद्योगिन् तथा भक्तिसार हैं और इन में से पहले तीन के विषय में कहा जाता है कि उन्होंने ने, एक ही साथ ईश्वर का दर्शन कर के, अपने हृदयमय भाव तामिल भाषा के सौ-सौ गीतों द्वारा प्रकट किए थे। ये आडवार नारायण को सब से बड़ा देवता समझते हैं, विष्णु के पहले अवतारों और विशेषकर त्रिविक्रम के प्रसंग छेड़ते हैं और कृष्णावतार की प्रशंसा करते हैं। जान पड़ता है वे श्रीरंगम्, तिरुपति, आदि तीर्थों की मूर्तियों की पूजा करते थे और उन के ध्यान, नाम-स्मरण व आराधना में अपना समय व्यतीत करते थे। तिरुमल्लाइ अथवा भक्तिसार इन तीनों के कुछ समय बाद हुए और उन्होंने ने भी उपरोक्त विषयों पर दो सौ पद्यों की रचना की।^३

मध्यवर्ती आडवारों में नम्म अथवा शठकोप, मधुरकवि, कुलशेखर, पेरी वा विष्णुचित्त एवं आंडल वा गोदा के नाम लिए जाते हैं। इन में शठकोप सब से प्रसिद्ध एवं श्रेष्ठ समझे जाते हैं और उन की रचना का नाम 'तिरुवाय मोली' अर्थात् 'मुख से निकले

^१ प्रो० रायचौधुरी, 'अर्ली हिस्ट्री अफ् दि वैष्णव सेक्ट,' पृ० १०८

^२ डा० कृष्णस्वामी ऐयंगर, 'अर्ली हिस्ट्री अफ् वैष्णवविज्म इन साउथ इंडिया',

^३ प्रो० रायचौधुरी, 'अर्ली हिस्ट्री अफ् दि वैष्णव सेक्ट,' पृ० १०९

हुए शब्द' हैं। ये पांड्यों के राज्यकाल में तिनेवेली के निकट, कुरुकड़ नगर में रहते थे और इन्होंने बड़ी सुंदर तामिल भाषा में एक सहस्र से भी अधिक कविताओं की रचना की थी। इन का जन्म किसानों के बीच वेल्लाल वंश में हुआ था परंतु ये कदाचित् अविवाहित रहे और पैंतीस वर्ष की अवस्था में ही इन की मृत्यु हो गई।^१ इन की रचनाओं में ईश्वर के प्रति प्रेम और भक्ति के गंभीर भाव भरे पड़े हैं और उन में यत्र-तत्र प्राकृतिक सौंदर्य के अनुपम दृश्य भी दिखलाई देते हैं। ये वास्तव में, एक बड़े अच्छे भक्तकवि हैं। मधुरकवि इन्हीं के शिष्य थे और अपने गुरु के सच्चे उपासक थे। कुलशेखर प्राचीन त्रावंकोर राज्य के एक शासक थे और उन के मुख्य उपास्यदेव विष्णु के, दाशरथी राम नामी, अवतार थे। पेरी अथवा विष्णुचित्त एक परिया जाति के भक्त थे और उन के पद्य, बड़ी संख्या में, मिलते हैं। आंडल वा गोद स्त्रीभक्त थी और वे विष्णुचित्त की ही पुत्री थी। उन्हें, उन की मधुर व भावमयी कविताओं के कारण, दक्षिण भारत की 'मीराँवाई' भी कहा करते हैं। अंतिम आडवारों में से प्रथम दो, अर्थात् टोंडरडिप्पोडी वा भक्तांगिरेणु तथा तिरुप्पन वा योगिवाहन के विषय में बहुत कम ज्ञात है। बारहवें आडवार तिरूमंगई वा परकाल ने उपरोक्त सभी आडवारों से अधिक पद्य बनाए थे और इस प्रकार सब की रचनाएँ मिल कर 'प्रबंधम्' के अंतर्गत, चार सहस्र की संख्या में, आती हैं। परकाल आडवार के समय के विषय में अभी तक बहुत मतभेद है।^२

'प्रबंधम्' आडवारों के भक्ति व प्रेम-संबंधी गीतों के साथ-साथ उन की धार्मिक उक्तियों का भी संग्रह है और उस के महत्व एवं पवित्रता के कारण, उसे 'वैष्णववेद' भी कहते हैं। आडवारों की मूर्तियाँ मंदिरों में विष्णु-नारायण के प्रतीकों के साथ ही रक्खी जाती हैं और उन की पूजा की जाती है। इन आडवारों के उपरांत वैष्णवधर्म का दक्षिण भारत में प्रचार करने वाले आचार्यगण हुए जो 'प्रबंधम्' द्वारा बहुत कुछ प्रभावित थे। सर्वप्रथम आचार्य रघुनाथचार्य वा नाथ मुनि ईसा की नवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध वा दसवीं के आरंभ में त्रिचिनापल्ली के निकट श्रीरंगम् में वर्तमान थे। उन का मूल निवास-स्थान वीरनारायणपुर था और उन के पूर्वपुरुष कदाचित् उत्तरी भारत से आए हुए भागवत

^१ 'नम्मलवार', (जी० ए० नटेशन, मद्रास), पृ० २६-२७

^२ प्रो० रायचौधुरी, 'अर्ली हिस्ट्री अन्ड दि वैष्णव सेक्ट', पृ० ११०-१११

धर्मावलंबियों में से ही एक थे। नाथ मुनि शठकोप आडवार की रचनाओं के बड़े प्रेमी थे और उन्होंने ने इन के तथा अन्य आडवारों के भी प्रचलित पद्यों की खोज कर के सब को क्रमानुसार प्रायः एक-एक सहस्र की संख्या वाले चार भागों में संपादित किया। ये ही चार ग्रंथ 'प्रबंधम्' के नाम से विख्यात हैं। नाथमुनि ने 'न्यायतत्त्व' नामक एक संस्कृत पुस्तक भी लिखी और अपने पुत्र व पुत्रवधू के साथ उत्तरी भारत के प्रसिद्ध मथुरा आदि तीर्थ-स्थानों की यात्रा की तथा इसी यात्रा के उपलक्ष में अपने पौत्र का नाम यमुना नदी के नामा-नुसार 'यामुन' रखवा। नाथ मुनि के उपरांत पुंडरीकाक्ष तथा राममिश्र नामक क्रमशः द्वितीय और तृतीय आचार्य हुए, जिन्होंने ने अपने प्रथम आचार्य के मूलसिद्धांतों का प्रचार किया। राममिश्र का नाम एक प्रकार से यों भी उल्लेखनीय है कि इन्होंने ने नाथ मुनि के पौत्र यामुन को आध्यात्मिक विषयों की शिक्षा दी थी और यामुन यामुनाचार्य के नाम से परम प्रसिद्ध हो गए।^१

यामुनाचार्य चौथे आचार्य हुए और उन का महत्व आगे प्रचलित होने वाले श्रीसंप्रदाय वा विशिष्टाद्वैत-संबंधी सिद्धांतों की बुनियाद डालने तथा उन्हें स्पष्ट करने के कारण है। इन का जन्म सन् ९१६ ईस्वी के लगभग वीरनारायणपुर में हुआ था और इन की मृत्यु प्रायः उसी सन् के १०४०वें वर्ष में हुई। यामुनाचार्य पहले अपनी विद्वत्ता व शान्तार्थ-पटुता के लिए प्रसिद्ध हुए और चोलवंशी महाराज के दरबारी कवि को हरा कर तथा राज्य से पारितोषिक-स्वरूप भूमिखंड पा कर महारानी की ओर से 'आलंबंदार' अथवा विजयी की उपाधि से विभूषित हुए और पूर्ण ऐश्वर्य के साथ जीवन व्यतीत करने लगे। परंतु एक दिन राममिश्र ने उन्हें, उन के पितामह नाथ मुनि का कोप दिखलाने के वहाने, श्रीरंगम् के मंदिर में भगवान् की मूर्ति का दर्शन कराया और तब से उन में आश्चर्य-जनक परिवर्तन हो गया। वे अब भी श्रीरंगम् में रह कर वास्तव में, प्राचीन "भागवत, पांचरात्र वा सात्त्वतधर्म के ही सुवरे व सुव्यवस्थित रूप" विशिष्टाद्वैत-संप्रदाय का विवेचन करने लगे। उन्होंने ने वहीं रह कर अपने ग्रंथ 'सिद्धित्रय' की रचना की और उस के द्वारा शंकराचार्य के मायावाद का खंडन कर दूसरे ग्रंथ 'आगमप्रामाण्य' में अपने भागवतधर्म का प्रतिपादन किया। इसी प्रकार 'गीतार्यसंग्रह' में उन का दिया हुआ गीता का

^१ प्रो० रायचौधुरी, 'अर्ली हिस्ट्री अन् दि वैष्णव सेक्ट', पृ० ११२-११३

भक्तिपरक सारांश और 'श्रोत्ररत्न' में उन की भावपूर्ण व सुंदर स्तुतियों का संग्रह वतलाया जाता है।^१ यामुनाचार्य की प्रबल इच्छा थी कि वे अपने सिद्धांतानुसार 'ब्रह्मसूत्रों' पर भी कोई भाष्य लिखें किंतु ऐसा न हो सका और इस कार्य को उन के अनंतर और उन्हीं के संकेतानुसार प्रसिद्ध रामानुजाचार्य ने अपने 'श्रीभाष्य' द्वारा संपन्न किया। यामुनाचार्य इस विषय में रामानुजाचार्य के मुख्य पथ-प्रदर्शक रहे।

रामानुजाचार्य का जन्म १०१६ वा १०१७ ईस्वी सन् में हुआ था, उन का वचपन कांचीपुर वा कांचीवरम् में बीता और उन्हें किसी अद्वैतवादी यादवप्रकाश से पहले-पहल शिक्षा मिली। कुछ ही दिनों के अनंतर मतभेद होने के कारण वे अपने उक्त गुरु से अलग हो गए और आडवारों के 'प्रबंधम्' का उन्होंने ने बड़े मनोयोग के साथ अध्ययन किया। अंत में यामुनाचार्य के उत्तराधिकारी बन कर वे श्रीरंगम् में रहने लगे और वहीं पर मुख्यतः, उन्होंने ने अपने सब कार्य किए। नाथ मुनि की भाँति उत्तरी भारत के तीर्थ-स्थानों की यात्रा इन्होंने ने भी की थी। तत्कालीन चोल महाराज ने रामानुजाचार्य को वैष्णवधर्म का परित्याग कर के शैवधर्म ग्रहण करने के लिए विवश करना चाहा किंतु ये सन् १०९६ में भाग कर मैसूर के हयसाल यादववंशी राजाओं की राजधानी द्वारसमुद्र चले गए और वहाँ पर सन् १०९८ में राजपुरुष विठ्ठलदेव को वैष्णव बना कर उन का नाम विष्णु-वर्धन प्रचलित किया। रामानुजाचार्य के 'वेदांतसार', 'वेदार्थसंग्रह', 'वेदांतदीप' और 'ब्रह्मसूत्र' एवं भगवद्गीता पर लिखे 'भाष्य', प्रसिद्ध ग्रंथ हैं।^२ 'वेदांतसार' में उन्होंने ने 'ब्रह्मसूत्रों' को सरल टिप्पणियों के साथ संपादित किया और 'वेदांतदीप' द्वारा उन्हें और भी विवृत एवं स्पष्ट कर दिया। परंतु इस विषय का पूर्ण विवेचन उन के 'श्रीभाष्य' में मिलता है। रामानुजाचार्य ने 'गीताभाष्य' बड़ी विद्वत्ता के साथ लिखा है, और उस पर श्रीवेदांत-देशिक नामक आचार्य ने 'तात्पर्यचंद्रिका' नाम की टीका भी पीछे बढ़ा दी है।^३ रामानुजाचार्य के पश्चात् श्रीसंप्रदाय के मुख्य आचार्यों में श्रीवेदांतदेशिक (१२६८-१३६९)

^१ प्रो० रायचौधुरी, 'अर्ली हिस्ट्री अन् दि वैष्णव सेक्ट', पृ० ११४

^२ डा० भांडारकर, 'वैष्णवविज्जम्, शैवविज्जम्, ऐंड माइनर रेलिजस सिस्टम्स', पृ० ७२-७३

^३ टी० राजगोपालाचारियर, 'वैष्णवाइट रिफार्मर्स अन् इंडिया', पृ० ५२

तथा मनवल महामुनि (१३७०-१४४३) हुए, जिन्होंने वैष्णवधर्म के स्पष्टीकरण और प्रचार में बड़ी प्रयत्नशीलता दिखलाई। श्रीवेदांतदेशिक के अनेक ग्रंथ बहुत प्रसिद्ध हैं।

उपरोक्त आचार्यों का समय, जैन, बौद्ध, आदि धर्मों के प्रचलित हो जाने के कारण, उन के प्रमाणों एवं युक्तियों के खंडन-मंडन द्वारा वैदिक धर्मों के संगठित और नवीन ढंग से प्रतिपादित करने का था। अतएव न्याय के आचार्य और मीमांसक लोग उन दिनों इसी कार्य में लगे थे। परंतु मीमांसक, अपने कर्मकांड का महत्त्व प्रदर्शित करते समय, उपनिषदों के अनुसार सिद्धांत निर्धारित करने वाले, वेदांती संप्रदायों पर भी आक्षेप करने लगते थे जिस से इन के गौणमात्र बने रह जाने का भय था। गौड़पादाचार्य एवं उन के शिष्य के शिष्य शंकराचार्य ने इसी लिए, उपनिषदों की ओर से उक्त स्थिति को अपने मतानुसार, सँभालना चाहा। इन के सिद्धांतों का सारांश यह था कि परमात्मा वा ब्रह्म मात्र ही सत्य है और जीवात्मा एवं परमात्मा में कोई अंतर नहीं तथा जो कुछ भिन्नता व प्राकृतिक वस्तुओं की सत्ता हमारे अनुभव में आती है वह सभी मिथ्या है और उन का कारण माया अथवा अविद्या है। प्रत्यक्ष रूप में भक्ति वा प्रेम का यहाँ कोई स्थान नहीं।^१ एकता वा अद्वैतता का पूर्ण ज्ञान होने में ही मुक्ति हो जाती है। आचार्यों को ये बातें युक्तिसंगत व शास्त्र-सम्मत नहीं जान पड़ीं। अतएव इन्होंने अपने सिद्धांतों में यह प्रतिपादित किया कि जीवात्मा और जगत् ये दोनों वास्तव में परमात्मा के गुण विशेष हैं और अपनी अंतरात्मा वा अंतर्दामी परमात्मा के साथ अद्वितीय ब्रह्म का विशिष्ट रूप बनाते हैं। मुमुक्षुओं में, शाश्वत सुख की अभिलाषा रखने वालों के लिए, विधिपूर्वक भक्ति का अभ्यास करना परमावश्यक है। केवल ज्ञानमात्र से यह महान कार्य संभव नहीं। रामानुजाचार्य ने इस भक्ति की आवश्यक विधियों का भी विस्तार के साथ वर्णन किया।

आडवारों के 'प्रबंधम्' में हृदयपक्ष की प्रचलता है और वे कम शिक्षित, किंतु शुद्ध व निष्कपट भक्त जान पड़ते हैं। आचार्यों का इस के विपरीत, मस्तिष्कपक्ष भी कम प्रौढ़ नहीं था और वे, अपने शास्त्रीय ज्ञान के बल पर, मीमांसकों के कोरे कर्मकांड का अद्वैतवादियों के समान, खंडन करना भी जानते थे। हाँ, अद्वैतवादियों के ज्ञानकांड

^१ डा० भांडारकर, 'वैष्णवविज्ञान, शैवविज्ञान, ऐंड माइनर रेलिजस सिस्टम्स', पृ० ७२

की अपेक्षा भी उन्हें अपना भक्तियोग ही अधिक पसंद था और इसी मत के अनुसार वे वेदांत के ग्रंथों का तात्पर्य निर्धारित करते थे। स्मार्तों की इसी प्रकार एक से अधिक देवताओं की पूजा करने की प्रणाली छोड़ कर इन लोगों ने एकमात्र विष्णु की आराधना अंगीकार की और उस में भी तीनों वर्णों के अतिरिक्त शूद्रों वा अन्य जातियों के भी अधिकार मान लिए। शूद्रों वा अन्य योग्यता-हीन जातियों के लिए आचार्यों ने विशेष कर 'प्रपत्ति' की व्यवस्था दी थी जिस का मुख्य अभिप्राय अपने को भगवान् की शरण में समर्पित कर उन्हीं की दया पर भरोसा करना है। परंतु कालांतर में इस 'प्रपत्ति' का भी अर्थ दो भिन्न-भिन्न दृष्टियों से लगाया जाने लगा। श्रीवेदांतदेशिक और उन के अनुयायियों की सम्मति में प्रपत्ति, अन्य साधनों की ही भाँति, एक मार्ग है जिस का अवलंबन, ज्ञान, कर्म, भक्ति, आदि के न हो सकने पर, करना चाहिए, परंतु मनबल महामुनि और उन के पक्ष वालों का कहना है कि 'प्रपत्ति' को एक मार्गमात्र न समझ कर उसे ही सब कुछ मानना चाहिए और उसी की भावना के अनुसार अपनी मनोवृत्ति तक बना लेनी चाहिए। पहले मत वाले वा 'वाड़कड़ाई', भक्त व भगवान् के संबंध को, बंदरी के पेट में चिपके हुए बच्चे व बंदरी के उदाहरण द्वारा व्यक्त करते हैं और दूसरे वा 'टेनकड़ाई' इसी बात को यों कहते हैं कि भक्त को भगवान् के भरोसे विल्ली के बच्चे की भाँति पड़ा रहना चाहिए, उसे अपनी भलाई के लिए स्वयं थोड़ा सा भी प्रयास करने की आवश्यकता नहीं।^१

(६)

विशिष्टाद्वैत का मार्ग वा श्रीसंप्रदाय, वास्तव में, पुराने भागवत वा पांचरात्र धर्म का ही एक, समयानुसार विकसित, रूपांतर था। उस ने अपनी वर्तमान परिस्थितियों का सामना करते हुए अपने पक्ष का सफलता-पूर्वक समर्थन किया और अपने तत्कालीन विपक्षी शांकराद्वैतवादियों का घोर विरोध भी किया। इस विरोध के कार्य में उन दिनों इस मत वालों की सहायता संयोगवश एक अन्य संप्रदाय द्वारा भी हुई जिसे द्वैतमार्ग वा माध्व-संप्रदाय कहते हैं। माध्व-संप्रदाय के प्रवर्तक मध्वाचार्य वा आनंदतीर्थ थे जिन का

^१ डा० भांडारकर, 'वैष्णवविज्म, शैविज्म ऐंड माइनर रेलिजस सिस्टम्स', पृ० ७८-७९

जन्म दक्षिण भारत के उडीपी नगर के निकट सन् ११९७ ई० में हुआ था। उन के वचपन का नाम वासुदेव था और उन्होंने वेद-वेदांगों की शिक्षा पा कर 'पूर्णप्रज्ञ' के नाम से संन्यास ग्रहण किया था। उन्होंने सर्व-प्रथम दक्षिण भारत की ओर फिर उत्तरी भारत की भी यात्रा की और वे बदरिकाश्रम से दिग्विजयी राम तथा वेदव्यास की मूर्तियाँ भी प्राप्त कर लाए। कई ऐसी यात्राओं के अनंतर लौट कर उन्होंने उडीपी में रहना निश्चित किया और अपने स्थिर किए हुए, सिद्धांतों के अनुसार ग्रंथ-रचना करने लगे। तत्कालीन प्रथानुसार उन्होंने प्राचीन प्रामाणिक ग्रंथों पर भाष्य लिखे तथा कुल मिला कर सैंतीस ग्रंथ रचे और सन् १२७६ ई० में ७९ वर्ष की अवस्था में इहलीला संवरण की। इन के द्वारा प्रवर्तित मार्ग का मूलाधार 'पंचभेद' अथवा परमात्मा, आत्मा एवं प्रकृति के पारस्परिक भेदों के पाँच प्रकार हैं, जिन पर आश्रित रह कर उन्होंने विशिष्टाद्वैत के मार्ग को भी अपूर्ण ठहराया है। उन का कहना है कि परब्रह्म और जीव को, विशिष्टाद्वैतियों की भाँति, कुछ अंशों में एक और कुछ अंशों में भिन्न मानना परस्पर-विरुद्ध और असंबद्ध बात है, इसलिए दोनों को सदैव भिन्न मानना चाहिए क्यों कि इन दोनों में पूर्ण रीति, वा अपूर्ण ढंग से भी एकता कभी हो ही नहीं सकती। मध्वाचार्य के अनुसार प्रस्थानत्रयी अथवा 'ब्रह्मसूत्र', 'भगवद्गीता' एवं मुख्य-मुख्य 'उपनिषदों' में भी इस द्वैत मत का ही प्रतिपादन हुआ है। वे हरि वा भगवान् की प्राप्ति को अपने प्रत्यक्ष ज्ञान वा अनुभव की बात मानते हैं, और इस के साधन-स्वरूप वैराग्य, शम, दम, शरणागति, आदि अष्टादश साधनाओं का वर्णन करते हैं। "उन के मत में व्यूह, वासुदेव आदि को स्थान नहीं और उन के उपास्यदेव विष्णु एवं उन के राम व कृष्ण नामक अवतार हैं। गोपाल कृष्ण व गोपियों का इस मत में भी, श्रीसंप्रदाय की भाँति अभाव सा है। इस ने भागवत वा पांचरात्र धर्म को बहुत कुछ महत्त्वहीन बना दिया।" १

श्रीसंप्रदाय के ही समान माध्व अथवा सत्संप्रदाय में भी अनेक आचार्य हुए और अब भी वर्तमान हैं और इन दोनों का प्रचार न्यूनाधिक उत्तरी भारत में भी होता रहा है। परंतु उत्तरी भारत पर इन दोनों मतों के प्रवर्त्तकों से भी अधिक प्रभाव डालने वाले एक तीसरे महापुरुष हुए जिन्हें निवार्क वा निवार्कचार्य कहते हैं। निवार्क का समय

रामानुज एवं मध्व के बीच बतलाया जाता है और उन की मृत्यु के विषय में डाक्टर भांडारकर ने लिखा है कि वह कदाचित् सन् ११६२ में हुई थी।^१ इन का जन्म संभवतः वेलारी जिले के निवापुर में हुआ था और अपने अनुयायियों के अनुसार वे विष्णु के 'सुदर्शन-चक्र' के अवतार थे। वे अधिकतर मथुरा के निकट वृंदावन में रहते रहे और वहीं पर उन्होंने ने ब्रह्मसूत्रों पर 'वेदांतपारिजातसौरभ' नामक भाष्य और 'दशश्लोकी' की रचना की। इन का मत "जीव, जगत् और ईश्वर के संबंध में यह है कि यद्यपि ये तीनों भिन्न हैं तथापि जीव और जगत् का व्यापार तथा अस्तित्व ईश्वर की इच्छा पर अवलंबित है—स्वतंत्र नहीं है—और परमेश्वर में ही जीव और जगत् के सूक्ष्म तत्त्व रहते हैं।"^२ श्रीसंप्रदाय के विशिष्टाद्वैत से भिन्नता दिखलाने के लिए इसे 'द्वैताद्वैती' कहा जाता है और सांप्रदायिक दृष्टि से, इस का एक और नाम 'सनकसंप्रदाय' भी है। यह मत वास्तव में, श्रीसंप्रदाय से बहुत कुछ मिलता-जुलता है। इस में छः प्रकार की प्रपत्ति वा शरणागति को महत्व दिया जाता है, जिस से भगवान् की कृपा से भगवद्भक्ति का प्रादुर्भाव होता है। इस की साधना-भक्ति भी श्रीसंप्रदाय के भक्तियोग के ही समान है। दोनों में भेद मुख्यतः यह है कि रामानुज-द्वारा प्रतिपादित भक्ति ध्यानयोग पर अधिक अवलंबित रहने के कारण, वस्तुतः औपनिषदिक उपासना में परिणत हो जाती है, परंतु निवारक की साधना अपने मूल भाव को नहीं छोड़ती। यह रामानुजियों के 'टेनकड़ाई' नामक संप्रदाय का एक रूपांतर मात्र कही जा सकती है, किंतु इन दोनों में भी उपास्यदेव की कल्पना के विषय में महान् अंतर है। श्रीसंप्रदाय वाले नारायण और लक्ष्मी को मानते हैं, परंतु सनकसंप्रदाय वालों के सर्वस्व कृष्ण और राधा हैं। इस नवीन भावना द्वारा गोपी वा गोपाल-कृष्ण की कथा के संबंध में एक बार फिर प्रचार होने लगा और उत्तरी भारत में इस का प्रभाव बहुत बड़ा पड़ा।

निवारकाचार्य की मृत्यु के अनंतर तीन सौ से भी अधिक वर्ष बीत जाने पर उत्तरी भारत के बंगाल प्रदेश में चैतन्य संप्रदाय का प्रादुर्भाव हुआ जिस में 'सनकसंप्रदाय' के

^१ डा० भांडारकर 'वैष्णविज्म, शैविज्म एंड माइनर रेलिजस सिस्टम्स', पृ० ८८ (फुटनोट)।

^२ तिलक, 'श्रीमद्भगवद्गीतारहस्य अथवा कर्मयोगशास्त्र' (हिंदी-संस्करण), पृ० १७

मूलतत्त्व को बहुत अंशों में अपनाया गया। इस संप्रदाय के प्रवर्तक चैतन्यदेव थे जिन का जन्म नदिया नामक स्थान में सन् १४८५ ई० में हुआ था। ये अपने पिता के सब से छोटे पुत्र थे और इन का पहला नाम विश्वंभर था। ये अपने अनुयायियों द्वारा, पीछे स्वयं कृष्ण भगवान् के अवतार समझे जा कर, कृष्णचैतन्य भी कहलाए और बहुत गोरे होने के कारण इन्हें दूसरा नाम गौरांग महाप्रभु भी दिया गया। अठारह वर्ष की अवस्था में विवाह कर के ये पहले अपनी स्त्री लक्ष्मीदेवी के साथ गार्हस्थ्य-जीवन व्यतीत करते रहे और इन का मुख्य कार्य विद्यार्थियों को शास्त्रों की शिक्षा देना था। परंतु जब इन की स्त्री का देहांत हो गया और दूसरा विवाह कर के अपने पितरों की श्राद्ध-क्रिया करने ये गया धाम गए तो वहाँ से लौटते ही इन के विचारों में घोर परिवर्तन हो गया। क्रमशः इन्होंने कर्मकांड की कड़ी आलोचना आरंभ की और मोक्ष के लिए हरिनाम-स्मरण व कीर्तन को ही एकमात्र साधन बतला कर, वर्णव्यवस्था का भी ये खंडन करने लगे। इन बातों में इन के एक बहुत बड़े सहायक अपने सगे भाई नित्यानंद नामी थे, जिन्हें पीछे से बल्लराम का अवतार कहा गया। कुछ दिनों तक मकानों के भीतर अपने सहयोगियों के साथ चैतन्यदेव निरंतर कीर्तन करते रहे परंतु सन् १५१० ई० में किसी केशवभारती नामक संन्यासी से इन्होंने संन्यास की दीक्षा ली और पुरी आदि प्रसिद्ध-प्रसिद्ध स्थानों में कई वर्षों तक भ्रमण करते हुए ये अपने सिद्धांतों का प्रचार करते रहे। इन की मृत्यु सन् १५३३ ई० में हुई। इन के वेदांत-संबंधी सिद्धांत प्रायः वही थे जो निवाकर्माचार्य के थे। इन के अनुसार परमात्मा कृष्ण आश्रय हैं, और उन पर आश्रित जीवात्मा मधु के चाहने वाले भ्रमर की भाँति मँडराता रहता है। वह प्रेमरस का जी भर पान करने पर ही तृप्त होता है और तभी वह आनंद विभोर हो जाने के कारण अपने उपास्यदेव में विलीन हो कर पूर्ण शांति पाता है। जीवात्मा के प्रेमोद्रेक के स्थिर होने पर इन्होंने 'महाभाव' की संज्ञा दी है और बतलाया है कि प्रेम अपनी पूर्णावस्था को प्राप्त कर 'राधा' में परिणत हो जाता है। इन का यह भी कहना है कि कृष्ण की शाश्वत लीला गोलोक में निरंतर होती रहती है और वे अपने वैभव-विलास द्वारा चारों व्यूहों के रूप धारण करते हैं। इस व्यूह-कल्पना और प्राचीन व्यूहवाद में मुख्य अंतर यह है कि प्रद्युम्न को यहाँ पर मन की जगह प्रेम कहा जाता है और अनिरुद्ध को इसी प्रकार, अहंकार के स्थान पर लीला का प्रतिरूप समझा गया है। कृष्णचैतन्य के दार्शनिक सिद्धांत 'अचित्य-

भेदाभेदवाद' नाम से प्रसिद्ध हैं।

चैतन्य पूर्ण प्रेम वा भक्ति के अवतार थे और वे कीर्तन करते-करते बहुधा आवेश की पराकाष्ठा के कारण, वेसुध हो कर मूर्छित भी हो जाते थे। उन के कीर्तन और उपदेश से प्रभावित हो कर उन के बहुत लोग अनुयायी बन गए और एक मुसल्मान तक उन्हीं की भाँति कीर्तन करता-करता उन के साथ रह कर हरिदास नाम पा गया। इस मत का प्रचार गौड़ीय-संप्रदाय के नाम से बंगाल के बाहर भी कई अन्य प्रदेशों में हुआ और इस समय यह विदेशों तक में फैलने की चेष्टा कर रहा है। परंतु उत्तरी भारत के पश्चिमी भाग में इस से अधिक प्रभावशाली एक दूसरा संप्रदाय भी प्रायः चैतन्य के ही समय में स्थापित हुआ जिसे प्रवर्तक के नामानुसार, 'वल्लभ-संप्रदाय' तथा भक्तियोग के प्रकारानुसार 'पुष्टिमार्ग' कहा जाता है। वल्लभस्वामी के पिता तैलंग ब्राह्मण थे और 'कांकरव' नामक किसी तैलंगदेश-स्थित नगर के ही निवासी थे। वल्लभ का जन्म सन् १४७९ ई० में वनारस की यात्रा में निकले हुए, अपने पिता-माता के यहाँ मार्ग में हुआ था और ये अपना जीवनकाल कभी मथुरा और कभी वृंदावन में रह कर उत्तरी भारत में ही व्यतीत करते रहे। उन्हीं दिनों गोवर्धन पहाड़ पर देवदमन अथवा श्रीनाथ जी के रूप में गोपाल-कृष्ण का आविर्भाव हुआ था और यह प्रसिद्ध है कि उक्त भगवान् ने स्वप्न द्वारा वल्लभ से कहा कि मैं अपने कृष्णावतार के साथियों के साथ फिर लीला करना चाहता हूँ और उन का पुनर्जन्म भी हो गया है, अतएव तुम यहाँ पर एक तीर्थस्थान स्थापित कर मेरे पूजन की विधियों का प्रचार करो। वल्लभ ने इन्हीं संकेतों के अनुसार श्रीनाथद्वारा की स्थापना की और अपना 'पुष्टिमार्ग' भी प्रचलित किया। वल्लभ वा वल्लभाचार्य के वेदांत-सिद्धांत विष्णुस्वामी नामक एक पहले आचार्य के अनुसार हैं। ये विष्णुस्वामी कव हुए इस का ठीक-ठीक पता नहीं चलता। कुछ लोगों का अनुमान है कि ये बहुत पहले हुए थे और इन्होंने ने ब्रह्मसूत्रों पर 'सर्वज्ञसूक्त' नामक एक भाष्य की रचना की थी। विष्णुस्वामी द्वारा कांची के भगवान् श्रीवरदराज तथा श्रीराजगोपालदेव का स्थापित किया जाना भी बतलाया जाता है और इन्हीं के प्रशिष्यों में 'श्रीकृष्णकर्णामृत' के रचयिता श्रीविल्वमंगल की भी गणना की जाती है। इन्हीं विल्वमंगल को ८०९ ईस्वी के लगभग पराजित कर शंकराचार्य के किसी शिष्य ने अपने अद्वैत मत का प्रचार किया था। तब से कदाचित् विष्णुस्वामी के मत का प्रभाव दक्षिणी भारत में बहुत कम हो गया। इन का

सिद्धांत संक्षेप में यह है कि परमात्मा ने अपने एकाकी रूप में पूर्णतः प्रसन्न न रह सकने के कारण अपने को ही प्रकृति, जीवात्मा एवं अंतर्यामी आत्मा में विभाजित किया और ये तीनों उन के वस्तुतः जलती हुई आग की चिनगारियों की भाँति निकले। परमात्मा की इच्छा से ही, प्रकृति में चित् और आनंद तथा जीवात्मा में आनंद मात्र, अनुभव में नहीं आता और तीसरे में तीनों वर्तमान हैं। बल्लभाचार्य इसी सिद्धांत के आधार पर कहते हैं कि सच्चिदानंद की शक्ति का नाम माया है, जिस से रहित हो कर शुद्ध जीवात्मा और परब्रह्म एक वस्तुरूप है। बिना ईश्वर की कृपा वा अनुग्रह के मायाधीन जीवात्मा को मोक्षज्ञान नहीं हो सकता और उस अनुग्रह को वे 'पुष्टि' वा 'पोषण' की संज्ञा देते हैं। इस पुष्टि द्वारा मनुष्य की प्रेमभक्ति क्रमशः विकसित हो कर 'व्यसन' बन जाती है और उसी दशा में वह भगवान् हरि की नित्य-लीला में भाग लेने का अधिकारी होता है।

इस संप्रदाय के मुख्य आराध्यदेव श्रीनाथ जी हैं और आचार्य ने इन के पूजन की विधियों का बड़े विस्तार के साथ वर्णन किया है। अपने दार्शनिक विचारों को उन्होंने ने ब्रह्मसूत्रों पर लिखे गए अपने 'अणुभाष्य' तथा कुछ और ग्रंथों द्वारा भी प्रतिपादित किया है और उन का सिद्धांत 'शुद्धाद्वैतवाद' के नाम से प्रसिद्ध है। बल्लभाचार्य की मृत्यु सन् १५३० ई० में हुई और उस के अनंतर उन के पुत्र विठ्ठलनाथ और पौत्र गोकुलनाथ आदि, गोस्वामी कहे जाने वाले, बहुत से मठाधीश हुए। पुष्टिमार्ग से विष्णुस्वामी द्वारा मनोनीत निवृत्तिमार्ग की अपेक्षा, प्रवृत्तिमार्ग की ओर लोगों की अधिक प्रवृत्ति बढ़ी और, इसे मानने वालों में से, अनेक भक्तों ने कला और साहित्य की उन्नति में भी हाथ बँटाया। हिंदी के महाकवि सूरदास तथा 'अष्टछाप' के अन्य कवि भी ऐसी ही श्रेणी के लोग थे। पुष्टिमार्ग में भी गौड़ीय संप्रदाय के समान ही गोकुल के गोपालकृष्ण पर मुख्य ध्यान दिया जाता था, किंतु दोनों के साधन, एक प्रकार से, नितांत भिन्न थे। पुष्टिमार्गी अपने आराध्य-देव का विधिवत् पूजन करते थे और यह उन के लिए परमावश्यक था, किंतु चैतन्य संप्रदाय वाले पूजा-अर्चना की प्रणाली को प्रायः उपेक्षा की दृष्टि से देखते थे और उन का एकमात्र साधन हरिनाम का स्मरण तथा कीर्तन था। इस कीर्तन और भजन की प्रणाली नवीन नहीं थी और इस का प्रचार किसी न किसी रूप में चैतन्यदेव के कई वर्ष पहले से सुदूर गुजरात प्रांत में हो रहा था और प्रसिद्ध गुजराती कवि नरसी मेहता

(१४१५-१४८१ ई०) इस के मुख्य प्रचारक थे। नरसी जूनागढ़ के निवासी थे और कहा जाता है कि साधुओं के साथ भगवद्भक्ति में समय व्यतीत करने के कारण अपनी भावज के मुँह से 'कठिन वचन' सुन कर उन्हें पूर्ण वैराग्य हो गया और वे अंत में द्वारका में जा कर भजनानंदी वन गए। द्वारका में स्थित रणछोर जी का मंदिर गुजराती भक्तों का मुख्य स्थान है और कहा जाता है कि उस में रक्खी हुई मूर्ति की भी स्थापना उपरोक्त विष्णुस्वामी द्वारा ही हुई थी। यदि यह बात प्रामाणिक है तो यह भी संभव है कि गुजरात में प्रचलित भक्तिमार्ग भी पुष्टिमार्ग की भाँति विष्णुस्वामी के ही मूलस्रोत से निकला होगा। जो हो, नरसी मेहता की परंपरा का पालन उन के कुछ दिनों अनंतर आने वाली राजपूताने की 'मेढतणी मीराँवाई' (१४९८-१५४६ ई०) ने भी किया और इन दोनों की कविताएँ अब तक प्रसिद्ध हैं।

विष्णुस्वामी के ही प्रभाव में आ कर पल्लवित, पुष्पित एवं परिवर्धित एक अन्य भक्तिमार्ग भी बतलाया जाता है जिस का मुख्य प्रचार-स्थान महाराष्ट्र है। कहते हैं कि इस के प्रथम प्रसिद्ध भक्त ज्ञानदेव, नामदेव व त्रिलोचन विष्णुस्वामी की परंपरा के ही अनुयायी थे।^१ परंतु अन्य कई प्रमाणों के आधार पर यह भी प्रसिद्ध है कि इस मार्ग के मूल प्रवर्तक कोई पुंडरीक नामक महापुरुष थे जिन के जीवनकाल या चरित के विषय में प्रायः कुछ भी ज्ञात नहीं है। सन् १२४९ ई० के एक ताम्रलेख से पता चलता है कि देवगिरि के यादव-वंशज कृष्ण के सेनापति ने बेलगाँव जिले के अंतर्गत पवित्र स्थान पोंडरीक क्षेत्र को दान में दिया था।^२ इस क्षेत्र का भीमरथी नदी पर बसा जाना बतलाया गया है जिस से भीमा नदी पर, वर्तमान समय में, बसे हुए पंढरपुर का एकीकरण किया जाता है। पोंडरीक शब्द को पुंडरीक से बना हुआ मान कर उपरोक्त व्यक्ति का समय इसी लिए, तेरहवीं शताब्दी के पूर्व का ही समझा जाना चाहिए। पुंडरीक के विषय में एक कथा इस प्रकार प्रचलित है कि पंढरपुर के आस-पास पहले डिंडीर वन नामक एक जंगल था जहाँ पुंडरीक रहते थे और ये बड़े ही मातृ-पितृभक्त थे। एक बार द्वारका-

^१ डा० भांडारकर, 'वैष्णवविज्ञान, शैविज्ञान, ऐंड भाइनर रेलिजस सिस्टम्स', पृ० १०९

^२ वही, पृ० १२४

निवासी कृष्ण भगवान् से, राधा के अधिक सम्मानित होने पर रुष्ट हो कर रुक्मिणी डिंडीर वन चली गई और कृष्ण ने उन्हें वहीं जा कर मनाया था। पुंडरीक की पितृभक्ति का पता चलने पर कृष्णचंद्र उन के यहाँ भी पहुँचे और पुंडरीक ने उन्हें बैठने के लिए एक ईंट दे दी। भक्तों का विश्वास है कि पंढरपुर के उपास्यदेव विठ्ठलनाथ ही वह कृष्ण थे जो अब तक, अपनी प्रिया रुक्मिणी के साथ, ईंट पर खड़े हैं। अस्तु, पंढरपुर पुंडरीक के ही समय से पवित्र स्थान माना जा कर महाराष्ट्र का सबसे प्रसिद्ध तीर्थ हो गया और उस के मंदिर के विठ्ठलनाथ वहाँ के वैष्णवों के मुख्य उपास्यदेव बन गए।

ज्ञानदेव (१२७५-१२९६ ई०) के पिता विठ्ठलनाथ के ही उपासक थे, परंतु ज्ञानदेव वं उन के भाई-बहन का जन्म उन के वैराग्य ग्रहण करने पर हुआ था। अपनी जाति वालों ने, इसी कारण इन वालों का बड़ा तिरस्कार किया और अंत में ज्ञानदेव की विद्वत्ता, दृढ़ता एवं प्रसिद्धि ने किसी प्रकार सब को जातिभ्रष्ट होने से बचाया। ज्ञानदेव ने 'श्रीमद्भगवद्गीता' पर 'भावार्यदीपिका' नाम की एक टीका लिखी और 'अमृतानुभव' ग्रंथ एवं कुछ फुटकर पदों की भी रचना की। ज्ञानदेव की उक्त टीका 'ज्ञानेश्वरी' के नाम से भी प्रसिद्ध है जिस से ज्ञानदेव के व्यापक पांडित्य व प्रगाढ़ भक्ति का पूरा पता चल जाता है। ज्ञानदेव के समकालीन नामदेव (१२७०-१३५०) का जन्म पंढरपुर में ही हुआ था और वे जाति के छोपी थे। उन के गुरु विसोबाखेचर नामक संत थे और उन के मुख्य उपास्यदेव विठ्ठलदेव थे। नामदेव के पदों से उन के हृदय की शुद्धता, दीनता, आत्म-समर्पण, क्षमा एवं ईश्वर-भक्ति लक्षित होती है और वे एक बहुत बड़े भक्त जान पड़ते हैं। चैतन्यदेव की भाँति नामदेव भी केवल अर्चना व पूजन-विधान की शुद्धभक्ति के लिए तुच्छ समझते हैं और भक्तों के लिए वर्ण वा जाति का महत्व नहीं मानते। महाराष्ट्र भक्तों की परंपरा में नामदेव के उपरान्त मुख्य भक्त श्रीएकनाथ (१५२८-१५९९ ई०) हुए जिन के प्रपितामह भानुदास विठ्ठलनाथ वा विठोवा के परम भक्त थे। ये पैठण के रहने वाले थे, किंतु वहाँ से दौलताबाद जा कर इन्होंने जनादेन स्वामी की अपना आध्यात्मिक गुरु बनाया था। श्रीएकनाथ ने 'भागवतपुराण' पर अपनी टीका लिखी जो 'एकनाथी-भागवत' के नाम से बहुत प्रसिद्ध है और इन्होंने 'रुक्मिणी-स्वयंवर' नामक एक अन्य ग्रंथ की भी रचना की। 'एकनाथी-भागवत' भी

ज्ञानेश्वरी की ही भाँति अपने रचयिता की योग्यता और महत्ता को, स्पष्ट रूप में, सूचित करता है और वह भी भक्त-मंडली में उसी प्रकार लोकप्रिय है। भक्त लोग श्रीएकनाथ को ज्ञानदेव का अवतार भी समझते हैं। तुकाराम (१६०८-१६४९ ई०) को, इसी प्रकार महाराष्ट्र में नामदेव का अवतार मानने की परंपरा है, वास्तव में तुकाराम ने अपने अभंगों को अधिकांश नामदेव के अभंगों के ही ढंग पर लिखा है और उन में भी उसी भक्ति-स्रोत का प्रवाह दीख पड़ता है। तुकाराम का जन्म देहू-नामक ग्राम में हुआ था और इन के सात पूर्वपुरुष विठोवा के भक्त रह चुके थे। तुकाराम ने धनोपार्जन की कुछ भी चिंता नहीं की और वे बराबर आर्थिक कष्ट झेलते रहे। परंतु ईश्वर के प्रति उन की एकांत व शुद्ध निष्ठा कभी कम नहीं हुई। वे सदा विठोवा के प्रेम में अभंग बनाते व गाते रह गए। तुकाराम की प्रसिद्धि हो जाने पर उन्हें शिवाजी ने अपने यहाँ बुलाना चाहा था किंतु वे नहीं गए। शिवाजी को दर्शन व उपदेश दे कर कठिनाइयों में सहायता प्रदान करने वाले तुकाराम के ही समकालीन स्वामी रामदास (१६०८-१६८१ ई०) थे जिन्हें भार्गवी का अवतार माना जाता है। वे शिवाजी के समर्थ गुरु रामदास नाम से भी प्रसिद्ध हैं। वे एक उच्च त्यागी महात्मा थे, किंतु उन का ध्यान, लोक-संग्रह की दृष्टि से, देश की अवस्था की ओर भी बहुत कुछ आकर्षित था। वे अधिकतर पर्यटन करते रहे और अपनी ईश्वरोपासना के अतिरिक्त दूसरों को उपदेश भी देते रहे। उन के उपदेशों का संग्रह 'दासवोव' तथा अन्य रचनाओं में किया गया है। 'दासवोव' भक्ति, अध्यात्म एवं नीतिमार्ग के आधार-स्वरूप उपदेशों का कोष है और इस का भी महाराष्ट्र में बहुत प्रचार है। उपरोक्त ज्ञानदेव, नामदेव, श्रीएकनाथ, तुकाराम व रामदास महाराष्ट्र के परमोज्ज्वल भक्तरत्न थे और इन सब का मुख्य उद्देश्य सच्चे हृदय से भगवान् की भक्ति करना तथा सादा जीवन व्यतीत करते हुए समाज का उपकार करना था। इन में से प्रायः सभी, और विशेष कर, नामदेव तथा तुकाराम विठोवा के अनन्योपासक थे। महाराष्ट्र के इस भक्ति मार्ग को 'वारकरी-संप्रदाय' का नाम दिया गया है। इस की विशेषताओं में राधा की जगह रुक्मिणी को महत्व देना भी एक है।

राधा वा राधिका की भावना का विकास भी अपूर्व ढंग से हुआ था। ऋग्वेद के समय 'रावस्' वा 'रावा' शब्द ऊपर उल्लिखित 'इरा' व 'इला' का समानार्थक था, अतएव इस का भी प्रयोग उसी शब्द की भाँति घन वा उपभोग की सामग्री के लिए हुआ

करता था और इस के भी मालिक इंद्र थे।^१ इंद्र को, इसी कारण, 'सत्यराधाः'^२ तथा 'राधानां पतिः'^३ भी कहा गया है और वे इसी अधिकार के कारण प्रार्थना करने वालों को ऐश्वर्य प्रदान भी करते हैं। परंतु 'श्री' शब्द की भाँति, 'राधस्' शब्द का अर्थ भी सुघरता हुआ, विष्णु की अर्धांगिनी के ढंग से कृष्ण की अर्धांगिनी का भाव व्यक्त करने लगा और समयानुसार निवारक, वल्लभ एवं चैतन्य के अनुयायियों द्वारा विशेष रूप से दर्शाए जाने के कारण राधा वा राधिका की प्रतिष्ठा अंत में कृष्ण के प्रति प्रदर्शित श्रद्धा के समान, तथा कभी-कभी बढ़ कर भी, दिखलाई देने लगी। पहले भक्तों की भक्ति केवल कृष्ण तक ही सीमित थी, किंतु जिस प्रकार गुप्तकालीन वैष्णवधर्म में विष्णु वा नारायण के साथ लक्ष्मी के स्थान मिला था उसी भाँति निवारकचार्य के सनक-संप्रदाय में भी राधा की आवश्यकता समझी जाने लगी। राधा का नाम 'हरिवंश', 'विष्णुपुराण' अथवा 'श्रीमद्भागवत' तक में भी इस प्रधानता के साथ नहीं आता। 'श्रीमद्भागवत' से केवल यही प्रकट होता है कि वृंदावन में श्रीकृष्ण के साथ शारदी चाँदनी में लीला करने वाली गोपियों में से एक ऐसी थी जिसे उन्होंने ने दूसरों से छिप कर भी अपनाया था और जब वह अधिक मानिनी बनने लगी तो उसे भी छोड़ दिया। 'नारदपंचरात्रसंहिता' एवं 'ब्रह्म-वैवर्तपुराण' में इस गोपी को राधा नाम से विशेष महत्व दिया गया है।^४ श्रीकृष्ण की विवाहिता स्त्री रक्मिणी का नाम बहुत साधारण ढंग से लिया जाता रहा है और, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, केवल वारकरी-संप्रदाय वाले विठ्ठलदेव के भक्तों ने ही उसे महत्व दिया है। राधा को कृष्ण के समान समझने तथा उसे विशेष प्रधानता देने के कारण वैष्णवधर्म में क्रमशः अवांछनीय भावों का प्रवेश होने लगा और अंत में ऐसे संप्रदाय भी चलने लगे जिन के अनुयायी, राधा की सखियों का अनुकरण करने की चेष्टा में, साधारण स्त्रियों की भाँति शृंगार करना एवं रहना तक उचित मानने लगे।

^१ डा० गोस्वामी, 'भक्ति कल्ट इन ऐंशेंट इंडिया', पृ० १०५

^२ ऋग्वेद, (मं० ४, सू० २९, मंत्र १)

^३ स्तोत्रं राधानां पते गिर्वाहो वीर यस्य ते।

विभूतिरस्तु सूनृता ॥—ऋग्वेद, (मं० १, सू० ३०, मंत्र २८)

^४ डा० भांडारकर, 'वैष्णवविष्णु, शैविष्णु, ऐंड माइनर रेलिजस सिस्टम्स', पृ० १२३

श्रीकृष्ण तथा राधा वा रुक्मिणी को अपने संप्रदाय में प्रधानता देने वाले मूलतः वे वैष्णव थे जो विष्णु वा नारायण के श्रीकृष्णावतार की उपासना करते थे। इस अवतार का प्रभाव, संभवतः वैष्णवधर्म के पुनर्निर्माण से भी पहले से आती हुई सात्त्वतधर्म के वासुदेव कृष्ण की प्राचीन परंपरा के कारण, अधिक रहा और विष्णु के अन्य अवतार उतने महत्वपूर्ण नहीं समझे गए। अन्य मुख्य अवतारों में से आडवारों ने वामन व वाराह के भी नाम विशेष रूप से लिए थे और कुलशेखर आडवार की, रामावतार के प्रति भी, कम श्रद्धा नहीं थी। इन के विषय में तो यहाँ तक कहा जाता है कि 'रामायण' का पाठ सुनते समय एक बार, एकाकी रामचंद्र द्वारा खरदूषण आदि अनेक राक्षसों का सामना करने का प्रसंग आने पर, उन्होंने ने अपनी त्रावङ्कोर की सेना को उन की सहायता के लिए कूच करने का हुक्म दे दिया और मंत्रियों को यह स्थिति बड़ी कठिनाई के साथ सँभालनी पड़ी। एक दूसरी बार भी इसी प्रकार, लंका में गई हुई सीता को रावण से छीन लाने के लिए वे समुद्र की ओर दौड़ पड़े थे और तैर कर पार करने से वे किसी प्रकार रोके गए थे।^१ श्रीराम के अवतार को पीछे मध्वाचार्य ने भी कुछ महत्व दिया किंतु ती भी कृष्णावतार के सामने इन की प्रसिद्धि अधिक नहीं हो सकी। श्रीरामावतार को सब से अधिक महत्व आगे चल कर 'रामावत संप्रदाय' द्वारा मिला जिस के प्रथम प्रवर्तक रामानंद स्वामी थे। रामानंद का रामानुजाचार्य की पाँचवीं पीढ़ी में होना बतलाया जाता है और कहा जाता है कि इन का जन्म प्रयाग के एक कान्यकुब्ज कुल में १२९९ ई० में हुआ था। लङ्कपन में इन्हें पढ़ने के लिए काशी भेजा गया जहाँ, पठनपाठन समाप्त कर, वे विशिष्टाद्वैती राघवानंद के शिष्य हो गए। परंतु, कहीं बाहर से यात्रा कर के लौटने पर, खाने-पीने के संबंध में कुछ मतभेद उत्पन्न होने के कारण, उन्होंने ने अपने गुरु का साथ छोड़ कर एक स्वतंत्र मत की नींव डाल दी।

रामानंद के दार्शनिक सिद्धांत अधिकतर विशिष्टाद्वैतवाद के ही अनुसार थे किंतु श्रीसंप्रदाय के उपास्यदेव नारायण के स्थान पर उन्होंने ने राम व सीता को स्वीकार किया

^१ हूपर, 'हिम्स अन् दी आडवार्स', पृ० १२-१३

तथा उस के मूल भक्तियोग की उपासना एवं अर्चन-विधियों को अधिक महत्त्व न दे कर प्रधानतः भक्ति व भजन की ओर सब का ध्यान दिलाया, रामानंद ने, अपने सिद्धांतों के अधिक प्रचार के लिए, वैरागियों का संगठन किया और उन के दल में शूद्र वा अन्य श्रेणी वालों को भी, वैष्णव होने के नाते, सम्मिलित किए जाने की व्यवस्था कर दी। रामानंद के प्रधान शिष्यों में ब्राह्मण क्षत्रियों के अतिरिक्त सेना नाई, घन्ना जाट, रैदास चमार व कवीर जुलाहे के भी नाम लिए जाते हैं और सब के साथ, पद्मावती नाम की एक स्त्री की भी गणना की जाती है परंतु, ऐतिहासिक दृष्टि से इन सब का एक समय में वर्तमान रहना अभी तक सिद्ध नहीं किया जा सकता है और प्रमाणों के अभाव में, ऐसी अनेक बातें अभी विवादग्रस्त व संदिग्ध हैं। फिर भी इतना स्पष्ट है कि, रामानंद द्वारा प्रचलित मुख्य विचारधाराओं के सीधे वा गौण प्रभाव में आ कर, अनेक प्रकार के उपयोगी आंदोलन चल निकले और भक्तिक्षेत्र में, कम से कम, निर्गुण तथा सगुण-विशिष्ट, दो ऐसी भावनाओं की सृष्टि हुई जिन से अनुप्राणित हो कर कवीर साहब एवं गोस्वामी तुलसीदास ने सर्वसाधारण जनता तक को अपना लिया। कवीर साहब की मृत्यु कदाचित् सन् १४४८ ई० में हुई थी और गोस्वामी तुलसीदास का जीवन-काल सन् १५३२ ई० से ले कर सन् १६२३ ई० तक रहा। कवीर साहब का विशेष ध्यान सभी धर्मों के मूल की ओर ही रहा और उन्होंने ने सब के लिए सहज भाव वा सहज स्थिति में रहना परमावश्यक बतलाया, परंतु गोस्वामी तुलसीदास ने स्मार्तधर्म द्वारा अधिक प्रभावित होने के कारण, हिंदू धर्म के ही अंदर पूर्ण सामंजस्य स्थापित किया और एक ऐसे सामाजिक आदर्श की सृष्टि की जो सब किसी के मनोनुकूल होने में समर्थ है। कवीर साहब की कुल रचनाएँ फुटकर हैं, किंतु गोस्वामी तुलसीदास का मुख्य ग्रंथ 'मानस' एक प्रबंध-काव्य है।

उपरोक्त दोनों महापुरुषों के अनंतर आने वाली अनेक बातें परम प्रसिद्ध हैं और उन पर लिखने की आवश्यकता नहीं। वैष्णवधर्म वा वैष्णव-संप्रदाय मूल वैदिक भावनाओं को ले कर उत्पन्न हुआ था और क्रमशः एकांकित, शास्वत वा भागवत एवं पांचरात्र के रूपों में ढलता हुआ अंत में पुनः संगठित वैष्णव-रूप में परिणत हुआ था और उस के उपास्यदेव भी उसी प्रकार वासुदेव कृष्ण से विकसित हो कर, गौपाल होते हुए, विष्णु-नारायण बन गए थे। परंतु आगे चल कर विष्णु नारायण से अधिक फिर श्रीकृष्ण और राधा की प्रधानता हुई और साथ ही राम व सीता का भी महत्त्व बढ़ गया। भक्ति-

संबंधिनी मनोवृत्ति में भी, आगे के प्रचलित उपसंप्रदायों में, आवश्यकतानुसार भिन्न-भिन्न परिवर्तन हुए और अनेक प्रकार के पूजन प्रकारों की भी प्रधानता होने लगी। परंतु फिर भी सभी वैष्णवों के प्रति न्यूनाधिक समानता का भाव रखना, भजन व प्रेम द्वारा अपने आराध्य को प्रसन्न करने की चेष्टा करना तथा इस प्रकार के अन्य अनेक भाव सभी वैष्णवों को सदा मान्य रहे और रहते आए। वैष्णवों के भिन्न-भिन्न उपसंप्रदायों में भिन्न-भिन्न भेष धारण करने की भी परंपरा चली आती है और कभी-कभी साधारण मतभेदों के कारण उन में विवाद वा झगड़े तक के असवर उपस्थित हो जाते हैं, किंतु उच्च श्रेणी के भक्त छोटी-छोटी बातों को सदा गौण समझते हैं और इन की ओर वे विशेष ध्यान नहीं देते। सच्ची बात तो यह है कि किसी धर्म वा संस्था की आलोचना करते समय उस की मुख्य व प्रधान बातों को ही महत्त्व देना उचित व न्यायसंगत होता है। वैष्णव-धर्म को हिंदू धर्म के भीतर एक विशेष व स्थायी पद प्राप्त हो चुका है और अन्य अनेक बातों की ही भाँति उस की 'श्रीमद्भगवद्गीता', 'प्रबंधम्', 'पदावली', 'अभंगों', 'भजनों' व 'रामचरितमानस' को भी हम कभी नहीं भुला सकते।

सत्यवती-कथा

['हिंदुस्तानी' के पिछले अंक में रायबहादुर लाला सीताराम जी का कवि ईश्वर-दास के विषय में एक नोट प्रकाशित हुआ था। लाला जी इस कवि की रचना 'सत्य-वती-कथा' का संपादन कर रहे थे पर उसे अधूरा छोड़ कर वे विगत २ जनवरी को स्वर्ण सिंघार गए। उन के देहावसान से हिंदी साहित्य की भारी क्षति हुई है। इस वृद्धावस्था में भी जिस अदम्य उत्साह से वे हिंदी की सेवा कर रहे थे वह अन्यो का पथ प्रदर्शक हो सकता है।

'सत्यवती-कथा' की भाषा अवधी है। अवधी भाषा प्रेम और वीरगाथाएँ लिखने के लिए क्यों चुनी गई यह दूसरा ही प्रश्न है। गोस्वामी तुलसीदास ने इस भाषा का रामायण में जो परिष्कृत रूप प्रदर्शित किया है वह शताब्दियों में बन पाया होगा। कवि ईश्वरदास की अवधी तुलसीदास जी की अवधी से ७४ वर्ष पूर्व की है। ईश्वर-दास की गिनती श्रेष्ठ कवियों में नहीं की जा सकती। भावों और भाषा की हीनता की दृष्टि से उन की तुलना इन्द्रावती के रचयिता नूरमुहम्मद से हो सकती है। इन की भाषा में छंद विठलाने के लिए असाधारण तोड़-मरोड़ करनी पड़ती है। भावों में कवित्व का अभाव है। कहानी का वर्णन भी कुछ रोचक नहीं है। साहित्य की दृष्टि से 'सत्यवती-कथा' नीची श्रेणी की कृति है। पर ग्रंथ का महत्व इस कारण है कि यह उस समय की अवधी भाषा का प्रायः जैसा का तैसा नमूना उपस्थित करती है। जहाँ-तहाँ दो एक प्रयोग ब्रजभाषा और भोजपुरी के हैं। पर इस प्रकार के प्रयोग जायसी और तुलसीदास में भी मिलते हैं।

हस्तलिखित प्रति आधुनिक है। रूलदार कानाज पर काली स्याही से लिखी हुई है। लेखक ने न अपना नाम दिया है न परिचय और न यह बताया है कि कब और किस प्रति से उस ने नक़ल की। लेखक का ज्ञान परिमित ही जान पड़ता है। स्थान-स्थान पर अशुद्धियाँ हैं। यथाशक्ति इन को शुद्ध करने का प्रयत्न किया गया

है। हिंदी की अन्य हस्तलिखित प्रतियों की भाँति इस में भी ह्रस्व और दीर्घ स्वरों के भेद के ऊपर पूरा अत्याचार किया गया है। शब्द में ह्रस्व स्वर है, छन्द भी ह्रस्व माँगता है पर अंकित किया गया है दीर्घ। कई स्थानों पर यह निर्णय करना कि अशुद्धि ग्रंथकार की है कि लेखक की, बड़ा कठिन हो गया है।

पाठकों से निवेदन है कि जहाँ छंद न बैठता हो वहाँ ह्रस्व स्वर को दीर्घ अथवा दीर्घ को ह्रस्व करके पढ़ें तो बहुत स्थानों पर छंद ठीक जान पड़ेगा।

कई स्थानों पर अर्थ लगता ही नहीं। कोई दूसरी प्रति मिले तो ऐसे स्थानों का पाठ शुद्ध किया जा सकता है। —संपादक]

श्रीगणेशाय नमः

श्रीरामाय नमः

प्रणवों गणपति मन चित लाई। जेहि सुमिरत मैं मति गति पाई।
दया करहु स्वामी शिव नंदा। तोहरे बल मैं करउँ अनंदा ॥
सारद कथा कहों कर जोरी। मैं न कहावों जे मति भोरी ॥
हिंदये भइ सु ग्यान कइ जोती। अजर होइ जसि निर्मल मोती ॥
नयन नरायन मुषहि मुरारी। कंठ सरस्वति कहइ सँवारी ॥
दोहा—मनि मानिक लै के चले, चढ़े उदधि भौ नीर।

कह ईसर जग माता, बोहि तलाव बहु तीर ॥१॥

तुह विनु जालप कंठ निरासा। हिंदये मोर लेहु निवासा ॥
कालभंजनी आदि भवानी। प्रसन होहु कछु करों वषानी ॥
अल्प वयस मइ मति कर भोरा। बल पौरुष सब जालप तोरा ॥
ज्ञान अर्थ देहु आदि भवानी। दैत्य-दलनि कमलापति रानी ॥
रंड मुंड सब कियेहु निकंदा। मयामोह कर काटहु फंदा ॥
दोहा—इसरदास कवि प्रनवों, हर्षित चित्त हमार।

भौ सहाय तै जालप, कथा कीन्ह अनुसार ॥२॥

पहिले रामचंद्र कै दाया। तेहि पाछे जालप कै माया ॥
तेहि प्रसाद होइ ग्रंथ रसारा। अपनी मति को जोरइ पारा ॥

कंठ बैठि जो कहइ भवानी । ती कवि अच्छर जोड़ बखानी ॥
कत्ते दुख कवि अंजर पावा । सोभविहीनउ छेदि लड़ावा ॥
मूर्ख न जानै अंजर सुद्धी । पंडित जन कह निर्मल बुद्धी ॥

दोहा—जस कोहार घट नापवै, फोरै राजकुमार ।

तैसे मूर्ख न जानई, पंडित करहि विचार ॥३॥

जाहि देस ठाकुर मद होई । ताहि देस भल वसइ न कोई ॥
जस अकलंकित चौथ क चंदा । तस विवेकि होइ ठाकुर मंदा ॥
पहिले बोल बराह्मन देई । तब धन सर्व आपु हर लेई ॥
कंचन कांच बराबलि देखै । पापपुन्य जो सम कइ लेखै ॥
सदा लोभ जो करइ मँदाई । जनम जनम सो तरकहि जाई ॥

दोहा—जाहि देस अस बरतै, तजत सदा बुद्धिमान ।

कह ईसर तह ना बसो, जो पर वेद न मान ॥४॥

जोति एक पंडव के संग । पाँच आत्मा आठी अंगा ॥
भादौ भास पाष उजियारा । तियि नौमी सो मंगल वारा ॥
नयत अइवनी मेपक चंदा । पंच जना सो सदा अनंदा ॥
जोगिनीपुर दिल्ली बड़ थाना । शाह सिकन्दर बड़ सुल्ताना ॥

दोहा—कंठे बैठु सरस्वती, विद्या गणपति दीन्ह ।

ता दिन कथा अरंभ यह, इसरदास कवि कीन्ह ॥५॥

कह जन्मेजय दुइ कर जोरी । व्यास रिपिय सुनु बिनती मोरी ॥
कहाँ गयेउ बहु पाँची भाई । सो स्वामी मोहि कहहु चुलाई ॥
कवरी पापी मंद भुआरा । तेइ नहिं कीन्हा छानि विचारा ॥
देस नग्र छोड़ा परिवारा । कपट पास कैं धर्म निकारा ॥
वारह वर्ष दीन्ह बनवासा । ते पंडव कत लेहि निवासा ॥

दोहा—कहु रिपि इन्हके राजा, पूछत हों सो तोहि ।

कैसे बाढ़ेउ पांडव, अर्य सुनाओ मोहि ॥६॥

सुनु जन्मेजय कहेउ बुझाई । जैसे बाँटहि पाँची भाई ॥
 कन्द मूल खनि करहि अहारा । वर्ष एक गइ रहे केदारा ॥
 दुसरे जमुना अगम गँभीरा । तिसरे कासी नर्मदा तीरा ॥
 चौथे वर्ष गये जगन्नाथा । पंचमे केदलि सिन्धुन साया ॥
 छठएँ वर्ष स्यारी का गयऊ । सतएँ सेतुबन्ध कहँ गयेऊ ॥
 अठएँ झारखंड चलि आवा । मारकंड कर दर्शन पावा ॥

दोहा—तेहि देखेउ रीषेश्वर, समदि राउ बइसाउ ।

कहाँ चलेउ तुम पंडवा, कहहु आपन सतभाउ ॥७॥

बनोवास विधि हमको दीन्हा । राज पाट पुर सो धन लीन्हा ॥
 कीन्हा तीर्थ केशव मन लावा । अब स्वामी तुव दरसन पावा ॥
 तुव देखे मन हर्ष हमारा । कहु स्वामी कछु ग्रंथ रसारा ॥
 वाढ़े धर्म मुक्ति गति पाई । जेहि सुने सब पातक जाई ॥
 मन चित चंचल जीव बैरागी । नारायण बिनु सदा अभागी ॥
 दोहा—आज महानिधि पावों, गरु हमारे भाग ।

सो कछु कहहु गोसाई, सुनहु ज्ञान जेहि जागु ॥८॥

सुनो धर्म गति राखहु राऊ । कहों तोहिं आपन सत भाऊ ॥
 दिव्य कथा किन्तु कहों रिसारा । एक चिन्त सुनु ज्ञान सँभारा ॥
 मथुरा नग्न जमुन के तीरा । दह दिस सोभित मानिक हीरा ॥
 घर घर सजा वाजना बीजा । चन्द्र उदय पुहमीपति राजा ॥
 गुरु ब्राह्मण पूजा पतियारा । दया धर्म से सदा अचारा ॥
 दोहा—अस धर्माधी राजा, संतति हीन भुआर ।

कर्म जो लिखा विधातै नहि, दीन्ह कन्याधार ॥९॥

पुत्र लागि राजइ सब छाँड़ा । चन्द्रहास कर लीन्हा खाँडा ॥
 देस नगर छाँड़ि परिवारा । गये जहाँ वन अगम पहारा ॥
 भीतर पर्वत कन्दल आहा । तहवाँ भई कइ शंकर माहा ॥
 चारि खम्भ रोपा तहँ जाई । बीको चरण बाँधि तेहि लाई ॥

पवन धूम सो करइ अहारा । ज्ञानी पुरुष धर्म अवतारा ॥
वर्षा साका पूज निभारा । तहवाँ तप सो करइ भुआरा ॥

दोहा—डुर्वल दुखीं करंकरी, दहबिसि पवन डोलाव ।

साँस नास भो राजा, सूझी वचन न आव ॥१०॥

जब राजा कछु वचन न बोला । तब महेस कर आसन डोला ॥
चले महेस तब ज्ञान सँभारा । डक डमरू षडंग आधारारा ॥
चन्द्र लिलाट जटा महँ गंगा । धरे सीस फनि शोभित अंगा ॥
डमरू खड्ग बीभति विभेसा । छाला सींगी सोह महेसा ॥
भैरों रीठी लिये जप माली । चले तहाँ जहँ तप कर भारी ॥

दोहा—निमिषि एक मह आये, ताहि तपाके पास ।

बहुत कष्ट जब देखा, संकर उपजी त्रास ॥११॥

कहा महेस मोरे मन चीता । उठ राजा तइ तप सन जीता ॥
साधु पुरुष उत्तिम गति तोरी । मन इच्छा मैं पुरखउँ तोरी ॥
तो कहँ परसन भये नरनाहा । सो देइ जो मन तोरेइ माँहा ॥
गरुड कष्ट तइ तप तनु कीन्हा । ती मैं आपन दर्सन दीन्हा ॥
तो सन राउ कहँउ का गोई । तोहि सम तुल पूजइ ना कोई ॥

दोहा—रथ तुरंग धनु कोटिन्ह, जौ मागिस मैं मंत ।

जो मन इच्छा तोहिरे, सो मैं देव तुरंत ॥१२॥

सुनु स्वामी सिव संकर जोगी । पुत्र लागि मैं भयेउ वियोगी ॥
पुत्र लागि मैं तजा भँडारा । देस नगर छाड़ा परिवारा ॥
पुत्र लागि मैं तप तनु साधा । पुत्रइ लागि चरन अनुराधा ॥
देस देस मोरि चर्चा होई । पुत्रहीन भल बोल न कोई ॥
कौन पाप है पुर्वज केरा । संतति बिना सो धंक कुहेरा ॥

दोहा—पुत्र छाँड़ि नहि मार्गी, जात वाटें संसार ।

नक उधारहु संकर, कैसे छैहो सोच हमार ॥१३॥

महा पाप तैं पुबिल कीन्हा । सो महेस सब कहवे लीन्हा ॥
 सुत तू ब्राह्मण मे दिल जारे । सदा बाट वन खंडहि पारे ॥
 विनु अपराध हते घर नारी । विप्रन वृत्ति कटाए झारी ॥
 बालक बाछा कपिला गाई । बिगर बिगर बधेहु तू जाई ॥
 सदा अनेति कीन्हे तइ वानी । उर के सजन स्वामी गुर ज्ञानी ॥

दोहा—येहि पाप से राजा, होई नर्क निवार ।

वर्त एकादसी केन्हुहु, ताते भयेउ भुवार ॥१४॥

ऐसा जनि विधि लिखा लिलारा । नास्ति पुत्र घर तोहरे बारा ॥
 जोग जतन तप कछु ना होई । आपन कर्म भजै सब कोई ॥
 सेवा जतन किये तैं मोरी । काहे न आस पुराऊँ तोरी ॥
 अच्छत मंत्र ले सीख तैं मोरा । कन्या एक ग्रह जन्मी तोरा ॥
 नाव कहौं मैं हृदय विचारी । सत्यवती सो अति सुकुमारी ॥
 अति रूपवती होइहि राया । सत्यवती सदा चित दाया ॥

दोहा—जाहि राय घर आपने, चित जनि करहु निरास ।

देउँ असीस में भाव सों, मैं गवनों कैलास ॥१५॥

जो कुछ बाटै कर्म हमारा । सो सब भुंजब इहि संसारा ॥
 वर्ष साठ भइ तुव मन लावा । अब स्वामी तुव दर्शन पावा ॥
 अंतरजामी जानि न जाई । मो कहूँ दया करहु चित लाई ॥
 माँगन मोर देह कछु थोरा । नरक नेवारह शंकर मोरा ॥
 जोती कला जो जानै धर्मा । सोउ न पावै सिव कै मर्मा ॥

दोहा—सो महेस मैं देखा, दिनवों दोउ करजोरि ।

जनम जनम तू दाता, आस पुरावो मोरि ॥१६॥

सब तुहार मैं चितउब काजा । जन्म नेवारन जाइहि राजा ॥
 अस कहि स्वर्गलोक सिव जाई । राजा नगर में पहुँचे आई ॥
 हाट हाट गो सीहदुआरा । पाटउ परिगै बैठ भआरा ॥

सब रानी कीन्हा पत्रधारी । सब मिलि सिर आरती उतारी ॥
सब भेरी पट बाजन बाजा । देस देस के आवाहि राजा ॥
दोहा—आदर सो सब संपदा, लेइ वइसाए पाट ।

प्रीति रीति कौतूहल, बोलाहि बाम्हन भाट ॥१७॥

आदर सो तब विप्र बोलावा । होम करें के कुण्ड बनावा ॥
होम जाप कइ संकल्प कीन्हा । अह निस दान विप्रन कहँ दीन्हा ॥
आनंद भए सोस्ती कहि जाई । तब राजाहि पुरान सुनाई ॥
संध्या काल आइ संगताई । चला लोग घर बिदा कराई ॥
गये स्त्रीपति जहँ आछै रानी । ता कहँ गर्भध्यान देहु जानी ॥
सो तब वर्ष एक चल जाई । जन्मी सत्यवती जग आई ॥

दोहा—देव लोक नहिं कन्या, अते रूप अवतार ।

हर्षत भा राजा तब, दिन दिन मंगलचार ॥१८॥

वर्ष आठ कैं भई कुमारी । धर्मपंथ करई समझारी ॥
सुजँ किरन किनु जीतइ चहई । ताकर रूप वन को कहई ॥
दिन दिन भक्ति करी सो गाई । पूजँ संकरही मन लाई ॥
नाना फूल टोरि भरि हाँये । फूल चढ़ावँ सिव के माये ॥
ऐसे रंग रहँ दिन राती । करइ मनोहर वह विधि भाँती ॥

दोहा—अस कन्या जग जनमी, करै धर्म चित लाइ ।

सिवसंकर वह विनु पूजँ, कैसेह अन्न न खाइ ॥१९॥

जहवा कन्या कर असनाना । ताहि सरवर को करै बषाना ॥
चारेउ घाट बँधाइ पाषाना । भीतर गहिर को अंतर जाना ॥
पुरइन लागी बहुत सेवारा । ता मँह मच्छ कच्छ घरियारा ॥
कहरै केलि तहँ चकवा हंसा । बहु विधि भँवरा करै विलासा ॥
जल के जंतु जानि नहि जाई । नाना पंछि रहँ तेहि ठाई ॥
दोहा—चारिह पास बहुत वन, कतहुँ न देखी भंग ।

सखी चार संग तहवाँ, होई ते अनवन रंग ॥२०॥

कहइ युधिष्ठिर दोइ कर जोरी । मारकंडे सुनु बिनती मोरी ॥
 कहत डेराउँ पास तुव वैसे । ता कर पुरुष भएउ दह कैसे ॥
 सो चरित्र सुनुवे मन लागा । तुहरे कहत छूटि बैरागा ॥
 जब स्वामी तुम कहा बुझाई । सुनतैं मोर सो हृदय जुड़ाई ॥
 कउन पुरुष सो भयेउ विवाहा । कह स्वामी रिप यहि के ताहा ॥
 दोहा—गयउ कष्ट भाइन के, पूजी आस हमारि ।

कस चरित्र है आगे, सो सब कहउ विचारि ॥२१॥
 सुनउ धर्म गति कहौ विचारा । वेद विदित पति इन्द्र भुआरा ॥
 तेहि के पुत्र बंस भे चारी । जल मल रितुवरन अहंकारी ॥
 महावली औ स्याम सरीरा । तेजवंत गुण ज्ञान गंभीरा ॥
 निषि सुमेरु जैसेन जग माहाँ । तैसेहि महिमा चारिह पाहाँ ॥
 मति सरूप चारौ बलवंता । नेम धर्म सो कराँह अनंता ॥
 दोहा—एक दाता एक पंडित, गावत एक रसार ।

रितुवरन भववाधा, चारेहु महँ सुकुमार ॥२२॥
 अहि निस कराँह सो विधवत रंगा । एक देव सब चलु व्याधिन्ह संग ॥
 चारों वरन लीन्ह संग लाई । चिता स्वानि लीन्ह डोरियाई ॥
 जेहि वन दंती कराँह चिकारा । तहवाँ मौँ सब कराँह पुकारा ॥
 पर्वत सिंग चढ़े सब धाई । कहत पुकारत जंतु पराई ॥
 छोड़ा सो नहा लीन्ह गोह नाई । भारा सावज जगनि न सिराई ॥
 दोहा—सब केहु लीन्हा सावज, गये लोग गृह माँहि ।

रितुवन वनवन झला, वैठि नीँवि की छाँहि ॥२३॥
 खन एक माह उठा अकुताई । कोस पाँच गो अधिक भुलाई ॥
 तहवाँ देखा वन अँधियारा । अँधकाल वन अगम पहारा ॥
 देखौं जंतु तहाँ लेहि त्रासा । तेहि उर लागि न भूषि पियासा ॥
 दह दिसि हेरत अकनव जाई । कल्पवृक्ष देखा तेहि ढाई ॥
 तीस कोस लेहि ता करि डारा । ऊपर ऊँच उए जह तारा ॥

दोहा—ऐस वृक्ष महि मंडल, कवहुँ सुना नहि कान ।

रितुवर्न तहाँ चितवै, कर लीन्हें धनु वान ॥२४॥

फोरि फोरि हेरै पेड़ के पासा । चढ़ा तुरति सो गयो अकासा ॥
पलव डार भइ वइसा जाई । देस भूमि चितवै चित लाई ॥
चितवै पूर्व दिसा वन माहाँ । सरवर एक देख अवगाहा ॥
तहवाँ कन्या करहि धमारी । एक चिन्त करि रहा निहारी ॥
देखत मोह ताहि तब आई । परत डारि धरि रहा समाई ॥

दोहा—करहि मनोहर कन्या, ग्रीवर एक एक हार ।

हाँथ फूल कर गोंडवा, एकहि एक धोमारी ॥२५॥

रितुवर्न मन कहै विचारी । अते रूप नहि देखा नारी ॥
अते रूप हम सीता देखी । एकर भाव न जाइ विलेखी ॥
की तप करै कि नारी आई । की पंचारी रही छपाई ॥
की देवन्ह की कन्या होई । की चंदावती राधा सोई ॥
की मंदोदरी कुन्ती आही । अधिक रूप एकर सब चाही ॥

दोहा—त्रिभुवन की नारी जत, सब कुरूप एहि पाय ।

ऐसिन रानी जाहि घर, धन्य पुरुष जग माहि ॥२६॥

मन डोला तब कन्यहु केरा । छाँड़ि खेल तब बहु दिस हेरा ॥
एक सखी देख पल्लव डारा । चक्रित ह्वै कै सवन्ह निहारा ॥
एक सखी कह मोहि अस भावा । रामचन्द्र जनु देखन आवा ॥
की ब्रह्मा हरिहर की माया । की हनुमन्त भिभीषन आया ॥
एइ हमारी देख सरीरा । चलहु सखिउ आगम गंभीरा ॥

दोहा—एक चित हमें चितवै, जस जोगी चित जोग ।

धर्म न जानेसि पापी, कहसि कौन तैं लोग ॥२७॥

जस ब्राह्मण कै अती कढ़ाए । जस पोपरी कर भाट जिताये ॥
करइ विश्वास जो रहै छिपाई । जोवन डाठा देइ लगाई ॥

जो नर तौल नाप दे घाटी । फरत आम जो डारै काटी ॥
 सरन काठि के जो नर देई । आन क सर्व(स) आपु हर लेई ॥
 भाइ भाइ सो विग्र लरावै । पर तिरिया से रंग बढ़ावै ॥
 दोहा—ऐसन पाप ताहि के, पर दारा नग्न निहार ।

तै कबहूँ नाहिंन सुने, गुरु सों ज्ञान विचार ॥२८॥

पापी बात कहौं का तोहीं । आपन कष्ट कहेसि ना मोहीं ॥
 बाघ सिंह डर चढेसि रुखा । तस आपन कहु सो सै दूपा ॥
 की तै भूलि परे सिव आनन माहीं । की वाउर चढेसि बीराई ॥
 जस पातक होइ म दिस जारे । जस पातक होइ गाइ के मारे ॥
 ऐसिन पाप तो कहूँ होयखैं । कपट रूप परतिरिया देखे ॥
 दोहा—उतर चोख तैं पापी, अपने घर तैं जाहि ।

दारुन श्राप देउं तोहि, जो हो रिस हम पाहि ॥२९॥

अधिकउ हेरइ मन चित लाई । अंबर लेइगा पवन उड़ाई ॥
 तव कन्या पहुँची जल धाई । श्राप एक दिहु सवन कोहाई ॥
 कुण्ठी होस महा तैं पापी । दुख जे जाल होहि संतापी ॥
 एक निमिखि भोए विधानी । धनुही पसो नदन बहु पानी ॥
 पाप कही जत मेदिनि माहाँ । सब पाप पापी तोहि पाहाँ ॥
 दोहा—ऐसन फल सो पावै, कहै सखा मन लाइ ।

नग्न नारि जो देखै, सो नर नर्कहि जाइ ॥३०॥

व्याधि अंग व्यापित सब गाता । निमिषि एक मोपर अविधाता ॥
 येधत जमि हाँथ गो टूटी । सब ही अंग पीव वहै फूटी ॥
 अत बड़ कष्ट कहा नाहि जाई । खन उठै खन परे मुरछाई ॥
 समुझै सुख औ घर ही नारी । समुझै राज पाट सब झारी ॥
 तन भो ताकर विकट विभेपा । कह कासों घर पठवौं संदेसा ॥
 दोहा—गरु कष्ट भी ता के, रहे रहकि तहाँ सोई ।

दगधि वरै तन भीतर, पन पन उटै रोई ॥३१॥

रोवै व्याधी बहुत पुकारी । छोहन्ह चिछरोवै सब झारी ॥
 बाघ सिंह रोवत वन माहीं । रोवत पंखी बहुत अनाहीं ॥
 जन्तु अनेक सब रोवै आई । रोवत बानर ह्रिदय ठाई ॥
 रोवाहि मृगी वन बालक छोड़ी । सुन कन्या तहें देखन दौड़ी ॥
 कहा व्याधि तैं अवगुन कीन्हा । गरू श्राप तैं मोकहें दीन्हा ॥
 दोहा—विषम वियापत काय आ, परा बिषम सर भार ॥

अब देउँ कह रे कन्या, कहिआ मीछ हमार ॥३२॥
 चन्द्र उदय कै कन्या आही । जो तैं जाइ विवाहस ताही ॥
 तोहि आमोछ परम गति होई । अंतर नीक करै नहि कोई ॥
 कह व्याधी मोहि चलै न जाई । अजगुत वात कहै चित लाई ॥
 माये लेइ बहुत कै भारा । अवर पारि को निमजै पारा ॥
 लिखा होइहि तो मिलहै आई । विधि परपंच जानि नहि जाई ॥
 दोहा—जाहु कन्या तुह सरवर, खेलहु जाइ घमार ।

विधि वियोग जेहि दीन्हा सो, मोरि करहि गोहार ॥३३॥
 अस सुनि कन्या सरवर आई । व्याधी तहाँ परा मुरछाई ॥
 बहुत गंध व्याधी तन होई । बाघ सिंह तेहि खाइ न कोई ॥
 चन्द उदै पुहमी पति राऊ । खेलत अहेर ताहि वन आऊ ॥
 परी गंधि राजा की नाका । राजा सहित महथ मुंह ढाका ॥
 व्याधी गंधि सकल वन बेधा । राजै कहा करिय असमेधा ॥
 दोहा—चलहु महथ घर जाइये, दीजै दछिणा दान ।

नेम धर्म करि गई चितउ, सुनिये वेद पुरान ॥३४॥
 महिय कहा भल बोलु गुसाई । चलहु चोप घर घोर कुदाई ॥
 सन्ध्या चरे भई नरनाहा । बाघ सिंह छोड़ा वन माहां ॥
 दुनरुज नाके रचित माना । ठोकि तुरंग गये सनधाना ॥
 नगर समीप जो मिला अहेरा । मरजादा देख सावज केरा ॥
 देखत राजा छर चलि जाई । उतरि तुरंग बइस सुताई ॥

दोहा—तेहि छन विप्र बोलावा, कुण्ड खनाय सवार ।

होम जाप करि राजा, दीन्ह दच्छिना झारि ॥३५॥

गंधि लागि देहि राजै दाना । गंधि लागि सुन वेद पुराना ॥
द्रव्य दान विप्रन कहै दीन्हा । आदर करि तव विदा कीन्हा ॥
नेम धर्म सब कीन्ह अचारा । ता पाछे वइसे जेवनारा ॥
चौका ऊपर गे बैठ भुआरा । कन्या विना न करै अहारा ॥
दूत एक तव पठवा धाई । सत्यवती गे आन बुलाई ॥

दोहा—सुनि के दूत चौंक गा, कन्या भेंदी जाइ ।

कहै दूत सुनु कन्या, राजा अन्न न खाइ ॥३६॥

सुनुसि दूत तोहि कहौ बुझाई । नाजहु पुजऊँ बाल कन्हाई ॥
नाजहु पुजऊँ देव गनेसा । नाजहु पुजऊँ सखित महेसा ॥
नाजहु ब्रह्म चरन लै परऊँ । नाजहु ज्ञान ध्यान महं घरऊँ ॥
नाजहु पुजऊँ विठ्ठल देवा । नाजहु करहूँ जोति कै सेवा ॥
नाजहु सरवर निम जो जाई । नाजहु अरघ देहु चित लाई ॥

दोहा—इतना देउ विन पूजै, कैसे में घर जाऊँ ।

बिनती कहव मोरि गै, राजा अन्न जे खाई ॥३७॥

अस सुनि वचन गये घर दूता । राजा आगे सब कहा निरुता ॥
नाजहु शंकर पूजा करऊ । नाजहु ज्ञान ध्यान चित धरऊ ॥
अस सुनि राज मर्नाहि बिलखाना । अज्ञा भंग कहसि मतिमाना ॥
कहौ दूत तोहि अरथ बखानी । का पूजै देहु सागर ग्यानी ॥
का पपान पूजत सब कोऊ । मात पिता जस हरि हर देऊ ॥

दोहा—जाहु दूत तू चोखे, जहँ वह कन्या आहि ।

वनखंड है जो व्याधी, कन्या सोंपहु ताहि ॥३८॥

गए दूत कन्या के पासा । बात कहै चित उर धरि साँसा ॥
जो तुह कहा कहा मन लाई । तुह सों राजा बहुत रिसाई ॥

तुह तो बचन राय कइ बोली । अब आउह बनखंड अकेली ॥
तोसों कहों एक निज मंता । सौपों तोहि जहाँ तोर कंता ॥
नाहीं नाक बिधाता कीन्हा । तुह अस सुन्दर बनखंड दीन्हा ॥
दोहा—आपन कर्म सब भजु, जो विध लिखा लिलार ।

जनु दुख छाँड़हु कन्या, सेवहु व्याध भतार ॥३९॥

कन्या बचन दूत कर जोवा । सुनत संदेस नयन भरि रोवा ॥
ता पाछे कहु आचर भारी । कहेउ तात मातहि एक वारी ॥
जत वाटें कुटुम्ब परिवारा । कहेउ असीस मोरि पति हारा ॥
वरजेहु पितहि मरै जनि रोई । जनु वैरागी दुर्वल होई ॥
बालक वेदन माय पै जाना । सुख मोके दुख सहा अपाना ॥
दोहा—पंथ दुरंतर भेया, घर गवनव तू चोख ।

कंत पास जाती हो, कहत लागु जनि दोष ॥४०॥

नीबि डारि एक लीन्हा तोरी । व्याधी पास चली कर जोरी ॥
झरै नीर तब दूनों आँखी । या सब रसिक रोहा कई माछी ॥
व्याधी उलट देख तब नारी । गछ गछ तैं कन्या सुकुमारी ॥
मैं व्याधी व्यापित मोर अंगा । तैं निर्मल जस पटतर गंगा ॥
तोरी श्राप भयो अस हाला । कष्ट अनेकन दुख जंजाला ॥
दोहा—ऐसेन मैंसे तापी, कहौ दुःख अब काहि ।

व्याध सिंह तोहि खाइहैं, कन्या तैं घर जाहि ॥४१॥

तोहि छाँड़ि अब मैं कित जाऊँ । माई वाप सौ पातु उठाऊँ ॥
मैं आज्ञा पर दास तोहारी । ॥
जस ब्रह्मा हरि हर गुर देवा । आज्ञा मानि करौ तुव सेवा ॥
अहि निसि चंदन फूल चढ़ावौ । तो मैं बालसती कहँलावौ ॥
अंघत फल मैं आनि खिलाऊँ । सीतल जल तुव आनि पियाऊँ ॥

दोहा—चौदह वर्ष वृक्ष तर, रहते साग अघार ।

जीव की नाई सेवी, कन्या करइ सुसार ॥४२॥

अह निसि कष्ट डुअहु के अंगा । मस माछी तन खाइ पतंगा ॥
 बाघ भालु तहें देत चिकारा । चहुँ दिसि फेकरइ बहुत सियारा ॥
 वरयै जलधर वहै बतासा । चमकत विजुली ठमकु अकासा ॥
 गरजै सघन रात अँधियारी । देखि भयावन तरसै नारी ॥
 कोटिन बूंद परै तनु गाता । वोठा डसन वन कर पाता ॥
 दोहा—बिनती मोर कंत सुनु, तजउ ठाउँ नरनाह ।

बहुत कष्ट भे तिन्ह को, कह ईसर मन माह ॥४३॥

सुनसि कंत तैं कहा हमारा । काल्हि गयउँ मैं पर्वत पारा ॥
 प्रभावति तीरथ देख अवगाहा । सर्वाहि देवता आछाहि ताहा ॥
 इन्द्र कन्या तहें करहि धमारी । तहाँ अनेक रिषीश्वर ज्ञारी ॥
 होम जाप तहें संकल्प होई । गन गंधरव गावाहि सब कोई ॥
 शंख ताल बाजै दिन राती । करै मनोहर बहु विधि भाँती ॥

दोहा—ब्रह्मा सहित किन्नर, सुनाहि वेद पुरान ।

चलहु कंत संग मोरे, करि आई अस्नान ॥४४॥

कहा व्याधि मैं चलै न पारौ । कैसे तीरथ जाइ अवधारौ ॥
 पेट पीठ मोरि रहलि सुखाई । चरन खाँगि मोहि चलो न जाई ॥
 नैन हीन मैं पंथ न चीन्हा । भीतर अंग व्याधि घर कीन्हा ॥
 भीतर मोर कलेज सुखाना । अब तब हंस जे करहि पयाना ॥
 परेउ भयावन ओ घट घाटा । बहुत कष्ट कन्या मोहि बाटा ॥

दोहा—तैं लै तीरथ करावसि, करसि नक उद्धार ।

सत्यवती सत्य देखाउ, कीर्ति रहै संसार ॥४५॥

मनसि तीर्थ लै चली उठाई । काँधे ऊपर तब लीन्ह बैठाई ॥
 चित्र विचित्र कहा नाहि जाई । बोखै का धरे कुरि की नाई ॥
 तीजे पहर लेहि गौवन माँझा । तीरथ पासा परिगो साँझा ॥
 मंडप रिषी सुरी चढ़ि बैसा । देउर ऊपर कलस सोभै जैसा ॥

दिकुरी मारग सीकी सुहाई । तेहि ते राखा सुरिरी चढ़ाई ॥
ऐसन तप सो करै विभेसा । चलत पंथ तिन्ह लागी ठेसा ॥

दोहा—कवन जाति तैं पापी, तैं मोरे बल ज्ञान ।

बहुत क्रोध करि श्रापा, तोर निकसैं प्रान बिहान ॥४६॥

जो मैं सती ज्ञान गुनवंती । तीन भुवन होखैं निजु राती ॥
सत्य सुकृत जो बाट सरीरा । होखौ रजनो अगम गंभीरा ॥
रजनी गत जो होइ बिहाना । संकर ऊपर तजौं मैं प्राना ॥
सत्तहु ते भयऊ अंधियारा । सूझै स्वर्ग न श्रीतु पताला ॥
परम जोति जहँ करैं बसेरा । तहँ बहु परिगा धुन्ध कुहेरा ॥

दोहा—ऐसव सत तेइ जंटवा, रहेउ धर्म संसार ।

तैंतिस कोटि देवता, सब के भा अंधियार ॥४७॥

स्वर्ग लोक ब्रह्मा कर थाना । वैसे देव और परधाना ॥
छन एक अनुमति कीन विचारी । चले तहाँ जहँ सती कुमारी ॥
ब्रह्मा सहित चले त्रिपुरारी । गन गंधरव किन्नर चले क्षारी ॥
गिरजा सहित चले त्रिपुरारी । औरी देव चले सब क्षारी ॥
नारद सहित बरह्मा आए । गन गंधरव हिमवंत सिधाए ॥

दोहा—चांद सर्प तारा गन, और और सब क्षार ।

अंधकाल कीन्ह कहू काहे, कन्या कहो विचार ॥४८॥

जहँ वारिख पर है तप साधी । त्राहि पंथ लेइ आयहु व्याधी ॥
अंग भीरि गा तिनहि गुसाईं । मैं नहि जानौं धर्म दोहाई ॥
पुरुष मरै रे दीन्हा श्रापा । सो सुनि मोरा हिंदय कांपा ॥
रिषि बोला दीन्ह होषौ माना । मैं बोला जिनि होउ बिहाना ॥
अब ती पलटा भाग्य हमारा । जब देखा हरि चरन तिहारा ॥

दोहा—सब देवता बैठहु, सुयस एक अब लेहु ।

कुप्टी कंत मोर है, सो सुन्दर करि देहु ॥४९॥

कैलासन करवाल मुरारी । तो तें सती सत्य वर नारी ॥
 जाकर पुरुष नयन कर अन्धा । कुण्ठी कुवज औ वाउर बंधा ॥
 बाट न सूझ चरन कर पंगा । भुअवर हीन रोग जेहि अंगा ॥
 ऐसन कन्त जाहि कर होई । सेवा करै सती जग सोई ॥
 नीक सुन्दर के नाहि सेवै । अपना के जो सती कहावै ॥
 दोहा—महा सती तो सीता, तेहि पटतर मति तोर ।

फेर आधार नीक कर, कहाँ राखु चित मोर ॥५०॥

जो मैं सती जाइ अधियारा । होइ बिहान सकल संसारा ॥
 हरषे ब्रह्मा संभु मुरारी । ईश्वर दास कवि सरन तिहारी ॥
 तब व्याघ्रहि कराइ अस्नाना । भा कुवार् जस वारहु आना ॥
 गो पातक जरि कै भौ छाया । अति स्वरूप निर्मल भो काया ॥
 कुवैर देखि हरषी तब नारी । हरपित सबै देवता झारी ॥
 दोहा—तैंतिस कोटि देवता, सब के भयेउ उछाह ।

जै मुनि लगन निरूपा, भो दुनहुन का व्याह ॥५१॥

ब्रह्म दण्ड तहें खंभ गड़ावा । तरवाधो तिन्ह माडव लावा ॥
 बालू कर तहें चौक पुरावा । श्रावन एक घरी वरिवावा ॥
 कलस कमंडल भरि घर पानी । दिआ साज घरा तहें आनी ॥
 कुवर कुवरि के रोचन लगावा । पारवती उठ मंगल गावा ॥
 कीन्ह नहावन वर औ नारी । पहिर पटंबर दीन्हा झारी ॥
 दोहा—वर कन्या बैसवा लइ, चौक उपर तब आनि ।

कैसो अस्तुति वजै मुनि, कर्म कीन्ह मन जानि ॥५२॥

सब देवता वैसे वरिआती । ब्रह्मा विष्णु वइस बहु भांती ॥
 वर कन्या सों कलस पुजावा । देवन तहवाँ संख वजावा ॥
 जे मुनि वैसल वेद मनावहि । व्यास परासर वेद पढ़ावहि ॥
 रितुवर्न मन भयउ उछाहा । सेन्दुर बन्दन भो तब व्याहा ॥
 मंत्र बोलि कर गाँठि जोराई । चिरंजीव कइ आशिष पाई ॥

दोहा—ऐसी भाँति देवतन्ह, दुनहुन का कीन्हा व्याह ।

नर्क जात हरि राखा, कहि ईश्वर मन माँह ॥५३॥

करि विवाह प्रभु दाइज दीन्हा । लक्ष टका कर संकल्प कीन्हा ॥
जंटी तीर्थ औ बहुत अनंता । ॥
लाख गायें अरु भइसि हजार । दुइ सौ दीन्हा निकट दुओरा ॥
सोन रूप देइ अरसठ भारा । हीरा मोति गनइ को पारा ॥
वेदन गिरिन हुलाखेउ गाँऊ । जैसन इन्द्र स्वर्ग कर राऊ ॥

दोहा—जाहु तुरत घर आपने, ई सब लेहु गिनाइ ।

बहुत दुःख तुम देखा, अब सुख भोगहु जाइ ॥५४॥

कह कन्या केसव से वाता । तुम हम कहँ दीन्हा अहिवाता ॥
चन्द्र उदय के जनिमउ वसा । तुम मोरी ईछा पुरई आसा ॥
जा कहँ परसन हों रघुराया । देव लोक ताके कर माया ॥
जाके कुमाया करहु गोसाई । सो तो सदा नर्क महँ जाई ॥
तव नारायन दिया जै भारा । हरपित भो तव नारी कुमारा ॥

दोहा—तत पन विदा कराइ सब, चोपे कीन पयान ।

तैतिस कोटि देवता, गये स्वर्ग अस्थान ॥५५॥

बदे नगर दिन दुइ महँ आये । पैठत नगर सगुन भल पाये ॥
हाट हाट गोसींह दुआरा । पाटेउ परिगँ वंस भुआरा ॥
जननी पिता भेंटु तब जाई । दौरि दौरि भिब लागे धाई ॥
जन परिजन पाव तर पारा । हाँथ इष्ट गहि अंक मँह धारा ॥
समदि लोग घर कैसे जाई । सत्यवती लेइ रानी भेंटाई ॥

दोहा—उहवाँ गावहि युवती, करहि मनोहर वार ।

सभा पुरी तहाँ वैसे, भाइन सहित भुआर ॥५६॥

पन एक बैसा दिया आना । कर उठाइ सब ही देहु पाना ॥
कहँ कवित जो भाट सुनावा । जो मनसा भो सो फल पावा ॥

सब कर विदा कीन्ह अस्थाना । बिसरे जन कहँ दीहों दाना ॥
 ता पाछे बइसे जेवनारा । भोजन करि तब उठा भुआरा ॥
 पान लेइ तब मंदिर जाई । सत्यवती आछै जेहि ठाई ॥
 दोहा—सत्यवती औ कुँवर दोउ, पाए सुख औ राज ।

पुन्य कथा जे यह सुनै, ताकर हो सिद्धि काज ॥५७॥

सत्यवती कथा सुनै मन लाई । महा पाप ताकर खो जाई ॥
 जेहि सुने चित उपजै ज्ञाना । जानहु सुना सो वेद पुराना ॥
 द्रव्य दान विप्रन कहँ दीन्हा । आदर करि तब विदा कीन्हा ॥
 नेम धर्म सब कीन्ह अचारा । जनु दर्शन भा देव गोपारा ॥
 सर्व तीर्थ कीन्हा अस्ताना । कीन्ह तीर्थ अरु दीन्हा दाना ॥
 दोहा—सहस्र नाम जो सुनै, कहत कथा फल पाउ ।

कोटि तीर्थ जनु कीन्हा, इसरदास कवि गाउ ॥५८॥

इति श्री सत्यवतीकथा समाप्त ॥ लिखितं आधार

हिंदी भारत की राष्ट्रभाषा है

[रावराजा रायबहादुर पंडित श्यामबिहारी मिश्र और रायबहादुर पंडित
शुकदेव बिहारी मिश्र]

इस विषय पर विचार करने के पूर्व भारतीय प्रांतों की १९३१ वाली जनसंख्या जान
ना आवश्यक है। इन का विभाजन हिंदी-भाषी तथा इतर प्रांतों पर किया जाता है।
भारत की पूरी जनसंख्या १९३१ की गणना में ३५,२९,८६,८७६ थी। इस में से देशी
रियासतों की संख्या ८ करोड़ से कुछ अधिक है।

(१)

हिंदी-भाषी प्रांत

नाम प्रांत	१९३१ की जनसंख्या
युक्तप्रांत	४,८४,०८,७६३
बिहार-उड़ीसा	३,७६,७६,५७६
पंजाब	२,३५,८०,८५२
मध्यप्रांत-ब्रार	१,५५,०७,७२३
दिल्ली प्रांत	६,३६,२४६
अजमेर-मरवारा	५,६०,२९२
हिंदी रियासतें (प्रायः)	५,००,००,०००
जोड़	१७,६३,७०,४५२

अहिंदी-भाषी प्रांत

नाम प्रांत	१९३१ की जनसंख्या
बंगाल	५,०१,२२,५५०
मदरास	४,६५,७५,६७०
बंबई-सिंध	२,१८,५४,८४१
कुर्ग	१,६३,३२७
पश्चिमोत्तर सीमा प्रांत	२४,२५,०७६
बलूचिस्तान	४,६३,५०८
आसाम	८६,२२,२५१
बर्मा	१,४६,४५,९६९
अहिंदी-भाषी रियासतें (प्रायः)	३,००,००,०००
जोड़	१७,४८,७२,९९२

इन तालिकाओं से प्रकट है कि दोनों भागों की जन-संख्याएँ प्रायः समान हैं, किंतु एक में एक भाषा है, और दूसरे में प्रायः सात भाषाएँ हैं। दिल्ली, युक्तप्रांत, बिहार, और मध्य-प्रांत एवं मध्यभारत के भाग हिंदी के केंद्र हैं, तथा पंजाब, राजपूताना, और काश्मीर इस के बहिरंग प्रांत हैं, जहाँ हिंदी का ही प्रचार है। अंतरंग और बहिरंग प्रांतों में बोली का थोड़ा-सा भेद अवश्य है, किंतु बहिरंग प्रांतों में भी हिंदी ऐसी बृढ़ है कि वहाँ के लोग अपने प्रांतों को हिंदी के लिए बाहरी कहा जाना पसंद न करेंगे। भाषा ग्राम-ग्राम प्रति कुछ-कुछ बदलती चलती है, और प्रांतों में यह भेद बहुत कुछ बढ़ा हुआ देख पड़ता है, किंतु हिंदीपन में कोई संदेह का नाम नहीं है। ग्राम्य और नागर भाषाओं में भी बहुत कुछ अंतर होता है, किंतु हिंदीपन सब कहीं वर्तमान है। सभी देशों की प्रांतिक आदि भाषाओं में ऐसे अंतर होते

भी हैं। जिला लखनऊ और हरदोई की ग्राम्य भाषाओं के दो उदाहरण यहाँ दिए जाते हैं।

(१)

जिला लखनऊ में इटौंजा महोना की साधारणी भाषा:—

काल्ह रामलीला क म्याला छाखै गैन, तउ भाई ऐसि चकल्लस भइ कि तवेति फड़कि उठी। एकु घोड़ौना विगारि क अइसी वइसी दौरह लाग, अउ सहिसऊ लाख लाख सँभारे क पछियान, मुल उ हाथे न आवा। जेत्ते मेलहरी रहइ, सब अइसी वइसी भागति घूमे। कोई आधु घंटा में कौनिउ जतन ते पकरा ग।

(२)

जिला हरदोई में भगवंतनगर मल्लावाँ की भाषा:—

काल्ह रामलीला को मेला देखिबे क गैनु, तउ भाई ऐसी चकल्लस भई कि तबियति फड़कि उठी। एकु घोड़ विगारि उठो, अउ हियाँ हुवाँ दउरन लगो। वहि को सहीमु सँभरिबे क लाखु लाखु पछियानो, मुलउ हाथ न आवो। जितने मेलहरी हते, सब हियाँ हुवाँ भगति फिरे। कोई आधे घंटा में बड़ी जुगुति ते पकरो गओ।

साधारण लोग दूसरे-दूसरे ग्रामों की भाषाएँ बोल नहीं सकते, किंतु समझ सुगमता-पूर्वक लेते हैं। यह अंतर प्रांतों में अधिक बढ़ जाता है। यहाँ तक कि साधारण लोगों की बोली पूर्णतया समझने में कुछ कठिनता पड़ने लगती है। फिर भी भावार्थ सुगमता-पूर्वक ज्ञात हो ही जाता है।

(३)

बुंदेलखंड की भाषा:—

दीन बंद ! अपुन से कौसी बिनती करौं, आजु काल्ह मोरी कछू अइसी ग्रह दसा लगी है कि कछू कहत सुनत नहीं बन्त। यही सोचत आउँ कि अक्तां (भविष्य में) मोरो इतै कइसे गुजर भवो जात है। मई तउ अपुन कि किरपा ते बहुत साजो हउँ, मुलउ मोरे डोकर बहुत लरम परि गये हैं, बहुतै दूटि आये हैं। अथये खाट पर परति हई तउ अधियारी लउँ उठिबे को मनु नाई कत्त। उतै गरीब परवर ते उजुइ करन गओ, त कछू सुनवाई न भई। मई तउ बिनती बानती कत्त रहो, उतै वइ चका मसकि भीनि अउ देखत देखत जात रहे।

यहाँ डोकरा वृद्धे को कहते हैं और वहाँ पिता को डोकर बोलते हैं। चाहे बीस ही वर्ष

की अवस्था में किसी के पुत्र हो जावे, तो भी वह उस का डोकर है। 'जात रहे' यहाँ मर जाने को कहते हैं, और वहाँ चले जाने को। फिर भी थोड़े से ध्यान देने से भावार्थ समझ पड़ जाता है और कुछ ही अभ्यास से अक्षरार्थ भी। हाँ, जब असभ्य ग्रामीण शीघ्रता-पूर्वक कुछ कहने लगते हैं और कथनों के साथ अज्ञात कथा और रोना-गाना भी मिलते जाते हैं, तब भावार्थ पकड़ पाने में भी कठिनाई पड़ जाती है। लखनऊ से जितना पूर्व की ओर चलते जाइए साधारण भाषा तक में उतना ही संस्कृत-पन मिलता जाता है, और इसी प्रकार पश्चिम की ओर जाने से उस में अरबी-फ़ारसीपन बढ़ता जाता है। पंजाब की भाषा में नू आदि शब्द तो मिले रहते हैं, किंतु समझने में अड़चन नहीं पड़ती। बिहार में प्रायः कुछ भी गड़बड़ी नहीं आती। पश्चिमी युक्तप्रांत में ब्रजभाषा का प्राबल्य है। यही दशा बूंदेलखंड तक चली गई है। उधर रीवाँ, छत्तीसगढ़ आदि में वसवाड़ी-पन मिलता है। पूर्वी राजपूताना में युक्तप्रांतीय हिंदी का आभास है, तथा पश्चिमी में गुजरातीपन का। वहाँ के ग्रामीणों की साधारणी भाषा समझना कठिन होता है। एक बार जैपुर में एक ग्रामीण नौकर ने मुझ से स्नान करने के विषय में पूछना चाहा कि पानी अभी लावें या कुछ ठहर कर। इस साधारण प्रयोजन को भी वह मुझे न समझा सका। कई प्रकार से उसने इशारों से भी बतलाया, किंतु असफल रहा। फिर भी मेरी बोली का भावार्थ वह जान लेता था। उड़ीसा में भाषा हिंदी और बँगला दोनों से मिलती समझ पड़ती है। जगन्नाथपुरी में मैं वहाँ के साधारण निवासियों तक की बोली सुगमता-पूर्वक समझ सका। उज्जैन, इंदौर, जब्वलपुर, हैदराबाद दखिन, अजंता, इलोरा आदि में कोई कठिनाता न पड़ी। हिंदी और उर्दू में कोई वास्तविक अंतर नहीं है। साधारण जनता की हिंदी और उर्दू एक ही हैं। विद्वानों में कुछ हिंदू हिंदी में संस्कृतपन ठूसने लगते हैं तथा कुछ उर्दू-दाँ अरबी और फ़ारसी। इन्हीं कारणों से कुछ विद्वानों के हाथों में हिंदी और उर्दू पृथक् भाषाएँ सी देख पड़ने लगती हैं और साधारण जनता उन भाषाओं को समझ भी नहीं पाती। वास्तव में हैं दोनों एक ही।

अब जनता-संबंधी विचारों पर हम फिर से आते हैं। ऊपर देखा जा चुका है कि हिंदी और अहिंदी-भाषी भारतीय जन-संख्या प्रायः सत्रह-सत्रह करोड़ है। अहिंदी प्रांतों में वर्मा की भाषा भारतीय से पृथक् होने से उस प्रांत की प्रायः डेढ़ करोड़ जनता गणना से निकल जाती है। पश्चिमोत्तर सीमाप्रांत में हिंदी कुछ पश्तो से संबद्ध है किंतु समझ में

थोड़ी बहुत आ ही जाती है। यही दशा काश्मीर की है। एक बार वहाँ हम ने दक्खिन कहा, तो लोग समझ न सके और सोच साच कर जब जनूव कहा तो समझ कर बोले कि "सेठ ! सीधा सीधा जनूव क्यों नहीं कहता ? दक्खिन दक्खिन क्या बोलता है ?" काश्मीर और पश्चिमोत्तर सीमाप्रांत में भाषा-संबंधी कोई विशेष दिक्कत न पड़ी। बंबई-प्रांत की जो प्रायः सवा दो करोड़ जनता है वह अर्द्ध हिंदी-भाषी है। वहाँ भी भाषा-संबंधी अड़चन नहीं पड़ती। हमारे नौकर ने एक बार दूकानदार से आलू का भाव पूछा तो वह बोला कि आलू नहीं है। नौकर ने दूकान पर रखे आलू की ओर इशारा कर के बतलाया कि रखे तो हो, तो दूकानदार बोला, "अरे बटेटा क्यों नहीं कहता ? आलू आलू क्या बोलता है ?" अनार माँगने पर न समझा और दाड़िम समझ गया। हम ने एक बार अपने एक महाराष्ट्र मित्र से महाराष्ट्री भाषा का एक उपन्यास सुना, तो थोड़ा सा मतलब जान कर समझने में असंभवनीयता न पाई। मित्र बोले कि महाराष्ट्री का थोड़ा ही सा अड़का है। कुछ ध्यान-पूर्वक सुनने और थोड़ा सा जान लेने से समझ में आ जाती है। बहुतेरे महाराष्ट्रीय सज्जन श्रेष्ठ हिंदी-लेखक हैं। उन को हिंदी समझने में बहुत ही सुगमता पड़ती है। गुजराती का इस से भी सुगम हाल है। इन्हीं दिनों महाराष्ट्री के सम्मेलन में मुक्त कंठ से हिंदी राष्ट्रभाषा मानी गई है। भूपण कवि का सब से बड़ा मान छत्रपति शिवाजी के दरबार में हुआ। छत्रपति के पूज्य पिता साहजी के दरबार में ४० हिंदी के कवि थे। बीजापुर और गोलकुंडा के कई बादशाह हिंदी और उर्दू के कवि थे। इन बातों से प्रकट है कि महाराष्ट्र प्रांत में हिंदी सुगमता पूर्वक समझी जा सकती है। पोरा, पोरगा, वोवा, भामटे आदि थोड़े से शब्द जान लेने से महाराष्ट्री का भावार्थ मिलने लगता है।

अधिकतर कठिनाता उच्चारण मात्र की है। यदि देवनागरी के अक्षरों में महाराष्ट्री, गुजराती, बँगला आदि लिखी जावें, जैसा कि प्रसिद्ध 'देवनागर' पत्र में होता था, तो कठिनाता बहुत कम हो जावे। आसाम के एक सज्जन मुझ से जगन्नाथपुरी में मिले, तो मेरे कथन वे आधे-पूर्वे समझ लेते थे, तथा कुछ वाक्यों और कुछ इशारों के सहारे में भी उन के साधारण भाव रूप में चार पाँच आने जान लेता था। कलकत्ते में एक बंगाली नाई वाल बनाने हुए बोला कि "ओखरै ना ?" पहले तो समझ में न आया कि 'ओखरै' क्या वस्तु है ? किंतु पीछे जान पड़ा कि 'अखरै' को गोल कर के 'ओखरै' कह रहा है। इस प्रकार यद्यपि बँगला और महाराष्ट्री बोलने वाले आपस में एक दूसरे की बात विलकुल न समझ सकेंगे,

तथापि हिंदी-भाषी उन दोनों की कुछ कुछ बातें समझ लेगा और वे उस के कथन और भी अधिक समझ लेंगे। अतएव हिंदी वर्मी और मदरासी छोड़ प्रायः सभी अन्य भारतीय भाषाओं का राजीनामा है। केवल मदरास की भाषाओं में वृद्धि काम नहीं देती। सब से बड़े भाई साहब एक बार स्वास्थ्यलाभ को कुछ मास वाल्टेर में रहे थे तो सौदा खरीदने आदि में पूरी अड़चन पड़ती थी। लोगों की बात समझ में बिल्कुल ही नहीं आती थी। तरकारी बेचने वालों की थोड़ी सी तरकारी अलग कर के पैसे दिखलाए जा कर सौदा होता था। जब उन लोगों से बाहर जाने को कहना हो तो भी न समझते थे और जब नौकर उन्हें पकड़ कर बाहर ढकेल आता था तब जानते थे, अब बातें समाप्त हो गईं। मुसलमानों से वहाँ भी सुगमता पूर्वक बातें होती थीं, क्योंकि वे उर्दू में बातें कर सकते थे। मदरास प्रांत में एक छोड़ चार भाषाएँ हैं और उन के बोलने वाले भी एक दूसरे की बात नहीं समझते। वहाँ भाषा-संबंधी बड़ी ही गड़बड़ी है। इसे मेटने को हिंदी साहित्य-सम्मेलन के प्रोत्साहन से स्वयं मदरासी लोग वहाँ हिंदी भाषा का प्रचार कर रहे हैं। बहुत सी हिंदी की पाठशालाएँ स्थापित हो चुकी हैं अथवा हजारों लोग हिंदी भाषा सीख चुके हैं तथा सीखते जाते हैं। आसाम में भी हिंदी-प्रचार बढ़ रहा है। अतएव वर्मी को छोड़ देने से बंबई, गुजरात, हैदराबाद आदि अर्द्ध-हिंदीवाँ हैं, और बंगाल, माइसोर आदि चतुर्थांश। केवल मदरास के प्रायः साढ़े चार करोड़ लोग हिंदी नहीं समझते, किंतु इस का प्रयत्न वे स्वयं कर रहे हैं। इन कारणों से भारत में सर्व-सम्मति से हिंदी ही राष्ट्रभाषा है। आगे से अधिक भारतीयों की यह मातृभाषा है, तथा शेष जनता इसे आधी-मधीं समझ लेती है, अथवा स्वल्प परिश्रम से इस का प्रचार बढ़ सकता है। देवनागरी लिपि के विषय में यहाँ कुछ नहीं कहा गया है, क्योंकि हमारा वर्तमान विषय भाषा का है, न कि लिपि का। हिंदी-भाषी प्रांत भारत में प्रायः केंद्रस्थ हैं, सो हिंदी का इतर भाषाओं से थोड़ा बहुत संसर्ग रहता ही है। अहिंदी-भाषी प्रांत एक दूसरे से मिलित प्रायः नहीं हैं। इसी लिए उन की भाषाओं का एक दूसरी से संसर्ग बहुत कम है। ऐसी कोई भाषा भारत में नहीं है, जिस के भाषियों की संख्या हिंदी वालों की तिहाई संख्या तक भी पहुँचती हो।

स्वर्गीय लाला सीताराम

इस बात का हमें अत्यंत खेद है कि विगत २ जनवरी, १९३७ को रायवहादुर अवधवासी लाला सीताराम का परलोकवास हो गया। उन के निधन से हिंदी-संसार को भारी क्षति पहुँची है, परंतु उस का अनुभव हमें विशेष रूप से होना स्वाभाविक है। हिंदुस्तानी एकेडेमी के जन्मकाल से ही वह इस से संबद्ध रहे थे, और इस संस्था की उन्होंने ने विविध प्रकार से सेवाएँ की हैं। यद्यपि वे कई भाषाओं के प्रगाढ़ विद्वान् थे किंतु उन्होंने ने अपने अध्ययन-अनुशीलन तथा अपनी रचनाओं से अधिकांश हिंदी साहित्य की सेवा की है। वे अत्यंत परिश्रमी, अध्ययनशील तथा विद्याव्यसनी थे, और ७८ वर्ष की आयु में भी अपना बहुत-सा समय लिखने पढ़ने में लगाते थे। वे गद्य तथा पद्य दोनों ही के प्रसिद्ध लेखक थे और कविता में अपना नाम 'भूप' लिखा करते थे।

अपने नाम के साथ उन्हें अवधवासी जोड़ना बहुत प्रिय था। कारण यह कि अयोध्या उन की जन्मभूमि है। यहाँ सन् १८५८ में, प्रसिद्ध गदर के दूसरे साल, २० जनवरी को उन का जन्म हुआ था। अयोध्या तथा फैजाबाद में उन्होंने ने इन्ट्रेंस तक शिक्षा पाई, एफ़० ए० कैनिंग कालिज लखनऊ से पास किया और १८७९ में कलकत्ता यूनिवर्सिटी से बी० ए० की परीक्षा पास की। इसी वर्ष वह बनारस में अध्यापक नियुक्त हुए। फिर सीतापुर, फैजाबाद, कानपुर तथा मेरठ में भी अध्यापन का कार्य करते रहे। कानपुर तथा मेरठ में वह हाई स्कूल के हेडमास्टर रहे थे। इलाहाबाद तथा आगरे में उन्होंने ने कुछ काल तक असिस्टेंट इन्स्पेक्टर के पद पर भी काम किया। १८९५ में वह डिप्टी कलक्टर हो गए और इस पद पर वह १६ वर्ष तक कार्य करते रहे। १९११ में ३२ साल तक नौकरी करने के पश्चात् अवकाश ग्रहण किया। अपने अंतिम दिनों तक साहित्य-संबंधी कुछ न कुछ कार्य करते रहे।

लाला सीताराम की शिक्षा उर्दू और फ़ारसी में प्रारंभ हुई थी और दोनों भाषाओं

का उन्हें अच्छा ज्ञान था। साहित्य-क्षेत्र में अवतीर्ण होने पर सर्व-प्रथम उन्होंने ने उर्दू में ही लिखना प्रारंभ किया। उन की समस्त रचनाओं की सूची बहुत विस्तृत है। मुख्य कार्यों में कालिदास के काव्यों तथा शेक्सपियर के अनेक नाटकों का अनुवाद है। इस के अतिरिक्त संस्कृत के कई प्रसिद्ध नाटकों के अनुवाद भी आप ने किए हैं जो कि बहुत लोक-प्रिय सिद्ध हुए हैं। शीव में आप की विशेष अभिरुचि थी और इस संबंध में वाल्मीकि-रामायण में वर्णित भौगोलिक स्थलों पर तथा अयोध्या के इतिहास पर आप का कार्य विशेष रूप से प्रशंसनीय है। 'अयोध्या का इतिहास' शीर्षक आप का प्रामाणिक ग्रंथ हिंदुस्तानी एकेडेमी से ही प्रकाशित हुआ है। अंग्रेजी में उन्होंने ने सिरौही राज्य का इतिहास भी प्रकाशित कराया था।

लालाजी का एक उल्लेखनीय और महत्वपूर्ण कार्य कलकत्ता यूनिवर्सिटी के लिए हिंदी के कोर्स का संकलन करना है। इस कार्य को उन्होंने ने बड़े परिश्रम तथा लगन के साथ किया था। यह संग्रह अन्य कई यूनिवर्सिटियों की सर्वोच्च परीक्षा के लिए पाठ्यग्रंथों में निर्वाचित है। लालाजी ने गोस्वामी तुलसीदास-कृत अयोध्या कांड के राजापुर की प्रति के अनुसार शोध कर प्रकाशित कराया था।

लाला सीताराम अनेक सरकारी तथा गैर-सरकारी संस्थाओं से संबद्ध थे और सरकार तथा जनता दोनों में ही उन का बड़ा मान था। उन का स्वभाव और रहन-सहन बड़ा सरल था। वे बड़े मिलनसार थे और वृद्धावस्था में भी बातचीत करते हुए कभी थकते न थे। वे वैष्णवधर्मविलंबी और सीताराम के अनन्य भक्त तथा रामायण के प्रेमी थे।

हम स्वर्गीय लाला जी के कुटुंब के प्रति हार्दिक समवेदना प्रकट करते हैं।

हिंदुस्तानी एकेडेमी द्वारा प्रकाशित ग्रंथ

(१) मध्यकालीन भारत की सामाजिक अवस्था—लेखक, मिस्टर अब्दुल्लाह यूसुफ अली, एम्० ए०, एल्-एल्० एम्० । मूल्य १।)

(२) मध्यकालीन भारतीय संस्कृति—लेखक, रायबहादुर महामहोपाध्याय पंडित गौरीशंकर हीराचंद ओझा । सचित्र । मूल्य ३।)

(३) कवि-रहस्य—लेखक, महामहोपाध्याय डाक्टर गंगानाथ झा । मूल्य १।)

(४) अरब और भारत के संबंध—लेखक, मौलाना सैयद सुलैमान साहब नदवी । अनुवादक, बाबू रामचंद्र वर्मा । मूल्य ४।)

(५) हिंदुस्तान की पुरानी सभ्यता—लेखक, डाक्टर वेनीप्रसाद, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, डी० एस्-सी० (लंदन) । मूल्य ६।)

(६) जंतु-जगत—लेखक, बाबू ब्रजेश बहादुर, बी० ए०, एल्-एल्० बी० । सचित्र । मूल्य ६।)

(७) गोस्वामी तुलसीदास—लेखक, रायबहादुर बाबू श्यामसुंदरदास और डाक्टर पीतांबरदत्त बड़वाल । सचित्र । मूल्य ३।)

(८) सतसई-सप्तक—संग्रहकर्ता, रायबहादुर बाबू श्यामसुंदरदास । मूल्य ६।)

(९) चर्म बनाने के सिद्धांत—लेखक, बाबू देवीदत्त अरोरा, बी० एस्-सी० । मूल्य ३।)

(१०) हिंदी सर्वे कमेटी की रिपोर्ट—संपादक, रायबहादुर लाला सीताराम, बी० ए० । मूल्य १।)

(११) सौर-परिवार—लेखक, डाक्टर गोरखप्रसाद, डी० एस्-सी०, एफ० आर० ए० एस्० । सचित्र । मूल्य १२।)

(१२) अयोध्या का इतिहास—लेखक, रायबहादुर लाला सीताराम, बी० ए० । सचित्र । मूल्य ३।)

(१३) घाघ और भट्टरी—संपादक, पंडित रामनरेश त्रिपाठी । मूल्य ३।)

(१४) वेलि क्रिसन रुकमणी री—संपादक, ठाकुर रामसिंह, एम्० ए० और श्री सूर्यकरण पारीक, एम्० ए० । मूल्य ६]

(१५) चंद्रगुप्त विक्रमादित्य—लेखक, श्रीयुत गंगाप्रसाद मेहता, एम्० ए० । सचित्र । मूल्य ३]

(१६) भोजराज—लेखक, श्रीयुत विश्वेश्वरनाथ रेड । मूल्य ३।।] सजिल्द, ३] बिना जिल्द ।

(१७) हिंदी उर्दू या हिंदुस्तानी—लेखक, श्रीयुत पंडित पद्मसिंह शर्मा । मूल्य सजिल्द १।।], बिना जिल्द १]

(१८) नातन—लेखक के जरमन नाटक का अनुवाद । अनुवादक—मिर्जा अबुलफ़ज्जल । मूल्य १।]

(१९) हिंदी भाषा का इतिहास—लेखक, डाक्टर धीरेन्द्र वर्मा, एम्० ए०, डी० लिट्० (पेरिस) । मूल्य सजिल्द ४], बिना जिल्द ३।।]

(२०) औद्योगिक तथा व्यापारिक भूगोल—लेखक, श्रीयुत शंकरसहाय सक्सेना । मूल्य सजिल्द ५।।], बिना जिल्द ५]

(२१) ग्रामीय अर्थशास्त्र—लेखक, श्रीयुत ब्रजगोपाल भटनागर, एम्० ए० । मूल्य ४।।] सजिल्द, ४] बिना जिल्द ।

(२२) भारतीय इतिहास की रूपरेखा (२ भाग)—लेखक, श्रीयुत जयचंद्र विद्यालंकार । मूल्य प्रत्येक भाग का सजिल्द ५।।], बिना जिल्द ५]

(२३) भारतीय चित्रकला—लेखक, श्रीयुत एन्० सी० मेहता, आई० सी० एस्० । सचित्र । मूल्य बिना जिल्द ६], सजिल्द ६।।]

(२४) प्रेम-दीपिका—महात्मा अक्षर अनन्धकृत । संपादक, रायबहादुर लाला सीताराम, बी० ए० । मूल्य १।।]

नोबेल पुरस्कार-प्राप्त

प्रसिद्ध नाट्यकार

जॉन गाल्सवर्दी

की

चार अमूल्य रचनाएँ

१—न्याय—‘जस्टिस’ नामक नाटक का अनुवाद । अनुवादक—श्रीयुत प्रेमचंद ।

मूल्य २।।

२—हड़ताल—‘स्ट्राइक’ नामक नाटक का अनुवाद । अनुवादक—श्रीयुत प्रेमचंद ।

मूल्य २।

३—धोखाधड़ी—‘स्किन गेम’ नामक नाटक का अनुवाद । अनुवादक—श्रीयुत

लालताप्रसाद शुक्ल, एम० ए० । मूल्य १।।।।

४—चाँदी की डिविया—‘सिल्वर वॉक्स’ नामक नाटक का अनुवाद ।

अनुवादक—श्रीयुत प्रेमचंद । मूल्य १।।।

सभी पुस्तकों पर सुंदर सुनहरी कपड़े की मजबूत जिल्दे हैं ।

प्रकाशक

हिंदुस्तानी एकेडेमी

संयुक्तप्रांत, इलाहाबाद

हिंदुस्तानी

तिमाही पत्रिका

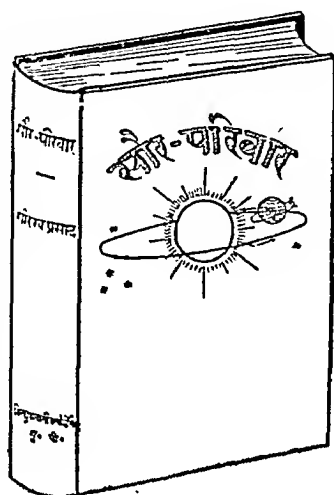
की पहले छ वर्षों की कुछ फ़ाइलें अभी प्राप्त
हो सकती हैं । मूल्य पहले वर्ष का ८)
तथा अन्य वर्षों का ५)

प्रकाशक

हिंदुस्तानी एकेडेमी
संयुक्तप्रांत, इलाहाबाद

सौर-परिवार

[लेखक—डाक्टर गोरखप्रसाद, डी० एस्-सी०]



आधुनिक ज्योतिष पर अनोखी पुस्तक

७९६ पृष्ठ, ५८७ चित्र

(जिनमें ११ रंगीन हैं)

इस पुस्तक को काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा से रेडिचे पदक तथा २००) का छत्रलाल पारितोषिक मिला है।

“इस ग्रंथ को अपने सामने देख कर हमें जितनी प्रसन्नता हुई उसे हमीं जानते हैं।

* * जटिलता आने ही नहीं दी, पर इसके साथ साथ महत्त्वपूर्ण अंगों को छोड़ा भी नहीं। * * पुस्तक बहुत ही सरल है। विषय

को रोचक बनाने में डाक्टर गोरखप्रसाद जी कितने सिद्धहस्त हैं, इसको वे लोग तो खूब ही जानते हैं जिनसे आपका परिचय है।

* * पुस्तक इतनी अच्छी है कि आरंभ कर देने पर बिना समाप्त किए हुए छोड़ना कठिन है।”—सुधा।

“The explanations are lucid, but never, so far as I have seen, lacking in precision. * * I congratulate you on this excellent work.”

श्री० टी० पी० भास्करन, डाइरेक्टर, निजामिया वेधशाला

मूल्य १२)

प्रकाशक—हिंदुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद

हिंदुस्तानी एकेडेमी के उद्देश

हिंदुस्तानी एकेडेमी का उद्देश हिंदी और उर्दू साहित्य की रक्षा, वृद्धि तथा उन्नति करना है। इस उद्देश की सिद्धि के लिए वह

- (क) भिन्न भिन्न विषयों की उच्च कोटि की पुस्तकों पर पुरस्कार देगी।
- (ख) पारिश्रमिक देकर या अन्यथा दूसरी भाषाओं के ग्रंथों के अनुवाद प्रकाशित करेगी।
- (ग) विश्व-विद्यालयों या अन्य साहित्यिक संस्थाओं को रुपए की सहायता देकर मौलिक साहित्य या अनुवादों को प्रकाशित करने के लिए उत्साहित करेगी।
- (घ) प्रसिद्ध लेखकों और विद्वानों को एकेडेमी का फ़ेलो चुनेगी।
- (ङ) एकेडेमी के उपकारकों को सम्मानित फ़ेलो चुनेगी।
- (च) एक पुस्तकालय की स्थापना और उस का संचालन करेगी।
- (छ) प्रतिष्ठित विद्वानों के व्याख्यानों का प्रबंध करेगी।
- (ज) ऊपर कहे हुए उद्देश की सिद्धि के लिए और जो जो उपाय आवश्यक होंगे उन्हें व्यवहार में लाएगी।




हिंदुस्तानी

हिंदुस्तानी एकेडेमी की तिमाही पत्रिका

अप्रैल, १९३७

हिंदुस्तानी एकेडेमी

संयुक्तप्रांत, इलाहाबाद



हिंदुस्तानी, अप्रैल, १९३७

संपादक—रामचंद्र टंडन

संपादक-मंडल

- १—डाक्टर ताराचंद, एम्० ए०, डी० फ़िल्० (ऑक्सन)
- २—प्रोफ़ेसर अमरनाथ झा, एम्० ए०
- ३—डाक्टर वेनीप्रसाद, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, डी० एस्-सी० (लंदन)
- ४—डाक्टर रामप्रसाद त्रिपाठी, एम्० ए०, डी० एस्-सी० (लंदन)
- ५—डाक्टर धीरेंद्र वर्मा, एम्० ए०, डी० लिट्० (पेरिस)
- ६—श्रीयुत रामचंद्र टंडन, एम्० ए०, एल्-एल्० बी०

लेख-सूची

- (१) इलाहाबाद के सिक्के—लेखक, रायवहादुर वावू प्रयाग दयाल ... १०९
- (२) सूरदास से पूर्व हिंदी—लेखक, मिश्रबंधु रावराजा रायवहादुर पंडित
श्यामविहारी मिश्र और रायवहादुर पंडित शुक्देव विहारी मिश्र ... ११५
- (३) संयुक्त प्रांत में हिंदू पुरुषों के नाम—लेखक, श्रीयुत डाक्टर धीरेंद्र वर्मा,
एम्० ए०, डी० लिट्० (पेरिस) ... १२७
- (४) महाराष्ट्र संत तुकाराम और उन की हिंदी कविता—लेखक, श्रीयुत
भोलानाथ शर्मा, एम्० ए० ... १३५
- (५) राजस्थान के लोकगीत—लेखक, श्रीयुत सूर्यकरण पारीक, एम्० ए० १५९
- (६) भारतीय साहित्य के सौ वर्ष—लेखक, प्रोफ़ेसर अमरनाथ झा, एम्० ए० २१९
- (७) हिंदुस्तानी एकेडेमी का पंचम वार्षिक साहित्य-सम्मेलन, लखनऊ ... २२५



हिंदुस्तानी

हिंदुस्तानी एकेडेमी की तिमाही पत्रिका

भाग ७ }

अप्रैल, १९३७

{ अंक २

इलाहाबाद के सिक्के

[लेखक—रायबहादुर दावू प्रयाग दयाल]

इलाहाबाद के सिक्कों का कोई विवेचन तब तक पूरा नहीं हो सकता जब तक कि इस जिले के अंतर्गत प्राचीन स्थलों, मुख्यतया कौशांबी और गढ़वा के सिक्कों का वर्णन न किया जाय। पिछले कुछ वर्षों में कौशांबी तथा गढ़वा से कुछ अब तक अलभ्य सिक्के, विशेषतया राय बहादुर पंडित ब्रजमोहन व्यास जी के उद्योग से प्राप्त हुए हैं, जिन से अन्य बातों के साथ-साथ कौशांबी के स्थल-विषयक विवाद का निर्णय हो गया है। परंतु जो कुछ नई सामग्री प्राप्त हुई है उस को एकत्र कर के, उस का अध्ययन करने के लिए कुछ समय अपेक्षित है। इस बीच में जो सामग्री अधिकांश मुस्लिम-कालीन ढकसाल इलाहाबाद के सिक्कों के रूप में उपलब्ध थी उस के आचार पर यह संक्षिप्त लेख प्रस्तुत कर रहा हूँ।

बहुत प्राचीन काल से इलाहाबाद या प्रयाग गंगा और यमुना नदियों के संगम के कारण एक अत्यंत पवित्र स्थल समझा जाता है, जहाँ लाखों की संख्या में प्रतिवर्ष यात्री आते-जाते रहते हैं। बड़े-बड़े महाराजे, जैसे महाराज अशोक, समुद्रगुप्त, हर्षवर्धन आदि यहाँ आए हैं, और अपनी स्मृति छोड़ गए हैं। संभवतः कौशांबी, गढ़वा आदि में जो सिक्के मिलते हैं उस समय वहाँ प्रचलित थे। वदायूनी के लिखे इतिहास से प्रकट है कि सन् ९८२ हिज्री में सफ़र भास की तेईसवीं तिथि को अकबर बादशाह ने “प्रयाग” में पड़ाव किया,

जिसे साधारणतः 'इलाहाबास' कहते थे। उन्होंने ने वहाँ एक बड़ी भारी इमारत की नींव डाली और इस शहर का नाम इलाहाबाद रक्खा। परंतु पुराना नाम सन् १००३ हिज्री तक बना रहा जैसा कि अकबर के एक ताँवे के सिक्के से जिस पर 'सन् इलाही ४२' और 'जरव (टकसाल) इलाहाबास' अंकित है प्रकट है। कलकत्ता, लखनऊ, और लाहौर के अजायबघरों में अकबर के ताँवे के सिक्के जिन पर 'जरव इलाहाबास' पाया जाता है मौजूद हैं। उन पर सन् इलाही ३१-३२, व १२ स्पष्ट रूप से अंकित हैं। (देखिए प्लेट, सं० १) ऐसे सिक्कों में पहली तरफ़ दायरे में 'जरव इलाहाबास'^१ और दूसरी तरफ़ इसी प्रकार '३१ इलाही सन्'^२ लिखा है। सिक्कों की तोल लगभग ३१५ ग्रेन के है। चाँदी के सिक्कों (देखिए प्लेट, सं० २) पर 'इलाहाबाद' और नीचे लिखा शेर अंकित है:—

हमेशा हमचू जर मेहमाह रायज वाद।

बगरवो शक्त् जहाँ सिक्कए इलाहाबाद ॥^३

अर्थात्, 'सदा सूर्य और चंद्र के स्वर्ण की भाँति, संसार भर में पूर्व से पश्चिम तक इलाहाबाद का सिक्का चलता रहे'।

ऐसे सिक्के सन् ४२ और ४९ के बीच जारी किए गए। इन की तोल लगभग १७४ ग्रेन के है। इस प्रकार की अठन्नी भी प्रचलित थी और सीभाग्य से इस का एक नमूना लखनऊ के अजायबघर में मौजूद है। (देखिए प्लेट, सं० ३) उस पर कोई तारीख नहीं है और उस की तोल केवल ८८ ग्रेन है। इसी प्रकार की एक चवन्नी भी है, परंतु यह दुष्प्राप्य है, और केवल एक नमूना लंदन के अजायबघर में मौजूद है।

इस टकसाल के जहाँगीर बादशाह के कम से कम दो सिक्के लखनऊ अजायबघर में हैं। (देखिए प्लेट, सं० ४) उन दोनों पर निम्न-लिखित शेर अंकित है:—

हमेशा नूर जर सिक्कए इलाहाबाद।

जे नाम शाह जहाँगीर शाह अकबरवाद ॥^४

^१ ضرب الہاباس ^२ ۳۱ الی سنہ

^३ ہمیشہ ہمسو زر مہر ماہ رائج باد
غرب و شرق جہاں سکۃ الہ آباد

^४ ہمیشہ نور زر سکۃ الہ آباد
ز نام شاہ جہانگیر شاہ اکبر باد

अर्थात्, 'इलाहावाद के सिक्के के स्वर्ण का प्रकाश सदा अकबर शाह के पुत्र जहाँगीर शाह के नाम से होता रहे।'

शाहजहाँ ने भी यहाँ से चाँदी के सिक्के प्रचलित किए और गद्दी पर बैठने के प्रथम वर्ष से सोलह वर्ष तक समय-समय पर तैयार होते रहे। (देखिए प्लेट, सं० ५)

औरंगजेब शाह ने यहाँ से सोने और चाँदी दोनों ही प्रकार के सिक्के प्रचारित किए। सोने के सिक्के (देखिए प्लेट सं० ६) पर नीचे का शेर पाया जाता है—

सिक्का ज़द दर जहाँ चु मेह्ल मुनीर।

शाह औरंगजेब आलमगीर ॥^१

अर्थात्, 'संसार में चमकते हुए सूर्य शाह औरंगजेब की भाँति सिक्का अंकित किया।'

इस के साधारण चाँदी के सिक्कों पर यही शेर है—केवल 'मेह्ल' (सूर्य) की जगह 'वद्र' (पूर्ण चंद्र) लिखा है। लेकिन एक विशेष सिक्का चाँदी का जो उस ने चलाया, उस पर 'ज़रव बल्दा इलाहावाद'^२ है। (देखिए प्लेट, सं० ७) और वही शेर जो कि सोने के सिक्कों पर अंकित हुआ है इस में भी मिलता है। मालूम होता है कि उस समय यह शहर बहुत उन्नति पर और शासन का एक पीठ था।

शाहआलम बहादुर ने अपने गद्दी पर बैठने के तीसरे और चौथे सन् में एकसाल इलाहावाद से चाँदी के सिक्के चलाए। इन सिक्कों पर शेर के स्थान पर बादशाह का नाम 'शाहआलम बादशाह गाज़ी' और हिज़्री सन् ११२० व ११२२ अंकित है।

फ़र्रख़सियर ने एकसाल इलाहावाद से सोने व चाँदी के सिक्के चलाए। सोने का सिक्का बहुत ही दुष्प्राप्य है। केवल एक नमूना लाहौर के अजायबघर में पाया जाता है। उस के एक ओर नीचे का शेर अंकित है—

सिक्का ज़द अज़ फ़ज़ल हज़र वर सीमो ज़र।

बादशाहे बहरो वर फ़र्रख़सियर ॥^३

^१ سکّه زد در جہاں جو مہر منیر

شاہ اورنگزیب عالمگیر

^२ ضرب بلدة الہ آباد

^३ سکّه زد از فضل حق بر سیم و زر

بادشاہ بکتر و بر فروخ سیر

अर्थात्, 'सोने और चाँदी का सिक्का सत्यशील और सागर तथा पृथ्वी के वादशाह फ़र्रुख़सियर ने अंकित किया।'

इस के दूसरी तरफ़ 'जरब इलाहावाद सन् ७ जलूस मुवारक'^१ लिखा है। यह सिक्का गद्दी पर बैठने के सातवें वर्ष प्रचलित हुआ था लेकिन गद्दी पर बैठने के दूसरे-तीसरे वर्षों में भी चाँदी के सिक्के तैयार हुए थे, और उन के ऊपर वही शेर है जो कि सोने के सिक्कों पर है। (देखिए प्लेट, सं० ८)

मुहम्मदशाह वादशाह के राज्य-काल में इस टकसाल से बहुत अधिक सिक्के बनाए गए, अर्थात् गद्दी पर बैठने के नवें वर्ष से इक्कीसवें वर्ष तक चाँदी के सिक्के प्रायः हर साल तैयार होते रहे। इन सिक्कों पर शेर के स्थान पर 'सिक्का मुवारक मुहम्मद शाह वादशाह गाजी' अंकित है।

अहमदशाह वादशाह ने सोने और चाँदी के सिक्के इस टकसाल से अपने गद्दी पर बैठने के पहले, तीसरे और चौथे वर्षों में प्रचारित किए। सोने का सिक्का दुष्प्राप्य है, और उस का केवल एक नमूना कलकत्ता के अजायबघर में मौजूद है। उन सिक्कों पर कोई शेर नहीं है, केवल वादशाह का नाम पाया जाता है।

आलमगीर द्वितीय ने अपने गद्दी पर बैठने के दूसरे, पाँचवें और छठे वर्षों में चाँदी के सिक्के इस टकसाल से चलाए। उन पर भी केवल वादशाह का नाम लिखा हुआ है।

शाहआलम द्वितीय ने भी चाँदी के सिक्के इस टकसाल से अपने गद्दी पर बैठने के पहले, चौथे, अठारहवें, उन्नीसवें, और इक्कीसवें वर्षों में प्रचलित किए। (देखिए प्लेट, सं० ९) उन पर निम्न-लिखित शेर अंकित है:—

सिक्का जद वर हफ़्त किशवर सायए फ़र्रले इलाह।

हामीए दीने मुहम्मद शाह आलम वादशाह ॥^२

^१ سه < جلوس مبارک

ضرب
الله آباد

^२ سکه زد بر هفت کشور سائده نقل الله
حامی دین محمد شاه عالم بادشاه

अर्थात्, 'ईश्वर की कृपा की छाया में सातों दिशाओं में मुहम्मद धर्म के रक्षक शाह आलम बादशाह ने सिक्का प्रचलित किया।' .

इस के बाद कोई सिक्का इलाहाबाद से जारी नहीं हुआ। ईस्ट इंडिया कंपनी के सिक्के जिन का अवध में चलन था वह यहाँ भी काम में लाए गए। अतएव इस से स्पष्ट है कि मुगल-वंश के बादशाहों के समय में इलाहाबाद को प्रतिष्ठा प्राप्त थी, यद्यपि इस से पूर्व भी इलाहाबाद एक विशिष्ट स्थान माना जाता था और यहाँ पुरानी वस्ती थी, जहाँ से दफ़ीने अब तक निकलते आते हैं और यह पता चलता है कि किन-किन बादशाहों का यहाँ शासन था। पिछले ३६ वर्ष, अर्थात् सन् १८९९-१९०० ई० से सन् १९३५-३६ ई० तक पच्चीस दफ़ीने ज़िला इलाहाबाद में भिन्न-भिन्न स्थलों पर प्राप्त हुए हैं। इन में १३ सोने, १५१५ चाँदी और २०५६ ताँवे के सिक्के हैं। कुल संख्या ३५८४ हुई। इन में से १२७ चाँदी के 'पंच-मार्कड' सिक्के थे, अर्थात् इन सिक्कों पर भिन्न चिह्न हैं कोई लेख नहीं है। यह सिक्के लगभग ईसा से पूर्व छठी सदी के हैं। ७३९ ताँवे के सिक्के कुशान सम्राटों के हैं। इन में से अधिकांश राजा कनिष्क और हर्षिष्क के सिक्के हैं। कल्नीज के सम्राट् गोविंद-चंद देव के सोने के सिक्के जो इस प्रांत में बहुतायत से मिलते हैं, ज़िला इलाहाबाद में भी मिले हैं। महाराज भोजदेव और श्रीविग्रह आदि के ६९३ चाँदी के सिक्के मिल चुके हैं। ताँवे के सिक्के ९२८ दिल्ली के बादशाहों के और ३९९ जौनपूर के शाहों के मिले हैं। मुगल-वंश के ६९२ चाँदी के सिक्के और ईस्ट इंडिया कंपनी के तीन चाँदी के सिक्के इन्हीं में सम्मिलित हैं। सीभाग्यवश इस प्रांत में सिक्कों के दफ़ीने अभी तक बराबर निकलते आते हैं। उन की जाँच मेरे सुपुर्द है। जिन-जिन सिक्कों का परिचय मैंने लेख के साथ सम्मिलित प्लेट में दिया है वह सब इस प्रांत के लखनऊ अजायबघर में मौजूद हैं, और देखे जा सकते हैं।

सूरदास से पूर्व हिंदी

[लेखक—मिश्रबंधु रावराजा रायबहादुर पंडित श्यामबिहारी मिश्र और
रायबहादुर पंडित शुक्देवबिहारी मिश्र]

उत्पत्ति (सातवीं शताब्दी ईसवी)

मोहंजोदड़ो और हड़प्पा का पंडितों ने ३२५० से २७५० ई० पू० के बीच कोई समय माना है। उस काल भारत में भाषा थी किंतु वह अब तक पढ़ी नहीं गई है। भारत में आर्यगमन का समय २५ वीं या २६ वीं शताब्दी ई० पू० के निकट समझा जाता है तथा ऋग्वेद-काल प्रायः १९ वीं से १० वीं शताब्दी ई० पू० तक। यही प्राचीनतम भारतीय भाषा हमारे पास है। उसी काल में जो प्राचीन देश-भाषा थी उसे अब पहली प्राकृत, मूल पाली या आदिम पाली कहते हैं। उस का साहित्य नहीं के बराबर मिलता है। वैदिक भाषा के संसर्ग से यह भाषा उन्नति करती हुई मध्यवर्तिनी प्राकृत हो गई जिस के भागों के नाम महाराष्ट्री, मागधी, अर्द्धमागधी और शौरसेनी थे। इन में शौरसेनी अंतरंगा कहलाती थी, अर्द्धमागधी मध्यवर्तिनी अथच पश्चिमी प्राच्या, और शेष दोनों वहिरंगा। इन में मागधी को पूर्वी प्राच्या भी कहते थे। शौरसेनी संस्कृत से मिलती थी और मागधी महाराष्ट्री से। महाराष्ट्री प्राकृत की मुख्यता थी। शौरसेनी का प्रचार मध्यदेश में था। इतने उतार-चढ़ाव दूसरी शताब्दी ई० पू० से पूर्व हो चुके थे। इस काल महर्षि पतंजलि का समय था और तीसरी प्राकृत का प्रचार पाया जाता है जिसे अपभ्रंश कहते हैं। एक ही एक शब्द के जो अनेक रूप उस काल प्रचलित थे उन का तिरस्कार करते हुए पतंजलि ने उन्हें अपभ्रंश, अपशब्द या म्लेच्छ-शब्द कहा। आप संस्कृत के अंतिम प्रसिद्ध व्याकरणकार तथा मुनित्रय में से एक थे। संसार ने वैयाकरणों द्वारा तिरस्कृत शब्दों को न छोड़ा वरन् उन्हीं के सहारे नई भाषा ही बना डाली जो अपभ्रंश प्राकृत या तीसरी प्राकृत कहलाने लगी। महर्षि कात्यायन ने संस्कृत के आदर्श पर पालि-व्याकरण रचा था

तथा बारहवीं शताब्दी ईसवी में हेमचंद्र ने अपभ्रंश का व्याकरण बनाया। उदाहरणार्थ उन्होंने उस में अनेक दोहे लिखे हैं जो हिंदी के दोहे हैं। अपभ्रंश में अच्छी मात्रा में साहित्य मिलता है। अब प्रश्न यह उठता है कि हिंदी का अस्तित्व कितना प्राचीन है। सातवीं शताब्दी वाले प्रसिद्ध सम्राट् हर्षवर्द्धन के राजकवि वाणभट्ट देश में प्राकृत के साथ एक अन्य भाषा का भी अस्तित्व बतलाते हैं। समझा जाता है कि इस 'भाषा' शब्द से उन का उसी भाषा से प्रयोजन था जो अब हिंदी कहलाती है। देश में इस का प्रचार अधिक था और साहित्य में अपभ्रंश का।

चंद-पूर्व की हिंदी (ई० बारहवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध तक)

हिंदी के सर्व-प्रथम कवि का नाम सरोजकार ने पंड लिखा है, किंतु उस की भाषा का न तो उदाहरण प्राप्त है न उस के अस्तित्व का ही निश्चित प्रमाण। निश्चित कवियों में से सरहपा (७४३ के लगभग), लूहिपाद, भूसुक, खुमान रासोकार (८१३-८३३), देवसेन, बुद्धिसेन, राजानंद, मसरुद, मुंज (१००३), रामानुजाचार्य (१०१६-११३६), निवारक स्वामी (११६२), महाराष्ट्रपति सोमेश्वर (११२७-११३९), साईं दान (११३४), चारण आदि ३६ कविगण हुए। इन में से रामानुजाचार्य तथा निवारक स्वामी हिंदी के लेखक या उपदेशक न थे किंतु पीछे के हिंदी लेखकों पर इन के भारी प्रभाव से इन के कथन कर दिए जाते हैं। मुंज राजा भोज के चचा थे। सोमेश्वर सर्वज्ञ भूपाल कहलाते थे। खुमान रासो में महाराजा खुमान के अरबी मुसलमानों से युद्ध कथित हैं। उन्होंने सन् ७१२ से सिंध पर अधिकार जमा रक्खा था और उन के आगे बढ़ने पर खुमान से युद्ध हुए थे जिन में उन की पराजय इस में कथित है। सरहपा, लूहिपाद आदिनाथ संप्रदाय के शाक्त थे और इन के ग्रंथों से वाममार्ग का उपदेश मिलता था।

उदाहरण

(१) जिन वल्लभसूरि (१११० के पूर्व) —

इक्क जीह इण मन्त्र तणो गुण किता वखाणूं।

नाण हीन छउ मत्थ एक गुण पार न जाणूं॥

(२) देवसेन (८७६) —

जो जिय सासण भावियउ सो मह कहियहु सार ।

जो पाले सह भाउकरि सो तरि पावइ पार ॥

(३) सरह (१०वीं शताब्दी) —

जहि मन पवन न संचरइ रवि ससि नाहि पवेस ।

तहि तट चित्त विसाम कर, सरहे कहियहु वेस ॥

रासो काल (१२वीं शताब्दी द्वितीयाह्न से १३वीं के अंतप्राय तक)

इस काल १८ कवियों के नाम मिले हैं, जिन में नरपति नाल्ह (११५५), चंद वरदाई (११२९-११९३), जल्हन (११९३), अकरम फौज (११५०), ज्ञानेश्वर (१२२९), उमांवा (१२७२), मुक्तावाई (१२८८) आदि कथनीय हैं। नरपति का 'बीसलदेवरासो' ११५ पृष्ठों का एक सुंदर गीति-काव्य है जो अभी हाल ही में प्रकाशित हो चुका है। चंद-कृत 'पृथ्वीराजरासो' प्रायः ढाई हजार पृष्ठों का ग्रंथ है जो काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा ने प्रकाशित किया है। इस में अनेकानेक प्रबंध हैं, विशेषतया युद्ध, मृगया और विवाहों के। श्रीमान् ओझा जी महोदय इस पूरे ग्रंथ को जाली बतला कर चंद का उस काल अस्तित्व ही नहीं मानते। आप के कथनों का मुख्य आधार तत्कालीन कवि-जयानक माना गया है किंतु स्वयं जयानक चंद का तत्कालीन अस्तित्व और सुकवि होना मानता है। निष्कर्ष यह निकलता है कि चंद ने उसी काल कविता की किंतु उस के बिखर जाने से १५७९ से १५८५ तक किसी समय किसी ब्रह्मभट्ट कवि ने उन्हें ले कर तथा अपनी ओर से प्रचुर रचना मिला कर वर्तमान 'रासो' ग्रंथ रचा। यह बड़ा ही उत्कृष्ट ग्रंथ है और इसी के आधार पर हम ने चंद को हिंदी के नव सर्वोत्कृष्ट कवियों में माना है। स्वामी माधवाचार्य (११९७-१२७७) तथा विष्णुस्वामी भी इसी काल भारी धार्मिक आचार्य हो गए हैं। माधवाचार्य ने द्वैत मत चला कर वैष्णवता को पुष्ट किया तथा श्रीकृष्ण की भक्ति सिखलाते हुए भी वाममार्ग का पोषण न किया। विष्णुस्वामी दार्शनिक वैष्णव थे। ये दोनों महाशय हिंदी के लेखक न थे किंतु इन का प्रभाव हिंदी लेखकों पर पड़ा बहुत

है। इस काल अपभ्रंश छूट-सी गई और खड़ी बोली का भी कुछ-कुछ चलन हुआ। जैन कवियों के बहुतेरे धार्मिक रासो हैं, और धार्मिक शिक्षा की इस काल में भी प्रधानता है। हम पहले-पहल उत्कृष्ट स्थायी साहित्य इस काल हिंदी में पाते हैं। इसी समय मुसलमानों द्वारा भारतीय स्वतंत्रता नष्ट हुई। कुछ लोगों ने इसे ही वीरगाथा काल का अंग माना है। यह बात अग्राह्य है। प्रायः ३० ग्रंथों में वीरकाव्य अंशतः केवल 'पृथ्वीराजरासो' में है, जो पूरा ग्रंथ भी इस काल का नहीं है। भारत इस काल वीर न हो कर कायर था। प्राप्त साहित्य का एक बहुत छोटा अंश वीरकाव्य-पूर्ण है। इस काल माड़वार, अजमेर, दिल्ली, कन्नौज, मथुरा और महाराष्ट्र के कविगण मिलते हैं। मुसलमानी राजवंशों में इस काल गजनी (१००१-११७५), गोरी (११९३-१२०६), तथा गुलाम (१२०६-१२९०) पाए जाते हैं। शासकों में क्रुतबुद्दीन, अल्तमश और बल्बन प्रधान थे।

उदाहरण

नरपति नाल्ह—

जब लगि महियल उगाइ सूर । जब लगि गंग वह जलपूर ।

जब लगि प्राथमी नै जगन्नाथ । जाणी राजा सिर दीधौ हाथ ॥

चंद बरदाई—

सीतल वारि सुचंग तहाँ गय चलि निसाचर ।

लगि पियास श्रम अंग वारि पिन्नो अँदोलि कर ॥

ज्ञानेश्वर—

दुनिया तजकर खाक लगाई जा कर बैठा वन मों ।

खेचरि मुद्रा ब्रजासन सों ध्यान धरत है मन सों ॥

भारतवर्ष में यह क्रांति का समय था। मुसलमानों से पूर्व भी यहाँ गुर्जर, सीदियन, शक, कुशान, और हूण विजेता आए थे, किंतु उन्होंने ने हमारी राजसत्ता मात्र को ध्वस्त कर के यहाँ की सामाजिक सत्ता पर कोई आक्रमण नहीं किया था, वरन् उसी में मिल कर अथवा स्वयं हिंदू हो कर उसे पुष्ट किया था। इन्हीं तथा अन्य कारणों से हमारा भारतीय समाज राजसत्ता की पराजय से अपनी कोई विशेष हानि नहीं समझता था, जिस से हमारे सामरिक बल एवं समर-शास्त्र ने अच्छी उन्नति भी न कर पाई थी। जब मुसलमान लोगों ने पहले-पहल समाज से भी धार्मिक युद्ध छेड़ा, तो भी तर्क से नहीं वरन् खड्ग द्वारा, तब हमारे

समाज में भारी खलबली मची। धार्मिक परिवर्तन में यहाँ तकों का प्रयोग प्राचीन काल से ही सफल रीति से होता आया था, किंतु जब मुसलमानों ने उस में बल प्रयोग किया, तब भारतीय समाज को अनहोनी का-सा मामला देख पड़ा। उधर मुसलमान लोग अपने भाइयों पर भी धार्मिक वृद्धि के लिए बल-प्रयोग करते आए थे, सो भारत में भी उन्होंने ने यही रीति स्वभावशः चलाई। फल यह हुआ कि मुसलमानागमन से भारत में पहले-पहल न केवल दो राजशक्तियों में युद्ध हुआ, वरन् उसके पीछे दो अनमिल सभ्यताओं का सामाजिक संघट्ट प्रारंभ हुआ, जो अकबर के पूर्व तक प्रायः साढ़े तीन शताब्दियों तक चलता रहा। मुसलमानों से पूर्व आने वाली विजयिनी धाराओं से हम लोग अति शीघ्र रोटी-बेटी का संबंध कर के घुल-मिल जाते थे, किंतु उधर मुसलमानों ने हमारे धर्म को मुशरिकपन तथा वृत्त-परस्ती के कारण निंद्य कहा और हम ने धर्म में बल-प्रयोग के कारण स्वयं उन्हें निंद्य कह कर इतरों की भाँति उन से रोटी-बेटी का संबंध न खोला, वरन् उन के स्पर्श को भी पाप ठहराया। पराजित लोगों के पास सिवा बहिष्कार (व्यायकाट) के और अस्त्र ही क्या होता है? सो हम उसी काल से मुसलमानों के साथ आत्मबल से बहिष्कार द्वारा सामरिक नहीं वरन् सामाजिक युद्ध करने लगे। यही एक ऐसा मामला है जो मुसलमानागमन काल को एक क्रांति-काल बनाता है। इस से पूर्व भारत में केवल दो और क्रांतियाँ हुई थीं, अर्थात् आर्यागमन तथा बौद्ध सभ्यता का संस्थापन एवं समय पर निपात। यह तीसरी क्रांति दोनों ओर से अनुचित विचारों से हुई तथा हम दोनों के लिए बड़ी ही हानिकारिणी ठहरी, क्योंकि हम दोनों में उचित भ्रातृभाव स्थगित रहा।

उत्तर-प्रारंभिक समय (१२६०-१३८७)

इस काल में हमें प्रायः २० कविगण मिलते हैं जिन में जज्जल (१३००), शार्ङ्ग-घर (१३०३), गोरखनाथ (१३०० के लगभग), ज्योतिरीश्वर ठाकुर (१३००), अमीर खुसरो (१३२५) आदि की मुख्यता है। अलाउद्दीन से युद्ध करने वाले पृथ्वीराज के वंशधर हम्मीरदेव के जज्जल सेनापति एवं मंत्री थे। आप का वीरकाव्य श्रेष्ठ है। शार्ङ्गघर के ग्रंथ, 'हम्मीररासो', 'हम्मीरकाव्य' और 'शार्ङ्गधरपद्धति' प्रसिद्ध हैं। बाबा गोरखनाथ ने प्रसिद्ध गोरखपंथ चलाया अथवा बौद्ध सहजिया पंथ अपने पंथ में मिला लिया। आप हमारे पहले गद्यलेखक भी हैं। ज्योतिरीश्वर ने शुद्ध मैथिल भाषा में उत्कृष्ट गद्य

लिखा। आप मैथिल-नरेश हरिहर देव की सभा में थे। अमीर खुसरो चंद के पीछे अब तक के हमारे सर्वोत्कृष्ट कवि हैं। आप का निम्न विचार पठनीय है—“अरबी तो श्रेष्ठ है, किंतु अच्छी तरह सोचने पर हिंदी भाषा फ़ारसी से कम नहीं ज्ञात हुई। रई और रुम की प्रचलित भाषायें समझने पर हिंदी से कम मालूम हुई।”

इस काल भाषा में खासी उन्नति हुई और वह माध्यमिक भाषा के निकट पहुँच गई। नृप-यशोगान कुछ कमी से चलता रहा, धर्मग्रंथ बढ़े, खड़ी बोली खुसरो के साथ खूब उन्नत हुई, तथा मुल्ला दाऊद द्वारा प्रेमपंथ का चलन चला। रचना की भाषा में अवधी, ब्रजभाषा, राजपूतानी, पंजाबी, खड़ी बोली आदि का प्रयोग हुआ। पंथ-प्रवर्तकों के प्रयत्नों से धार्मिक बल द्वारा समाज-संगठन हुआ तथा उस के अवोभाग का भी सहयोग उसे उमंग के साथ प्राप्त हुआ। मिथिला, मेवाड़, नेपाल, राजपूताना (के अन्य भाग), मध्य-भारत, दिल्ली, गोरखपुर, आदि के कवि उपलब्ध हुए। राजशक्ति निम्नानुसार थी:—

खिल्जी १२९०-१३२० } दिल्ली में।
तोग़लक़ १३२०-१३९८ }

कश्मीर १३२५ में, दिल्ली से स्वतंत्र मुसलमानी शक्ति द्वारा जीता गया।

विजयनगर १३३६-१५६५ (मदरास प्रांत की ओर)।

वहमनी १३५३-१५२६ (महाराष्ट्र प्रांत की ओर)।

खिल्जियों में अलाउद्दीन प्रधान था। उस ने महाराष्ट्र (१२९४-१३११), चित्तौर (१३०३) तथा रणथंभौर (१३०४) जीते। उस के पीछे अकबर के पूर्व तक दिल्ली साम्राज्य बलहीन रहा।

साहित्य के उदाहरण—

(१) जज्जल (१३००)—

कोह चलिय हम्मीर वीर गब जूय सँजुत्ते।

किअउ कट्ट आकंद मुच्छि म्लेच्छह के पुत्ते ॥

(२) शार्ङ्गवर (१३०३)—

ढोला मारिय डिल्लि महँ मुच्छि उमेच्छ सरीर।

पुर जज्जल्ला सन्नि वर-चलिय वीर हम्मीर ॥

सिंह गमन सुपुरुष वचन कदलि फरै इक सार ।

तिरिया तेल हमीर हठ चढ़ै न द्वजी बार ॥

(३) गोरखनाथ (१३००)—

स्वामी तुम्है गुर गोसाईं अम्है जा सिप, सवद एक ।

पुछिबा, दया करि कहिबा, मन न करिबा रोस ।

(४) ज्योतिरीश्वर (१३००)—

काजर क भीति तेले सौंचलि अइसन रात्रि ।

पाछे बाँका बेगै काजर क मोट फूजल अइसन मेघ विविड़

मांसल अंधकार देपू ।

(५) अमीर खुसरो (१३२५)—

जे हाले मिस्कीं मकुन तशाफुल

दुराये नैना घनाये वतियां ॥

कि ताबे हिजरत न दारभैजां

न लेहु काहे लगाय छतियां ॥

शवाने हिजरां दराज चूं जुल्फो

रोखे वल्लत चु उम्र कोता ।

सखी पिवा फो जो में न देखूं

तो कैसे काहूं अँवेरो रतियां ॥

पूर्व-माध्यमिक हिंदी (१३८८-१५०३)

इस काल में प्रायः ५० कविगण प्राप्त हैं, जिन में विद्यापति ठाकुर (१३८८), महाराजा कुंभकर्ण चित्तौड़ (१३६२-१४१२), रामानंद स्वामी (१३९९), सेन नाई, पीपा महाराज, सदाना, घना, भवानंद, रैदास, कबीरदास (१३९८-१५१८), नामदेव (१४२३), बाबा नानक (१४६९-१५३७), चैतन्य महाप्रभु (१४८५-१५३३), बल्लभाचार्य (१४७८-१५३०), कृतवन शैख (१५०१) और सेन (१५०३) प्रधान हैं। इसी अंतिम समय से महात्मा सूरदास का कविता-मगल प्रारंभ होता है। विद्यापति

ठाकुर मैथिल कवि थे। आप ही ने हिंदी में वाममार्ग-पूर्ण श्रृंगारिक कविता का प्रचार किया। आप हिंदी के बहुत बड़े कवि माने जाते हैं। वंगाल और बिहार में इन का बड़ा मान है। काम-काज के समय भी गृहस्थों के यहाँ आप की कविता गाई जाती है।

उदाहरण

सरस वसन्त समय भल पाओलि, बछिन पवन बहु धीरे।

सयनेहु रूप वचन यह भाषिय, मुख से दूरिं करु चीरे ॥

कर जोरि बिनमों विमल तरंगे,

पुन दरसन हो पुन मति गंगे।

महाराणा कुंभकर्ण की रचना अब अप्राप्य है। स्वामी रामानंद रामानुज के श्री-संप्रदाय के वैष्णव बाबा राघवानंद के शिष्य कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। आप का संप्रदाय रामानंदी परम प्रसिद्ध है और वैष्णवों में इस का बहुत बड़ा प्रचार रहा आया है। हिंदू समाज को संगठित करने के लिए आप ने वैष्णव-संप्रदाय में शूद्रों का भी द्विजों के समान मान किया, यद्यपि गृहस्थों में प्रचलित समाज की प्रणाली में भेद डाल कर हलचल न डाला। आप ने हिंदी कविता भी की। उपर्युक्त सेन नाई से कवीरदास-पर्यंत महात्मा हिंदी के सुकवि तथा आप के शिष्य थे। महात्मा कवीरदास ने प्रसिद्ध कवीरपंथ चला कर गोरखपंथ की भाँति हिंदू समाज का संगठन किया। आप ने हिंदू मुसलमानों के मेल में उद्दाम प्रयत्न किया। सगुण ब्रह्म को न छोड़ते हुए आप ने विशेषतया निर्गुणात्मक ईश्वर का वर्णन किया। आपका धार्मिक भाव उपनिषदों पर आधारित अथवा हिंदी के महाकवियों में प्रायः सर्वोच्च था। आप की रचना सिक्खों के 'ग्रंथ साहब' में भी सम्मिलित है। साखी, वीजक आदि प्रायः पचास-साठ ग्रंथ कवीर के प्राप्त हैं। आप की उल्टवाँसी बहुत प्रसिद्ध है। तुलसीदास के पीछे हमारे कवियों में उत्तरी भारत के आप सर्वोत्कृष्ट धर्म-प्रचारक हैं। और आप की रचना की लोक-स्वीकृति भी वैसी ही है। इन के कुछ न कुछ छंद सभी जानते हैं, सो यहाँ उदाहरण नहीं दिया जाता। नामदेव के भी छंद ग्रंथ साहब में उद्धृत हैं। आप-ने हिंदू-मुसलमानी मेल में पूज्य प्रयत्न किया। आप भी प्रसिद्ध कवि और संत थे। बाबा नानक सिक्ख-मत के प्रचारक हिंदी के सर्वोत्कृष्ट राजनीतिक प्रभावयुक्त महात्मा थे। आप के अनुयायी नवों गुरुओं तथा आप के द्वारा सिक्खमत के प्रवर्तन से हिंदी का भारतीय राजनीतिक इतिहास पर सब से बड़ा प्रभाव पड़ा है। आप की रचना भी निर्गुणात्मिका

एवं सबल थी। चैतन्य महाप्रभु हिंदी के कवि न हो कर बंगाली महात्मा थे, किंतु आप का प्रभाव हिंदी कविता पर पड़ा बहुत अधिकता से है। वल्लभाचार्य भी इन्हीं के सहपाठी एवं इन्हीं के समान महत्तायुक्त वैष्णव थे। आप के वल्लभीय संप्रदाय का भारी मान मथुरा, वृंदावन, माड़वार और गुजरात में हुआ। आप के वंशधरों की कई गहियाँ हैं जिन में वे देवभाव से पूजे तक जाते हैं। महात्मा सूरदास आप ही के शिष्य थे। आचार्य जी ने हिंदी कविता भी रची। कुतबन शैख ने पूज्य सूफ़ीमत-गर्भित 'मृगावती' नाम्नी प्रेमकहानी रची।

उदाहरण

साह हुसैन अहं बड़ राजा । छत्र सिंहासन उनके छाजा ॥

पंडित औ बुधिवन्त सयाना । पढ़े पुरान भरथ सब जाना ॥

धरम बुदिस्टिल उन को छाजा । हम सिर छांह जियो जग राजा ॥

दान देइ औ गनत न आवैं । बलि और करन न सरवरि पावैं ॥

सेन की रचना वर्तमान से बहुत कुछ मिल जाती है।

जबते गोपाल मधुवन को सिंधारे आली, मधुवन भयो मधु दानव बिखम सों।

सेन कहै सारिका, सिखंडी, खंजरीट, सुक, मिलि के कलेस कोन्हों कालिंदी कदम सों ॥

हमारा पूर्व-माध्यमिक काल गुरु के समान है। इसी के विचारों के अनुसार विशेषतया प्रौढ़-माध्यमिक समय (१५०३-१६२३) अथवा सामान्यतया प्रायः ३०० वर्षों तक हिंदी साहित्य की प्रगति रही। इस में चैतन्य का गौडीय मत बंगाल में चला, अवध, शेष पूर्वीय प्रांत तथा मध्यभारत में रामानंदी, अथवा पश्चिमी युक्तप्रांत, राजपूताना और गुजरात में वल्लभीय। पंथों में गोरखपंथ कुछ पहले से चल रहा था अथवा कबीर और नानक-पंथ इसी काल से चले। युक्तप्रांत और बंगाल में सूफ़ीमत का भी चलन चला। इस प्रकार पंजाब में बंगाल-पर्यंत धार्मिक उन्नति का प्रभाव फैला। साहित्यिक गरिमा की भी अच्छी अंगपुष्टि हुई विशेषतया विद्यापति, कबीरदास तथा रामानंद के इतर शिष्यों द्वारा। इन उपदेशकों ने हिंदू-मुस्लिम ऐक्य का भी बहुत प्रशंसनीय प्रयत्न किया जिस से बहुत काल पर्यंत भारतीय समाज से यह फूट का रोग हटा रहा।

राजनीति की दशा भी कथनीय थी।

१३९८—तैमूर लंग का लोकक्षयकारी घावा।

१३९८-१४१४ दिल्ली में अराजकता ।

१४१४-१४५० सैयद वंश (वलहीन) ।

१४५०-१५२६ लोदी वंश ।

निम्न नवीन राज्य स्थापित हुए :—

बीजापुर	आदिलशाही	१३९०-१६८६	} वहमनी से निकले । महाराष्ट्र में भी कुछ दवाव मुसल्मानी मत का प्रारंभ ।
गोलकुंडा	कुतुब	„	
अहमदनगर	निजाम	„	
बीदर	वारीद	„	
वरार	इमाद	„	
खानदेश	फारूक	„	१४८८-१५९९
मालवा	गोरी वंश	१४०१-१५६४	
गुजरात	तुर्क	„	१४०१-१५७३
बंगाल	पठान	„	१२४०-१५७६
जौनपुर	तुर्क	„	१३९९-१४७६
कश्मीर	स्वतंत्र	„	१३२५-१५८४

भारत में मुसल्मानी मत स्थापन से इस काल पर्यंत कुछ लेखकों को निराशा दिखती है, और “सब देस से हारे, तो चले नानपारे” के अनुसार धार्मिक प्रयत्नों मात्र में उस का प्रभाव देख पड़ता है। हम को इस काल के भारतीय समाज में कोई निराशा नहीं दिखती बरन् हमारे समाज से मुसल्मानों के पूर्व किसी ने युद्ध किया ही न था और मुसल्मानी दवाव से वह आत्मवश से युद्ध में परमोत्साह के साथ प्रवृत्त था। इस काल हमारे समाज का हिंदूत्व-गर्भित रूप न बदला, केवल मुसल्मानों ने वलपूर्वक या लालच दे कर उस से कुछ व्यक्ति छीन भर लिए। समाज की यह रक्षा ग्राम्य-संगठन, जातिभेद तथा संतों के उपदेश से हुई। पूर्व-मध्यकाल में महाराष्ट्र भी इस सामाजिक युद्ध में आ गया। इस युद्ध के केंद्र युक्तप्रांत और पंजाब थे तथा राजपूताना और बंगाल बहुत कर के इस से बाहर थे। बंगाल में संस्कृत-गर्भित भाषा का प्रचार उच्च समाज में विशेष था जिस से उस के अयोभाग उदासीन से थे। फल यह हुआ कि एक बहिरंग प्रांत हो कर भी बंगाल जातीय विचारों से प्रभावित न रह कर अपनी हिंदू संख्या का एक बृहदंश मुसल्मानों को दे

वैठा, अर्थात् अपनी प्राचीन सभ्यता और धर्म की समुचित रक्षा न कर सका। धार्मिक प्रेम से किसी का मुसल्मान होना प्रशंसनीय है, किंतु हिंदूमत के उपदेशकों की निर्वलता से इस महामत का दुरा समझा जाना शोक का विषय है। उधर पंजाब में सिक्खों द्वारा जाति का निरादर हुआ, तथा मुसल्मानी प्रभाव वहाँ था ही विशेष। इन कारणों से वहाँ भी हिंदू संख्या संकुचित हो गई। इधर युक्तप्रांत मुसल्मानी शक्ति का केंद्र भी हो कर पौराणिक बल की महत्ता, जातिभेद की प्रबलता तथा देशीय भाषा की सुगमता एवं साहित्यिक उपदेशों की प्रचुरता से अपना रूप पूर्णता के साथ रक्षित रख सका। बिहार ने भी ऐसा ही कर पाया। अतएव हम देखते हैं कि हिंदी के केंद्र ने भारतीय समाज की अच्छी रक्षा कर दिखलाई। इस में हिंदी भाषा की महत्ता सिद्ध है और हमारे कवियों एवं धार्मिक उपदेशकों की भी। जाति ने भी उस काल अच्छा काम किया, यद्यपि अब वह हानि-कर मात्र है।

संयुक्त प्रांत में हिंदू पुरुषों के नाम

[लेखक—श्रीयुत डाक्टर धीरेन्द्र वर्मा, एम्० ए०, डी० लिट्० (पेरिस)]

साहित्य, सामाजिक नियम, भाषा, राजनीतिक संगठन, धार्मिक विचारावली आदि संस्कृति के भिन्न-भिन्न अंगों के समान ही स्त्री-पुरुषों के नामों पर भी देश और काल की छाप रहती है। भारतवर्ष में ही विश्वामित्र, कुमारगुप्त, तथा रामप्रसाद क्रम से वैदिक पौराणिक तथा आधुनिक काल का सहसा स्मरण दिला देते हैं। इसी प्रकार अनंत केशव चिपलूनकर के साथ सुनहरी किनारेदार पगड़ी और लाल रंग का सामने मुड़ा हुआ जूता आँखों के सामने आ जाता है, गंडासिंह से सफ़ेद साफ़ा, ऊँचा क्रद और दाढ़ी-मूछ से भरा चेहरा अलग नहीं हो पाता, ज्ञानेंद्रनाथ बोस तेल से सँवारे हुए नंगे सिर और फुफनीदार धोती के साथ स्मरण आते हैं। अपने श्यामविहारी या रामस्वरूप के सिर पर कम से कम टोपी जरूर ही रहती है। मुख तथा व्यवहार अत्यंत शिष्ट कुछ-कुछ विगड़े हुए पुराने खानदानी लोगों का-सा, नीची झुकी हुई मूछ, और किसी भी तरह के कपड़ों में आप लोग दिखलाई पड़ते हैं। इस सब से कम से कम इतना तो सिद्ध ही होता है कि नामों में प्रत्येक देश-काल की संस्कृति का प्रतिबिम्ब रहता है, अतः इन के सूक्ष्म अध्ययन से संस्कृति के इतिहास पर पर्याप्त प्रकाश पड़ सकता है।

भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न प्रदेशों के, प्रत्येक कालों के, समस्त धर्मानुयायी स्त्री तथा पुरुषों के नामों का संक्षिप्त अध्ययन भी एक निबंध में नहीं हो सकता। इसी कारण इस विषय की वानगी के स्वरूप हिंद-प्रदेश के मध्यम श्रेणी के हिंदू पुरुषों के आधुनिक-कालीन नामों को ले कर कुछ थोड़ी सी सामग्री प्रस्तुत निबंध में संकलित करने का प्रयास किया गया है। इस सीमित विषय का भी कहीं अधिक विस्तृत तथा पूर्ण अध्ययन संभव है।

इस प्रकार के नामों का अध्ययन करने से सब से पहली बात जिस की ओर ध्यान जाता है वह है अधिकांश नामों पर धार्मिकता की छाप। हिंदू संप्रदायों में से १५ वीं और १६ वीं शताब्दी के राम अथवा कृष्ण-संवन्धी संप्रदायों का प्रभाव नामों पर आज भी पर्याप्त

मात्रा में चल रहा है, यद्यपि जिस तरह 'रामचरितमानस' अथवा 'सुखसागर' का पठन-पाठन मध्यम श्रेणी के हिंदुओं के घरों में धीरे-धीरे कम हो रहा है, उसी प्रकार नामों में भी परिवर्तन प्रारंभ हो गया है। तो भी अब तक विशेषतया अवध आदि पूर्वी प्रदेशों में नामों के अंदर किसी न किसी रूप में 'राम का नाम तथा ब्रज आदि पश्चिमी प्रदेशों में कृष्ण का नाम बहुत अधिक पाया जाता है। इस प्रकार के नामों के अनेक उदाहरण हमें तनिक भी स्मरण करने से मिल सकते हैं।

श्रीराम, रामकुमार, रामकिशोर, रामदुलारे, जयराम, रामनरेश, रामनरायन, रामस्वरूप, रामेश्वर तथा कौशलकिशोर, कौशलकुमार, रघुवंश नरायन, अवधेश नरायन, अवधविहारी जैसे नामों में केवल श्रीरामचंद्र के स्मरण की भावना सन्निहित है। किंतु रामनाथ, रामदास, रघुनाथदास, रामसरन, रामदयाल, रामकृपाल, रघुवरदयाल, रामाश्रय, जैसे नामों के साथ, रामानंदी संप्रदाय की स्वामी और दास की भक्ति-भावना के चिह्न मिलते हैं। स्वयं रामानंद नाम कदाचित् संप्रदाय प्रवर्तक के नाम का अनुकरण मात्र है। क्षत्रियों में श्रीरामचंद्र जी को रामसिंह के रूप में प्रायः देखा जाता है।

काशी तथा बिहार प्रदेश की ओर राम-संबंधी नामों के विशेष रूप प्रचलित हैं, जैसे रामराज राय, रामसनेही लाल, रामलगन, रामसुमेर, रामनिहोर, रामप्रताप, रामदयाल, रामजीवन, रामनिवास, रामअवध, रामनिधि, अवधेशप्रसाद, राघवप्रसाद इत्यादि। रामचंद्र जी के साथ-साथ अनेक नामों में रामचंद्र जी के परिवार को भी स्मरण कर लिया जाता है तथा कुछ में रामचंद्र जी के नाते केवल उन के भाइयों आदि के नामों पर ही नाम रख लिए गए हैं, जैसे सीताराम, अथवा सियाराम, रामलखन, भरतराम, अथवा लछमनप्रसाद, शत्रुघ्नसिंह। रामचंद्र जी के अनन्य सेवक को महावीरप्रसाद अथवा हनुमानप्रसाद जैसे नामों में अमर कर दिया गया है। राम-संबंधी नामों में बाबूपन की छाप बाबूराम या रामबाबू में पाई जाती है। अपने देश में सांप्रदायिकता के भाव के साथ ही साथ उदारता का भाव भी सदा से मौजूद रहा है—रामभक्त भी अन्य देवताओं को आदर के साथ देखते थे। इस दृष्टिकोण का प्रभाव रामकिशन, कृष्णराम, तथा शिवराम जैसे नामों में स्पष्ट पाया जाता है।

वार्षिक नामों में कदाचित् राम-संबंधी नामों से अधिक श्रीकृष्ण जी से संबंध रखने वाले नाम अपने प्रदेश में प्रचलित हैं। नाम वचन में रक्खे जाते हैं अतः राम की

अपेक्षा बालकृष्ण का भाव माता-पिता को प्रायः अधिक आकर्षक लगता है। कृष्ण-संबंधी नामों की बहुत लंबी सूची बनाई जा सकती है—जैसे श्रीकृष्ण, या श्रीकृष्णलाल या किशन लाल या कन्हैयालाल, कृष्णकुमार, कुँवरकृष्ण, कृष्णानंद, श्यामसुंदर, जगतकृष्ण, कृष्णनारायण, या नारायणकृष्ण, कृष्णमोहन, गिरधारीलाल, मोहनलाल, विहारीलाल, श्यामविहारी, छैलविहारी, मुकुटविहारी, कुंजविहारी, ब्रजनारायण, ब्रजराम, यदुनंदन, यादवेंद्र, धनश्यामदास, जनार्दनप्रसाद, मुरलीमनोहर, मुरलीधर, वंशीधर, वंशीलाल, वृंदावनलाल, गोकुलचंद, मथुरालाल, श्री कृष्ण जी के नाते ही गोविंदराम, वलदेवप्रसाद, वलभद्रप्रसाद, वलराम तथा अनिरुद्धकुमार जैसे नाम मिलते हैं। कृष्ण-संप्रदायों में वाद को विकसित होने वाले राधावल्लभ आदि संप्रदायों की छाप निम्न-लिखित प्रकार के नामोंपर मिलती है, जैसे राधाकृष्ण, राधेश्याम, किशोरीलाल, अथवा श्यामाचरण, गोपीनाथ, गोपीचंद्र, ललिताप्रसाद। कृष्ण-संबंधी नामों में विहारी ढंग के नाम ब्रजपति, नंदनलाल, राधारमन या राधिकारमन, कंसदमन के ढंग के होते हैं। काशी तथा विहार की ओर कृष्ण-संबंधी नामों की अपेक्षा राम-संबंधी नामों का अधिक प्रचार है। यह स्वाभाविक ही है।

यद्यपि नामों में राम और कृष्ण से प्रभावित नाम बहुत अधिक पाए जाते हैं किंतु अब भी त्रयी के मुख्य देवता भगवान् विष्णु की भक्ति का प्रभाव नामों में कम नहीं हुआ है। इस का तात्पर्य यह है कि वाद के संप्रदायों के साथ-साथ प्राचीन वैष्णव या भागवत-धर्म का प्रभाव आज भी नामों में काफ़ी चल रहा है। इस प्रकार के नामों की बहुत लंबी सूची बन सकती है। कुछ में केवल भगवान् का स्मरण स्पष्ट शब्दों में किया जाता है, कुछ में विष्णु का रूप स्पष्ट दिखलाई पड़ता है और कुछ में विष्णु के साथ लक्ष्मी जी को भी शामिल कर लिया गया है। इस प्रकार के नामों के कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं। जैसे प्रभु-दयाल, प्रभुनाथ, जगदीशप्रसाद, जगदीशनारायण, जगदीशचंद्र, जगन्नाथ, त्रिलोकी नाथ, विशंभरनाथ, ईश्वरसहाय, दीनानाथ, नारायणदत्त, नरोत्तमदत्त, नरोत्तमप्रसाद, पुरुषोत्तमदास, लीलाधर, हरिवंस, केशवप्रसाद, बालमुकुंद तथा उदयनारायण, धर्मनारायण, मुकुंदलाल, श्रीनाथ, श्रीनारायण, श्रीनिवास, लक्ष्मीविहारी, लक्ष्मीनारायण, लक्ष्मीप्रसाद, कमलाप्रसाद, रमेशकुमार, रमेशचंद्र, रमाकांत, कमलापति। भगवान् के नाते ही सालिग्राम, सत्यनारायण, तुलसीराम, शेषनारायण, अनंतलाल, शेषनाथ,

वैकुण्ठनाथ, जैसे नाम चलते हैं। काशी प्रदेश की ओर श्रीपतिनारायन, छविनारायन जैसे नाम, राजस्यान की ओर रनछोरदास तथा विट्ठलदास जैसे नाम तथा पहाड़ पर नारायणदत्त जैसे नाम प्रचलित हैं।

अपने प्रांत में वैष्णवधर्म के साथ-साथ शैवधर्म भी बराबर चल रहा है, अतः बहुत से नामों पर शिवभक्ति की छाप मिलती है। इन की लंबी सूची बनाई जा सकती है। इन नामों में से कुछ में शिव को परमेश्वर के रूप में स्मरण किया गया है, कुछ में त्रयी के शिव जी के रूप में तथा कुछ के साथ पार्वतीजी को भी शामिल कर लिया जाता है, जैसे, विश्वनाथ, महादेवप्रसाद, महेशप्रसाद, महेशचंद्र, रुद्रप्रसाद, शिवदत्त, शिवचरन, शिवप्रसाद, कृपाशंकर, शिवशंकर, प्रेमशंकर, शंकरदयाल, शंभुनाथ, भोलानाथ, काशी-नाथ, अमरनाथ, कैलाशचंद्र, चंद्रभूपन, चंद्रशेखर, गौरीशंकर, उमाशंकर, देवी-शंकर, रमाशंकर। शिव जी के नाते ही हरनंदन, हरकिशोर, गणेशप्रसाद, गनपत आदि नाम चलते हैं। वैष्णव और शैवभक्ति का सामंजस्य हरिशंकर, हरनारायन, हरगोविंद जैसे नामों में मिलता है। काशी तथा बिहार की ओर शिवप्रसन्न, शिव-नरेश, शिवध्यान, पशुपतिनाथ, भुवनेश्वरप्रसाद, हरिहरप्रसाद, जैसे नाम चलते हैं। परमात्माप्रसाद, दीनदयाल, ब्रह्मानंद, ब्रह्मेश्वर साधारण धार्मिक नाम हैं।

शैवधर्मों में शक्ति की उपासना बहुत प्राचीन काल से उपस्थित मिलती है, अतः इस की छाप भी अनेक नामों में चल रही है, जैसे माताप्रसाद, ईश्वरीप्रसाद, देवीप्रसाद, भगवतीप्रसाद, शीतलाप्रसाद, शारदाप्रसाद, दुर्गाप्रसाद, कालिकाप्रसाद, ज्वालाप्रसाद, कालीचरन, भगवतीचरन, मातासरन।

यहाँ यह स्मरण दिलाना अनुचित न होगा कि त्रयी के तीसरे प्रमुख देवता ब्रह्मा नामों से भी प्रायः लुप्त हो गए हैं।

धार्मिक तीर्थस्थानों तथा नदियों आदि से संबंध रखने वाले नाम भी प्रायः मिलते हैं, भावुक लोग तीर्थों आदि पर पुत्र-कामना प्रकट कर आते हैं और पुत्र होने पर उसी तीर्थ या नदी के नाम पर पुत्र का नाम रख लेते हैं। कभी-कभी इन स्थलों पर जन्म होने के कारण भी वच्चों के ऐसे नाम पड़ जाते हैं। जैसे काशीप्रसाद, अयोध्याप्रसाद, गोकुलप्रसाद, द्वारिकाप्रसाद, मथुराप्रसाद, रामेश्वरप्रसाद, वद्रीप्रसाद, मथुरादत्त, प्रयागदत्त, तथा संगमलाल, त्रिवेनीसहाय, त्रिवेनीलाल, वेनीप्रसाद, गंगाप्रसाद, भागीरथीप्रसाद,

सरजूप्रसाद, गोमतीप्रसाद, नर्वदाप्रसाद, जमुनाप्रसाद, जमुनादत्त । काशी-विहार की ओर विंध्याचलप्रसाद, मिथिलाप्रसाद जैसे नाम भी चलते हैं यद्यपि चित्रकूटप्रसाद अभी मुझे नहीं मिले हैं। भक्ति-संप्रदायों की गुरु-भक्ति की छाप गुरुदयाल, गुरुप्रसाद, जैसे नामों में मिलती है।

पश्चिमी संयुक्त प्रांत में वैश्यों के बीच जैनधर्म का प्रभाव अभी थोड़ा बहुत चला जाता है। अतः उधर ऋषभदास, अथवा, सिद्धनाथ, जैसे नाम अक्सर मिल जाते हैं। सुखपाल तथा सूरजमल, जैसे नाम भी जैनों में ही प्रायः मिलते हैं। साधारण पीराणिक नाम रखने की प्रवृत्ति बहुत कम हो गई है तब भी हरिश्चंद्र, अथवा मार्कण्डेयसिंह कभी-कभी मिल ही जाते हैं।

अपने प्रदेश के नामों में धार्मिक नाम ६०, ७० प्रतिशत से भी अधिक इस अधार्मिक युग में भी चल रहे हैं। किंतु कुछ लौकिक सार्थक नामों का भी चलन है। यह प्रवृत्ति क्षत्रियों और ठाकुरों में विशेष मिलती है। प्रायः इस प्रकार के नामों के पीछे बल, तेज, आदि का भाव प्रधान रहता है, जैसे त्रिलोकसिंह, प्रतापसिंह, विक्रमाजीतसिंह, महीपालसिंह, दिग्विजयसिंह, वीरेश्वरसिंह। पूरव में सभाजीतसिंह, सर्वजीतसिंह, तिलकधारीसिंह, अथवा राजदेवप्रसाद, जैसे नाम अधिक चलते हैं। विजयचंद्र, राजनाथ, पृथ्वीनाथ, जयपाल, तेजप्रताप, प्रतापनारायण, बलवंतप्रसाद, राजदेव, जैसे नाम क्षत्रियों के अतिरिक्त अन्य जातियों में भी मिल जाते हैं। निम्न प्रकार के नामों में वैदिक या पीराणिक इंद्र देवता का उतना स्मरण नहीं किया गया है जितना ऐश्वर्य की भावना को लाने का यत्न किया गया है, जैसे इंद्रदेवनारायण, राजेंद्रप्रताप, सुरेंद्रप्रताप, इंद्रपाल। गजराज अपने ढंग का निराला नाम है। ज्योतिप्रकाश, सूरजनारायण, सूरजभान, दिवाकरसिंह, आदित्यकिशोर, आदित्यप्रसाद, आदित्यप्रकाश, भानुप्रताप, चंद्रनारायण, पूरनचंद्र, फूलचंद, शरच्चंद, ताराचंद, श्रीकर, सूर्य तथा चंद्र संबंधी नामों में तेज अथवा कांति के साथ धार्मिक भावना भी रहती है। अक्सर लोग अपने वच्चे को कुल का प्रकाशक या घन, सौंदर्य का अवतार, ऐश्वर्य तथा सुख की खान अथवा स्नेह की मूर्ति तथा असाधारण आत्मा समझते हैं। इस स्वाभाविक प्रवृत्ति के कारण निम्न प्रकार के नाम सर्वसाधारण में काफ़ी प्रचलित हैं—कुलदीपनारायण, हीरालाल, जवाहरलाल, मोतीलाल, जगतभूषण, निधिपाल, रतनलाल, सुदर्शनलाल, सुंदरलाल, मनोहरलाल,

गुलाबचंद, मदनमोहन, मनमोहन, सुखदेव, देवनंदन, महानंद, लालजी, परमानंदलाल, छोटेलाल, परमहंस, हंसस्वरूप, इत्यादि।

हर्षोत्पादक ऋतुओं का भाव लेते हुए निम्न प्रकार के नाम रखे जाते हैं, जैसे वसंतलाल, होरीलाल। कभी-कभी इन अवसरों पर पैदा होने के कारण भी ऐसे नाम पड़ जाते हैं। जिन के वच्चे ज़िदा नहीं रहते हैं वे उपेक्षा दिखलाने के लिए शिशु को ज़मीन पर ज़रा घसीट देते हैं, इसी कारण कभी-कभी फेंकूमल, कूड़ामल, घसीटेराम जैसे नाम सुनने को मिल जाते हैं। छः उंगलियों के वच्चे का नाम अवसर छंगामल या छंगालाल रख दिया जाता है। दुखीलाल नाम का कारण में अभी तक ठीक नहीं समझ पाया हूँ।

मुस्लिम-कालीन प्रभाव अथवा विदेशी शब्दावली बहुत कम नामों में मिलती है, किंतु कुछ नाम इस प्रकार के अवश्य चल रहे हैं, जैसे साहबजादे सिंह, राजेंद्र बहादुर, फ़तेह बहादुर, जंग बहादुर, तेज बहादुर, विजय बहादुर, इक़्बाल नरायन, इक़्बाल बहादुर, फ़तेहचंद, भगवानवक्त्र सिंह, रोशनलाल, शादीलाल इत्यादि।

नामों के संबंध में बिहार तथा काशी प्रदेशों की विशेषता ऊपर बतलाई जा चुकी है। प्रादेशिकता की दृष्टि से अपने प्रांत के पहाड़ों पर प्रायः दत्त या आनंद अंत वाले नाम बहुत प्रचलित हैं, जैसे रामदत्त, गोपालदत्त, विशंभरदत्त, धर्मानंद, केवलानंद, धनानंद, सत्यानंद, देवानंद, सर्वानंद। क्षत्रियों में पहाड़ पर भी सिंह अंत वाले नामों का विशेष चलन है।

इधर बीसवीं शताब्दी में नामों पर कुछ नए प्रभाव पड़ रहे हैं। आर्यसमाज के प्रभाव के कारण सार्यक तथा वैदिक धर्म के विचारों को लेते हुए नाम रखने का चलन फैला, इस के फलस्वरूप ओम्प्रकाश, ब्रह्मेश्वर, ब्रह्मानंद, सत्यदेव, सत्यव्रत, धर्मव्रत, धर्मदेव, दयानंद जैसे नाम सुनाई पड़ने लगे हैं। नामों में शर्मा, वर्मा तथा गुप्त लगाने की प्रवृत्ति भी आर्यसमाज के प्रभाव के ही फलस्वरूप है। दास तो वैष्णव प्रभाव से ही काफ़ी संख्या में मिलता था।

अपने यहाँ बंगाली नामों का प्रभाव भी इधर काफ़ी पड़ा है। इंद्र अंत वाले नाम प्रायः बंगाली नामों के अनुकरण में रखे गए हैं। कुछ अन्य नाम भी इस श्रेणी में रखे जा सकते हैं। ऐसे नामों की काफ़ी लंबी सूची बन सकती है, जैसे भूपेंद्र, वीरेंद्र, नरेंद्र, सुरेंद्र, नगेंद्र, रवींद्र, देवेंद्र, राजेंद्र, नृपेंद्र, धीरेंद्र, कवींद्र तथा अरविंद, अविनेश, दिनेश, इत्यादि।

पश्चिमी प्रभाव नामों के रखने में अभी दृष्टिगोचर नहीं होता जार्ज जीराव नाम अपवाद स्वरूप है—किंतु नामों के गठन पर इस का विशेष प्रभाव पड़ा है। पश्चिमी प्रभाव के पहले नाम प्रायः दो शब्दों से बने होते थे। किंतु यह पश्चिमी प्रभाव का ही फल है कि एक तीसरा शब्द भी नामों में जुड़ने लगा है। यह तीसरा शब्द प्रायः जातिवाचक होता है, जैसे मिश्र, चतुर्वेदी, तिवारी, दुवे, अवस्थी, पांडे, मालवीय, पाठक, शुक्ल, जोशी, वाजपेयी, दीक्षित, नागर, सिनहा, सक्सेना, माथुर, श्रीवास्तव, अग्रवाल, जैसवाल, माहेश्वरी, अरोरा, सेठ, साह, नेगी, यादव, चौहान, भार्गव, पालीवाल, खत्री, टंडन, कभी कभी गोत्र, आस्पद या अल्ल सूचक शब्द भी लगाए जाने लगे हैं, जैसे भारद्वाज, चौधरी, जीहरी, अदावाल, खरे, गोइल, गोस्वामी, सपरू, नेहरू, काक इत्यादि। किंतु यह तो अध्ययन का एक स्वतंत्र ही विषय है। पश्चिमी प्रभाव सब से अधिक नामों के संक्षिप्त रूप देने में मिलता है, जैसे रामप्रसाद त्रिपाठी अब पूर्णरूप में हम लोगों को बहुत कम दिखलाई पड़ते हैं। एस० सी० जेम्स के वज्जन पर ये अब प्रायः आर० पी० त्रिपाठी हो गए हैं। मेरे एक मित्र पंडित रघुनाथ प्रसाद त्रिवेदी अपने को र० प्र० त्रिवेदी लिखा करते थे। किंतु अंग्रेजी प्रभाव के रहते हुए भी स्वदेशीपन की इस तरह की छाप अभी अन्यंत असाधारण है।

इस छोटे से निबंध में संयुक्त प्रांत के हिंदू पुरुषों के नामों के संबंध में कुछ मुख्य प्रवृत्तियों का उल्लेख किया गया है। नामों के इस संक्षिप्त अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर अवश्य पहुँचते हैं कि अपने देश पर धार्मिकता, विशेषतया पौराणिक और भक्ति-संप्रदायों की छाप इस बीसवीं शताब्दी में भी विशेष कम नहीं हुई है। इस्लाम का प्रभाव नामों पर विशेष नहीं पड़ा, नवीनता के लक्षण भी जहाँ-तहाँ दिखलाई पड़ने लगे हैं, विशेषतया सार्थक नामों में। लेकिन वे अभी तो दाल में नमक के ही बराबर हैं। पश्चिमी नक़ल में रामप्रसाद त्रिपाठी का आर० पी० त्रिपाठी हो जाना तो केवल इतना ही जतलाता है कि त्रिपाठी जी ने धोती-चादर छोड़ कर समय की आवश्यकता के अनुरूप कोट-पतलून पहिन लिया है। उन का हाड़-मांस नहीं बदला है। वही पुराना चला जा रहा है।

महाराष्ट्र संत तुकाराम और उन की हिंदी कविता

[लेखक—श्रीयुत भोलानाथ शर्मा, एम्० ए०]

प्राचीन काल में, जब कि भारतवर्ष में अंतर्प्रातीय व्यवहार में तथा उच्च कोटि के साहित्य में संस्कृत भाषा का प्रयोग होता था, भारत की आत्मा की अखंडता अक्षुण्ण बनी रही। भारतवर्ष इतना विशाल देश होते हुए भी सांस्कृतिक ऐक्य के सूत्र में बँधा रहा। मध्ययुग की परिस्थिति बहुत कुछ प्रतिकूल रही, पर उस प्रतिकूलता में भी भाषा का एक-दम अभाव हो गया हो, ऐसी बात नहीं थी। अध्यापक क्षितिमोहन सेन की शोधों ने उस अंधकार के युग में भारत की अखंडता के दीप की ज्योति का पता लगाने का अत्यंत स्तुत्य कार्य किया है। यह ज्योति थी साधु-संतों की ज्योति। यह लोग मध्ययुग में प्रांतीयता का मोह त्याग कर संपूर्ण देश में पर्यटन करके अनेक सांस्कृतिक केंद्रों से मधुमक्षिका के सदृश मधु एकत्रित कर यत्र-तत्र उस का वितरण करते थे। यह लोग सभी प्रांतों में उत्पन्न हुए तथा भारत की ऊँची-नीची सभी जातियों को इन महात्माओं को जन्म देने का गौरव प्राप्त है। यह लोग विश्वव्यापी प्रेम एवं अव्यात्म-तत्त्व के उपासक थे। तुकाराम महाराष्ट्र के साधुओं में सर्वश्रेष्ठ माने जाते हैं, पर वह मध्यकालीन भारत की भी विभूति हैं। उन की महत्ता को प्रांत-विशेष में सीमित कर देना अनुचित है। उन की हिंदी-कविता की उपलब्धि भी उन की प्रतिभा की सार्वदेशिकता की साक्षी है। आज, जब कि प्रांतीयता की लहर भारतीय अखंडता को डुबोने के लिए उमड़ रही है, इस बात की भारी आवश्यकता है कि ऐसे सार्वदेशिक महात्माओं के चरित्र का हम अध्ययन करें।

साधु तुकाराम महाराष्ट्र संत-मणि-माला के सुमेरु हैं। महाराष्ट्र-प्रदेश के आधुनिक विद्वानों ने ऐतिहासिक शोध का कार्य जितनी लगन और अव्यवसाय के साथ किया है वह सर्वथा स्तुत्य एवं अनुकरणीय है। उन के प्रयत्नों से तुकाराम के जीवन-चरित्र के विषय में जो कुछ जाना जा सकता था जान लिया गया है। प्रस्तुत जीवन-चरित्र, जो कि अत्यंत संक्षिप्त है, सर रामकृष्ण भांडारकर के, 'वैष्णवविजय, शैविज्य, आदि' शंकर पांडुरंग पंडित

श्री तुकाराम की कविता-संग्रह की भूमिका, जगद्वितेच्छु प्रेस की 'श्री तुकारामाची गाथा' की भूमिका, श्री लक्ष्मण रामचंद्र पांगारकर के सुप्रसिद्ध तुकाराम के जीवन-चरित्र एवं प्रो० रानडे के 'मिस्टीसिज़्म इन महाराष्ट्र' के आधार पर प्रस्तुत किया गया है।

पूना से आठ कोस दूर वायव्य-कोण में देहू नामक एक ग्राम है। यहीं साधु तुकाराम का जन्म हुआ। इसी कारण यह गाँव महाराष्ट्र का एक तीर्थ बन गया है। कई पीढ़ियों से तुकाराम के पूर्वपुरुष यहाँ निवास करते थे। वह जाति के कुणव वाणी (कुनवी वनिये) शूद्र थे, उन का कुल-नाम मोरे एवं उपनाम आंबिले, आंबले अथवा अंबले था। वाणिज्य-व्यवसाय तथा पंढरपुर के विठोवा की भक्ति तुकाराम को अपने पूर्वपुरुषों से विरासत में मिली वृत्तियाँ थीं। तुकाराम के आठवें पूर्व-पुरुष विश्वंभर थे; उन्होंने ने स्वयं देहू में ही श्री-विठ्ठल एवं रखुमाई का मंदिर निर्माण कराया जो आज भी विद्यमान है। तुकाराम के पिता का नाम वोल्होवा तथा माता का नाम कनकाबाई था। उन के जन्मसंवत् के विषय में बहुत मतभेद है पर संभवतया तुकाराम का जन्म शक संवत् १५३० अथवा विक्रम-संवत् १६६५ में तुलसी के शरीर त्याग से १५ वर्ष पूर्व हुआ था। उन के दो भाई और थे, बड़े भाई का नाम सावजी था तथा छोटे का नाम कान्होवा। भक्तों का विचार है कि तुकाराम के रूप में पुनः नामदेव का ही अवतार हुआ था।

उन का बाल्यकाल तो प्रायः सुख से व्यतीत हुआ। पिता ने छोटी अवस्था में विवाह कर दिया था पर प्रथम पत्नी को दमा रोग होने के कारण तुकाराम के पिता ने उन का दूसरा विवाह एक बनवान् की कन्या के साथ कर दिया। पर यह देवी उग्र स्वभाव वाली थीं। सावजी अत्यंत विरक्त स्वभाव के थे वह व्यापार इत्यादि की देख भाल भी नहीं करते थे अतएव पिता के जीवन-काल ही में तुकाराम को कुलक्रमागत वाणिज्य का कार्य सीख लेना पड़ा। १३ वर्ष की अवस्था में वह अपने व्यवसाय का संपूर्ण कार्य-भार स्वयं उठाने लगे।

सत्रह वर्ष की अवस्था में तुकाराम को माता-पिता से वंचित होना पड़ा। इसी समय से उन को एक के उपरांत दूसरी विपत्ति सहनी पड़ी। परिणाम यह हुआ कि शनैः शनैः इस असार एवं अनित्य जगत् से उन को वैराग्य होता गया और भगवान् में भक्ति दृढ़ होती गई। अभी पितृ-वियोग का दुःख नहीं घटा था कि बड़े भाई की पत्नी भी चल बसी। सावजी पहले से ही विरक्त-स्वभाव थे। पत्नी-स्वरूप पाश के छिन्न हो जाने पर वह घर

छोड़ कर निकल गए और फिर कभी न लीटे। इस समय तुकाराम की अवस्था केवल अठारह वर्ष की थी। दुःखों से घिर जाने के कारण व्यवसाय पर पूर्ण ध्यान न दिया जा सका, परिणामतः व्यवसाय बैठ गया। तदनंतर धन-प्राप्ति के जितने उपाय किए कोई सफल न हुए। इस पर पड़ गया घोर अकाल जिस में उन की प्रथम पत्नी अन्ताभाव के कारण मृत्यु को प्राप्त हुई। कुछ समय उपरांत संतु नाम का पुत्र भी अनंत पथ का पथिक हो गया। ढोर-डंगरों के मर जाने पर तुकाराम अकिंचन एवं दिवालिया हो गए। उन को जन-साधारण के सामने लज्जा लगने लगी। भक्ति और विरक्ति की जड़ें हृदय में सुदृढ़ रूप से जम गईं। इस प्रकार तुकाराम के जीवन का पूर्वार्द्ध समाप्त हो गया, उस समय उन की अवस्था २१ वर्ष की थी। उन्होंने ने एक स्थान पर लिखा है कि जिस पर भगवान् कृपा करते हैं उस को सांसारिक सफलता प्राप्त नहीं होने देते। उपरोक्त संपूर्ण घटनाओं को तुकाराम ने स्वयं एक अभंग में वर्णित किया है, जिस की प्रथम पंक्ति 'याती शूद्र वंश केला व्यवसाय' है।

तुकाराम की विरक्ति इतनी बढ़ गई कि इष्टमित्र एवं स्त्री के समझाने पर भी उन्होंने ने एकांत में भगवद्-चिंतन को छोड़ कर संसार सँभालने की ओर कोई प्रयास नहीं किया। एक बार तो वह गृहत्याग कर देहू से दो कोस पर स्थित भाँवनाथ अथवा भामनाथ पर्वत पर भगवद्भजन करने चले गए। 'भवतलीलामृत' ग्रंथ के रचयिता महीपति के अनुसार तुकाराम को यहीं ईश्वर का साक्षात्कार हुआ। उन का छोटा भाई कान्होवा उन की खोज करता हुआ सात दिन में वहाँ उन से मिला। जिस स्थान पर तुकाराम को भगवद्-साक्षात्कार हुआ था उस स्थान पर पादुका आज तक स्थापित हैं। कान्होवा तुकाराम को घर लौटा लाया। उन्होंने ने घर के सारे कागज-पत्र निकाल कर कहा कि यह सब कागज के घोड़े हैं जिन के रहने से केवल दुराशामात्र बढ़ती है अतएव मैं इन सब को इंद्रायणी में बहा दूँगा। कान्होवा ने कहा कि मुझे तो गृहस्थी चलाने के लिए इन की आवश्यकता है। इस पर तुकाराम ने उन के दो भाग करके एक भाग कान्होवा को दिया और दूसरे भाग को इंद्रायणी के जल में बहा कर छुट्टी पाई। उन्होंने ने प्रण किया कि मैं भगवद्भक्ति को छोड़ अन्य व्यवसाय नहीं करूँगा। देहू से तीन कोस पश्चिम की ओर भांडारा नामक पर्वत पर दिन भर भजन कर वह रात्रि को घर लौटते थे और रात्रि में देवालय में भजन करते थे। जहाँ कहीं धार्मिकोत्सव अथवा भगवत्कथा होती वहाँ जा कर अत्यंत ध्यान से कथाओं को

सुनते और एकांत में उन का मनन करते। नामदेव के समस्त अभंग तथा कवीर की कविता का उन्होंने पाठ किया। 'ज्ञानेश्वरी', 'एकनाथी भागवत', 'भावार्थरामायण', 'योगवासिष्ठ', 'अमृतानुभव' इत्यादि ग्रंथों को पढ़ कर उन पर तुकाराम ने गहरा मनन किया। एकादशी व्रत का भी वह अत्यंत श्रद्धा से पालन करते थे।

इस प्रकार माघ शुक्ल १० गुरुवार को उन को स्वप्न में गुरु के दर्शन हुए। उन्होंने ने देखा कि प्रभात काल गंगास्नान को जाते हुए, एक ब्राह्मण उन को मिला जिस ने उन को 'राम कृष्ण हरी' इस गुरुमंत्र का उपदेश दिया और गुरुपरंपरा इस प्रकार बतलाई कि मूल गुरु राघवचैतन्य, उन के शिष्य केशवचैतन्य और उन का शिष्य मैं बाबा चैतन्य हूँ। तदुपरांत तुकाराम अपने गुरु को भोजन कराने के लिए घर लाए पर उन की पत्नी जिजाबाई ने वह फटकार बतलाई कि सारा स्वप्न दूर हो गया और गुरुदेव लौट कर चले गए। गुरुदीक्षा के अनंतर तुकाराम के हृदय में कविता का अजस्र श्रोत फूट पड़ा। कहते हैं काव्य-रचना का आदेश उन को स्वप्न में ही हुआ था और आदेश पा कर ही उन्होंने ने काव्य-रचना आरंभ की। यह आदेश उन को पांडुरंग एवं नामदेव की ओर से मिला था।

तुकाराम ने जब काव्यरचना, कीर्तन एवं कथा प्रारंभ की तो उन की प्रसिद्धि का प्रसार होने लगा और श्रोताओं की संख्या बढ़ने लगी। उन की सरल-सुबोध अभंगवाणी प्रत्यक्षानुभव के आधार पर ऐसी प्रभावोत्पादक थी कि सर्वसाधारण का चित्त अनायास उस की ओर आकृष्ट हो जाता था। पर आज तक किसी शूद्र ने इस प्रकार कथा-कीर्तन से जनता को उपदेश देने का साहस नहीं किया था, अतएव तुकाराम की इस धृष्टता पर धर्म के ठेकेदारों का रुष्ट होना स्वाभाविक ही था। इधर तुकाराम थे साक्षात् विनय के अवतार। जब मंवाजी नामक ब्राह्मणदेवता ने उन को बहुत सताया तो उन्होंने ने सब कष्टों को आनंद-पूर्वक शांति से सहन किया तथा अपनी साधुता से मंवाजी को पानी-पानी कर दिया। उन की साधुता से आकृष्ट हो कर अनेक मनुष्य उन के शिष्य बनने लगे। इन में सभी जाति के लोग थे। गंगाघर मवाल तथा संताजी जगनाडे तो छाया की तरह तुकाराम के साथ रहते थे तथा उन की कविता को लिखते जाते थे। पर इस सब स्थिति से देवी जिजाबाई नितांत असंतुष्ट थीं और एक बार यह दांपत्य-कलह यहाँ तक बढ़ा कि तुकाराम को घर छोड़ कर वन को निकल जाना पड़ा। वहाँ यदि कोई गाँव से उन को भोजन दे जाता तो खा लेते अन्यथा निश्चित भाव से भगवान् का भजन करते। देवी जी को अंत में हार माननी पड़ी

और आज्ञानुसरण की प्रतिज्ञा कर के वे तुकाराम को मना कर घर लाने में सफल हुई। उन्होंने अपनी पत्नी को भी सर्वस्व-त्याग का उपदेश दिया पर उन पर वैराग्य का रंग स्थिर रूप से न चढ़ सका।

संसार के अन्य प्रथम कोटि के भक्तों के सदृश तुकाराम के जीवन के विषय में भी अनेक चमत्कारमय कृत्यों का कथन मिलता है। विठ्ठल और गणपति को भोजन कराना, इंद्रायणी के जल में उन की कविता की पोथियों का तर जाना, रामेश्वर भट्ट के शरीरदाह का तुकाराम के अभंग वाँचने पर शांत हो जाना, तुकाराम की अभंग-पत्रिका वाँच कर विठ्ठल का स्वयं उन के घर पधार कर भोजन करना, आलंदी के पक्षियों का तुकाराम की साधना से प्रभावित होना, और अंत में सदेह स्वर्ग-प्रस्थान इत्यादि चामत्कारिक घटनाओं का उल्लेख तुकाराम के जीवन-चरित्रों में मिलता है। उपर्युक्त घटनाओं में से कुछ के विषय में तुकाराम ने स्वयं अभंग लिखे हैं, तथा भक्तों का उपर्युक्त सभी घटनाओं की सत्यता के संबंध में विशेष आग्रह है। कुछ कथाएँ तुकाराम की चारित्रिक उच्चता के विषय में भी कही जाती हैं; जिन में एक दुरभिलाषावती स्त्री का दुरभिसंधि से एकांत में उन के पास जाने पर उन का उस को मातृवत् मानना तथा सच्चा मार्ग दिखलाना, एवं शिवाजी द्वारा भेजे हुए प्रभूत धनैश्वर्य को बिना छुए लौटा देना प्रमुख हैं।

तुकाराम तथा शिवाजी के संबंध की ऐतिहासिकता में प्रायः विद्वानों को संदेह नहीं है। शिवाजी लोहागाँव में तुकाराम का कीर्तन सुनने आया करते थे, तथा उन की आस्था तुकाराम में यहाँ तक बढ़ी कि वे राजकार्य से उदासीन होने लगे। इस पर शिवाजी की माता ने स्वयं लोहागाँव आ कर तुकाराम से शिवाजी को वैराग्य से उपरत कर राजकाज की ओर प्रवृत्त होने का उपदेश देने की प्रार्थना की। तुकाराम ने उस दिन अपने कीर्तन में प्रवृत्ति-मार्ग का इतना अच्छा प्रतिपादन किया कि शिवाजी का वढ़ता हुआ वैराग्य जाता रहा और वह अपने राज्य का भार वहन करने को कटिबद्ध हो गए। तुकाराम के कुछ अभंग भी शिवाजी को लक्ष्य कर रचे गए प्रतीत होते हैं। शंकर पांडुरंग पंडित, केलुसकर, रानडे, तथा पांगारकर इत्यादि महाराष्ट्रीय विद्वान् तुकाराम एवं शिवाजी के संबंध को ऐतिहासिक मानते हैं।

मिताहार, सर्वदा भगवन्नामस्मरण, संसारविषयक तथा अन्य ऐहिक वार्त्ता से

बीदासीन्य, परोपकार में तत्परता, द्रव्य, मान इत्यादि विषयों के प्रति निस्पृहता, निरभिमानीत्व, स्थिरचित्तता, एकांतवास के प्रति आग्रह, कथा तथा कीर्तन की प्रीति, उपदेश करने में सिद्धता, निर्गुण के प्रति द्वेष न रखते हुए सगुणरूपावतार में दृढ़ आस्था, तथा स्पष्टवादिता तुकाराम के चरित्र के विशेष अंग थे। विनय के तो वह मानो साक्षात् अवतार ही थे। इसी अमोघास्त्र के सहारे उन्होंने विरोधियों पर विजय पाई और उन के अनेक विरोधी अंत में उन के शिष्य बन गए।

महाराष्ट्र के साधु-संतों ने जो भक्ति का मंदिर खड़ा किया है, उस के विषय में यह कहा जाता है कि श्री ज्ञानेश्वर महाराज ने उस की नींव डाली थी, श्री नामदेव ने उस का अवारा निर्माण किया है, श्री एकनाथ ने उस के ध्वज को उठाया है तथा तुकाराम ने उस मंदिर के शिखर पर मानों कलश आरोपित किया है। किसी कवि ने तो यहाँ तक कह डाला है कि—

तुकाराम तुक राम से दोनों सेतु अभंग ।

उन्का सेतु भंग गया इन्का सेतु अभंग ॥

तुकाराम की रचना में न केवल उन के अपने अनुभव का निचोड़ है, बल्कि अनेक धार्मिक एवं दार्शनिक ग्रंथों का सार विद्यमान है। पांगारकर महोदय ने तुकाराम के अध्ययन का विवेचन करते हुए बतलाया है कि उन्होंने, गीता, भागवत, विष्णुसहस्रनाम, अनेक पुराण, तथा संस्कृत ग्रंथों का अभ्यास किया था। देश-भाषाओं में उन्होंने ज्ञानेश्वर, एकनाथ, नामदेव, कबीर इत्यादि संतों की रचनाओं का अध्ययन अत्यंत मनोनिवेश के साथ किया था। इतना होने पर भी उन को कोरे शाब्दिकज्ञान का मोह नाम को न था। केवल शास्त्र-ज्ञान की तो उन्होंने अनेक स्थानों पर निंदा ही की है। संत-वचनों में कथित तथ्य को जब तक उन्होंने साधना के द्वारा प्रत्यक्षानुभव से आत्मसात् न कर लिया, तब तक वह मौन रहे। जब उन का कंठ कविता के लिए खुला तो उपरोक्त संपूर्ण अध्ययन का सार उन के अपने व्यक्तिगत अनुभव से अनुरजित हो कर प्रकट हुआ। यही कारण है कि उन की रचनाओं में शब्दाडंबर का अभाव होते हुए भी, हृदय को स्पर्श करने की शक्ति प्रचुर मात्रा में विद्यमान है। सरलता और खरापन उन की रचना की विशेषता है।

(२)

तुकाराम की हिंदी कविता भी उपलब्ध होती है। यह हिंदी के लिए अत्यंत गौरव की बात है। ऐसा प्रतीत होता है कि अत्यंत प्राचीन काल से महाराष्ट्र में हिंदी भाषा का

प्रचार रहा है। नागरी-प्रचारिणी सभा के कोशोत्सव-स्मारक-संग्रह में भास्कर रामचंद्र भालेराव ने महाराष्ट्र प्रांत के आधुनिक साहित्य के प्रारंभ से ही वहाँ हिंदी काव्य-रचना का होना सिद्ध किया है। उक्त महाशय ने महाराष्ट्र में हिंदी-प्रचार के कारणों का भी उल्लेख किया है, जिन में गोरखपंथ का महाराष्ट्र में प्रचार, अयोध्या, काशी तथा व्रज की यात्राएँ, मुस्लिम युग में शासन का केंद्र हिंदी-भाषा प्रांत में होना, राजपूत एवं मराठों का संबंध इत्यादि कारण प्रमुख हैं। इसी प्रकार हिंदी का प्रचार गुजरात में भी रहा है। इस से स्पष्ट ही है कि हिंदी बहुत पुराने समय से अंतर्प्रतीय भाषा रही है।

तुकाराम ने हिंदी किस प्रकार सीखी यह एक समस्या है। पांगारकर महोदय ने 'श्रीतुकारामचरित्र' में^१ बतलाया है कि तुकाराम ने एक अभंग में वाराणसी, गया, एवं द्वारिका देखने की बात कही है। पांगारकर ने अनुमान किया है कि वैराग्यप्राप्ति के एक दो वर्ष के भीतर ही वह उक्त तीर्थस्थानों में हो आए होंगे। इस के अतिरिक्त तुकाराम-चरित्र में मंगलाचरण के २५ पृष्ठ पर पांगारकर ने एक अभंग उद्धृत किया है, जिस में तुकाराम ने अपने आध्यात्मिक संबंधियों की तालिका दी है। इस अभंग में उन्होंने ने रैदास और कवीर को अपना सगा बतलाया है एवं सूरदास तथा मीराबाई के नाम का अत्यंत आदर-पूर्वक उल्लेख किया है। अध्यापक रानडे तथा डाक्टर बेलवलकर ने अपने 'मिस्टि-सिद्धम इन महाराष्ट्र'^२ नामक ग्रंथ में तुकाराम का एक अभंग उद्धृत किया है जिस में यह बतलाया गया है कि उच्च कुल का अभिमान व्यर्थ है। भगवद्भक्त किसी कुल में उत्पन्न क्यों न हो वह अपने कुल को पवित्र कर देता है। इस अभंग में यह भी बतलाया गया है कि रैदास चमार तथा कवीर मुसलमान होते हुए भी भगवान् को प्राप्त कर सके थे। यह सब भक्ति के प्रभाव से न कि कुलगौरव से। शंकर पांडुरंग पंडित ने सुप्रसिद्ध 'इंदुप्रकाश' वाले संस्करण की भूमिका में लिखा है कि तुकाराम ने नामदेव के पुष्कल अभंग तथा कवीर की कविता का अध्ययन किया।^३ पांगारकर ने^४ लिखा है कि "उत्तर भारत के संत कवियों में कवीर साहब की साखियों का तुकाराम जी को विशेष परिचय था। तुकाराम जी ने स्वयं

^१ गीता प्रेस संस्करण, पृष्ठ १००

^२ पृ० ३२६

^३ तुकाराम तात्या के संस्करण का परिशिष्ट, पृ० ५९२

^४ 'तुकारामचरित्र' (गीता प्रेस, गोरखपुर), पृ० २४८

भी उन के ढंग पर दोहे रचे हैं, तथा कुछ अंतः प्रमाणों से भी यह बात स्पष्ट है।" उक्त महा-शय ने यह भी लिखा है कि "तुकाराम जी के ढंडों के खेल पर सात अभंग हैं। इन में से एक अभंग है 'खेल खेळोनियां निराळे' (खेल खेल कर अलग)। इस में खेल खेल कर भी अलग रहे हुए—प्रपंच के दाव में न आए हुए चार खेलाड़ियों का उन्होंने ने वर्णन किया है। ये चार खेलाड़ी हैं, नामदेव, ज्ञानदेव (उन के भाई बहिन) कवीर और एकनाथ। तुकाराम इन्हीं चार संतों को सब से अधिक यानी गुरुस्थानीय मानते थे। ये ही इन के प्यारे चार खिलाड़ी हैं।" ^१ इस अभंग में कहा गया है कि "कवीर खेलाड़ी ने राम को मीर बनाया और यह जोड़ी खूब मिली। (राम वसवंत कवीर खेलिया। जोड़ा बरवा मिलाला रे)।" तुकाराम ने अपने श्रोताओं को भी उक्त संतों के प्रदर्शित मार्ग पर चलने का उपदेश दिया है। "ऐसा प्रेम और आदर होने से ही तुकाराम जी ने इन के ग्रंथों का बड़ी वारीकी के साथ अध्ययन किया।" संभव है कि तुकाराम की विपुल अभंग-राशि का अवगाहन करने से उस में कवीर तथा अन्य हिंदी कवियों का उल्लेख और भी मिल सके। अतएव हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि तीर्थयात्रा एवं संतों के ग्रंथों के अध्ययन से तुकाराम हिंदी भाषा एवं साहित्य से परिचित हुए। पर उन्होंने ने हिंदी भाषा में रचना क्यों की? यह प्रश्न भी विचारणीय है। इस के तीन कारण संभव हैं—

(१) ज्ञानेश्वर, नामदेव तथा एकनाथ, जिन को तुकाराम ने जीवन का आदर्श माना था, सभी की हिंदी कविता प्रस्तुत थी, तब उन के पदचिन्हों का अनुसरण करने वाले तुकाराम भला हिंदी में रचना क्यों न करते?

(२) जिन कवीर, रैदास, सूरदास तथा मीराबाई के गुणों से वह मुग्ध थे उन के प्रति कृतज्ञता-प्रदर्शन का एक प्रकार उन की भाषा में रचना करना भी हो सकता है।

(३) तुकाराम की बढ़ती हुई भक्तमंडली में संभव है कभी कुछ हिंदी भाषा प्रांत के मनुष्य अथवा मुसलमान भी पहुँच जाते हों, अतएव ऐसे व्यक्तियों को निराश लौटाने की अपेक्षा उन को उन की भाषा ही में उपदेश देना उचित समझा गया हो।

तुकाराम की हिंदी कविता की प्रामाणिकता के विषय में भी दो शब्द कहना अनुचित न होगा। मेरे पास तुकाराम के तीन छपे हुए अभंग-संग्रह हैं—

(१) शंकर पांडुरंग पंडित तथा विष्णु शास्त्री पंडित द्वारा संपादित तथा 'इंदुप्रकाश' द्वारा प्रकाशित संस्करण दूसरा भाग;

(२) तुकाराम तात्या द्वारा प्रकाशित संस्करण; और

(३) जगद्धितेच्छु प्रेस का गुटका-संस्करण ।

शंकर पांडुरंग पंडित के संस्करण की प्रामाणिकता पांगारकर, रानडे तथा वेल्वल्कर जैसे विद्वानों को मान्य है । पर दुर्भाग्यवश उस का प्रथम भाग, जिस में हिंदी कविता है, प्रयत्न करने पर भी प्राप्त नहीं हो सका । पर दूसरे भाग के अंत में संपूर्ण पद्यों की प्रथम पंक्तियाँ दी हुई हैं । मैं ने वर्तमान हिंदी कविता का पाठ जगद्धितेच्छु छापेखाने के गुटका-संस्करण से लिया है । इस के विषय में पांगारकर की सम्मति इस प्रकार है कि यह संस्करण मालियों की हस्तलिखित प्रति के आधार पर किया हुआ है, संप्रदाय मान्य है और वारकरियों के भजनों में इस से काम लिया जाता है ।^१ इस संग्रह को आदि से अंत तक देख कर मैं ने तुकाराम की हिंदी कविता का संग्रह किया, और तदुपरांत शंकर पांडुरंग पंडित के द्वितीय भाग के अंत में दी हुई प्रथम पंक्तियों की तालिका से इस की प्रथम पंक्तियों का मिलान कर के देखा तो जगद्धितेच्छु छापेखाने वाले संस्करण की सभी हिंदी रचनाएँ उस में मिल गईं । इस के उपरांत तुकाराम तात्या का संस्करण मिला (१८९६) । इस को टटोलने पर 'उत्तराधि पदे' नामक प्रकरण में दो हिंदी पद्य और उपलब्ध हुए । इन की प्रथम पंक्तियाँ भी शंकर पांडुरंग पंडित की तालिका में उपलब्ध हो गईं । शंकर पांडुरंग पंडित के द्वितीय भाग तथा तुकाराम तात्या के संस्करण की तुलना करने पर यह भी विदित हुआ कि तुकाराम तात्या के पाठ एवं पंडित-द्वय के पाठ में कोई विशेष अंतर नहीं है तथा अभंगों की क्रम-संख्या में भी विशेष परिवर्तन नहीं है, इस से स्पष्ट ही यह अनुमान किया जा सकता है कि पंडितद्वय के प्रथम भाग और तात्या महोदय के पूर्वार्द्ध में भी विशेष अंतर नहीं होगा । यदि यह अनुमान ठीक हो तो प्रस्तुत हिंदी कविता का पाठ तीन अभंगों के संस्करणों से अनुमोदित ठहरता है जिन में से दो अत्यंत प्रामाणिक संग्रह हैं । अतएव प्रस्तुत कविता के तुकाराम की मूल रचना होने में

संदेह करने के लिए लगभग नहीं के बराबर अवकाश रह जाता है। हाँ, यह संभव हो सकता है कि अन्य संस्करणों में शब्दों के पाठ में कुछ भेद हो। कोपोत्सव-स्मारक-संग्रह में श्री भास्कर रामचंद्र भालेराव ने “हिंदी साहित्य के इतिहास के अप्रकाशित परिच्छेद” नामक जो निबंध लिखा है उस में तुकाराम के दो दोहे उद्धृत किए हैं जिन का पाठ निम्नलिखित है—

तुका बड़ो वह ना तुले , जाहि पास बहु दाम ।
बलिहारी वा बदन की , जेहि ते निकसे राम ॥
तुका कहे जग भ्रम परा , कही न मानत कोय ।
हाथ परेगो काल के , मार फोरिहं डोय ॥

प्रस्तुत संग्रह में इन दोहों का पाठ इस प्रकार है—

तुका प्रभु बड़ो न मनूं न मानूं बड़ो । जिस पास बहुदाम ।
बलिहारी उस मुख की । जिसती निकसे राम ॥
कहे तुका जग भुलारे । कहा न मानत कोय ।
हात परे जब काल के । मारत फोरत डोय ॥

इसी प्रकार पांगारकर महाशय ने ‘श्रीतुकारामचरित्र’^१ में तुकाराम का एक दोहा उद्धृत किया है—

लोभी के चित्त धन रहे , कामिनी चित्त में काम ।
माता के चित्त पूत वसे , तुका के मन राम ॥

वर्तमान संग्रह में इस का पाठ एस प्रकार है—

लोभी के चित्त धन बैठे । कामिनी चित्त काम ।
माता के चित्त पूत बैठे । तुका के मन राम ॥

इस तुलना से यद्यपि पाठभेद की संभावना शब्दों के विषय में निश्चित ठहरती है तथापि भाव-साम्य में कोई संदेह नहीं रहता। यह बात केवल तुकाराम की ही रचना के विषय में नहीं, उन सभी संत-कवियों के विषय में ऐसी ही है, जिन की रचनाएँ भक्तों की

जिह्वा पर नाचती रही हैं। आप चाहे इस जनप्रियता को सौभाग्य मानें चाहे अभिशाप, पर इस के फल-स्वरूप पाठ-भेदों की समस्या से बचने का उपाय शायद नहीं है।

तुकाराम की हिंदी रचना में यदि आप छंद-रचना में निपुणता, अलंकारों का चमत्कार तथा शैली की चारुता खोजेंगे तो संभव है आप को निराश होना पड़े। अध्यापक क्षितिमोहन सेन द्वारा संपादित 'दादू' की भूमिका में श्री रवींद्रनाथ ठाकुर ने लिखा है— "कवि जिस समय सत्य की उपलब्धि करते हैं, तो जान पाते हैं कि सत्य का स्वरूप सहज सुंदर है। इसी लिए उस समय वह सत्य के रूप को ही स्वीकार करते हैं, अलंकार के आडंबर में मन नहीं लगाते। वैष्णव-पद में पढ़ा है कि राधा जिस समय कृष्ण से मिलना चाहती थी, उस समय गले के हार की भी आड़ उन को सह्य नहीं थी। उन की धारणा में कृष्ण ही उन के लिए एकांत सत्य थे; उस सत्य को खोजने में अलंकार-त्राहुल्य ठीक नहीं; वह वाधा है।" कबीर, नामदेव, दादू तुकाराम जैसे संत-कवियों के काव्य के प्रति हम को कविवर द्वारा निदिष्ट दृष्टि रखनी चाहिए। तुकाराम ने तो सर्वस्व खो कर ही सत्य की उपलब्धि की थी, यहाँ तक कि उन को अपनी कविता तक को धारा में प्रवाहित कर देना पड़ा था। यदि ऐसे कवि को वाह्याडंबर से मोह न हो तो आश्चर्य ही क्या? फिर हिंदी तो उन के लिए विदेशी भाषा थी। अतएव आडंबर-शून्यता, सरलता तथा निर्मम खरापन जो उन की मराठी कविता की विशेषताएँ हैं, वही हिंदी कविता में भी वर्तमान हैं।

अध्यापक रानडे तथा डाक्टर वेल्वलकर ने अपने ग्रंथ 'मिस्टिसिज़्म इन महाराष्ट्र' में तुकाराम की साधना को 'पर्सनलिस्टिक मिस्टिसिज़्म' कहा है। हिंदी में हम इस को साकारोपासना कह सकते हैं। पर एक स्थल पर उक्त विद्वानों ने यह भी बतलाया है कि, तुकाराम की दृष्टि में साकार तथा निराकार का भेदभाव लुप्त हो चुका था। हिंदी में तुकाराम की जितनी कविता उपलब्ध है वह प्रायः उपदेशात्मक है। गौलणी (ग्वालनी) शीर्षक पदों को छोड़ कर शेष कविता भगवान् की सर्वशक्तिमत्ता, भाग्य की क्षणभंगुरता, सत्संग की महिमा, सच्चे शूर के लक्षण, प्रभु की दयालुता इत्यादि विषयों पर हैं। अनेक स्थलों पर भगवान् की सर्वव्यापकता का भी वर्णन मिलता है और कुछ स्थलों पर तुकाराम ने अपनी दीनता का भी निवेदन किया है। कुछ पदों को पढ़ कर यह धारणा दृढ़ होती है कि वह पद मुसलमानों को ही संबोधन कर के रचे गए हैं। गौलणी शीर्षक के अंतर्गत जो पद हैं वह गोपियों के विरह के वर्णन में हैं। पंढरपुर के विठ्ठल की महिमा पर हिंदी में तुकाराम

की विशेष रचना नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि तुकाराम ने अपने जीवन के जिस काल में हिंदी कविता की रचना की उस समय वह कबीर के प्रभाव से बहुत अधिक प्रभावित थे।

अब तुकाराम की विविध प्रकार की हिंदी रचनाओं का एक-एक उदाहरण देना अनुचित न होगा।

(१) गौलणी—

मैं भुली घर जानी बाट । गोरस बेचन आये हाट ॥१॥
 कान्हारे मनमोहन लाल । सवहीं विसरूं देखे गोपाल ॥२॥
 काहां पगडारूं देख आनेरा । देखे तो सब बोहिन घेरा ॥३॥
 हूँ तो चकित भैर तुका । भागा रे सब मन का धोका ॥४॥

(२) दरवेस—

अल्ला करे सो होय बाबा करतार का सिरताज ।
 गाऊ वछरे तिस चलावे यारी बाचो न सात ॥१॥
 ख्याल मेरा साहेब का बाबा हुआ करतार ।
 हवाटे आघे चढे पीठ आपे हुआ असदार ॥२॥
 जिकिर करो अल्ला की बाबा सवत्यां अंदर भेस ।
 कहे तुका जो वर मुझे सोहि भया दरवेस ॥४॥

(३) दोहरे—

कहे तुका मैं सबदा बेचूं । लेवे के तन हार ।
 मिठा साधु संत जन रे । मुख के सिर भार ॥१॥
 कहे तुका भला भया । हुवा संतन का दास ।
 क्या जानूं केते मरता । न भिटती तन की आस ॥२॥

(४) उत्तराधि पदें—

राम कहो जीवना फल सोही । हरि भजन सु विलंब न पाई ॥१॥
 कवन का मंदिर कवन की झोपरी । एक राम बिन सब ही फुफरी ॥२॥
 कवन की काया कवन की माया । एक राम बिन सब ही जाया ॥३॥
 कहे तुका सर्वाहि चलणार । एक राम बिन नहि बा सार ॥४॥

उक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि गौलणी नामक शीर्षक के पदों को छोड़ कर शेष हिंदी कविता में तुकाराम भगवद्भक्ति तथा सदाचार के उपदेशक के ही रूप में हमारे

सामने अधिक आते हैं और उन की इस रचना पर कवीर की रचना की—विशेष कर साखियों की गहरी छाप है।

तुकाराम की हिंदी भाषा के विषय में कुछ कहना अनुचित न होगा। पर इस दिशा में ही पाठभेदों की संभावना सब से बड़ी रुकावट है। उस संभावना को दृष्टि में रखते हुए यह निवेदन कर देना आवश्यक है कि भाषा के संबंध में जो कुछ कहा जायगा वह अधिकांश अटकल के सहारे पर स्थित होगा। तुकाराम की हिंदी भाषा में तीन स्तर मिलते हैं:—(१) ब्रजभाषा स्तर; (२) खड़ी बोली स्तर; (३) फ़ारसी शब्दों से युक्त खड़ी बोली का स्तर।

उदाहरण

(१) 'हरि बिन रहिया न जाय जियरा'। 'कोई सखी हरि जावे बुलावन।'।

(२) 'गिरिधर लाल तो भाव का भुका। राग कला नाह जानत तुका।'।

'तुका इच्छा मोट नहीं तो। काहा करे जट खाक।'।

(३) 'अल्ला देवे अल्ला दिलावे। अल्ला दारू अल्ला खिलावे।'।

'अपने दिलकूँ करना सुखी। तीन दाम को क्या खुमासी।'।

इत्यादि उदाहरण उपर्युक्त तीन भाषा-स्तरों के दिए जा सकते हैं। पर यह ध्यान में रखना चाहिए कि इन तीनों स्तरों में से कोई भी अपने विशुद्ध रूप में दृष्टि-गोचर नहीं होता। बीच-बीच में मराठी भाषा के शब्दों अथवा मराठी शब्दों से समानता रखने वाले रूपों का प्रयोग किया गया है जो स्वाभाविक है, एवं लेखकों के प्रमाद के कारण भी हो सकता है। गौलणी (=ग्वालिणी) डोइफोड़ा (=सिर फोड़ने वाला) चलणार (=जाने वाला) ह्वांति, डिकरो, उडे कुडे (=जहाँ तहाँ) इत्यादि शब्द मराठी भाषा के हैं। कई शब्दों के साथ में—'त्या,' 'थी' अथवा 'ये' मराठी भाषा की विभक्तियों का भी प्रयोग मिलता है एवं 'इ' और 'उ' के ह्रस्व और दीर्घ का असावधानी के साथ प्रयोग का तो कुछ कहना ही नहीं है।

तुकाराम ने हिंदी कविता में प्रायः मात्रिक छंदों का प्रयोग किया है। दोहे और चौपाइयों से मिलते-जुलते छंद उन्होंने ने अधिक लिखे हैं। पर छंदशास्त्र के नियमों का पूर्ण पालन इन छंदों में नहीं हुआ है। दो-एक अक्षर के छंद के हिंदी पद भी मिलते हैं। उदाहरण के लिए निम्नलिखित पद द्रष्टव्य हैं—

देखत अखों झुटा कोरा । तो काहे छोरा घरवार ॥१॥

मान सुं किया चाहिए पाख । उपर खाक पसारा ॥२॥

काम क्रोध सो संसार । वो सिर भार चलावे ॥३॥

कहे तुका वह संन्यास । छोडे आस तन की ही ॥४॥

इस निबंध को समाप्त करने से पूर्व एक प्रश्न का उत्तर देना आवश्यक प्रतीत होता है, और वह प्रश्न यह है कि तुकाराम की हिंदी कविता का क्या महत्व है ? मैं निवेदन कहूँगा कि तुकाराम भारतवर्ष की वह महान् विभूति हैं जिन की कोई भी कृति उपेक्षणीय नहीं है। तुकाराम की काव्य-रचना का काल १६९१ और १७०६ वि० स० के बीच का काल है। इस समय हिंदी के प्रति महाराष्ट्र प्रांत में स्निग्ध-भाव वर्तमान था और उस युग के सर्व-श्रेष्ठ साधु ने हिंदी में अपनी रचना छोड़ी है, क्या यह हम हिंदी-भाषा प्रांत के मनुष्यों के लिए कम हर्ष और सौभाग्य की बात है ? अध्यापक राधाकृष्णन् ने अपने 'ईस्ट एंड वेस्ट इन रेलिजन' नामक ग्रंथ में एक स्थान पर कहा है कि विलगानेवाली वस्तुओं की अपेक्षा संयोग कराने वाली वस्तुएँ अधिक महत्वपूर्ण होती हैं। अन्य प्रांतों में जहाँ भी और जव भी हिंदी-भाषा के अस्तित्व का पता लगे, उस को जनता के सामने रखना अत्यंत आवश्यक है, क्योंकि जब हम हिंदी की अंतर्प्रातीय व्यवहार की भाषा के रूप में देखना चाहते हैं, तो क्या हमारा पक्ष इन हिंदी के पुरानी अंतर्प्रातीयता के प्रमाणों से और अधिक सवल नहीं वनेगा। अन्य प्रांतों का तो कहना ही क्या हिंदी-प्रचार के पुराने प्रमाण दक्षिण-भारत तक में मिले हैं। अन्य महाराष्ट्र कवियों की कृतियों में हिंदी कविताएँ प्राप्त होती हैं और उन के संग्रह की आवश्यकता है। वर्तमान लेखक ने 'परिशिष्ट' में संत तुकाराम की उन हिंदी कविताओं को एकत्र कर दिया है जो उसे प्राप्त हो सकी हैं।

परिशिष्ट

पौराण अभंग

गौलणी

१०९ मैं भुली घर जानी वाट । गोरस ब्रेचन आयें हाट ॥१॥

कान्हारे मनमोहन लाल । सदही विसरुं देखें गोपाल ॥२॥

काहां पगडारूं देख आनेरा । देखे तो सब बोहिन घेरा ॥३॥

हुं तो थकित भैर तुका । भागा रे सब मन का घोका ॥४॥

११० हरि बिन रहियां न जाये जिहिरा । कवकी थाड़ी देखें राहा ॥१॥

क्या मेरे लाल कदन चुकी भई । क्या मोहिपासिती बेर लगाई ॥२॥

कोई सखी हरि जाये बुलावन । बारहि डारूं उस पर तन ॥३॥

तुका प्रभु कब देखें पाऊं । पासीं आऊं फेर न जाऊं ॥४॥

१११ भलो नंदजी को डिकरो । लाज राखी लीन हमारो ॥१॥

आगल आवो देवजी कान्हा । मैं घर छोड़ी आहे ह्याना ॥२॥

उन सुं कळना न ह्वे तो भला । खसम अहंकार बाहुला ॥३॥

तुका प्रभु परबल हरी । छपी आहे हुं जगायी न्यारी ॥४॥

दरवेस

३२९ अल्ला करे सो होय बाबा करतार का सिरताज ।

गाऊ बछरे तिस चलावे यारी बाघो न सात ॥१॥

ख्याल मेरा साहेब का बाबा हुआ करतार ।

हवाटें आघे चढे पीट आपे हुआ असवार ॥२॥

जिकिर करो अल्ला की बाबा सबत्यां अंदर भेस ।

कहे तुका जो नर बुझे सोहि भया दरवेस ॥३॥

मलंग

३३० नजर करे सो हि जिके बाबा दुरयी तमासा देख ।

लकड़ी फांसा लेकर बैठ आगले ठकण भेख ॥१॥

काहे भूल एक देखत । आंखो मार तडांगो बाजार ॥२॥

दमरी चमरी जो नर भुला । सोत आघो ही लत खाय ॥३॥

नहि बुलावत किसे बाबा । आप हि मत जाय ।

कहे तुक उस आस के संग । फिर फिर गोते खाय ॥४॥

डोईफोडा

३३१ तम भज्याय ते दुरा जिकीर ते करे ।

सीर फाटे ऊर फुटे ताहां शड करे ॥१॥

ताहां एक तु ही नाहां एक तु ही।
 ताहां एक तु ही रे बाबा हम तुम्ह नहीं ॥२॥
 दिदार देखो भुले नहीं किसे पछाने कोये।
 सचा नहीं पकड सके झुटा झुटे रोये ॥३॥
 जिसे कहे मेरा किन्हो संत लिया भास।
 नहीं मेला मिले जीवना झूटा किया नास ॥४॥
 सुनो भाई कैसा तोहि होय तैसा होय।
 वाट खाना अल्ला कहना एक बार तो ही ॥५॥
 भला लिया भेख मुँढे आपना नफा देख।
 कहे तुका सो ही सखा हाक अल्ला एक ॥६॥

वैद्यगोळी

३३२ अल्ला देवे अल्ला दिलावे। अल्ला दारु अल्ला खिलावे।
 अल्ला बिगार नहीं कोय। अल्ला करे सो हि होय ॥१॥
 मर्द होय वो खड़ा फीर। नामर्दकूं नहीं धीर।
 आपने दिलकूं करना सुखी। तीन दाम की क्या खुमासी ॥२॥
 सब रसों का किया मार। भंजन गोली एकहि सार।
 इमान तो सब ही सखा। थोड़ी तो भी लेकर ज्या ॥३॥
 जिन्हों पास नीत सोय। वोहि बसकरी तिरावे।
 सांतो पांचो मार चलावे। उतार सो पीछे खावे ॥४॥
 सब ज्वानी निकल जावे। पीछे गधडा मट्टी खावे।
 गांवढाल सो क्या लेवे। हगवनी भरी नहीं धोवे ॥५॥
 मेरी दारु जिन्हे खाया। दिलदार दरगां सो ही पाया।
 तल्ले मुंढी घाल जावे। बिगारी सोवे क्या लेवे ॥६॥
 बजार का बुझे भाव। वोहि पुसंता आवे ठाव।
 फुकट बाटू कहे तुका। लेवे सो हि ले हि सखा ॥७॥

मुंढा

३३३ संवाल यारा उपर तलें दोन्हो मार की चोट ।

नजर करे सोही राखे पदवा जावे लूट ॥१॥

प्यार खुदाई, प्यार खुदाई, प्यार खुदाई ।

प्यार खुदाई रे वावा जिकिर खुदाई ॥२॥

उडे कुडे हुंग नचावे आगल भूल न प्यार ।

लडबड खडबड कांहे कांकू चलावत भार ॥३॥

कहे तुका सुनो लोका हम जिन्हों के सात ।

मिलावे तो उसे देना तो ही चढ़ावे हात ॥४॥

३३४ सब संवाल म्याने लौंढे खडा केऊं गुंग ।

मदिरथी मता हुवा भुली पाड़ी भंग ॥१॥

आपसकुं संवाल । आपसकुं संवाल ।

मुंढे खूब राख ताल । मुथि वोहि बोल नहीं तो कळंगा हाल ॥२॥

अवलका तो पीछे नहीं मुदल विसर जाय ।

फिरते नहीं लाज रंडी गधे गोते खाय ॥३॥

जिन्हो खातिर इतना होता सो नहीं तुज वेफाम ।

उचा जोरो लिया तुंवा तुंवा बुरा काम ॥४॥

निकाल जावे चिकल जोरा मुंढे दिलदारी ।

जवानो की छोड़ दे बात फीर एक तारी ॥५॥

फहे तुका फिसल रुका मेरे को तो दान देख ।

पकडधका गांडगुदधी मार चलाऊं आलेख ॥६॥

३३५ आवल नाम अल्ला बड़ा लेते भूल न जाये ।

इलाम त्याकाल जमुपरताहीं तुंव बजाये ॥१॥

अल्ला एक तूं नवी नक तूं ।

काटतें जिस पावों हात नहीं जीव डराये ॥२॥

आगले देखों पिछे बुझो । आपे हुजुर आये ॥३॥

सब सब री नचाव म्याने । खडा आपनी सात ।
 हात पावों रखते जबाब । नहीं आगली बात ॥४॥
 सुनो भाई बजार नहीं । सबहि नर चलावे ।
 नन्हा बड़ा नहीं कोय एक ठोर मिलावे ॥५॥
 एक तार नहीं प्यार । जीवन की आस ।
 कहे तुका सोहि मुंडा । राख लिये पाये न पास ॥६॥

दोहरे

४८० तुका वस्तर विचारा क्या करे रे । अंतर भगवान् होय
 भीतर मैला कब मिटे रे । मरे ऊपर धोय ॥१॥
 रामराम कहे मन । औरसुं नहिं काज ।
 बहुत उतारे पार । आघे राख तुका की लाज ॥२॥
 लोभी के चित्त धन बँटे । कामिनी चित्त काम ।
 माता के चित्त पूत बँटे । तुका के मन राम ॥३॥
 तुका पंखि बहिरन मानुं । बोई जनावर वाग ।
 असंतन कुं संतन मानुं । जे बमकुं दाग ॥४॥
 तुका राम बहुत मिठा रे । भर राखूं शरीर ।
 तन की कहूं नावरि । उताहूं पैल तीर ॥५॥
 संतत पन्हुआं ले खडा । राहूं ठाकुरद्वार ।
 चलत पाछे हूं फिरों । रज उडत लेऊं सीर ॥६॥
 तुका प्रभु बडो न मनूं न मानूं बडो । जिस पास बहु दाम ।
 बलिहारी उस मुख की । जिसती निकसे राम ॥७॥
 राम कहे सो मुख भला रे । बिन राम सें बीख ।
 आव न जानूं रमते बेरों । जब काल लगावे सीख ॥८॥
 राम कहे सो भुख भला रे । खाये खीर खांड ।
 हरि बिन मुख मो धूल परीरे । क्या जनी उस रांड ॥९॥
 कहे तुका मैं सबदा वेचूं । लेवे के तन हार ।
 मिठा सावु संत जन रे । मुख के सिर भार ॥१०॥

तुका दास तिन का रे। रामभजन निरास।
 क्या बिचारे पंडित करो रे। हात पसारे आस ॥११॥
 तुका प्रीत राम सुं। तैसी मिठी राख।
 पतंग जाय दीप पर रे। करे तन की खाक ॥१२॥
 कहे तुका जग भुलारे। कहा न मानत कोय।
 हात परे जब काल के। भारत फोरत डोय ॥१३॥
 तुका सुरा नहिं सबद कारे। जब कमाई न होय।
 चोट साहे धन की रे। हिरा नीबरे तोय ॥१४॥
 तुका सुरा बहुत कहावे। लडन बिरला कोय।
 एक पावे ऊंच पदवी। एक खोसां जोय ॥१५॥
 तुका मान्या पेट का। और न जाने कोय।
 जपता कछु रामनाम। हरिभगत की सोय ॥१६॥
 तुका सज्जन तिन सूं कहिए। जिन थी प्रेम दुनाये।
 दुर्जन तेरा मुख काला। थीता प्रेम घटाये ॥१७॥
 काफर सोही आपन बुझे। आला दुनियां भर।
 कहा तुका तुझे सुनो रे भाई। हिरदा जिनका कठोर ॥१८॥
 भीस्त नई पावे मालयी। पढिया लोक रिझाय।
 निचा जयें कमतरिण। सो ही सो फल खाय ॥१९॥
 फल पाया तो सुख भया। किन्हेसुं न करे बेवाद।
 वान न देखे मिरगा। चित मिलाया नाद ॥२०॥
 तुका दास राम का। मन में एकहि भाव।
 तो न पालटु आव। ये हि तन जाय ॥२१॥
 तुका राम सुं चित बांध राखूं। तंसा आपनी हात।
 धेनु बछरा छोड़ जावे। प्रेम न छूटे सात ॥२२॥
 चित सुं चित मिले। तय मन थंडा होय।
 तुका मिलना जिन्होंसुं। ऐसा बिरला कोय ॥२३॥

चित्तमिले तो सब मिले। नहिं तो फुकट संग।
 पानी पाथर येकही ठोर। कोर न भिजे अंग॥२४॥
 तुका संगत तिन से कहिए। जिनसे सुख दुनाये।
 दुर्जन तेरा मू काला। थीतो प्रेम घटाये॥२५॥
 तुका मिलना तो भला। मनसूं मन मिल जाय।
 उपर उपर माटि घसनी। उनकी कोन बराय॥२६॥
 तुका कुटुंब छोरे रे। लर के जोरो सिर मुंदाय।
 जब ये इच्छा नहिं मुई। तब तू किया काय॥२७॥
 तुका इच्छा मीट नई तो। काहा करे जट खाक।
 मयीया गोला डार दिया तो। नहिं मिले फेरन ताक॥२८॥
 ब्रीद मेरे साइया को। तुका चलावे पास।
 सुरा सो हि लरे हमसें। छोरे तन की आस॥२९॥
 कहे तुका भला भया। हुवा संतन का दास।
 क्या जानूं केते मरता। न मिटती मन की आस॥३०॥
 तुका और मिठाई क्या करूं रे। पाले विकारपिंड।
 राम कहावे सो भली रूखी। माखन खीर खांड॥३१॥

उत्तराधि पदें

- ३८१९ क्या गाऊं कोई सुनने वाला। देखें तो सब जग ही भुला॥१॥
 खेलें अपने रामहि सात। जैसी बैसी करहो मात॥२॥
 काहां से लाऊं मधुरा वानी। रीझे ऐसी लोक विरानी॥३॥
 गिरिधर लाल तो भाव का भुका। राग कला नहिं जानता तुका॥४॥
 ३८२० छोड़े धन मंदिर बन बसाया। मांगत टुका घरघर खाया॥१॥
 तीन सो हम करवों सलाम। ज्या मुख बैठा राजा राम॥२॥
 तुलसी माला वभूत चहावे। हरजी के गुण निर्मल गावे॥३॥
 कहे तुका जो साईं हमारा। हिरनकश्यप जिन्हें मारहि डारा॥४॥
 ३८२१ मंत्र तंत्र नहीं मानत साखी। प्रेम भाव नहिं अन्तर राखी॥१॥

राम कहे त्याके पगहूं लागूं। देखत कपट अभिमान दूर भागूं ॥२॥
अधिक याती कुलहीन नहिं जानूं। जानें नारायण सो प्रानी मानूं ॥३॥
कहे तुका जीव तन डारू डारी। राम उपासिहूं बलियारी ॥४॥

३८२२ हरिसुं मिल दे एकहि वेर। पाछें तूं फिर नावे घेर ॥१॥

मात सुनीं दुति आवे मनावन। जाया करति भर जोवन ॥२॥
हरिसुख मोहि कहिया न जाये। तव तूं बुझे आगो पाये ॥३॥
देखहि भाव कछु पकरी हात। मिलाई तुका प्रभू सात ॥४॥

३८२३ क्या कहूं नहिं बुझत लोका। लिजावे जम मारत धका ॥१॥
क्या जीवने की पकड़ी आस। हातों लिया नहिं तेरा घांस ॥२॥
किसे दिवाने कहता मेरा। कछु जावे तन तूं सव त्या न्यारा ॥३॥
कहे तुका तूं भया दिवाना। अपना विचार कर ले जाना ॥४॥

३८२४ कव मरूं पाऊं चरण तुम्हारे। ठाकुर मेरे जीवन प्यारे ॥१॥
जग रडे ज्यांकूं सो मोहि मीठा। मीठा दर आनंद सोहि पैठा ॥२॥
भला पाऊं जनम इहे वेर। वस माया के असंग फेर ॥३॥
कहे तुका धन मानहि दारा। वोहि लिपे गुंडलिया पसारा ॥४॥

३८२५ दासों पाछे दौरे राम। सोवे खडा अपे मुकाम ॥१॥
प्रेम रत्तडी बांधी गले। खेंच चले उधर चले ॥२॥
आपने जनसुं भूल न देवे। कर हि घर आगें वाट बतावे ॥३॥
तुका प्रभु दीनदयाला। वारि रे तुझ पर हुं गोपाला ॥४॥

३८२६ ऐसा कर घर आवे राम। और धंदा सब छोर हि काम ॥१॥
इतने गोते काहे खाता। जब तूं अपना भूल न होता ॥२॥
अंतरजामी जानत साचा। मनका एक उपर वाचा ॥३॥
तुका प्रभु देत दिवेस। भरिया खाली नहिं लेस ॥४॥

३८२७ मेरे राम को नाम जो लेवे वारोंवार। त्वारे पाऊं मेरे तन की पंजार ॥१॥
हांसत खेलत चालत बाट। खाना खाते सोरे खाट ॥२॥
जातनसुं मुजे कछु नहिं प्यार। असतेके हिंदु घेड चमार ॥३॥
ज्याका चित लगा मेरे राम के नाम। कहे तुका मेरा चित लगा त्याके पाव ॥४॥

३८२८ आपे तरे त्याकी कोण वराई। औरनकुं भलो नाम घराई ॥१॥

काहे भूमि इतना भार राखे। दुमत धेनु नहि दूध चाखे ॥२॥

वरसते मेघ फलते ही विरखा। कोन काम अपनी उन्होति रखा ॥३॥

काहे चंदा सुरज खावे फेरा। खिन एक बैठत पावत घेरा ॥४॥

काहे परिस कंचन करे धातु। नहि मोल लुटत पावत धातु ॥५॥

कहे तुका उपहार हि काज। सब कर रहिया रघुराज ॥६॥

३८२९ जग चले उस घाट कौन जाय। नहीं समजत फिर फिर गोते खाय ॥१॥

नहि एक दो सकल संसार। जो वृक्षे सो आगला स्वार ॥२॥

उपर स्वार बैठे कृष्णा पीठ। नहि बाचे कोई जावे लूट ॥३॥

देख हि डर फेर बैठ तुका। जोवत मारग राम हि एका ॥४॥

३८३० भले रे भाई जिन्हें किया चीज। अछा नहि मिलत बीज ॥१॥

फिरत फिरत पाया सारा। मीलत लोले धन किनारा ॥२॥

तीरथ वरत फिर पाया जोग। नहि तलमल तुटत भव रोग ॥३॥

कहे तुका मैं तोकों दास। नहि सिर भार चलावे पास ॥४॥

३८३१ लाल कमली बोढे पेनाये। मोसु हरिये कैसें बनाये ॥१॥

कहे सखि तुझे करति सोर। हिरवा हरि का कठिन कठोर ॥२॥

नहि क्रिया सरम कछु लाज। और सुनाऊं बहुत हे भाज ॥३॥

और नामरूप नहि गोबलिया। तुका प्रभु माखन खाया ॥४॥

३८३२ राम कहो जीवना फल सो ही। हरिभजनसुं विलंब न पाई ॥१॥

कवन का मंदिर कवन की ओपरी। एक राम बिन सबही फुफरी ॥२॥

कवन की काया कवन की माया। एक राम बिन सब ही जाया ॥३॥

कहे तुका सबहि चलणार। एक राम बिन नहि वा सार ॥४॥

३८३३ काहे भुला धनसंपत्ती घोर। रामनाम सुन गाउ हो वाप रे ॥१॥

राजे लोग सब कहे तू अपना। जब काल नहि पाया ठाना ॥२॥

माया मिथ्या मन का सब धंधा। तजो अभिमान भजो गोविंदा ॥३॥

राना रंक डोगर की राई। कहे तुका करे इलाहि ॥४॥

३८३४ काहे रोवे आगले मरना। गंव्हार तू भूला अपना ॥१॥

केते मालूम नहीं पड़े। नव्हे बड़े गये सो ॥२॥

वाप भाई लेखा नहीं। पाछे तूहि चलणार ॥३॥

काले वाल सिपत भये। खबर पकडो तुका कहे ॥४॥

३८३५ क्या मेरे राम कवन सुख सारा। कह कर दे पुछुं दास तुम्हारा ॥१॥

तन जोवन की कौन बराई। व्याधपीडादि सकटहि खाई ॥२॥

कीर्त बघाऊं तो नाम न मेरा। काहे झुठा पछतऊं घेरा ॥३॥

कहे तुका नहीं समजत मात। तुम्हारे शरन हे जोडत हात ॥४॥

३८३६ देखत अखों झुटा कोरा। तो काहे छोरा घर बार ॥१॥

मानसुं किया चाहिए पाख। उपर खाक पतारा ॥२॥

काम क्रोध सो संसार। वो सिरभार चलावे ॥३॥

कहे तुका वो संन्यास। छोड़े आस तन की ही ॥४॥

३८३७ रामभजन सबसार मिठाई। हरि संताप जनम दुख राई ॥१॥

दूध भात घृत सकरपारे। हरते भुक नहीं अंततारे ॥२॥

खावते जुग सब चलिजावे। खटा मिठा फिर पचतावे ॥३॥

कहे तुका राम रस जो पीवे। बहुरीही फेरा वो कवहु न खावे ॥४॥

३८३८ बारवार काहे मरत अभागी। बहुरी मरने से क्या तोरे भागी ॥१॥

ये हि तन करते क्या न होय। भजन भगति करे बँकुंठे जाय ॥२॥

रामनाम मोल नहीं बेचे कवरी। वोहि सब माया छुरावत सगरी ॥३॥

कहे तुका मनसुं मिल राखो। रामरस जिन्हा नित चाखो ॥४॥

तत्त्वविवेचक के दो अतिरिक्त पद

११५४ चुरा चुरा कर माखन खाया। गोलनी का नन्दकुमर कन्हया ॥१॥

काहे बराई दिखावत मोहि। जानत हूं प्रभुपना तेरा खबही ॥२॥

और दात चुन उखल सुं गला। बांध लिया आपना तूं गोपाला ॥३॥

फेरत वन वन गाऊ घरावत। कहे तुकया बंधु लकरी लेले हात ॥४॥

११७२ हम उदास तीन्हके सुनाहो लोकां। रावण मार के विभीषण दिई लंका ॥१॥

गोवरपन नख पर गोकुल राखा। बर्सन लाग़ा जब मेंहुं फत्तर का ॥२॥

वैकुण्ठ नायक काल कौसासुरका । दैत डुवाय सब मंगाय गोपिका ॥३॥

स्तंभ फोड पेट चिरीया कश्यपका । प्रह्लाद के लिये कहे भाई तुकया का ॥४॥

राजस्थान के लोकगीत

[लेखक—श्रीयुत सूर्यकरण पारीक, एम० ए०]

एक समय था जब संसार के सब देशों में मनुष्य प्राकृतिक जीवन व्यतीत करता था। उस का रहन-सहन, अनुभव, आचार-विचार सरल और स्वाभाविक होते थे। कृत्रिमता, झूठा दिखावा, और आत्म-प्रवंचन मानव-विचारों को कम छूता था। उस युग में भी कविता होती थी और आज भी होती है। पर उस कविता में और आज की कविता में जमीन-आसमान का अंतर है। शास्त्रीय बंधनों में जकड़ी हुई, छंद की नपी-तुली हुई नालियों में ढली हुई कविता बनाना मानव बहुत पीछे से सीखा है। कविता पीछे के काल में परिश्रम-साध्य कल्पना, अथवा ऊहा का व्यवसाय मात्र रह गई। इस पीछे की कविता को हम कलात्मक कविता कह सकते हैं। इस के पहले कविता का जो नैसर्गिक प्रवाह बहता था, उस का अवशिष्ट रूप आज हमें लोक-गीत अथवा लोक-काव्य^१ के रूप में मिलता है। दोनों में अंतर यह है कि एक में भावों की कृत्रिमता, रूढ़िवंधन, प्रथाभुक्तता और वैयक्तिक रुचिभिन्नता ही सब कुछ है, तो दूसरी में नैसर्गिक वृत्ति, सरलता, स्वच्छंदता और अव्यक्तता प्रधान है।

साहित्यिक कविता की कल्पना के चमत्कारों से मुग्ध हो कर हम ने लोक-गीतों को अब तक भुलाए रखा था। उन में हमें गैवारूपन की बू आती थी और सम्य सभाज में जिस प्रकार गाँव के एक गँवार के आ जाने से विपमता पैदा हो जाती है, उसी प्रकार का

^१ कुछ लोगों ने “लोकगीतों” को “ग्रामगीत” भी कहा है। परंतु हमारे खयाल से लोक-गीतों को ग्राम की संकुचित सीमा में बाँधना उन के व्यापकत्व को कम करना है। ग्राम और नगरों के भेद अर्वाचीन काल में बढ़े हैं। गीतों की रचना में ग्राम और नगर का इतना हाथ नहीं है, जितना सर्वसाधारण जनता का—‘लोक’ का।

‘ग्रामगीत’ से वास्तव में, आज कल के नगर-ग्राम भेद के अनुसार गाँव के—देहात के—गीत समझना उपयुक्त होगा। हम ने इस निबंध में इन शीर्षकों का इसी व्याख्या के अनुसार अर्थ लिया है।

वैषम्य हम को लोक-गीतों में मालूम होता था। पर हमारे सौभाग्य से अब नई लहर उठ चुकी है। जिस प्रकार और और बातों की ओर, वर्तमान काल में, हमारा ध्यान पश्चिम का अनुकरण कर के गया है, उसी प्रकार लोक-साहित्य की ओर भी उन की देखादेखी अब हम अभिमुख होने लगे हैं। यह समय के परिवर्तन का लक्षण है।

इंग्लैंड में लोकगीतों की ओर पहले-पहल ध्यान तब गया, जब विशप परसी ने सत्रहवीं शताब्दी के मध्य में (सन् १६५० ई०) गीतों के एक प्राचीन संग्रह की खोज की। उस के बाद वहाँ प्रसिद्ध उपन्यास-लेखक सर वाल्टर स्कॉट ने लोकगीतों के सौंदर्य की ओर जनता के हृदय का आकर्षण किया और उन का उपयोग यत्र-तत्र अपनी रचनाओं में किया। इस के उपरांत लोक-साहित्य के पक्ष में एक प्रवल लहर उठी, जिस ने बहुत से साहित्यिक महापुरुषों और कवियों को प्रतिभान्वित किया। परंतु इस ओर सब से अधिक सचेष्ट और संयत प्रयास आधुनिक काल में अमेरिका के कुछ अव्यवसायी विद्वानों ने किया, जिन में प्रोफ़ेसर एफ़० जे० चाइल्ड का नाम विशेष प्रख्यात है। जिन्होंने ने स्काटलैंड और इंग्लैंड के एक-एक लोकगीत को खूब छानबीन के साथ खोजा, यूरोप के अन्य देशों में प्रचलित और प्राप्त उन गीतों के रूपांतरों का मिलान किया और उस अद्भुत ग्रंथ का निर्माण किया जिस पर अंग्रेजी साहित्य आज गर्व करता है और कहता है कि 'किसी देश के लोक-गीत इतने अच्छे नहीं हैं जितने इंग्लैंड और स्काटलैंड के'। इस गर्वोक्ति का जवाब तब तक नहीं दिया जा सकता जब तक हमारे देश में प्रो० चाइल्ड जैसे उद्भट विद्वान् और परिश्रमी अन्वेषक पैदा न हों।

हमारी ऐसी धारणा है कि लोक-साहित्य की उपज के लिए भारतवर्ष से बढ़ कर उर्वर दूसरा देश पृथ्वीतल पर शायद ही कोई रहा हो। इस देश के हरेक प्रांत में, हमारी प्रादेशिक बोलियों में हजारों गीत अब भी प्रचलित मिलते हैं। परंतु हमारी यह अमर संपत्ति दिनोंदिन क्षीण होती जा रही है, इस में संदेह नहीं है, और आश्चर्य नहीं, यदि वह एक दिन लुप्त हो जाय। पर फिर भी इस जमाने में परिश्रमी अन्वेषकों को हजारों की तादाद में उत्तम गीत मिल सकते हैं। गुजराती, मराठी, बँगला आदि भाषाओं में इस ओर पर्याप्त ध्यान रहा है, और उन भाषाओं की गीत-संपत्ति अच्छी है। देशभाषा हिंदी में भी इस मार्ग में पंडित रामनरेश त्रिपाठी ने स्तुत्य प्रयास किया था, और उन का वह उत्साह स्थायी गति से बना रहता तो गीतों का अच्छा उद्धार हो जाता। कुछ ऐसे महानुभाव भी इस क्षेत्र में

अवतीर्ण हुए जिन्होंने न केवल हिंदी के वरन् देश के भिन्न-भिन्न प्रांतों के लोकगीतों का संकलन अपना उद्देश्य बनाया है। श्री देवेंद्र सत्यार्थी ऐसे ही कर्मठ विद्वानों में से हैं।

राजस्थान प्रदेश लोकसाहित्य की संपत्ति में अन्य किसी प्रांत से कम नहीं उतरेशा, ऐसा हमारा अनुमान है। परंतु राजस्थानी गीतों के संबंध में एक अखरने वाली बात हमें दिखाई पड़ती है, जिस पर विचार करना यहाँ अनुचित न होगा। इधर पिछले कुछ वर्षों में राजस्थानी गीतों के कई एक सस्ते, बाज़ारू, कुरुचि-संपन्न संग्रह प्रकाशित हुए हैं, जिन का प्रकाशन न तो प्रकाशकों को ही शोभा देता है, और न उन के संपादकों को। यह एक संकोच-जनक बात है। इन संग्रहों में अधिकांश में वर्तमान काल के गंदे गीत ही प्रकाशित हुए हैं, पुराने सुरुचि-संपन्न गीत बहुत थोड़े हैं। इन को पढ़ कर अन्य प्रांतों के गीत-प्रेमी भाइयों को यह विचार हुए बिना नहीं रहता कि राजस्थान की गीत-संपत्ति हीन कोटि की है। परंतु मैं विश्वास और अनुभव के साथ कहूँगा कि यह राजस्थान के लोकगीतों का अपराध नहीं है, यह तो संपादन की कुरुचि और अयोग्यता का द्योतक है;^१ स्वेच्छाचारी युवकों और विपयी लोगों की वासना को उत्तेजित कर के धन कमा लेने की इच्छा रखने वाले साहित्य-व्यापारियों का अपराध है। इन लोकगीतों से राजस्थान की काफ़ी बदनामी हो चुकी है; साथ ही यह कहने में मुझे किसी प्रकार की हिचकिचाहट नहीं है कि राजस्थानी का लोकगीत-भांडार खूब भरा-भूरा है, संस्कार-युक्त है, आदर्श-मय है और अपनी उत्तमता, विशुद्धता और मनोरमता के बल पर वह किसी भी प्रांत, देश अथवा भाषा के लोक-साहित्य से टक्कर ले सकता है। राजस्थान के साहित्यिक काव्य और इतर रचनाओं से किसी को सहानुभूति न हो तो न हो, परंतु एक बार इन लोक-गीतों का अध्ययन कर लेने वाले सहृदय को इन पर मुग्ध होना ही पड़ेगा। यह मिथ्या-गर्वोक्ति नहीं, सत्य है। परंतु यह ध्यान में रखना होगा कि राजस्थानी के प्राचीन लोक-गीत ही उत्तम हैं, सुरुचि-संपन्न हैं, सत्साहित्य हैं और वही राजस्थान के लोकगीत कहलाने के अधिकारी हैं। उन्हीं को लक्ष्य कर के हम ने यह कथन किया है। पिछले

^१ ऐसा नहीं है कि गीतों के अच्छे संग्रह राजस्थानी में प्रकाशित हुए ही नहीं। खेद इस बात का है कि अच्छे संग्रहों की अपेक्षा बुरों की संख्या और प्रचलन अधिक है। अब तक प्रकाशित संग्रहों में कुँवर जगदीशसिंह गहलोत का 'मारवाड़ के ग्रामगीत' अच्छा संग्रह है। परंतु उस में बहुत थोड़े गीत हैं।

पचास-सौ वर्षों में बनने वाले अधिकांश गंदे, बाजालू, सीठनों से भरे, गीतों के साथ हमारी बिल्कुल सहानुभूति नहीं है।

लोक-गीत साहित्य के क्षेत्र में राजस्थान को भारत के अन्य प्रांतों से भिन्न समझना भी भूल ही है। साहित्य के अन्यान्य विभागों में राजस्थान भारत के इतर प्रांतों से चाहे कितना ही भिन्न हो, पर भाषा और लोक-गीतों के क्षेत्र में हमें स्पष्टतः एक ऐसा व्यापक ऐक्य-सूत्र फैला हुआ मालूम होता है, जो उत्तर भारत के एक कोने से दूसरे कोने तक समरूप से प्रसारित है। गुजराती, राजस्थानी, मध्यप्रांतीय, विहारी गीतों में विलक्षण साम्य है। ऐसा मालूम होता है मानो गीत की दुनिया में लोकहृदय की सरस तरंगें उत्तर भारत के सभी प्रदेशों में समरूप से तरंगित हुई हैं। उन का आकार-प्रकार, संस्कार, अभिव्यक्ति, कल्पना और रूढ़ियाँ प्रायः एक-सी हैं। एक विशाल समुद्र के वक्ष पर जिस प्रकार क्रीड़ा करती हुई स्वच्छंद तरंगें दूर से देखने पर भिन्न रूप और रंग की मालूम होती हैं—कहीं नीली, कहीं सफ़ेद और कहीं-कहीं हरी झलकती हैं, पर वास्तव में वे सब एकरंगी होती हैं—उसी प्रकार भाषा और शब्दों के ऊपरी भेदों को हटाने के बाद, वही संस्कार, वही कल्पनाएँ, वही रूढ़ियाँ और वही कोमल भावनाएँ, हम को भिन्न-भिन्न प्रादेशिक गीतों में मिलते हैं। इस का प्रमाण तुलनात्मक दृष्टि से इन भाषाओं के गीत-भांडार को पढ़ने से मिल सकता है। संक्षेप में कुछ तुलनात्मक उदाहरण नीचे जुटाए जाते हैं।

पहले गुजराती-राजस्थानी गीत-साम्य के उदाहरण ही लीजिए—

गुजराती

राजस्थानी

१—“कान कुँवर नी झूलड़ी” गीत नं०

२४, रूढ़ियाली रात, भाग २, पृ०

३५—जिस की टेक इस प्रकार है:

“कोई नें जड़ी होय तो देजो, मारा

कान कुँवर नी झूलड़ी।”

१—इस का राजस्थानी प्रतिरूप प्रचलित

है—“कोई नें लाधी होय तो दीजो रे

म्हारा कान्हूकँवर री झूमरी”।

२—“तनें वा लुँ कोण ?” गीत नं० ५०,

२० रा०, भाग २, पृ० ६९। इस

गीत की टेक है—“राती रे रंग चूड़ी

ल्यो”।

२—टेक में नहीं परंतु भावों में ठीक मिलता-

जुलता हुआ राजस्थानी गीत है—

“ढोला-मारणी” जिस की टेक है—

“धामू जी पाक्या नीवूं पाकण लाग्या”।

गुजराती

- ३—“कुंजड़ली रे” गीत नं० ५३, २०
रा०, भाग २, पृ० ७४। इस गीत
की पहली चार पंक्तियाँ राजस्थानी
गीत में थोड़ी शाब्दिक भिन्नता के
साथ मिलती हैं। गीतः—
कुंजड़ली रे संदेसो अमारो।
जाइ वालम ने के जो जी रे।
माणस होय तो मुखोमुख बोले।
लखो अमारी पाँखड़ली ॥

- ४—“रंग भीलड़ी” गीत नं०, ९२, २०
रा०, भाग २। यह जसमा दे ओ-
डणी के सतीत्व का गीत है।

- ५—‘तेजमल’। गीत २०, रा०, भाग ३,
पृष्ठ, २४।

राजस्थानी

- ३—इसी भाव का गीत राजस्थानी के
‘संदेसा’ के गीतों में है। पहली दो
पंक्तियाँ “कुरझी” गीत में मिलती
हैंः—“उडती कुँझड़ियाँ संदेसो म्हारो
पिव ने दे जो रे। उडती०॥
यही चारों पंक्तियाँ और गुजराती
गीत का अधिकांश भाव एक दूसरे
गीत में मिलता है—पीछे की दो
पंक्तियों का राजस्थानी रूप यों हैः—

माणस हवाँ तो मुप कैवाँ,
म्हाँ सूँ कह्यो प न जाय ॥
लिख म्हारी सोवन चाँचली ,
ए गोरी अरे रतनाळी पाँख ॥

- ४—राजस्थानी में भी ‘जसमा ओडणी’
और ‘सुरता भीलणी’ नाम के प्रसिद्ध
नारी-सतीत्व के गीत हैं, जो बहुत
कुछ मिलते हैं।

- ५—यही गीत थोड़े हेर-फेर के साथ
राजस्थान में ‘सजना’ के नाम से प्रसिद्ध
है। बूढ़े ठाकुर के कोई लड़का नहीं था,
जो बुढ़ापे में उस के एवज में राजा की
चाकरी बजा सकता। राजा का पर-
वाना आया। ठाकुर न जा सका।
बड़ा चित्तानुर हुआ। इकलीती कन्या
सजना ने पिता की चिंता को ताड़

गुजराती

राजस्थानी

लिया और नारी होते हुए भी वेप
वदल कर इस पितृभक्त कन्या ने १२
वर्ष तक पिता के एवज में राजा की
सेवा की।

इसी प्रकार बहुत से गीत हैं, जिन का गुजरात में गुजराती रूप प्रचलित है और
राजस्थान में राजस्थानी रूप। भाव प्रायः एक से हैं। अनुमानतः उद्गम भी एक ही
प्रतीत होता है।

अब हिंदी-राजस्थानी गीत-साम्य के कुछ उदाहरण भी नीचे दिए जाते हैं—

हिंदी

राजस्थानी

१—गीत नं० ५४, कविता-कौमुदी, भाग

५। गीत का आरंभिक भाग यों

है:—“राहड़ पर एक कुँइया सँवरि
एक पानी भरै”।

२—गीत नं० ५८, क० कौमुदी, भाग,

५। सोहर के गीत। आरंभिक
पंक्तियाँ—“बदरी जाइ बरसहु उही
देस जहाँ पिया कोइ करै”।

३—गीत नं० ७, विवाह के गीत क०

कौमुदी, भाग ५, पृ० १४५। पुरुव
पछिम मोरे बाबा क सगरवा पुर-
इनि हालर देइ।

तेहि घाटे दुलहं बोतिया पत्तारें
पूच्छै दुलहिन देई बात ॥

४—गीत नं० १८, विवाह के गीत, क०

कौ० भाग ५, पृष्ठ १६१।

१—यह गीत राजस्थानी के प्रसिद्ध गीत

“पणिहारी” के भावों से मिलता है।

‘पणिहारी’ का गीत आगे इसी निबंध
में उद्धृत किया गया है।

२—इसी से मिलता-जुलता भाव राज-

स्थानी गीत ‘बदली’ में है—“मेरे
पिया के देस बरस बदली”।

३—यही भाव राजस्थानी वैवाहिक गीतों
के अंतर्गत ‘जँवाई’ के गीतों में है:—

हाँ रे वाला इण सरवरिया री पाळ,
जँवाई बोवे बोतिया जी म्हारा राज।

४—पुत्री के पिता के घर के पुत्र के पिता
के घर के लोगों से सदा हलके रहते

हिंदी

गिरि नवै पर्वत नवै,
हम तो ना नइओं ।
बेटी तोहरे कारन,
हम जग में माथ नवाये ॥

राजस्थानी

हैं—यह वैवाहिक प्रथा है । पुत्री अपने
बाप, भाई, दादा, काका, ताऊ सब को
समझा कर पूछती है—मेरे कारण
सब क्यों नीचा देखें ? पुत्री सब के
घर पैदा होती है । इस पर वे लोग
सब यही उत्तर देते हैं—

कोट नवै परवत नवै,
और नवैय न कोई ।
वाई को दादोसा यूँ नवै,
जिण घर पोती जायी ॥

५—गीत नं० २८, विवाह के गीत,
क० की०, भाग ५ ।
बेटी की विदाई का गीत—“ऐसन
वपैया घर छोड़ि क बेटी, कहूँवा
चली” ।

५—राजस्थानी में बेटी की विदाई के समय
पीहर वालियों के गाने के गीत को
“ओळ्यूँ” कहते हैं । ‘ओळ्यूँ’ बहुत
हैं—उन में से यह बहु-प्रचलित है
“थारो इतरो बावो सा’रो राड,
कोयलड़ी सिध चाली ॥”

६—गीत नं० ४६ और ४९, क० की०,
भाग ५ । विवाह के गीतों में अपनी
संतान के विवाह में वहिन भाई को
निमंत्रित करती हैं । वहिन का भाई
के लिए प्रेम वर्णित है । आरंभ इस
प्रकार है—
अरे अरे काला भैवरवा
आंगन मोरे आवो ।
भैवरा आजु मोरे काज,
बियाह नेवत द आवो ॥

६—भाई-वहन का प्रेम राजस्थानी ‘भात’
के गीतों में बहुत सुंदरता के साथ
व्यक्त हुआ है । यह गीत आगे के
उदाहरणों में संपूर्ण उद्धृत किया गया
है । भाव हिंदी गीत से ज्यों का त्यों
मिलता है । आरंभ इस प्रकार है—
उड बायसड़ा म्हारे पीयर जा,
नूँ त पीयररा भातबीजे ॥

हिंदी

- ७—गीत नं० ३४, जाँत के गीत, क०
कौमुदी भाग ५, पृष्ठ ३३९
सात सखिन के झूमटे,
सुंदरि पनियाँ के जायँ ॥

- ८—गीत नं० ६, हिंडोले के गीत, क०
कौमुदी, भाग ५, पृ० ४०९।
ठाढ़ी झरोखवा में चित्तवडै,
नैहरे से केउ नाहीं आइ ॥
.....
चुनरी ले आवडै विरत मोरा,
जेकरि वहिन दुलारि ॥

- ९—गीत नं० २९, हिंडोले के गीत,
क० कौमुदी, पृष्ठ ४३७।
एक करैली हम बोवा,
अरे करैली पसरि बबैया जिउ के देस ॥
पसरत पसरत पसरि गई,
पसरि है रन बन देस ॥

- १०—गीत नं० ३, कोल्हू के गीत, क०
कौ० भाग ५, पृ० ४५०। बनजारे
का गीत है। बनजारी पति के साथ

राजस्थानी

- ७—पनिहारिन का ठीक इसी प्रकार का
दृश्य प्रसिद्ध राज० गीत 'पणिहारी'
में है। पूरा गीत आगे उद्धृत किया
गया है। उसी गीत में यह पंक्ति
भी है—

सात सहेलियाँ रे झूलरै।
पणिहारी ए लो।
पाणीड़े नें गई रे तळावा।
वा'ला जो ॥

- ८—यही भाव भात के कई गीतों में आया
है, जहाँ वहिन उत्सुकता पूर्वक भाई
के आने की वाट जोह रही है।
आयो छः मा को जायो वीर,
हीरों जड़ ल्यायो चूनड़ी।
.....,
ओढ़ाई घणदेवा चूनड़ी ॥

- ९—यही भाव है—'आम्बो मोरियो' गीत
में—आरंभ यों होता है—
दोय डूंगराँ विच वेल पसरी,
वीर के आँगन आँवो मीरियो ॥

- १०—इसी आयय का राजस्थानी गीत
"विणजारा" है—
विणजारी कहती है—

हिंदी

चलने का प्रस्ताव करती है—

मोर कौड़ी क लोभी,

फिरी घर को।

वेरिया की वेर तुम्हें वरजाँ, हो

नैका कि हम का गोहन ले लिया।

राजस्थानी

विण जारा रे लोभी,

चालूंगी वाळद के साथ।

गोडो तो देय लदायं छूँ।

विणजारा रे।

ऊपर कुछेक विशेष समता वाले स्थलों की तुलना की गई है। यह समता विशेषतः शाब्दिक है। संस्कृति और कल्पना के विस्तृत क्षेत्र में इन भाषाओं के लोक-गीतों में कितना अधिक साम्य है, यह तो इन भाषाओं के लोक-गीतों का अध्ययन करने वाले सहृदयों को मालूम हो सकता है।

गीतों की दुनिया ही निराली है। उस के उपमान और विशेष रुढ़ियाँ और परिस्थितियाँ भी प्रादेशिक सीमाओं का उल्लंघन कर के समरूप से प्रायः सभी प्रांतों में प्राप्त होती हैं। यहाँ पर कुछ साधारण भावनाओं को एकत्रित किया गया है:—

(१) चंदन, नींबू, नारंगी, नीम आदि वृक्षों को पारिवारिक और कौटुंबिक जीवन का प्रतीक मान कर उन की समृद्धि द्वारा जीवन की समृद्धि और उन के ह्रास द्वारा जीवन का ह्रास लक्षित करना—गीतों में—हिंदी-राजस्थानी और गुजराती, इसी प्रकार अन्य प्रादेशिक भाषाओं में भी माना गया है। राजस्थानी गीतों में इन के अतिरिक्त, आम, इमली, बबूल, पीपल, बड़, कंसूव, के वृक्षों का भी इस लाक्षणिक अर्थ में प्रयोग हुआ है।

(२) चील, तोता, कुरझ (कुंजपक्षी), कौआ, आदि पक्षियों का प्रेमियों के बीच प्रेम का संदेश वाहक हो कर आना गीतों में सर्वत्र मिलता है। हिंदी में चील और कौए की प्रधानता है तो राजस्थानी में कुरझ और कौए की।

(३) बहू का समुराल में अस्वतंत्र और संतापयुक्त जीवन और उस का सास, जेठानी, ननद के व्यंग्य, वाणों से विद्रोह कर रहना, तथा घर के कार्यभार से लदे रहना—गीतों में साधारणतः सर्वत्र मिलता है। समुराल में उस का पति ही उस का एक आश्रय है और इस यातनामय जगत में वह उसी के प्रेमाश्रित की आशा से जीती है।

(४) इस के विपरीत बहू के सुख-स्वप्नों का केंद्र उस का पीहर है और वह उसी की

ओर टकटकी लगाए निहारती है। भाई और पिता के लिवा ले जाने की आशा उस की जीवनलता को हरी-भरी रखती है और इस आशा के साथ उस की अनेक सुखद कल्पनाओं का योग गीतों को कण्ठ और कोमल भावों से भर देता है।

(५) चरखा, चक्की, सरोवर, कुँआ, खेत आदि संस्थाएँ गीतों की दुनिया में सुरम्य स्तंभ हैं, जिन के इर्द-गिर्द लोक-काव्य की सुंदरतम कल्पनाएँ केंद्रीभूत हुई हैं। ऋतु, मेले, त्यौहार और पर्वों ने भी हज़ारों गीतों को जन्म दिया है।

(६) सम्मिलित-कुटुंब-प्रथा ने हिंदू गृहस्थ में यद्यपि अनेक कोमल और सुख-प्रद भावनाओं का उत्पादन और निर्वाह किया है, तथापि वही के जीवन-विकास के लिए वह यत्रतत्र घातक ही सिद्ध हुई है। यह धारणा गीतों में सर्वत्र मिलती है।

गीत-साहित्य के उद्धार और अध्ययन से वर्तमान युग में क्या लाभ हो सकता है, यह एक विचारणीय प्रश्न है। विकास के इस युग में जब हमारी आगे की बढ़ी हुई आकांक्षाएँ नया ज्ञान, नई भावनाएँ और नए मार्गों की ओर झुकी हुई हैं, तब प्राचीन काल के इन मुर्दा चित्रों और वासी संस्कृतियों को ग्रहण करने से क्या प्रयोजन ? पर विचार कर देखा देखा जाय तो बात ऐसी नहीं है। व्यतीत काल के उन सरल, स्वाभाविक और निश्छल मनोभावों में हमें सत्य, शिव, सुंदर की अपार निधि मिलती है, जो समय की सीमा का उल्लंघन करती हुई स्थायी रूप में सत्य की शिला पर प्रतिष्ठित है; जिस को सर्वथा त्याज्य समझ कर ठुकरा देना अथवा भुला देना मूर्खता ही नहीं जातीय आत्मघात होगा।

लोक-गीतों में व्यक्त जीवन कितना स्वस्थ, कितना स्वाभाविक, कितना सुंदर, कितना निर्मल, पुष्ट और सजीव है, यह कहने की आवश्यकता नहीं है। जिस काल के परिचायक ये गीत हैं, वह वास्तव में कितना मधुर और पूर्ण रहा होगा, यह कल्पना ही हमारे वर्तमान सामाजिक जीवन की अनेक विषम जटिलताओं और संतापों का शमन कर सकती है। जिस काल में प्रत्येक समाज और व्यक्ति के दैनिक कार्यों में मधुर संगीत का बालाप ध्वनित होता था, वह काल वास्तव में स्वर्णीय काल था। गांव में हमारी माताएँ और बहिनें बाज भी ब्राह्म मुहूर्त में उठ कर झाड़ू देती हुई, दूध दुहती और दही बिलोती हुई, गाय-भैंसों की सेवा करती हुई—गाती हैं। वे चक्की पीसती हुई गाती हैं, जलाशय अथवा कुएँ से जल लाती हुई गाती हैं। उन के गीतों में घरेलू जीवन के आदर्श प्रेम की भावनाएँ तरंगित होती हैं। स्त्रियाँ ही क्यों, हमारे गांव के भाई भी किसी दैनिक कार्य को संगीत की लय

के सहारे बिना नहीं करते। कुँए से जल खींचते, हल चलाते, कपड़ा बुनते, मजदूरी करते, खेत निराते, धान कटाते, और खेत को जाते-आते गीत की ढेर लगाते सुनाई देते हैं। गीतों का इतना घना सामंजस्य उन की दिनचर्या में हुआ है। फिर पुत्रोत्पत्ति, षोडश संस्कार, उपनयन, विवाह, त्यौहार, देवपूजा, ऋतुओं और पर्वों पर तो सुमधुर संगीत की सरिताएँ किनारों तक उतरा कर बहती हैं। भारतीय जीवन संस्कृति के संगीत के बिना कल्पना करना ही असंभव है। यह कहने से हमारा आशय यह नहीं है कि हमारा प्राचीन जीवन सब अंगों में सर्वोत्कृष्ट था और उस में किसी प्रकार की कोई कमी नहीं थी। वह जैसी भी दशा में रहा हो, गीत उस के साथ छाया की तरह लगा था।

राजस्थानी गीतों के क्षेत्र-विस्तार की कल्पना निम्नलिखित तालिका से की जा सकती है, जो हमने प्राचीन गीतों के प्रचलित रूप को ध्यान में रख कर बनाई है। यह सूची अपूर्ण है। बहुत से विषय और क्षेत्र इस तालिका से छूट गए होंगे। इस ओर खोज की कमी है। हमारा अनुमान है कि खोज करने पर हज़ारों की तादाद में नए गीत मिल सकते हैं—मीखिक-परंपरा, व्यवहार अथवा पुरानी हस्तलिखित पोथियों में।

(१) देवी-देवताओं और पितरों के गीत—यथा—भगवान्, गणेश, विनायक, महादेव जी, सूरज जी, माता जी, भैरव जी, मावल्याँ जी, हनुमान जी, बाबाँ जी, पितर-पितराँगी (स्वर्गीया सौत), भोमियो, पंचपीर, सेढल, सीतला, जळदेवता, सतीरांणी, झालर (देवताओं का सामूहिक स्मरण उपासन)।

ये गीत राती-जगा (रात्रि-जागरण) के समय विशेषतः गाए जाते हैं। पृथक्-पृथक् मांगलिक अवसरों पर भी गाए जाते हैं।

(२) ऋतुओं के गीत—यथा—सावण, जाडो, चोमासो, वारहमासो आदि।

(३) तीर्थों के गीत—यथा—चार घामों के पृथक्-पृथक् गीत। इसी प्रकार और तीर्थों के भी गीत हैं।

(४) व्रत-उपवास, त्यौहारों के गीत—सावण के गीत (जिन में भाई-बहिन का प्रेम और लड़की का पीहर-प्रेम विशेषतः प्रदर्शित है), तीज, गणगीर, चौय, तुळटी, लछमी जी, घुड़ले के गीत, दिवाली-होली के गीत, भैया दूज, राखी पूनम, सीळ सात्यों के गीत आदि।

(५) संस्कारों के गीत—गर्भाधान, साध अथवा आस पुरावणों, जन्म संवंधी (हालरो), नामकरण, धाम, दाई, पालणो, लोरी, जनेऊ के गीत। चीणोटियो, पीळो, जच्चा-पीपळी।

(६) विवाह के गीत—सगाई के गीत। विनायक, धवल, मंगल, हळदी, पीठी, तेल चढ़ाते समय के। मेंहदी, बरात के चढ़ते और लौटते समय के। शकुन। वनड़ा, वनड़ी, घोड़ी, वनोरों के गीत। वैवाहिक प्रथा-विशेष के गीत—यथाः—सोमेळो (सम्मेलन) कांमण, कँवर-कलेवो, तोरण, जुवा, काकण-डोरडो, भाँवर (फेरा), सेवरा। ववावा, जात (देव-यात्रा)। बरात (जान) के भोज के समय के, यथा, भात बाँधना। भात (माहेरो)—ब्रह्म की संतति के विवाह में भाई की ओर से बहन को दातव्य। जँवाई के गीत। जीजा जी। पहरावणी, समठूणी (दहेज) के गीत। लड़की की विदाई के समय के गीत—ओळ्यूँ विदाई के समय के वधावे। मुकलावा (गीना), जलो, हरियाळो, ढाड़ियों के वैवाहिक गीत। वैवाहिक राती-जगा के गीत।

(७) भाई-बहन के प्रेम के गीत—भात (माहेरो) और तीज के गीतों में अधिकांश यही हैं। सूवटो, संदेशा।

(८) साळी-साळेल्याँ (सरहज) रा गीत—यथा—भाँग, गादी आदि छुडखणा। जरद रुमाल, ढोलियो आदि।

(९) पति-पत्नी के प्रेम के गीत (संयोग में)—प्रेम-प्रतीक वृक्षों के गीत, यथा—आँवों, अमली, नींदू, नीमड़लो, वड़लो, बाँवळ्यो, नारंगी, पीपळी, कसूवो, मरवो आदि। जलाल, पनजी, भूमल, हिंडोला, नीदड़ली, जलो (संयोग का), मिरगानैणी, लहूर्यो, चूँळी चीणोटियो, ढोलो-नारणी, काँकरड़ी आदि।

पति-पत्नी के प्रेम के गीत (वियोग में)—ओळ्यूँ, निहालदे, संदेश (पक्षियों द्वारा), कुरझाँ, बाओपोक्तियाँ, वेकयंभियो महल, पीपळी, नागजी, पपंयो, सूवटो, सपनो, नीमड़ी, पना-भाह, उमराव, मिरगी, बदळी, सावणियो।

(१०) पणिहारियों के गीत—पणिहारी, पाणीड़ी, सरवर।

(११) प्रेम के गीत—चारणी, चुरता, नीलशी, ऊमादे-भारमली आभल-खींदरो।

(१२) चक्की पीसते समय के गीत—अनेक हैं।

(१३) बालिकाओं के गीत—चाँद चढ्यो गिगनार, वादली, कुळिया काचर, फूलाँरी सोळी-होळी, घुडले और गौर के गीत, कान्हू कँवर री सूमरी, मोरियो, काळी कोयलड़ी, अटूत्यो, चार चिरम्याँ, । इन में कुछ गीत, तीज गौर, होळी और सावण के भी शामिल हैं।

(१४) चरखे के गीत।

(१५) प्रभाती गीत—इन में हरजस (हरियश) अधिक होते हैं। यया—धूजी, राधाकृष्ण के प्रेम के गीत, कृष्ण की बाललीला के गीत, रामायण-संबंधी गीत, शांतरस के नीति-संबंधी गीत आदि।

(१६) हरजस—राधा-कृष्ण प्रेम के गीत—इन में बहुत से भजनों में मीरा, चंद्रसखी, का नाम पाया जाता है। रामायण-संबंधी। इतर पौराणिक कथा-संबंधी। भागवत-संबंधी और शांतरस के नीति, उपदेश, विनय-संबंधी गीत।

(१७) धमालें—जिन्हें विशेषतः होली के अवसर पर पुरुष गाते हैं। प्रायः हरजस और उपदेशप्रद भजनों के ढंग के गीत होते हैं। गाँवों में बहुत प्रचलित हैं।

(१८) देश-प्रेम के गीत—यया—वालो देस।

(१९) राजकीय गीत—यया—धूसो।

(२०) राजदरवार, मजलिस, शिकार, दारू के गीत—यया—सूवरियो, दारूड़ी, अमलियो तमाखू।

(२१) जम्मे के गीत—वीरों और सिद्ध पुरुषों, महात्माओं की स्मृति में रक्खे हुए जागरण को 'जम्मा' कहते हैं। यया—रामदेव जी, पावू जी के जम्मे। परड़, पर-वाड़ों के गीत।

(२२) सिद्ध पुरुषों के गीत—गूगो, रामदेजी, पावूजी, हड़वूजी, तेजोजी, भमतो सिध, केसरोजी, मालदेजी, त्यांमजी, फरणीजी, इत्यादि।

(२३ क) वीरों के गीत—जोरसिध, जगदे पँवार (दानवीर), डूंग जी जवार जी, लोटियो जाए जगदेव को छोड़ कर बाकी आधुनिक काल के वीर हैं।

(२३ ख) ऐतिहासिक गीत—राणो रतन, जेतल, अचलदास भटियाणी, जसमा, ओडणी, वध्यो मीणों, परतू, मंगलदास (आधुनिक)।

(२४ क) गवालों के गीत—विणजारों के गीत, रेवारियो (ऊँट के चरवाहों) के गीत, खेड़ चराने वालों के गीत। कृपकों के गीत। यथा—‘वनवारी हो लाल’ प्रसिद्ध गीत आगे उद्धृत है।

(२४ ख) हास्यरस के गीत—खटमल, मोड़ियो जती, माखी, वाँभीड़ो, बिछूड़ो, रेजो, जुवारमल।

(२५) पशु-पक्षी-संबंधी—कबूतर, कमेडी, सूवो, गऊ माता, मिरगी, खोड़ो मिरगलो।

(२६) शांतिरस के गीत—उपदेश और नीतिप्रद गीत, भजन और हरजस के ढंग के।

(२७) गाँवों के गीत (ग्राम-गीत)—खेती-संबंधी। फूली रे लाँकी, वनवारी हो लाल, सावण, मेहूड़ो, करला गाजणा, चरखलो, झूंपड़ी, खीचड़ो, हाळी, ऊँट लादिवो, कूवो, झूंटणिया, विणजारो, वारहमासियो, जँवाईड़ा (हास्यप्रद), ग्रामीणों की ओळ्यूं।

(२८) नाट्य-गीत—यया—हरियाळो।

(२९) विविध—मीठो खरबूजो, गाजर झवराळी, सजना। और भी बहुत से गीत।

गीतों की दुनिया

लोक-गीतों में प्राचीन काल के संस्कारों और मानव-मनोविज्ञान का अच्छा दिग्दर्शन मिलता है। ये संस्कार जीवन के प्रत्येक कक्ष में घुले हुए मिलते हैं। हज़ारों की संख्या में गीत हैं। किसी गीत को उठाइए उपमानों, रुढ़ियों, प्राकृतिक परिस्थितियों, मानव-हृदय की प्रेरणाओं और जीवन की जटिल स्थितियों में ये संस्कार मिलेंगे। इन सब में उस विशुद्ध पुष्ट एवं प्रेममय स्वभाविक जीवन की व्यापकता का पता लगता है जो गीतों में वर्णित है और आजकल के कृत्रिम जीवन से जो बहुत अंशों में भिन्न है। विस्तृत अवतरणों सहित उदाहरण देना असंभव जान कर गीतों की दुनिया के कुछ सांस्कृतिक पारिवारिक जीवन-संबंधी उपमानों अथवा कल्पनाओं का विश्लेषण नीचे कर दिया गया है—

(क) पति के उपमान—भेंवरजी। बिलालो। साँवळियो मोट्यार। झिलती

जोड़ी रो भरतार, बाँटीलो-हठीलो-वादीलो-मिजाजीडो। ऊंगतो सूरज।
लाल नणद रो वीर। रंगभीनो। अंधियारे घर रो चानणो। चुड़ले रो सिण-
गार। रंगरसियो। मारु-ढोलो। लसकरियो। केसरियो भरतार। हिवड़े
रो जिवड़ो। नटवरियो। साँवळियो सिरदार। नणदल वाई रो वीर बाँकड़ली
मूछ्याँ रो जलाल। मरद मूँछाळो। गाढा-मारु जी। भर जोड़ी भरतार।
मद छकिया मन भरियो।

(ख) वीर-पति और उस की वेध-भूषा—

लीली घोड़ी हाँसली, अलवेलो असवार।
कड्याँ कटारी बाँकड़ी, सोरठड़ी तरवार ॥
ढाल-गींडेरी। लाल-कमाण। वीर के कपड़े—पाँचू। शेजाँ रो माँझी। खँवे
वंदूक।

पुरुष के शृंगार की वस्तुएँ—वागो केसरी। माथें म्होर गज पाग। सिर
सवालाप को पेचो। लाखीणी मोजड़ी (जूती)। पिचरंग पेचो।

(ग) पत्नी के उपमान—मिरगानेणी। पूगळ री पदमणी। मिजाजण-तनक मिजाजण।
गजगहणी। सदा मुरंगी नार। केसर वरणी गोरी। चीतालंकी। बाळकवण।
माणेतण। कुळवहू। सूरज जिसो उजास। चाँद जिसी ऊजळी। ऊजळ-दंती।
नाजुकड़ी-नाजो।

(घ) कुटुंब के संबंधी—नखराळी भावज। सासू सावकी। देवरियो नखराळो छिण-
गारो। सगरय पाँवणा (ननदोई-पाहुना)। भूवा चोरटी। अंबर सरीसो
सुसरो। धरती सरीसी सास। सुसरोजी इंदरगढ़ रा राजवी। सासूजी पूंगळ
गढ़ री पदमणी। जेठजी पून्यूँ केरो चाँद। जळहर जामी बाप। रातादेयी
माय। कान्हू कँवर सो वीरो। राही (राधा)सी भोजाई। साँवळियो-वहनोई।
झाड़ू देवण-भूवा। हाँडाधोवण फूफो। भावाँ केरी वैनड़, चिड़कली बाज उई
परभात। जेठाणी नारादूती नार, लडोकड़ी, कळहगारी। देराणी नानकड़ी
वाळी भोलीनार। वहन सावणिये री तीजणी। नणदल आभा बीजळी—ऊन्हाळे
री बळतीलाय। सास सपूती। स्त्री को कोख—रतनारी खाँण। जच्चा—
पीपळी। वहन-जानजजायी। काकी बडिया रो झूलरो। सहेल्यारो झूमरवो।

(ङ) स्त्री के शृंगार की वस्तुएँ—झवरख झूटणा। घरेघुमाळो घाघरो। जच्चा रांगी से पीळो। चुड़लो हायी दाँत रो। पाळ चढंती रा घूघरा वाजणा। रुण झुण रमझोळ। गजरो घूँघट—झीणो घूँघट। सोने रो कळसो। मोतीड़ाँ री ईंढी। चो भणेरा मोजड़ा (जूती)। साळू—साँगानेर को। पडळो पूरव देस को। काळे कम के (कमखाव) री कांचळी। हरे किसव रो घाघरो। ओढनी—अल्ले पल्ले मोर पपैया, विच में चाँदो चितरायो। चँदवाई चूड़ो। सुरंगी चूनड़ी। दिखणी चीर। कड़्याँ पटोळो। माथे महमंद-राखड़ी। कानों में-पत्ता, कुंडळ। पूँचे चुड़लो। हायाँ गजरा। पैरों में—पायल, विछिया। चीणो-टियो (चीनांशुक) चीर। गजमोतियाँ रो हार। कूंकू की कूँकावटी। काजळ रो कूँपलो।

(च) दांपत्य-सौख्य की सामग्री—झवरक दिवलो—चौमख दिवलो—अगर चनण रो दिवलो। रेसम री वाट। चँपला रो तेल। सोवन थाळ। चानण चीक। तातो पांगी तेल उवटणो। मायो न्हाण मेट सूँ। चँपला री डाळ हींडो। सुवावरणी सेज—वादळवरणी सेज। चंदण रो ढोलियो। पागा रतन जड़ाव रा। दावण मखतुल री। सुवा वरणी—सोड़। कुरला—दूधरा। दाँतण—काची केळ रा। भोजन—लिचपिच लापसी, जिंदवा रा भात, गुदळी खीर, घेवर काटमाँ-छाँटमाँ। मोछण लपभर राल ची बिडलेरा चीसठ पांन। लोटइए गंगाजल नीर। डेरा हरिये वाग में। मरदन तेल चंपेल रा। भँवर पटाँ में तेल। पोडण हिंगळू ढोलियो। ऊँची मेड़ी पोडणा। लाल किवाडी। वनखंड को हिंडोळो। रेशम पट डोर।

(छ) वाहन, पशु और तत्संबंधी वस्तुएँ—रणझुण वल(रय)। करहा-रळकता-नाजणा-वोलणा। हस्ती कजळी देसरा। करला मारु देस रा। घुड़ला पारस देस रा। गुरसांगी देस रा। दाढी वाळो वोक (वकरा)। काळियो साँड दडूकणो। गल्लेवाळो टोड। मैयो टोडड़ो। लीली घोडी। घोडी नवलखी। वनाती जीण। पीतळियो पिलांण। घोड़ी मगेजण। घोळी (गाय) दूझणी। भँसा-धारणा।

(ज) जीवन-सौख्य की आदर्श सामग्री—सोनो लंकागड देस रो। पातर जैपर सहर

की। तायफो (नर्तकी) जेसलमेर को। रूपो (चाँदी) ऊजळदेस रो। हीरा वैरागड़ देस रा। मोती समदर पार रा। मिसरी वीकानेर री। राय रसोई—रतनर-सोवड़ो। मगरे रा मूंग। पाघ (पगड़ी) राठोड़ी। छीट मुलताणी। स्त्री भटियाणी। सहर—जोवाणी। राजा—राठोड़ी। देस—जेसाणो। वीज—उदियापुर रा। कांमणी—उदियापुर री। रूपियो गजसाही। पुरुष—राठोड़ी। दोवड़—तेवड़ दात (दहेज)। सठवा सूँठ। हळदी माळवे री। ईदर गढ़ री चाकरी। जाझी जाटणी। सुपनो दळती रेंग रो। देस—नगीनो। आदर्श भौतिक सुख की कल्पना—दूधे बूठा मेह। स्त्री का आदर्श सुख—गोद झड़ूलो पूत। जात (देवयात्रा) गठ जोड़े री।

(ज) स्त्री सौंदर्य के उपमान—देखिए—‘गैवरल’, ‘भूमल,’ ‘मिरगानैणी’ नाम के गीत। अवयव संबंधी—हाथ—कैवल करो फूल। रुड़ो नजारो तीखे नैर्णा रो। सीस—नारेळां सारिखो। बेणी—वासक नाग। भेंवारा—भेंवरो। निलवट (ललाट)—आंगल च्यार। आंखड़ियाँ—रतने जड़ी। नाक—सुवा केरी चूंच। नाक—खांडे री धार। मिसरायाँ (मसूड़े)—चूनी (लाल) जड़ी। काजळ की रेखा—फाळी कांठळ में चमकी वीजळी। होठ—रेसमिये रा तार। दांत—दाड़म कैरा वीज। हिवड़ो—संचे टाळियों। छाती—त्रजर किवाड। पसवाड़े (पाश्वर्य)—वीजळ खिचै। पेट—पीपळ करो पांन। आंगळी—मूंगफळी सी। बाँह—चंपा केरी डाळ। पींडी—गातळी। पींडळियाँ—हँवाळिया रतनाळिपर। जाँघ—देवल करो थांभ। एड़ी आरसी सी—मुरंग पुपारियाँ। पाँव—पीपळ को पात। पंजो (पैर का)—सठवा सूँठ। नैणं—नींवू की फाँक। बेलण बेली—बाँहड़ी। मगर (पीठ)—मखतूल।—पेट—गवां केरी लोय। सूंडी—रतन कचोळियाँ। केसड़ा—कड़ियाँ राळ्या।

सौंदर्य-संबंधी—सूरज जिसो उजास। चाँद जिसी निरमळी, दूधाँ जिसो उफाँण (यौवन के उमंग की)। दही सरीखी कठकठी (मांसल-सुपुष्ट)। मिसरी जिसो मिठास। लूंग सरीखी चरचरी (तीखापन)। जीमड़ल्याँ अमरत वसै।

(ट) पारिवारिक जीवन के प्रतीक वृक्ष—फसूँवो, नीमड़लो, नींवू, आंवो, अमली, बड़लो, बाँवळ्यो, पीपळ आदि।

प्रतीक वृक्ष-संबंधी प्रायः सभी गीतों में नवविवाहिता वधू गमनोत्सुक पति से घर रहने का आग्रह करती है और अपने एवज में ससुर-जेठ-देवर-नणदोई-पड़ोसी को प्रवास में भेज देने का प्रस्ताव करती है, जिसे कर्तव्यनिष्ठ पति युक्ति-पूर्वक टाल देता है। ये वृक्ष कैसे हैं? दांपत्य प्रेम के मक्खन से बँधाई हुई इन वृक्षों की पाल (थाँवला) है और दूध-घी से सींच कर इन को पाला जाता है। इसकी—“डालाँ तो पानाँ जोवन झुक रह्यो”—डाल-डाल, पत्ते-पत्ते से यौवन झुक रहा है। हृदय के रस से सींच कर बढ़ाए हुए इस जीवन-वृक्ष के पत्तों और डालियों को यदि कोई निर्दयता-पूर्वक तोड़े तो उस को कैसे क्षमा किया जा सकता है? “मत कोई तोड़ो वड़ रा जी पान, मत कोई संतावो हरिये लंख नें” कैसी करुण अभ्यर्थना है? परंतु इसे कौन मानता है? विचारी वधू का ससुर के घर में क्या अधिकार? “नणदल वाई तोड़्या वड़ रा पान, देवरिये छिणगारे तोड़ी साट-की।” इस निर्ममता के बदले—“नणदल वाई नें सासरिये खिदाव, देवरिये ने खिनावो राजा जी री चाकरी”—कैसा उचित न्याय है। नणद वाई को ससुराल जाने पर ही वहाँ के सुख-दुख का ज्ञान होगा। उस की, थाँव खुलेगी और वह भाई-भौजाई के दांपत्य-मुख में विघ्न पैदा करने—बड़ले का पान तोड़ने—का उचित फल पा जायगी। उत्पाती देवर को भी प्रवास में रह कर नानी याद आवेगी।

(ठ) वनडो (डुलहा)—गायड़ मल, फूटरमल, सरद पून्वों रो चाँद। ऊंगते सूरज रो तेज। हाटाँ माँयलो हीर। गोप्याँ माँयलो कान्ह। हरियाळो।

(ड) वनडी (डुलहिन)—अकन कँचारी। ‘थारे पूँवटिये में सोळें सूरज ऊग्या।’

(ढ) आदर्श संबंध की कल्पना—बामुदेद—ससुर। रकमण—बहू। केसरिया किरान—पति। भीपन की धीय—झुल्लबहू। ईसर जी—पुत्र। विरमादत जी—बाप। सहोदरा—बहन। साँवतदे—बहू। सागर—बाप। जल्लबलजामी—बाप। वादर्य दंपति—सूरज जी—रैणाँदे। चंदरभाजी—रोहण दे। विरमा जी—साँवत दे। ईसर जी—गवरा दे। रामचंदर जी—सीता जी। रकमण—किरान जी। आदर्श संतति—अरजण—भीव सरीखी।

(ण) रंगों की जीवनोपयोगी कल्पना—काळा—कैत। राता—नैण। पीळा—चीर। चोळा—दीन। हरी—काँव (स्त्री की)।

- (त) अभिवादन की रीति—नणदोड़ को—लटक जुहार। पति को—लुल लुल लागूँ पाँय। देवता के प्रति—डूध पखाळूँ पाँय। किसी प्यारे को स्वागत करने की रीति—मोतीडाँ वधावणो (थाल भरे मोतियों से उस का अभिवादन करना)।
- (थ) पत्नीका पति को पत्र लिखने का ढंग—एवड़ छेवड़ लाख ओलमा, बिच में सात सलांम। अर्थात् पत्र के किनारों-किनारों पर प्रेम भरे उपालंभ-वचन और पत्र के बीच में अनेक विनय भरे भवुर कोमल हृदय के भाव। शृंगारिक मान का पत्र खासा अच्छा नमूना है। ऊपर से रूठना, हृदय में प्रेम।
- (द) आशीर्वाद-शुभकामना—(वहिन की भाई के लिए)—वधियो रे वीरा वेल्याँ ज्यूँ वेल, नारेळाँ ज्यूँ लड लूमज्यो। अर्थात् तेरा वंश वेल की तरह बढ़े और नारियल के वृक्ष की तरह गुच्छों में फले।
- (ध) आक्षेपोक्तियाँ—देखो प्रसिद्ध गीत, 'कसूँवो' अथवा 'अेक थंभियो महल'। पत्नी कहती है, हे प्यारे, वर्षा का आगम है, तुमने चलने की ठानी। रुक जावो। इस बार राजा जी की चाकरी में समुर जी को भेज दो। पति कहता है—'समुर जी बला से जावें, उन के मेरे जैसा पुरुषार्थी पुत्र है। फिर कहती है—'जेट जी को भेज दो। उत्तर देता है—'नहीं, उन की स्त्री कैसे जाने देगी, जो नाराडूती—लडोकड़ी—कलहगारी—प्रचंड स्वभाव वाली है'। फिर कहती है,—'तो देवर को ही भेज दो'। उत्तर—'देवर की स्त्री नवीना है—नानकडी नार, बाळक धण हैं, भोली भाली है। उस को छोड़ कर वह कैसे जायगा?' 'अच्छा, तो ननदोई जी को इस बार भेज दो। उत्तर—'परंतु हमारी वहिन सावण की तीजनी है, वह दुख पावेगी'। 'और कोई नहीं, तो पड़ोसी को ही भेज दो, पर तुम इस बार मत जावो' लाचार स्त्री ने कहा। उत्तर मिला—'नहीं; पड़ोसिन नित उठ कर तुझ से झगड़ा ठानेगी।' जब सारी युक्तियाँ न चलीं तो लाचार हो कर स्त्री ने कहा, तो जाने से पहले इस पावस की बिजली का चमकना बंद कर जावो, बादल का गरजना और हवा का सनसनाना रोक जावो; पपीहे का बोलना और कोयल का कुहकना बंद कर जावो। और यदि कुछ भी न हो सके तो मुझे ही मार कर चले जावो।
- (न) चरखे के विषय में—चरखा प्राचीनकाल में जीवन का अभिन्न साथी था।

ऐसा हो नहीं सकता था कि लोक-काव्य के राग में यह यंत्र रंगा न जाता ।
 चरखो भँवर जी लेल्युं रांगलो जी । हाँ जी ढोला पीढो लाल गुलाल ।
 तकवो तो ले ल्युं बीजळ सार रो जी । ओ जी म्हारी जोड़ी रा भरतार ।
 पुंणी मंगाल्युं जी भँवर जी वीकानेर की जी । मोहर मोहर री कातुं भँवर जी ।
 कूकड़ी जी ।

हांजी ढोला रोक रुपये रो तार । मैं कातुं थे बैठा विणज ल्योजी ॥

(प) ससुराल-पीहर के संबंध में लड़की की तुलनात्मक भावनाएँ—

(१) सासरिये रा धोरा, मनैं चढती नैं लागें दोरा ।

पीवरिये रा धोरा, मनैं चढती नैं लागें सोरा । राय राती झंवो ॥

(२) आक तळे म्हारो सासरियो, ए लूं व्यांरी डोरी ।

नीम तळे म्हारो पीर, वारी ए लूं व्यांरी डोरी ।

आक वकरिया चर गया, ए लूं व्यांरी डोरी ।

नीम हिलोळा छाया, वारी ए लूं व्यांरी डोरी ॥

ससुराल का मार्ग लड़की को दुःखमय और कंटकाकीर्ण लगता है, पीहर का मार्ग उस को स्वर्गीय लगता है । इसी लिए आकड़े की छाया में ससुराल को बसाया है, और नीम की गहरी छाँह में पीहर को । आक को वकरी चर जाती है, पर नीम की छाया सदा हरी-भरी रहती है । इन कल्पनाओं में लड़की के हृदय का चित्र है ।

(फ) प्रेमी दंपति के संदेश-वाहक पक्षी—कुरझ, कौवा, तोता यदि । हिंदी में चील और कौवा अधिक आते हैं । कुरझ राजस्थान का विशेष पक्षी है, और वह भी वर्षा ऋतु का, जो राजस्थान की प्रधान और सर्वोत्तम ऋतु है । ताल के किनारे बैठी कुरझ से वियोगिनी प्रार्थना करती है—‘कुरझ बहिन, तू मेरी रखी है, एक संदेशा परदेशी पति तक ले जा ।’ कुरझ को दया आती है, परंतु वह विरहिनी की सहायता कैसे करे ?—“माणस हवां तो मुख कहवां म्हे छां कुझरियाँ” । पंखों पर संदेशा लिख दिया जाता है और कुरझ उड़ कर प्रियतम के पास जाती है । प्रेमी संदेश पढ़ कर व्याकुल हो जाता है । अंत में चाकरी छोड़ कर प्रिया से वा

मिलता है। मेघदूत से बहुत पहले प्रेमियों ने पक्षियों द्वारा संदेश पहुँचाने की रीति निकाल ली थी !

जीवन के विविध व्यापार जिस प्रकार अनेक और संख्यातीत हैं, उसी प्रकार उन के साथ लगे हुए गीत भी। यह विषय एक अगम्य समुद्र की तरह अपार है, जिस की लहरियों को गिनना अथवा क्रमबद्ध करना असंभव है। हम यहाँ पर जीवन की कुछेक विशेष प्रगतियों से संबंध रखने वाले प्रचलित राजस्थानी लोक-गीतों का उल्लेख करेंगे, जिस से हिंदी समाज को राजस्थानी लोकगीतों का महत्व, और उन के काव्य-सौंदर्य के साथ उन की सामाजिक उपयोगिता का अंदाज़ा हो जाय, और इस विषय में ऊपर कहे हुए हमारे वक्तव्य का भी प्रमाण मिल जाय।

देवी-देवताओं के गीत

(१) विवाहादि मांगलिक अवसरों पर गृहस्थ की स्त्रियाँ गणपति का इस प्रकार स्मरण करती हैं—

ओक कोथलड़ी द्रव देइयो विनायक, लाडले के वाप नैं।
 वैं तो खाय खरचें सो धन बिलसैं, जस रहवे परवार में।
 ओक जीभड़ली जस देइयो विनायक, लाडले की माय नैं।
 वा तो मीठी सी बोलें निर्वेकर चालें, जस रहवे परवार में।
 ओक बांहड़ली बल देइयो विनायक, लाडले के वीर नैं।
 ओक भात में जस देइयो विनायक, लाडले के नाना-मामा नैं।
 ओक आरतड़े जस देइयो विनायक, लाडले की भूवा-भंण नैं।
 ओक गाजत घूमत आवो विनायक, सांवरिया के मेह ज्यूं।
 ओक भर्यो ए चतूळो आवो विनायक, विणजारा के वैंल ज्यूं।
 ओक मांड्यो-चुंड्यो आवो विनायक, सरव सुहागण के सीस ज्यूं।
 ओक तीन वसत निभाइयो विनायक, पवन, पांणी, वसुन्धरा।
 तूँ तो अळी-गली मत जाइयो विनायक, सीधो ही आइयो सामी साळ में।
 ओक आवे गूगळ की वासत सुगंधी, कूण सवागण गणपत पूजियो।
 गणपत पूजें लाडलड़े री माय सवागण, ज्याँ घर बिड़द उतावळी॥

हे गणपति, लाडले बर के पिता की थैली में द्रव्य भरो, जिस से वह खूब खावे, खरचे और ऐसा विलास करे जिस से परिवार की यशवृद्धि हो।

हे विनायक, लाडले की माता की जीभ को यश देना; वह विनम्र हो कर चले, मीठी बोले, जिस से परिवार का यश बढ़े।

हे विनायक, लाडले के भाई की भुजा में बल देना, उस के नाना-मामा को भात में यश (सफलता) देना और उस की बूजा-बहिन को आरती में यश देना।

हे विनायक, सावन के जल भरे मेघ की तरह गरजते-घूमते आओ, वनजारे के सामग्री से लदे बैल की तरह ऋद्धि-सिद्धि से भरे-भराए आओ; सर्वसुहागिन स्त्री के सँवारे हुए शीश की तरह सजधज कर आओ।

हे गणपति, तुम्हारी कृपा से तीन वस्तुओं की (इस गृहस्थ में) कभी कमी न हो—स्वास्थ्यप्रद पवन, जीवनप्रद जल और अन्नधन देने वाली वसुंधरा की।

हे विनायक, तुम टेढ़े-मेढ़े अली-गली में मत चले जाना; सीधे हमारे घर आना। गूगळ-धूप की सुगंधित वास आ रही है; कहो तो किस सुहागिन ने गणपति की पूजा की है।

यह पूजा लाडले की सौभाग्यवती माता ने की है, जिस के घर में उन की कृपा से खूब वृद्धि और मंगल हो रहा है।

गणपति से प्रकृति के तीन पदार्थ जल, पवन और पृथ्वी को माँगना, लोकगीतों के प्राकृतिक जीवन का आभास देता है।

(२) हालरे (सीहर) के गीतों में एक गीत “भैरँजी” है, जिस में एक अपुत्र-वती स्त्री पुत्र के लिए भैरव की प्रार्थना करती है:—

भैरँजी काठे रे गँघाँ रो चोड़ूँ लापसी, माँय तो गायीं रो देसी घीव।

कासी रा दासी एक ती अरज म्हारी हेलो साँभळो॥

भैरँजी देराण्याँ-जेठाण्याँ मनो भोसो घोळियो, देराण्याँ जेठाण्याँ रे होंडें पालणे।

भैरँजी हूँ एक पुतर विन कुळ में बाँसड़ी॥ कासी रा दासी०॥

भैरँजी कदेय न भीजी म्हारी दूघाँ काँचळो;

भैरँजी कदेय न भीज्यो म्हारो काँधो लाळ सूँ।

कासी रा दासी, अक पुतर विन कुळ में बाँसड़ी॥

भैरूजी सास सपूती, बीरे देवरियो लाडलो।

भैरूजी नणदल ऊनाळे री वळती एलाय ॥ कासी रा वासी० ॥

भैरूजी कासी में बाजें थारे घूघरा। कोडाणे में बाजें नगर-निसाण।

तोळाणे रा भैरू, एक अरज तो म्हारी हेलो सांभळो ॥

भैरूजी पीवरिये रे मांय थरयूं देवळो।

आवती-जावती ने हूं थाने धोकसूं।

भैरूजी एक अक तो अरज म्हारी हेलो सांभळो ॥

हे भैरव, मैं काठे (मरुभूमि में पैदा हुए) गेहुओं की लपसी चढ़ाऊंगी। उस में गाय का घी डालूंगी। हे काशी के वासी, एक अरज मेरी सुनो। देवरानी-जेठानी ने मुझे ताना मारा है। उन के तो पलने में पुत्र झूल रहे हैं; मैं अभागिनी कुल भर में एक ही विना-पुत्र की वांछ हूँ।

हे भैरव, स्तन के दूध से मेरी काँचली कभी नहीं भीगी, न मेरा कंधा भीगा प्यारे पुत्र के मुख से टपकी हुई लारों से। काशी के वासी, मैं अभागिनी कुल भर में अकेली निपूत वांछ हूँ।

मेरी सास सुपुत्रवती है, उस के लाडला देवर पुत्र है और ग्रीष्म की तीव्र आग की तरह जलती-भुनती मेरी ननद उस की पुत्री है। ये दोनों मुझे व्यंग्य कहते हैं।

हे देव, काशी में आपके नाचते समय के घूँघरू वजते हैं और कोड़मदेसर में आप के निसान घहराते हैं। हे तोलियासर के भैरव, मेरी विनम्र प्रार्थना सुनो।

मैं पीहर में आप का मंदिर स्थापित करूँगी और आती-जाती आप का वंदन करूँगी। केवल एक प्रार्थना मेरी सुनो।

जब तक पुत्र नहीं होता तब तक स्त्री अपने जीवन को सफल नहीं समझती। वह दिन रात चिंतित रहती है। एक व्याकुलता उस के चित्त में घुन की तरह लगी रहती है। इसी इच्छा से वह देवी-देवता मनाती है, मंत्रसिद्ध करती है, जप-तप-उपासना-व्रत-उपवास करती है। माता का हृदय इस गीत में उफन पड़ा है। इस एकनिष्ठ साधना और कारुणिक विनय को भैरव अवश्य सुनेंगे।

त्यौहार और उत्सवों के गीत

(३) चैत के महीने में राजस्थान में स्त्रियाँ गौरी की पूजा करती हैं और व्रत रखती हैं। बालिकाएँ पार्वती के आदर्श को सामने रख कर, जिस प्रकार पार्वती ने प्रेम साधना और तपस्या कर के शिवजी जैसा प्रतापी वर पाया, आदर्श पति की प्राप्ति के लिए कामना करती हैं, और इस उद्देश्य से गौरी अथवा गणगौर की पूजा करती हैं। गणगौर राजस्थान में एक बहुत बड़ा उत्सव और त्यौहार माना जाता है। उसी का एक प्रसिद्ध गीत है—

हे गवरल, रुड़ो हे न जारो तीखे नैणाँ रो ।

गढाँ हे कोटाँ सूं गवरल, अतरौ । हो जी बीरे हाय कँवळ केरो फूल ॥ हे गवरल ० ॥
 सीस हे नारेळाँ गवरल, सारिखो । हो जी बीरे बेणी छे वासग नाग ॥ हे गवरल ० ॥
 भँवारे हो भँवरो गवरल, हे फिर । हो जी बीरे तिलवट आंगळ च्यारा ॥ हे गवरल ० ॥
 आखड़ियाँ रतने जड़ी । हो जी बीरों नाक सूवा केरी चूँच ॥ हे गवरल ० ॥
 मिसरायाँ चूनी-जड़ी । हो जी बीरा दाँत दाड़म केरा बीज ॥ हे गवरल ० ॥
 हिवड़ो सं चे ढाळियो । हो जी बीरे छाती वजर-किंवाड़ ॥ हे गवरल ० ॥
 पसवाड़े बीजळ खिँव । हो जी बीरो पेट पीपल केरो पान ॥ हे गवरल ० ॥
 भूँगफली सी गवरल आंगळी । हो जी बीरे बांह चंपा केरी डाळ ॥ हे गवरल ० ॥
 पोडेळियाँ हँवाळियाँ । हो जी बीरे जांघ देवळ केरो थाम ॥ हे गवरल ० ॥
 एडी चमक गवरल आरसी । हो जी बीरो पंजो सठवा-सूँठ ॥ हे गवरल ० ॥
 घेर घुमाळो गवरल घाघरो । हो जी बीरे ओढण दिखणी रो चीर ॥ हे गवरल ० ॥
 हे पाळ चढंती रा वार्ज गवरल घूघरा । हो जी बीरे अतरती री रिमझोळ ॥ हे गवरल ० ॥
 ऊँचले सिंघासण, गवरल, बैसणो । हो जी बीरा दूध पखाळूँ पांय ॥ हे गवरल ० ॥
 हेमाचळजी री गवरल डीकरी । हो जी वा तो पातळिये ईसर घर नार ॥ हे गवरल ० ॥
 किण तनें घड़ी रे सिलावटे । हो जी बीने क्या तो लाल लुहार ॥ हे गवरल ० ॥
 जलम दियो म्हारी मायड़ी । हो जी बी ने रूप दियो करतार ॥ हे गवरल ० ॥
 महाराजा हे देसी गवरल, दाय जो । हो जी वां रे सौय घोड़ा असवार ॥ हे गवरल ० ॥
 हाय जोड़ कल्ले बीनती । हो जी बी रे लुळ-लुळ लागूँ पांय ॥ हे गवरल ० ॥

गौरी के तीखे नेत्रों का नजारा बहुत सुंदर है। ऊँचे गढ़ और कोट (हिमालय) से गौरी उत्तर आई हैं। उस का हाथ कमल के फूल जैसा, शीस नारियल सरीखा, वेणी वासुकि नाग जैसी, भौंहें भीरे सी और ललाट चार अंगुल चौड़ा है। आँखें मानो रत्न-जड़ी सी, नाक तोते की चोंच की तरह, मसूड़े लाल (रत्न) से जड़े और दाँत अनार के बीज जैसे हैं। हृदयस्थल साँचे में ढला हुआ सा, वक्षस्थल वज्र किंवाड़ की तरह है। उस के पार्श्व इतने चंचल हैं जैसे विजली चमकती हो। पेट पीपल के पत्ते की तरह, उँगली (हाथ की) मूँग की फलियों जैसी और बाँहें चंपा की शाखा जैसी हैं। पिंडलियाँ आभायुक्त हैं, जंघा देवालय के स्तंभ की तरह, एड़ी आरसी की तरह चमकीली और पैर का पंजा सठवा-सौठ की तरह हैं। गौरी के घेर-घुमेर घाघरा पहनने को और दक्षिणी चीर ओढ़ने को हैं। सरोवर की पाल चढ़ती हुई गौरी के धुंधरू वजते हैं और उतरती हुई की रमझोळ (पैरों का गहना) वजती है। गौरी ऊँचे सिंहासन पर विराजमान है; मैं उस के चरण दूध से पखा-रूँगी। हिमाचल की गौरी लाडली पुत्री है और प्रतापी ईश (महादेव) की गृहिणी ॥

हे गौरी तुझे किस कुशल मूर्त्तिकार ने गढ़ा है? और ईश को किस लाल लुहार ने बनाया है। (गौरी की पुजारिनें अपने आप को गौरी की सखियाँ मानती हैं। इस नाते वह अगधूत-वेप वाले शिवजी से हल्का मजाक़ करती हैं?)। गौरी उत्तर देती है—मुझे मेरी माता ने जन्म दिया है और उन्हें यह रूप करतार ने दिया है। पुजारिनें फिर कहती हैं—हे गौरी, हमारे देश के राजा तुझे दहेज देंगे और सौ घुड़सवार तेरे साथ रखेंगे। हम हाथ जोड़ कर पार्वती की विनती करती हैं और नव-नव कर उस के पैरों पड़ती हैं।

इस गीत में गौरी का रूप-वर्णन विशेषता के साथ किया गया है। युवा पुजारिनों को रूप का आकर्षण अधिक होता है और वे गौरी के रूप-सौंदर्य में अपना ही आदर्श सौंदर्य देखती हैं।

(४) सावन की तीज राजस्थान में एक बड़े आनंद का त्योहार माना जाता है। इस समय देश की छटा निराली होती है। स्त्री-पुरुषों के हृदय में उल्लास रहता है। विशेषतः समुराल में रहने वाली स्त्रियाँ अपने-अपने पीहर को बुला ली जाती हैं। जिस के पीहर में कोई नहीं होता अथवा जो कारणवश पीहर नहीं भेजी जाती वह अपने आप को अभागिन समझती है; उस के लिए 'तीज' रोने का अवसर होता है। इस त्योहार के अनेक गीत हैं, जिन में वर्षा ऋतु के सौख्य और आनंद के साथ-साथ भाई-बहिन का पावन

प्रेम विशेष रूप से वर्णित मिलता है। साथ ही समुराल में अटकी हुई स्त्रियों के दुखड़े का बखान और पीहर में आई हुई बहनों का आनंद-उल्लास बड़ी भावुकता और स्वाभाविकता के साथ चित्रित मिलता है।

आई आई मा सावणिया री तीज। माय सा', पहले ने सावण मत राखे धिया नें सासरे।
मेल्यो मेल्यो ए मा, बडोड़ो वीर। बिच में वीरे रो सासरो।

रह गया रह गया ए मा, दिनड़ा दो च्यार। जोड़े ए मा, सावण ढळ गयो।
बीजोड़ी बीजोड़ी ए मा, झूलण नें जाय। बाई नें दीनो सासू धानड़ सोवणो।
सोयो सोयो मा, डाळ दो डाळ। अधमण सोयो वाजरो।

बीजोड़ी बीजोड़ी ए मा, मगरिये जाय। बाई नें दीनो सासू पोवणो।
पोयो पोयो ए मा, जेट दो जेट। पछलो पोयो बाळूरो बाटियो।

निमट्या निमट्या ए मा, देवर-जेठ। निमट्या नणदां रा झूलणा।
परस्या परस्या ए मा, मोटोड़ा थाळ। परस्या नणदां रा बाटका।

बीजोड़ां ने ए मा, परस्या गवां रा रोट। बाई नें परस्यो वाजर बाटियो।
बीजोड़ां नें ए मा, धोवां धोवां खांड। बाई नें दीनी सासू चिमठी लूण रो।
बीजोड़ां ने ए मा, चरी चरी घीव। बाई नें दीनो ए सासू डोरो तेल रो।
ओरिये ओरिये देवर नें जेठ। पडवें पोढ्यो नणदां रो झूलरो।

वरसै वरसै ए मा मोरी, मेह। भीजै भायां री वहनड़ एकली।
मांज्या मांज्या ए मा, मोटोड़ा थाळ। मांज्या नणदां रा बाटका।
सोवतड़ी ए मा मोरी, वाजर बाटियो। आण नें मिनड़ी ले गई।

मरज्यो मरज्यो ए मिनड़ी थारोड़ा पूत। म्हारोड़ो बाटियो तू ले गई।
मरज्यो मरज्यो ए मिनड़ी थारोड़ा पूत। रातां रही निरणी वीरां री वैनड़ी॥

ए मा, पहले सावन (विवाह के बाद) की तीज आ गई। इस समय मुझे समुराल में न रहने दे। मा ने बड़े भाई को लिवा लाने को भेजा। उस का बीच में समुराल पड़ता था। वह वहाँ रुक गया। अब तो मा, दो चार दिन ही रह गए। सारा सावन बीत चला।

इधर समुराल में यह हाल है कि बाई-बेटियाँ तो सब झूला झूलने को जाती हैं; मुझे सानू धान साफ़ करने को देती है। बड़ी दो बड़ी साफ़ किया और आधा मन वाजरा साफ़ किया। और सब रमने-खेलने को जाती हैं मुझे सास रसोई पकाने को बिठाती है।

क्या कहूँ, मा, रोटियों का ढेर का ढेर पकाया और अंत में वालू (भूभर) पर सेंकी एक वाटी। देवर-जेठ भोजन कर गए; ननदों की कतार की कतार भी खा गई। देवर जेठों को बड़े-बड़े थालों में परसा और ननदों को परसा कटोरो में। औरों को तो गेहूँ की रोटियाँ मिलीं और मुझे मिला वाजरे का टिक्कड़। उन को मुट्ठी-मुट्ठी भर चीनी मिली, मुझे मिली चुटकी नमक की। उन को भरपूर घी परसा गया और मुझे थोड़ी सी तेल की लार।

देवर-जेठ सोते हैं ढके महलों में और ननदों की कतार सोती है 'पड़वे' में। वे सब आराम में हैं। मेह वरसता है तब, मा मेरी, भाइयों की लाडली वहन में भीगती हूँ।

सब के खा चुकने पर उन बड़े थालों और कटोरो को मला। सोने के वक्त (जब मेरी खाने की वारी आई) क्या देखती हूँ कि वाजरे का टिक्कड़, जो अपने लिए रखा था, विल्ली ले गई। पूत मरे तेरा, विल्ली, तू मेरा टिक्कड़ ले गई। मैं भाइयों की लाडली वहन रात भर भूखों मरी।

बालिकाओं के गीत

(५) बालक-बालिकाओं के वचन के निष्पाप और खिलवाड़ के रंग में रंगे भाव किस सहृदय के हृदय को लुभा नहीं लेते! उन में एक अनुपम सरलता, स्वर्गीय मिठास, और शुद्धतम सद्भाव रहता है। यदि ईश्वरीय प्रेम की झलक संसार में कहीं मिल सकती है तो वचन की लीला में।

छोटी वहन घर पर है, बड़ी ससुराल में। उसे याद कर छोटी भोली बालिका मोर से कहती है:—

मोरिया, तूने किसड़े गढ रो मारग वालो लागे रे। घन मोरिया ॥

मनें जोघाणे रो मारग वालो लागे रे। घन मोरिया ॥

मोरिया, तू तो बाई सा रे वागां गहरो बोली रे। घन मोरिया ॥

बाई सा तनें ठंडो पांणी पासे रे। घन मोरिया ॥

मोरिया, तू बाई सारी मेड्यां मघरो बोली रे। घन मोरिया ॥

बाई हा तनें चूरमियो जीमात्तो रे। घन मोरिया ॥

'मोर, तुझे कौन से देश का मार्ग अच्छा लगता है?'

‘वहिन, मुझे जोधपुर का मार्ग भला लगता है।’

‘प्यारे मोर, वहाँ तू मेरी वहिन के वाग में जा कर गंभीर स्वर में बोलना। वहिन तुझे शीतल जल पिलावेगी।

‘मोर, तू वहिन के महल के पास जा कर मधुर स्वर में बोलना। वहिन तुझे मीठा चूरमा खिलावेगी। धन्य, प्यारे मोर!’

(६) पीहर में लड़की के जीवन का इतिहास इस गीत में लिखा है। छोटी बालिका निःशंक हो कर घर के बाहर सहेलियों के साथ खेल में मगन है। रात पड़ गई पर घर के अंदर न गई। इस पर माता-पिता नाराज हुए और उसे कड़े वचन कहने लगे। भाई ने आकर माता-पिता को रोका और वहिन का पक्षपात किया—“बाई को गाली न दो। यह कितने दिन रहने वाली है। आज यहाँ है, कल यह भोली चिड़िया उड़ कर परदेस चली जायगी। इस लिए इसे कोई कुछ न कहो।” सचमुच पीहर, लड़की के लिए स्वतंत्रता का स्वर्ग और सुख का अखूट भंडार है। गीत इस प्रकार है—

चांद चढ़यो गिगनार, किरत्यां ढल रहियां जी ढल रहियां।

अब बाई घरे पवार, माऊ जी मारेला जी मारेला।

बाबो सा देला गाळ, बड़ोड़ा वीरा वरजेला जी वरजेला।

मत दो म्हाँरी बाई ने गाळ, म्हाँरी बाई परदेसण जी परदेसण।

आ आज उडे परभात, तड़कं उड जासी जी उड जासी।

सावणिये रा दिनड़ा चार, जेवाईं डो ले ज्यासी जी ले ज्यासी॥

चांद आसमान में चढ़ आया है और कृत्तिकाएँ ढलने लगी हैं। रात बहुत हो गई। वहिन, अब घर में चल, नहीं तो माता जी मारेंगी और पिता जी कड़े शब्द कहेंगे।

नहीं, परंतु बड़ा भाई उन को रोकेंगा और कहेगा—मेरी बाई को कड़े शब्द न कहो, यह परदेसिन है, आज अबबा कल तक चली जायगी। सावन के चार दिन हैं—(अर्थात् पीहर का निवास थोड़े ही दिन का है) आखिर जेवाई आवेगा और वह इसे ले जायगा।

(७) गणगौर के समय का गीत है। कुमारिकाएँ माता गौरी से वीर-वर माचती हैं—

मेरा वर वीर पुरुष हो। जो महलों में बैठ कर मद (प्रेम-मद) पीवे और बाहर नीली घोड़ी पर सवार हो कर निकले। उस की पगड़ी टेढ़ी बँधी हो और वह (मस्तानी) धीमी चाल से चले। घोड़े पर चढ़ कर वह अकड़ कर शान से जाय। हे माता गौरी, मैं तुझे पूजने आई हूँ, तू मुझे ऐसा वर दे।

साथ ही यह भी प्रार्थना करती है कि इस प्रकार का वर न मिले—जो चूल्हे का चाँद हो और हाँडी का अमीर हो, नौ थालियाँ भर कर रावड़ी खा जाय, तो भी जिस का पेट न भरे, सोलह रोटियाँ खाने पर भी जो न अघाय—ऐसे वर से वचाना।

मेड़ी बैठो मद पीवं ए, लीली केरो असवार।

खाँधी बाँधे पाघड़ी, मधरी चाले चाल।

कड़ मोड़ घोड़े चढ़ें, चाल निरखतो जाय।

ओ वर देई माता गवरल ए, म्हे थाने पूजण आय।

चूल् केरो चाँदणो ए, हाँडी केरो हमीर।

नौ थाळाँ पीवं रावड़ो ए, सोळा, रोटि खाय।

बो वर टाळी माता गोरल ए, म्हे थाने पूजण आय॥

कहीं-कहीं इस गीत में ये पंक्तियाँ भी जुड़ी मिलती हैं—

लीली घोड़ी हाँसली, थलवेलो असवार।

कड़पाँ कटारी बाँकड़ी, सोरठड़ी तरवार॥

ऋतु-संबंधी गीत

(८) ऋतु-संबंधी गीत वैसे तो सभी ऋतुओं के मिलते हैं, परंतु राजस्थान की सर्वोपयोगी और सर्व-सुंदर ऋतु वर्षा होने के कारण, वर्षा-ऋतु के गीत बहुत हैं और वे हैं भी बहुत सुंदर और मनोहारी। अन्य ऋतुओं के गीत बहुत थोड़े हैं। वर्षा-ऋतु का आनंद गाँवों में अधिक अनुभव किया जा सकता है। वर्षा होते ही गाँव के बच्चे-बच्चे की हृदयकली खिल उठती है और उन का हृदय स्वतः गा उठता है। इधर उमड़ी हुई बदली, उधर उमड़ा हुआ हृदय—फिर गीतों की क्या कमी !

वर्षा हो चुकी है। बालिकाओं का झुंड घरों से बाहर निकल कर चोगान में गाता है—

मोटी मोटी छाँट्याँ ओसर्यो ए बढली ओसर्यो ए बढली।

(कोई) जोड़ा ठेलमठेल। सुरंगी रत आई म्हारे देस। भली रत आई म्हारे देस।

ओ कुण बीजे वाजरो ए बढली। वाजरो ए बढली।

ओ कुण बीजे मोठ मेवा मिसरी। सुरंगी रत आई म्हारे देस। भली रत आई म्हारे देस।

ईसर बीजे वाजरो ए बढली। वाजरो ए बढली।

कानू बीजे मोठ मेवा मिसरी। सुरंगी रत आई म्हारे देस। भली रत आई म्हारे देस।

ढहराँ ढहराँ काकड़ी ए बढली। (कोई) धोराँ गुड़त मतीर मेवा मिसरी।

सुरंगी रत आई म्हारे देस, भली रत आई म्हारे देस ॥

मोटी-मोटी बूंदों वाला मेघ उमड़-धुमड़ कर वरसना शुरू हुआ है। ताल-तालियाँ ठेलमठेल भर कर उतरा रहे हैं।

हमारे देश में कैसी भली, कैसी मनोहर ऋतु आई है ! इस ऋतु में मेवा और मिश्री के समान मीठे वाजरे और मीठ को यह कौन बीज रहा है ?

अहा क्या ही सुंदर ऋतु आई है। भैया ईसर वाजरा बीज रहा है और भाई कानू मेवा-मिश्री के समान मीठे मीठ।

नीची भूमि पर ककड़ी बोई जा रही है और टीवों पर गुड़ जैसे मीठे मतीरे।

बलिहारी जाऊँ कैसी मनोरम ऋतु आई है मेरे देश में !

ग्राम-जीवन के सादे और सरल वातावरण के पृष्ठपट पर भाई-बहिन के प्यार का भावचित्र और ज्यादा खूबी और स्वाभाविकता से खिलता है।

गार्हस्थ्य-जीवन के गीत

(९) वृक्षों को पारिवारिक जीवन का प्रतीक मान कर कुछ गीतों में गृहस्थी के जीवन का वर्णन हुआ है। कुछ प्रतीक वृक्षों के नाम इस प्रकार हैं—आंवो, अमली, नीमड़लो, नींबू, बड़लो, कसूँच, बाँवळ, पीपली। प्रायः ऐसे गीतों में स्त्री-हृदय के भाव ही रहते हैं। गीतों की रचना में स्त्री का हृदय प्रधानता के साथ चित्रित है। वही अधिकांश गीतों की रचने वाली है।

एक सद्गृहस्थ की स्त्री अपने परिवार के जनों को किस दृष्टि से देखती है—

मधुवन रो ए आम्बो मोरियो।

ओ तो पसरघो है सारी मारवाड़। सहेल्याँ ए आम्बो मोरियो।

बहु रिमझिम महलाँ सूँ ऊतरी। आतो कर सोळा सिणगार॥ सहेल्याँ० ॥

सासू जी पूछयो ए बहू। थारो गहणो म्हाँ ने पहर दिखाव॥ सहेल्याँ० ॥

सासू गहणे नें काँई पूछो। गहणो ओ म्हारो सो परिवार॥ सहेल्याँ० ॥

म्हारा सुतराजी गढाँ रा राजवी। सासू जी म्हारा रतन भंडार॥ सहेल्याँ० ॥

म्हारा जेठ जी बाजूबंद बाँकड़ा। जेठानी म्हारी बाजूबंद री लूँव॥ सहेल्याँ० ॥

म्हारो देवर चुड़लो दाँत रो। देराणी म्हारे चुड़ले री मजीठ॥ सहेल्याँ० ॥

म्हारो कुँवर जी घर रो चाँदणो। कुळबहू ए दिवले री जोत॥ सहेल्याँ० ॥

म्हारी धीय ज हाथ री भूँदड़ी। जँवाई ए म्हारो चंपले रो फूल॥ सहेल्याँ० ॥

म्हारी नणद कसूमल काँच ली। नणदोई म्हारे गजमोत्याँ रो हार॥ सहेल्याँ० ॥

म्हारो सायब सिर रो सेवरो। सायवाणी ए म्हे तो सेजाँरा सिणगार॥ सहेल्याँ० ॥

म्हे तो वार्या ए बहू जी थारा बोल नें। लडायो म्हारो सो परवार॥ सहेल्याँ० ॥

म्हे तो वार्या ओ सासूजी थारी कोख नें। थे तो जाया अरजण-भोंव॥ सहेल्याँ० ॥

परिवार-रूपी मधुवन के आम में बीर आया है। यह आम फँस कर सारे मारवाड़ में छा गया है। सखियो, आम में बीर आया है।

इस प्रकार कहती हुई सोलह शृंगार सज कर बहू रनझुन करती महलों से उतरी।

सास ने पूछा—‘बहू, बलि जाऊँ तेरे सौंदर्य पर, मुझे अपना गहना दिखा तो सही।’

कुलीन बहू उत्तर देती है—सास जी, मेरे गहने को क्या देखोगी, मेरा सारा परिवार ही मेरा गहना है। मेरे ससुर जी गढ़पति हैं, सास जी रत्नों की भंडार हैं। जेठ जी मेरे बाँके बाजूबंद हैं और जेठानी है बाजूबंद के फुंदने। देवर मेरे हाथ का हाथी दाँत का चूड़ा है और देवरानी उस चुड़ले पर चित्रित चित्रावली। मेरा कुँवर घर का उजियाला दीपक है और कुँवरानी उस दीपक की ज्योति हैं। मेरी प्यारी पुत्री मेरी हाथ की अँगूठी है और जँवाई चंपक का फूल। ननद मेरी कुसुंवी काँचली है और ननदोई गजमुक्ता का हार। मेरा स्वामी मेरे सिर का सेहरा है और मैं उन की धर्मपत्नी हूँ, उन के दांपत्य-मुख का शृंगार।’

इस शील-वचन पर सास मुग्ध हो कर कहती है—‘धन्य वहू, तुम्हारे वचन धन्य हैं, तू ने मेरे सारे परिवार को गौरवान्वित किया।’

वदले में विनय-पूर्वक वहू कहती है—‘सास जी, धन्य है आप की कोख, जिस ने अर्जुन, भीम जैसी सुयोग्य संतान पैदा की।’

गृहस्थ के सुख की आदर्श कल्पना

(१०) यह गीत विवाह के मांगलिक ‘वधावों’ में गाया जाता है। इस में गृहस्थ के आदर्श सुख, समृद्धि और कल्याण की कल्पना की गई है। विवाह के बाद वर-वधू के घर आने पर इस गीत (रखी-वधामणा) से उन का स्वागत किया जाता है—

म्हारे आंगण आम, पिछोकर मरवो। यो घर सदा ए सुहामणो।
 तू तो चाल लिछमी जें घर चाला। जें घर रखी ए वधामणा।
 जठे वडां नें वड़ाई देसी। दूणो तो मान सवात्तण्यां।
 जठे कुळ बहुवां नें आदर देसी। सासू नणद गुण मानसी।
 म्हारे गाव गवाड़े भेंस वाडे। सोवण-वाम विलोवणो।
 विलोवणो म्हारे घहर घमकें। आंगण झमकें कुळवहू।
 संसार को सुख आज देख्यो। म्हारो पूत परण घर आवियो।
 म्हारे पूत कारण वहू ए प्यारी। पूत कुळ को दीवलो।
 म्हारी सास सपूती सें रे सर भर रहस्यां। जीभ के गुण आगलां।
 म्हारी देराण्यां जेठाण्यां वरोवर रहस्यां। काम के गुण आगलां।
 म्हारे सुगणे सायव सें म्हे मन चाया रहस्यां। फूल के गुण आगलां।
 म्हारी तही ए सहेल्यां वरोवर रहस्यां। रूप के गुण आगलां।
 इसड़ो वधावो, सायव, जाण न देस्यां। घणा ए दिनां सें आयो पावणो।
 इसड़ो वधावो म्हारे पीहर भेजां। भाभी मेडतणी रे जायो गीगलो।
 चितरे से आंगण म्हारी नणदल ऊनी। छो म्हारी वाई जो असीसड़ी।
 वीरा, फूलज्यो रे फळज्यो आम की डाळी ज्यूं, वधज्यो वागां मांयली दूव ज्यूं।
 सात ए भाभी पूत जणज्यो। एक जणज्यो डीकरी।
 वारी घीमड़ नें परदेस दीज्यो। ज्यूं चित आवे दड़ी नणदली।

मेरे आँगन में आम और पिछवाड़े में मरवे के वृक्ष खड़े हैं; अतएव मेरा घर सुहावना (सुख-संपत्ति-युक्त) लगता है।

हे लक्ष्मी, (नववधू को लक्ष्य कर के) चल, उस घर को चल जिस घर में वैवाहिक वधाइयाँ और मंगल हो रहे हैं। वहाँ बड़ों को बड़ाई देना, और वहिन-बेटियों का दुगुना मान बढ़ाना।

उस घर में कुलवधू का आदर होता है और वह सास-ननद का गुण मानती है—सम्मान करती है। सास कहती है—मेरे घर में गाय और भैंसों से बाड़ा भरा है और सोने के थाँम से मयानी बँधी है।

मेरी मयानी गंभीर ध्वनि से धमकती है और मेरी वधू आँगन में काम करती हुई झमकती है।

आज मैंने संसार का पूर्ण सुख देखा है कि मेरा पुत्र व्याह कर घर आया है। मेरे पुत्र से भी मेरी पुत्रवधू अधिक प्यारी है और पुत्र तो कुल का दीपक है।

नववधू कहती है—मेरी सुपुत्रवती सास से मिल-जुल कर रहूँगी और अपने जीभ के (मिठास) के गुण से उसकी प्यारी बनी रहूँगी। काम-काज के गुणों में मैं अपनी देवरानी-जेठानी के बराबर रहूँगी। और (पुत्रवती) कोख के गुणों से मैं अपने सुगुणी पति के चित्त में बसूँगी और रूप-सौंदर्य के गुण से मैं अपनी सखी-सहेलियों के बराबर रहूँगी।

नववधू अपने पति से कहती है—स्वामी, इस वधाई को मैं व्यर्थ ही न जाने दूँगी, यह सुबबसर मुझे बहुत समय बाद मिला है। मैं इस वधावे, (वधाई की भावनाओं को) को अपने पीहर भेजूँगी, जहाँ मेरी भावज, मेड़तणी, के पुत्र जन्मा है।

चितेरे हुए आँगन में ननद वरवधू का स्वागत करने खड़ी है। उसे कहती है—ननद वाई मुझे आशीर्वाद दो।

ननद कहती है—हे भाई आम की ढाली की तरह फूलो-फूलो और इस प्रकार बढ़ो—समृद्धि पावो—जिस प्रकार दूध बाण में बढ़ती है। और हे भावज, तू सात पुत्रों की मा बने और एक पुत्री भी जने। उस पुत्री को परदेस में व्याहता, ताकि परदेस-वासिन उस प्रिय पुत्री के मिस से मैं, तेरी ननद, तुझे याद बताती रहूँ।

भाई का वहिन के प्रति प्रेम

(११) ननद-भावज का कलह हिंदू-गृहस्थ का सर्वव्यापी कलंक है। भावज ननद के लिए विष फूँकती है, तो ननद भावज के लिए आग उगलती है। इस गीत की भावज ने अपने पति को समझाना चाहा कि वह ननद को घर से निकाल दे क्यों कि वह जो चीज देखती है उसी के लिए हाथ बढ़ाती है और इसी तरह साँझ-सवेरे कलह करती है। पति समझदार था। उस ने स्त्री की ओछी बुद्धि को हटका। स्त्री तो बार-बार मिल सकती है पर मा की जायी वहिन बार-बार नहीं मिलती। अब तो भाई ने वहिन का और भी मान बढ़ाया और वहिन-भानजों के लिए क्या नहीं किया ? वहिन भाई के इस असीम प्रेम से तृप्त हो कर आशीष देती है—हे भाई, तेरा वंश बढ़े—बेल की तरह और उस में फल लगे नारियल के गुच्छों की तरह। गीत इस प्रकार है—

दोय डूंगरा बिच बेल पसरी। बीरे के आंगण आम्बो मोरियो।

ये तो सुण सुण ओ सुगणी रा ओ सायवा। नणद पाड़ोसण ना राखिये ॥

बीरे के आंगण ० ॥

जो धन देखे बा तो सो धन मांगे। ऊठ सवारे कलह करे ॥

बीरे के आंगण ० ॥

ये तो चुप रहो ए ओछे घर की जायी। ओछा सा वचन न बोलिये ॥

बीरे के आंगण ० ॥

सागर साटं दोय घण ल्यावां। मा को ए पेट दुहेलड़ो ॥

बीरे के आंगण ० ॥

अवड़ छेवड़ म्हारा महल माळिया। बीच चिणास्यां वाई को ओवरो ॥

बीरे के आंगण ० ॥

अवड़ छेवड़ म्हारा भात रेंगेगा। बीच रेंगेगा वाई को खीचड़ो ॥

बीरे के आंगण ० ॥

अवड़ छेवड़ म्हारा कँवर रमेगा। बीच में रमेगा लड़ा भाणजा ॥

बीरे के आंगण ० ॥

अवड़ छेवड़ म्हारा कँवर जीमंगा। बीच में जीमंगा लड़ा भाणजा ॥

बीरे के आंगण ० ॥

ऊँचे तो चढ़ कै हेलो जी मार्यो । दाई दी वीराँ ने आसीस जे ॥

वीरे के आँगण ० ॥

वधियो रे वीरा वेल्याँ ज्यूँ वेल । नारेलाँ ज्यूँ लड़लूमज्यो ॥

वीरे के आँगण ० ॥

अर्थ ऊपर प्राक्कथन में स्पष्ट कर दिया गया है ।

(१२) वधावे का गीत है । इस गीत में हिंदू गृहस्थ में नारी के समस्त जीवन का सुखमय और संस्कारयुक्त दिग्दर्शन कराया गया है । गीत इस प्रकार है—

पोळीड़ा पोळ उघाड़ जी । म्हाँ ने घर भीतर जाँण छो जी ।

जठे सुसराजी रो राज जी । म्हाँरे सुगणे सायव री सायवी ।

हसतीड़ा घूम छै वार जी । म्हाँरे बॅध्या बॅल्या जी चरै ।

वामण को करै ए रसोई जी । म्हाँरे दूध कढे घी आवटै ।

अन धन भर्या ए वखार जी । म्हाँरे चौरस लिछमी ओ घणी ।

सोनो घड़ै ए सोनार जी । म्हाँरे गहणाँ का डब्बा भर्या ।

मनाँ ए वधावो म्हाँरे चित्ताँ ए वधावो जी ॥

उठ के जणांगा म्हे पूत जी । म्हे करांगा साजनिया सँ गोठड़ी ।

मळकै चढ़ेगी वरात जी । म्हाँरे पगाँ ए पड़ती आवै कुळवहू ।

इवकै जणांगा म्हे धीय जी । म्हे तो करांगा साजनिया सँ वीनती ।

मुळकत आवेगी वरात जी । म्हाँरे वरसत आवै रुड़ा भात जी ।

सरब सुख भयो ए अनंत जी । म्हाँरी धीय जॅवाई लेगया जी ॥

मनाँ ए वधावो म्हाँरे चित्ताँ ए वधावो जी ॥

नववधू की कल्पना है । वह ससुराल आ कर कहती है—ए दरवान फाटक खोल, मुझे घर में जाने दे, जहाँ मेरे ससुर जी का राज है और मेरे गुणवान स्वामी का स्वामित्व है । हाथी दरवाजे पर घूम रहे हैं, रथ के बँल बँधे हुए जी चर रहे हैं । ब्राह्मण रसोई बना रहा है । दूध निकल रहा है, घी आँट रहा है । अन्न-धन से भंडार भरे हैं । सब प्रकार से लक्ष्मी की कृपा है । सोनार सोना गढ़ रहा है, गहनों से मेरे सँदूक भरे हैं । मेरे मन में उल्लास, चित्त में उमंग है ।

मेरे पुत्र होगा। मैं स्वामी से परामर्श करके उस की सगाई करूँगी। उमंग के साथ बरात चढ़ेगी और मेरे पैरों पड़ती हुई कुलवधू घर में आवेगी।

अबवा मेरे पुत्री होगी। मैं स्वामी से परामर्श करूँगी। सजधज के साथ बरात मेरे घर आवेगी और भात भरने के लिए मेरा भाई बरसते हुए मेघ की उदारता के साथ आवेगा। मेरा जैवाई पुत्री को ले जायगा। मेरे मन में उल्लास और चित्त में उमंग है। मुझे अनंत सुख है।

स्त्री के पारिवारिक सुख का कैसा संपूर्ण चित्र है !

दांपत्य-जीवन के चित्र

(१३) वियोग-शृंगार में जो तीव्र मार्मिकता होती है वह संयोग-शृंगार में नहीं। इसी लिए साहित्य में भी वियोग-शृंगार के चित्र अधिक मिलते हैं। गीतों में संयोग के अनेक सुंदर-सुंदर गीत हैं। यहाँ पर विरह का एक कारुणिक चित्र उपस्थित किया जाता है।

पति विदेश में है। उस के बिना सारा संसार शून्य, निष्प्रभ है। विरहिणी रो कर गाती है—

तू क्यों ए मेड़ी बैरण डगमगी, थारी लगी ए घरम की नाँव ।

अक दिन साजन आप चिणावता ॥

रावटी पुराणी भँवर जी हो गई जी । हो जी कोई टपकण लाग्या जूण ।

इव घर आवो गोरी का सायबा जे ॥

पिलंग पुराणा भँवर जी हो गया जे । हाँ जी कोई तड़कण लाग्या साल ।

इव घर आवो सुंदर रा सायबा जे ॥

हिगळू में जालो भँवर जी पड़ गयो जे । हाँ जी माहू कजळे में पड़ गया सैवाळ ।

इव घर आवो अंधियारे घर रा पावण जे ॥

सावण आवण भँवर जी कह गया जे । हाँ जी कोई बीत्या बारा भास ।

इव घर आवो अंधेरे घर रा चानणा जे ॥

पाँपल झुरे भँवर जी फूल नें जे । हाँ जी कोई फल नें झुरे ए फरांस ।

गोरी तो झुरे अपने स्याम नें जे ॥

झुर झुर मारू जी में पिंजर हो गई जे । हाँ जी कोई बिदरँग हो गयो वेस ।

इब घर आज्या अंधेरे घर रा चानणा जे ॥

एकांत में खड़ी मेरी ऊँची मेड़ी, (महल) तू क्यों डगमगाई । तेरी तो शुभ मुहूर्त में नींव लगी है और स्वयं स्वामी ने खड़े रह कर तुझे चुनवाया है । (प्रेमी के स्नेह और ममता के ईंट-गारे से इस विरहिणी का पवित्र प्रेम-भवन बना है । वह इस का हृदय-मंदिर है, जिसे विरह की आग ने झुलसा कर जर्जर कर दिया है । वह अब डगमगा रहा है ।)

प्रिय, यह कोठरी पुरानी हो गई है और इस के छिद्रों से जल टपकने लगा है । अब तो आजा मेरे प्रिय ।

पलंग भी पुराना हो गया और उस का चीखट अब चटखने लगा है । सुंदर स्वामी अब तो घर आजा । मेरी सीमाग्य-विंदुली के हिंगलू में जाला लग गया है और आँजने के काजल में सैवाल जम गए हैं । मेरे अँधेरे घर के पाहुने, अब तो घर आजा ।

हे रसिक, सावन में लीटने का वचन दे गए थे, पर वारह मास बीत गए । मेरे अँधेरे घर के उजियारे अब तो आजा ।

पीपल फूलों के लिए आजीवन रोता है और फरांस का पेड़ फलों के लिए । क्या मैं भी इन्हीं की तरह निराश हो कर रोती रहूँ, मेरे रस-लोभी भँरे !

तेरे विरह में विसूर-विसूर कर मेरा पंजर जर्जर हो गया है । मेरा वेश विरंगा है । अब तो घर आजा, मेरे अँधेरे घर के उजियारे !

एकथंभियो महल

(१४) एक थंभे वाला विशाल महल है, जिस के चारों ओर गवाक्ष हैं, और प्रत्येक गवाक्ष के पास एक-एक दीपक जलता है जिस के प्रकाश में पति-पत्नी सुख से सोए हैं । इतने में ऊँट के सवार ने आ कर जगाया । दीपक की रोशनी में राजाजी का पद्म पड़ा और पत्नी से कहा,—‘जोधपुर की नौकरी में बुलाया है ।’ ‘ए पापी ऊँट के सवार, तेरी प्यारी स्त्री मरे, तूने संयोगी दंपति को जुदा होने का संवाद सुनाया’ यह कह कर स्त्री ने पति को जाने से रोकने के लिए अनेक चेष्टाएँ और प्रस्ताव किए । पति-पत्नी के प्रश्नोत्तर बहुत रोचक हैं—

‘प्रिय, इस वार राज्य-सेवा में ससुर जी को भेज दो। इस ग्रीष्म भर मेरे साथ रहो।’

‘नहीं प्रिये, बला से जावें तुम्हारे ससुर जी। उन के मेरे जैसा वीर घुड़सवार पुत्र है।’

‘तां, जेठ जी को ही भेज दो, ताकि इस वार वर्षा ऋतु साथ में बितावें।’

‘सुंदरि, जेठ जी के तेज मित्राज वाली कलहकारी स्त्री है, जो नित्य उठ कर तुझ से झगड़ेगी।’

‘अच्छा तो, देवर जी को ही भेज दो। इस वर्ष शीत काल में तुम मेरे साथ ही रहो।’

‘नहीं प्रिये, देवर के सुंदर, सुकुमार, भोली-भाली नववधू है। वह उस के बिना कातर मयूरी की तरह चिल्लावेगी।’

स्त्री ने झल्ला कर कहा—‘तब तो अपने पिता के तुम एक ही आज्ञाकारी बेटे जो जोधपुर की चाकरी में नित्य जाते हो।’ ‘पति चला गया। ननद बाई, उठ कर जरा देखो तो, कौन चढ़ रहा है और कौन चला गया।’ उत्तर—‘माई अभी घोड़े चढ़ रहा था।’ स्त्री ने लपक कर लगाम पकड़ ली और कातर मयूरी की तरह रोने लगी। प्रेमी ने उसे हृदय से लगाया और अपने हरे रुमाल से आँसू पोंछे। फिर स्वस्थ होने पर कहा—‘प्यारी प्रसन्नता से मुझे इजाजत दो। देखो, मेरे साथी चले गए और मैं रह गया।’ पर सीख दी नहीं जाती। हृदय प्रेम से गद्गद हो रहा है और छाती भर आई है। गीत इस प्रकार है—

लेक थंभियो डोला महल चिणाव । च्याहें दिसा में राखो गोखड़ा जी म्हारा राज ।
गोखे-गोखे दिवलो संजोय, राजीदा डोला, दीये रे चानणिये ढाळू ढोलियो जी म्हारा राज ।
बादळ वरणी सेज विछाव, राजीदा डोला, हार्या ने ढोळावूं हूं तो बीजणो जी म्हारा राज ।
सूता हंजामारु सुख भर नांद । इतरे में राई के हेलो मारियो जी म्हारा राज ।
उठो सुंदर गोरी दिवलो संजोय । दिये रे चांदणिये कागद बाचिया जी म्हारा राज ।
लिखियो ए सुंदर गोरी घोड़ो नें सिरयाव । लिखी हूं जोघाणे गढ़ री चाकरी जी म्हारी नार ।
मरजो रे राईका बारोटी जी नार । सँजारो विछोवो कुसनी पाड़ियो जी म्हारा राज ।
मत दो सुंदर गोरी राईके नें गाळ । राईको राजाजी रो मेल्यो बाकियो जी म्हारा राज ।

पहली ओळेंग हंजामारु सुसरा जी नें मेल । हमकें नें ऊनालो खांतीला घर बसो जी
म्हारा राज ।

सुसरे जी री सुंदर गोरी, जावे रे बलाय । म्हारे तो तरीसा बेटा घोड़े चढे जी
म्हारी नार ।

दूजी ओळेंग हंजामारु जेठ जी ने मेल । हमकें जी चोमासे आलीजा घर बसो जी
म्हारा राज ।

जेठ जी री सुंदर गोरी कळहगारी नार । नित उठ नें शगड़ों नूत सी जी म्हारी नार ।

तीजी ओळेंग हंजामारु देवर जी नें मेल । इवकें तो सीयाळे मदछक्या घर बसोजी
म्हारा राज ।

देवर जी सुंदर गोरी वाळी-भोळी नार । ऊमी नें किरळावे कायर मोर ज्यूं जी
म्हारी नार ।

इतरां री हंजामारु ये ही रे सपूत । नितरा तो पधारो जोघाणे री चाकरी म्हारा राज ।
इतरां में सुंदर गोरी म्हे ही एसपूत । नितरा तो उठने जावां जोघाणे री चाकरी जी
म्हारी नार ।

उठो घाईसा डागळिये चढ जोय । कुण जी रे सिघाया, कुण जी रे घर बसें म्हारा राज ।
चढिया भावज म्हारोड़ा बढ वीर । थाने तो सुगुणो रो सायबो जी म्हारा राज ।
शेली शेली सुंदर गोरी घोड़े री लगाम । आंसू तो रळकाया कायर मोर ज्यूं जी
म्हारा राज ।

लीनी हंजामारु हिवड़े लगाय । आंसूड़ा तो पूछ्या हरिये रुमाल सूं जी म्हारा राज ।
वेवो नी सुंदर गोरी हूँस हूँस सीख । साईना सिघाया छेती में म्हे पड्या जी म्हारी नार ।
सीखइली हंजामारु दीवी रे न जाय । छाती तो भरीजे हिवड़ो ऊवके जी म्हारा राज ॥

यह एक लोकप्रिय गीत है । इस की लोकप्रियता का कारण यह है कि जीवन में
नित्यप्रति ऐसी घटनाएँ घटती हैं ।

(१५) सोहर के गीतों को राजस्थानी में 'हालरा' कहते हैं । उन का एक नमूना
यहां देते हैं—

पुत्र-विहीना अभागिनी सरोवर के किनारे गई । उसे देख कर हंस, बगुला आदि
पक्षी उड़ गए । वह घगीचे में गई तो वृक्षों पर फलों को कच्चा पाया और वाय के पक्षी

उस के अशुभ दर्शन से उड़ गए। बाजार में गई तो दूकानदारों ने दूकानें बंद कर दीं। घर की रसोई में गई, तो देवर-जेठ उस से घिना कर उठ खड़े हुए। यही नहीं रंग-महल में पति ने भी इस निपूती अभागिन का स्वागत नहीं किया। हाय, एक पुत्र के बिना इस अभागिन के लिए सारा संसार शून्य है—अमंगलमय है—अस्पृश्य है।

परंतु ज्यों ही दैव की कृपा से इस स्त्री की कोख पुत्रवती हुई, त्यों ही सारे संसार का रंग बदल गया। सरोवर, बाग, घर, रंगमहल सब जगह इस का आदर हुआ। पलने में झूलते हुए पुत्र के मुखड़े की हास्य-रेखा ने सारी दुःख-कालिमा को धो कर गार्हस्थ्य के चित्रपट पर नए-नए सुंदर स्वर्गीय चित्र अंकित कर दिए। इसी लिए तो सृष्टि के आदि से मानव के हृदय में पुत्र-प्राप्ति की इच्छा न बुझने वाली चिनगी की तरह जल रही है।

गीत इस प्रकार है—

मा, सहस-तळावां में गई जे। रीता ए समंद-तळाव, हंसा दुगला उड रह्या जे।
मा, बाग-वगीचां में गई जे। मा, काचा ए दाड़म दाख, कोयल कागा उड गया जे।
मा, सहस-वजारां में मैं गई जे। मा, हाट्यां ए सैं जड़ली हाट, बाजीजर का उठ रह्या जे।

मा, राम-रसोयां में मैं गई जे। मा, जीमं देवर-जेठ, बाई जी रो उठ रह्या जे।
मा, रंग - महलां में मैं गई जे। मा, सूत्या ए बाई जी का वीर, हाथ पकड़ जोठी करी जे
मा, आयो ए आळ-जंजाळ। मा,, कूखड़ली चरण भई जे।
मा, सहस-तळावां में गई जे। मा, भरियो हिलोळा खाय, हंसा दुगला रम रह्या जे।
मा, सहस-वगीचां में गई जे। मा, पाक्या सैं दाड़म दाख, कोयल सुवटा खा रह्या जे।
मा, सहस-वजारां में मैं गई जे। मा, हटवां सैं खोली हाट, बाजीजर का रम रह्या जे।
मा, रंग-महलां में मैं गई जे। मा, देख्यो गीगो महलां मांय, पालणिये में झूलतो जे।।

सब कुछ कह लेने के बाद आखिर यह उस अभागिन का स्वप्न ही है जो, वह अपनी मा से कहती है।

सुपनो

(१६) सोभाग्यवती सुहागिन ने एक अद्भुत स्वप्न देखा, उसे अपने पति से कहा और उस से स्वप्न का तात्पर्य पूछा। पति ने किस विलक्षण प्रतिभा और विवेक के साथ स्वप्न का अर्थ बताया, यह नीचे के गीत में है—

सुणो ओ भँवर, म्हाँ ने सपनो सो आयो जी राज । सपना रो अरथ बतावो, जी राज ।
 कहो ए गोरी, थाँने किण बिध आयो जी राज । सपना रो अरथ बतावाँ, जी राज ।
 हंस सरोवर ढोला गाजत देख्यो, जी राज । मानसरोवर जळ भर्यो, जी राज ।
 वागाँ माँयला चपलाँ म्हे फूलत देख्या, जी राज । फुलड़ा वीण दोय कामणी, जी राज ।
 पोळाँ माँयला हसती म्हे घूमत देख्या, जी राज । हरी हरी दूव घोड़ा चरै, जी राज ।
 आँगणिया रो चौक म्हे पुरत देख्यो, जी राज । ऊपर कुंभ कलस धर्यो राज ।
 महलाँ माँयले दिवलो म्हे जगतो देख्यो, जी राज । दिवला ली जोत सुहाई, जी राज ।
 हंस सरोवर गोरी, पीर तुम्हारो, जी राज । मानसरोवर थाँरो सासरो जी म्हाँरी नार ।
 वागाँ माँयला चंपला वै बीर तुम्हारा, जी राज । फुलड़ा विण थाँरी भावजाँ जी
 म्हाँरी नार ।

पोळाँ माँयला हसती वै जेठ तुम्हारा, जी राज । हरी हरी दूव सुवासणी जी म्हाँरी नार ।
 आँगणिया रो चौक, वो कँवर तुम्हारो, जी राज । कुंभ-कलस थारी कुछ बहू म्हाँरी नार ।
 महलाँ माँयलो दिवलो, वो कंत तुम्हारो, जी राज । दिवला री जोत ये सायबाणी जी
 नार ।

धन धन वसदेव जी रा छावा, जी राज । सपना रो अरथ भलो दियो, जी म्हारा राज ।
 धन धन ए साजनियाँ री जाई, जी राज । सपना रो अरथ भलो लियो जी राज ।

‘प्रिय, मैंने अपूर्व स्वप्न देखा । उस का अर्थ आप बताओ ।’

‘कहो सुंदरी, कैसा स्वप्न आया ? मैं अर्थ बताऊँगा ।’

स्त्री स्वप्न बखानती है—एक ओर गरजता हुआ हंससरोवर देखा, दूसरी ओर मानसरोवर जल से भरा देखा । वाग के चंपक फूलते देखे, जिन के फूल दो सुंदरियाँ बिन रही थीं । पोल में हाथी झूमते देखे और हरी-हरी दूव देखी जिसे घोड़े चर रहे थे । आँगन में चौक पुराते देखा और उन पर कुंभ कलश रखता देखा । महलों में दीपक जलते देखा । दीपक की ज्योति मेरे मन को बहुत भाई ।

पति स्वप्न का अर्थ बताता है—हंससरोवर तुम्हारा पीहर और मानसरोवर समुराल है । वाग के चंपक तुम्हारे भाई और फूल चुनने वाली सुंदरियाँ भोजियाँ हैं । पोल के हाथी जेठ और दूव ननद बाई हुई । आँगने के चौक तुम्हारे पुत्र और कुंभ-कलश ब्रधू हुई । महलों का दीपक, मैं, तुम्हारा पति और उस की ज्योति तू, मेरी प्यारी पत्नी ।

इस पर स्त्री प्रसन्न हो कर कहती है—‘धन्य है पतिदेव (वसुदेव के पुत्र) स्वप्न का अर्थ आप ने अच्छा किया।

वदले में पति कहता है—‘धन्य है प्रिये, जो तू ने ऐसा स्वप्न देखा और उस का अर्थ समझा।’

‘ओळ्यूँ’

(१७) पुत्री को विवाह के बाद विदा करते हुए महर्षि कण्व का भी हृदय व्यथित हो गया था, फिर सांसारिक मा-त्रापों का तो कहना ही क्या ? इस अवसर के गीत राजस्थान में “ओळ्यूँ” कहलाते हैं। ओळ्यूँ का शब्दार्थ है “प्रिय की स्मृति”। करुण रस का एक प्रबल श्रोत ओळ्यूँ के गीतों में मिलता है और मार्मिक भावुकता उन में लबालब भरी रहती है। यों तो इस प्रसंग के सैकड़ों गीत हैं जो बहु प्रचलित हैं पर यहाँ पर नमूने के तौर पर दो गीत देते हैं—

पीहर के परिवार की स्त्रियाँ लड़की को ससुराल विदा करती हुई गाती हैं—
हरिये वन री कोयली।

थारे बाबो सा’ बाग लगायो ए वनड़ी, थारे बिन कुण सौंचेगो।

म्हारे हरिये वन री कोयली ॥

थारे बागाँ में फुलड़ा फूल्या ए वनड़ी, थारे बिन कुण तोड़ेंगो।

म्हारे हरिये वन री कोयली ॥

थारे बागाँ में हींडो घाल्यो ए वनड़ी, थारे बिन कुण हींडेगो।

म्हारे हरिये वन री कोयली ॥

आंगणिये माँव थारो रोवत भतीजो, थारे बिन कूण खेलावेगो।

म्हारे हरिये वन री कोयली ॥

गुडियाँ ए घरी थारी आळे-दिवाळे, देख ’र जो भुकावे ए।

म्हारे हरिये वन री कोयली

संग री सहेल्याँ थारी घर नहिं क्षाँक, बँ देख दूराँ सँ ही जावे ए॥

म्हारे हरिये वन री कोयली ॥

कोई व न अब म्हारे आंगण खेलै, यो तो सूनो दरसावे ए।

म्हारे हरिये वन री कोयली ॥

थारी माता को हिवड़ो ऊझळै, वा तो नैणा नीर बहावै ए ॥

म्हारे हरिये वन री कोयली ॥

तेरे पिता ने सुंदर बाग लगाया है, पर अब उसे तेरे बिना कौन सीचेगा ? ए मेरे हरे वन की कोयल ! तेरे बाग में फूल खिले हैं; उन्हें तेरे बिना कौन तोड़ेगा। बाग में झूला पड़ा है, उस पर अब कौन झूलेगा ? घर के आंगन में तेरा भतीजा रोता है; उस को, अब कौन खिलावेगा ?

घर में जहाँ-तहाँ तेरी गुडियाएँ पड़ी हैं, उन्हें देख कर जी अकुलाता है। तेरी सहेलियाँ अब इस घर में झाँकती तक नहीं, दूर से ही देख कर चली जाती हैं।

माता कहती है—‘बेटी, मेरे आंगन में अब कोई नहीं खेलता, यह सूना पड़ा है और तेरी माता का हृदय—वह तो उस से भी अधिक सूना पड़ा है, और वह रात दिन आँखों से आँसू बहाती है।’ ए मेरे हरे उपवन की कोयलिया !

विरह से जगाई हुई स्नेह-स्मृति में एक प्रकार का अनिवर्चनीय सूनापन होता है। उस सूनेपन का भाव मूर्तिमान हो कर सुपुष्ट मात्रा में इस गीत में अंकित हुआ है।

(१८) पीहर से विदा होती हुई नववधू अपने पति से विनय करती है—

अक वर करला थारा मारु जी, पाछा जी मोड़ ।

राजीँदा ढोला, ओळूँ घणी आवे म्हारी बावो साँरी ।

सुंदर गोरी, ओळूँ थारी परी रे निवार ।

चंपकवरणी, बावो साँरी भोळ सुसरो जी भांगसी ।

अक वर करला थारा मारुजी पाछा जी मोड़ ।

राजीँदा ढोला, ओळूँ घणी आवे म्हारी माय री ।

सुंदर गोरी, ओळूँ थारी परी रे निवार ।

भिरगानेणी, मारु जी री भोळ सासूजी भांगसी ।

अक वर करला थारा मारुजी, पाछा जी मोड़ ।

राजीँदा ढोला, ओळूँ घणी आवे म्हारे वीर री ।

सुंदर घण तूँ ओळूँ थारी परी रे निवार ।

चंपकवरणी, घीरे जी री, भोळ, देवर भांगसी ।

अेक वर ओ मारु जी करला थारा पाछा जी मोड़ ।

राजींदा डोला, ओळूं घणी आवे म्हारी छोटी वैन री ।

सुंदर घण, तूं ओळूं थारी परी रे निवार ।

मिरगानैणी, वहनड़ी री भोळ नणदल भांगसी ॥

‘एक बार, केवल एक बार, प्रियतम, अपने ऊँट को लीटा लो । राजन्, मुझे अपने पिता की बहुत याद आती है’ ।

‘चंपकवरणी प्यारी, तुम याद को छोड़ो । पिता की कमी तुम्हारे ससुर पूरी करेंगे ।’

इसी प्रकार परिवार से विछुड़ती हुई इस कन्या को माता की, भाई की, छोटी बहन की याद आती है और यह उन से जी भर कर मिल लेने के लिए पति को रोकना चाहती है, परंतु पति उसे आश्वासन देता है कि इन की कमी क्रमशः उस की सास, देवर और ननद पूरा करेंगी । पर क्या इस आश्वासन से हृदय को वीरज मिलता है ? कैसी व्याकुलता से भरा है यह विनय ! हरिणी मानो बंधनों को छुड़ा कर स्वच्छंद अपने उपवन में, विचरने को अकुला रही है । हृदय में तूफान आया है । उसी की कसमसाहट ने भोली बधू को बाध्य किया होगा कि वह लज्जा के अकाट्य आवरण को हटा कर, इस स्पष्टता और दयनीयता के साथ अपने नवपरिचित प्रेमी से प्रार्थना कर रही है ।

पणिहारी

(१९) ‘पणिहारी’ के गीत राजस्थान देश के सर्वोत्तम परिचायक हैं । उन में जो सौंदर्य, स्थानीय रंग और देशीय छटा का विवरण मिलता है, उस के प्रत्येक अंश पर राजस्थानी जीवन की गहरी छाप लगी रहती है । बरसात राजस्थान की सर्वोत्तम ऋतु है और इस ऋतु में सरोवरों के तट पर संध्या-सवेरे पणिहारियों के समूह—“झूलरों”—का वस्त्राभूषण से सज कर, एक स्वर से गीत गाते हुए आना-जाना, एक ऐसा स्वर्गोपम दृश्य है, जिस की कल्पना मात्र करने से सौंदर्य की विभूतियां जागृत होती हैं । साक्षात् देखने से तो, और ही आनंद आता है । कला की दृष्टि से भी यह दृश्य भारतीय संस्कृति को राजस्थान की एक उत्तम देन समझा जा सकता है । पणिहारी प्रथा के आयोजन में साहित्य, संगीत और कला—तीनों आदर्शों का पूर्ण समन्वय हुआ है । इसे केवल पढ़ कर साहित्यिक संतोष

कर लेने से ही पूर्णानंद का लाभ नहीं समझ लेना चाहिए। इस का सजीव सौंदर्य तो इस के वास्तविक दृश्य में रहता है और इस की कलात्मक मयुरिमा बसती है इस के स्वर्गीय संगीत में। बाहरी जगत के अधिकाधिक संपर्क से तथा जमाने की बदलने वाली हवा से अब यह प्रथा शिथिल होती जा रही है, परंतु तो भी लुप्त नहीं हो गई है। यों तो सभी राज्यों में यह दृश्य देखने को मिलता है परंतु मारवाड़ और मेवाड़ की पणिहारियों का दृश्य विशेष मनमोहक होता है। नागोड़, मेड़ता, उदयपुर, भूँडवा, जोधपुर आदि नगरों में यह दृश्य सुलभता से देखा जा सकता है।

इस प्रथा ने वैयक्तिक दृष्टि से भी गृहस्थ-जीवन में कलात्मक भावना की सुरुचि का समावेश किया है, जिस से प्रेरित हो कर कुछ अंश में नागरिक जीवन में सौंदर्योपासना, स्वच्छता और संगठित जीवन की ज्योति का कुछ आभास आया है।

‘पणिहार’ के गीत अनेक हैं। उन में से एक बहु-प्रचलित गीत नमूने के तौर पर देते हैं—

काळी ए कळायण अमटी, पणिहारी ए लो।

भोटोड़ी छाँदयाँ रो बरसै मेह चाँला जो।

भर नाडा भर नाडिया ए पणिहारी ए लो।

भरियो भरियो समेव तळाव चाँला जो।

किण जी खुणाया नाडा-नाडिया पणिहारी ए लो।

किण जी खुणाया तळाव चाँला जो।

सुसरं जी खुणाया नाडा-नाडिया पणिहारी ए लो।

पिव जी खुणाया तळाव चाँला जो।

सात सहेल्याँ रे झूलरे ए पणिहारी ए लो।

पाणीड़े नें चाली रे तळाव चाँला जो।

घड़ो य न डूबै ताळ में ए पणिहारी ए लो।

ईढोणी तिर तिर जाय, चाँला जो।

सातूँ ए सहेल्याँ भर नीसरी ए पणिहारी ए लो।

पणिहारी रही रे तळाव, चाँला जो।

बैवते ओठीड़े ने हेले मारियो ए लंजा ओठीड़ा ए लो।

घड़ियो उखणावतो जाय, वा'ला जो।

ओराँ रे काजळ - टीकियाँ ए पणिहारी ए लो।

थारोड़ा दीसे है फीका नैण, वा'ला जो।

ओराँ रे ओढण चूनड़ी ए पणिहारी ए लो।

थारोड़ो मंलो सो वेस, वा'ला जो।

ओरा रा पिव जी घर बैसै रे लंजा लंजा ओठीड़ा ए लो।

म्हारोड़ा वसै परदेस, वा'ला जो।

घड़ो तो पटक दे नी ताळ में ए पणिहारी ए लो।

चालंती ओठीड़े री लार, वा'ला जो।

बाळूँ तो जाळूँ थारी जीभड़ली ए लंजा ओठीड़ा ए लो।

इसे तनेँ काळो नाग, वा'ला जो।

घड़ो तो भर नें पाछी वळी ए पणिहारी ए लो।

आई आई फळसै री वार, वा'ला जो।

घड़ों तो पटक दूँ ऊभी चीक में ए म्हारा सासू जी ए लो।

वेगेरो घड़ियो उत्तराव, वा'ला जो।

किण थाने मोसो मारियो ए म्हारा बहूजी ए लो।

किण थाने दीवी है गाळ, वा'ला जो।

अेक ओठी मनै रसो मिल्यो रा म्हारा सासूजी ए लो।

पूछी म्हारे मनड़े री बात, वा'ला जो।

देवर जी सरीसो डीवो पातळो ए म्हारा सासूजी ए लो।

नणदल चाई सा रे उणिहार वा'ला जो।

ये तो बहू जी भोळा घणा ए म्हारा सासूजी ए लो।

ओ तू थारोड़ो ही भरतार, वा'ला जो॥

पावस की काली घटा उमड़ आई है, और मोटी-मोटी बूंदों वाला मेह बरसने लगा है। ताल-तलैयाँ भर गए हैं और समुद्र की तरह विशाल सरोवर भी भर गया है।

‘ए पणिहारी, ये ताल-तलैयाँ किसने खुदवाए हैं? और किस ने खुदवाया है यह विशाल तालाब?’

‘ससुर जी ने ताल-तलैयाँ खुदवाई हैं और प्रियतम ने तालाव बनवाया है।’

सात सहेलियों का झूलरा बना कर पनिहारी तालाव को पानी भरने चली। तालाव लवालब भरा है; घड़ा डुबोया नहीं जाता और ईढोणी पानी पर तर-तर जा रही है। इस लिए कि परदेसी प्रियतम की याद में पनिहारी अपना आपा भूल चुकी है।

रास्ते जाते एक ऊँट के सवार (ओठी) को आवाज़ दी और घड़ा उठाने को कहा। किसे पता था कि यही ओठी परदेस से लौटता हुआ पनिहारिन का पति निकलेगा।

ओठी ने भेदभरी बातें पूछी—‘ए पनिहारी, औरों ने कज्जल-बेंदी लगा रखी हैं, तेरे नेत्र फीके से क्यों हैं। औरों ने चुनड़ियाँ ओढ़ी हैं और तेरे ये मैले से वस्त्र !’

‘धीरों के स्वामी घर पर हैं।’ चतुर ओठी, मेरा पति विदेश गया है।’

इस पर ओठी ने ठीक ही तो कहा, परंतु पनिहारी इस व्यंग्यपूर्ण परिस्थिति का रहस्य कैसे समझती? ओठी ने कहा—‘घड़े को ताल में पटक दे और मेरे पीछे हो जा।’

‘जला दूँ तेरी जीभ को ओठी, तुझे काला सर्प डसे। जो तू मेरे पातिव्रत पर कुदृष्टि रखता है।’

पनिहारी वापिस घर को आई। सात्विक क्रोध से उस का मिजाज गर्म हो गया था। सास से जल्दी से घड़ा उतारने को कहा। सास ने कुछ अनर्थ की संभावना समझ कर वहाँ से पूछा—‘बहूरानी, किस ने तुझे ताना दिया है—किसने गाली दी?’ वहाँ ने कहा—‘मुझे आज तालाव पर एक ओठी मिला जिस ने मेरे मन की बात पूछी। वह ओठी शान शकल में देवर और ननद बाई से मिलता था।’ सास ताड़ गई—‘भोली वहाँ, वह तो तेरा ही भरतार है।’

गीत-कथा

(२०) बूढ़े ठाकुर के पास हाड़ेराव का परवाना आया। परतंत्र रह कर नौकरी बजाना ठाकुर की स्वतंत्र तबियत को सहन नहीं होता था, उस पर यह वृद्धावस्था। कोई पुत्र होता तो उसे ही एवज में भेज दिया जाता; यहाँ तो एक ही लड़की थी। परंतु यही वीर लड़की बनेक सुपुत्रों की कमी पूरा करने वाली थी। सजना ने किस प्रकार अपने पिता का कष्ट दूर किया, इस गीत में बड़े सुंदर ढंग से कहा गया है—

बैठचा बाबो जी तखत विछाय।

कागदिया तो आया जी बाबे जी रे हाडे राव रा।

कागद बाबा जी म्हाँने बाँच सुणाय।

काँई रे लिख्यो छै बाबा जी कोरे कागदाँ।

कागद वाई जी बाँच्यो ए न जाय।

छाती तो फाटे ये वाई सजना हिवड़ो ऊसळै।

एवड़ छेवड़ लिखी छै सात सिलांम।

बीच में तो लिखियो ए वाई सजना बेग पधारणा।

थे म्हारा बाबो जी वे दिल मत होय।

बारें तो वरसां लग करसां चाकरी।

करिया सजना मरदाना भेस।

करला ललकार्या ए वाई सजना ढळती रात रा।

बूभयो सजना गायीं रो ए गुवाळ।

सीव बत्तावो रे भाई हाडे राव री।

या ही छै ओठी राजा जी री सीवें।

तालर थोड़ा ए वाई सजना सरवर मोकळा।

बूभयो सजना मालीड़े रो पूत।

वाग बत्तावो रे माळीका, राजा जी रो कूण सो।

यो ही छै ओठीड़ा हाडेजी रो वाग।

आमू तो पाक्या ओ ओठीजी नींवू रस भर्या।

सजना बूक्षी पाणी री पणिहार।

होद बत्तावो ए पणिहार्यां हाडे राव रो।

यो ही छै सजना समेद तळाव।

डेरा तो डाळ्या ए वाई सजना समेद तळाव पर।

बूभयो सजना चेजारे रो पूत।

महल बत्तावो रे भाईड़ा हाडे राव रो।

यो ही छै ओठी राजा जी रो महल ।

केळ झवरखँ रे ओठीड़ा राजा जी रे चारणँ ।

भाभी म्हाँने अजरज होय ।

नैण नारी रा ये बोली बोलँ मरद री ।

एक वर देवर बागाँ में ले चाल ।

वेरो तो पाड़ाँ ओ देवरिया नारी मरद को ।

नारी होय तो पड़्या रिड़्या फल खाय ।

मरद हुवँ तो तोड़ँ फूल गुलाब को ।

राजा जैमल पड़्या रिड़्या फल खाय ।

गायड़ मल री सजनाँ ओ या तोड़ँ फूल गुलाब रो ।

भाभी म्हाँने अजरज होय ।

नैण नारी रा ये आ बोली बोलँ मरद री ।

अक वर देवर ले चालो समँद तळाव ।

वेरो तो पाड़ाँ ओ देवरिया नारी मरद को ।

नारी होय तो ईराँ-तीराँ न्हाय ।

मरद मुँछाळो यो न्हावँ समँद झकोळ कै ।

राव जैमल ओराँ-तीराँ न्हाय ।

गायड़ मल री सजनाँ तो या न्हावँ समँद झकोळ के ।

भाभी म्हाँरे मन में आवँ रीस ।

नैण नारी रा ये आ बोली बोलँ मरद री ।

अक वर देवर राय-रसोई ले चाल ।

वेरो तो पाड़ाँ ओ देवरिया, नारी मरद को ।

नारी होय तो धीरे धीरे खाय ।

मरद मुँछाळो तो यो झट दे जीम चळू की ।

भाभी म्हाँरे मन में आवँ रीस ।

नैण नारी रा ये आ बोली बोलँ मरद री ।

लेक वर देवर सेजाँ में ले चाल।

बेरो तो पाड़ाँ ओ देवरिया नारी-मरद को।

नारो होय तो फूल ज्युं कुमळाय।

मरद मुँछाळे री सेजाँ ओ देवरिया सळवट ना पड़े।

होगी सजना घुड़ले अत्तवार।

दिन तो उगायो ए बाई सजना बावो जी रे देस में।

उळंगी सजना समंद-तळाव।

चुड़लो दिखायो जी बाई सजनाँ बाँवै हाय रो।

उठ ओ बावा जी ढकियो फळतो खुलाय।

घारें वरसाँ री ओ बाई सजना कर आई चाकरी।

बाबा जी को हाड़ेराव का कागज आया है, जिस को अपनी बेटी सजना को पढ़ कर सुनाते हुए बूढ़े ठाकुर का हृदय भर आता है। आखिर सजना को मालूम हो गया। उस ने हिम्मत के साथ पिता से कहा—‘आप निश्चित रहें। भाई नहीं तो मैं ही बारह वर्ष की चाकरी आप के बदले कर आऊँगी।’

सजना ने तुरंत मरदाना वेप बनाया और ऊँट पर सवार हो हाड़ाव के देश को चल पड़ी। पूछती-पूछती पहुँच गई। राव की एक भावज थी जिसे सजना के मरदाने वेप पर संदेह हो गया और वह बार-बार देवर को उकसाने लगी कि वह इस की जाँच करे। तीन बार जाँच हुई। एक बार बाग में, दूसरी बार तालाव पर, तीसरी बार रसोई में। सजना अपनी चतुराई से तीनों बार सफल हुई। चौथी बार की जाँच विकट थी। रंगमहल, में ले जा कर सजना की परीक्षा करने का प्रस्ताव था। सजना को यह मालूम होते ही वह वीर महिला वहाँ से चल निकली और दूसरे दिन पिता के देश को आ गई। इस प्रकार सजना ने पिता के प्रति अपना कर्तव्य पालन किया।

गाँवों के गीत (ग्राम-गीत)

हिंदी में, और अन्यत्र भी, (परंतु हिंदी से कम) यह धारणा देखी जाती है कि किसी प्रकार का लोकगीत हो उसे ग्रामगीत कहा जाता है। ग्राम-गीत गाँव के जीवन के गीतों के लिए ही उपयुक्त नाम हो सकता है—सब प्रकार के गीतों के लिए नहीं। ग्राम-गीतों और

लोकगीतों में हम ने यही भेद किया है कि सब प्रकार के गीत, जो व्यक्ति-विशेष की रचनाएँ नहीं हैं, बल्कि लोक की परंपरागत रचनाएँ हैं, लोकगीत हैं। गाँव के गीत—ग्रामीण जीवन के गीत—ग्रामगीत हैं। एक का क्षेत्र विस्तृत है, दूसरे का संकीर्ण। लोकगीतों में ग्रामगीत आ जाते हैं, पर ग्रामगीतों में लोकगीत नहीं आते। दोनों में व्याप्य-व्यापक का संबंध है।

कुछ गाँव के गीत नीचे उद्धृत करते हैं, जिन में प्राकृतिक जीवन, भोलापन और सादगी के भाव कूट-कूट कर भरे हैं।

(२१) गाँव के स्वच्छंद जीवन में एक मस्ती होती है, एक आत्म-विश्वास, एक अलहड़ गर्व होता है, जो नागरिक जीवन में कम मिलता है। इसी अलहड़ गर्व और मस्ती भरे आत्म-विश्वास का उदाहरण नीचे के गीत में मिलता है—

वनवारी हो लाल कोन्यां थारे सारै। गिरधारी हो लाल कोन्यां थारे सारै ॥ टेक ॥

अं सहल-माछिया थारै। थारी वरोवरी म्हे करां स, कोई टूटी टपरी म्हारै ॥

गिरधारी हो लाल ० ॥

अं काम धेनवां थारे। थारी वरोवरी म्हे करां स, कोई भैंस पाडड़ी म्हारै ॥

वनवारी हो लाल ० ॥

अं हाथी घोड़ा थारे। थारी वरोवरी म्हे करां स, कोई ऊँट, टोडड़ा म्हारै ॥

गिरधारी हो लाल ० ॥

अं भाला बरछी थारे। थारी वरोवरी म्हे करां स, कोई जेळी गंडासी म्हारै ॥

वनवारी हो लाल ० ॥

ओ रतनागर सागर थारे। थारी वरोवरी म्हे करां स, कोई ढाव भर्या हं म्हारै ॥

गिरधारी हो लाल ० ॥

अं तोकस-त्तकिया थारे। थारी वरोवरी म्हे करां स, कोई फाटी गुदड़ी म्हारै ॥

वनवारी हो लाल ० ॥

आ राधा-राणी थारे। थारी वरोवरी म्हे करां स, कोई एक जाटणी म्हारै ॥

गिरधारी हो लाल ० ॥

हे वनवारी, हे गिरधारी, तुम चाहे कितने ही बड़े हो, मैं अब तुम्हारे वश में नहीं हूँ।

तुम्हारे महल हैं, पर मेरी टपरी भी उस से कम नहीं, क्यों कि मैं संतोष से उस में रहता हूँ।

तुम्हारे कामधेनु है तो मेरे पास भैंस-नायादि हैं। तुम्हारे हाथी-घोड़े हैं—मेरे ऊँट-बैलादि।

तुम्हारे पास भाले वरछे आदि शस्त्र हैं तो मैं अपनी जेली, गंडासा से ही प्रसन्न हूँ।

तुम खत्ताकर सागर में सोते हो, तो मेरे गाँव में पानी की भरी तलैयाँ हैं।

तुम्हारे कीमती तोकस-तकिये आदि सौख्य का सामान है, तो मैं अपनी फटी गुदड़ी में ही मस्त हूँ। तुम्हारे राधा-रानी और और रानियाँ भी हैं, पर मैं तो एक जाटनी से ही संतुष्ट हूँ।

यद्यपि वृत्तांत में त्रिलोकपति से किस बात में कम हूँ ?

(२२) वर्षा ऋतु गाँवों में, विशेषतः राजस्थान के गाँवों में, नव-जीवन, उल्लास, स्फूर्ति और आनंद की लहर लाती है। किसानों के दिल हरे हो कर लहराने लगते हैं और वे कड़ा से कड़ा परिश्रम कर के नहीं थकते। उसी तरंगित ग्रामीण हृदय का अक्स कुछ गीतों में खिंचा हुआ है।

ग्राम-वधू वरसात के दिनों में अपनी और अपने समुराल के परिवार की दिन-चर्या इस गीत में बखानती है—

झिरमिर झिरमिर मेहड़ो बरसै, बादलियो घररावे ए ॥

जेठ जी तो मेरा बूजा काटै, परण्यो हलियो बाँवै ए ॥ झिरमिर झिरमिर ० ॥

देवर मेरो करै अलसोटी, जेठानी रोटी ल्यावै ए ॥ झिरमिर झिरमिर ० ॥

बादलियो भतीजो मेरो खेड़ चरावै, ननदल गायो घेरें ए ॥ झिरमिर झिरमिर ० ॥

गवाळां नै म्हारे गलछट चूरमो, हाळ्यां नै खीर लापसो ए ॥ झिरमिर झिरमिर ० ॥

नन्हीं-नन्हीं बूंदों में मेह बरस रहा है, बादल गरज रहा है। मेरा जेठ खेत निरा रहा है और मेरा पति हल चला रहा है।

देवर धलसोटी कर रहा है और जेठानी गाँव से खेत में रोटी (छाक) ला रही है। बालक भतीजा भेड़ों का खेड़ चरा रहा है और ननद गायें घेर रही है।

और मैं घर में बैठी इन परिवार-जनों के लिए रसोई बना रही हूँ। संध्या को इन

के खेत से घर लौटने पर ग्वालों को घी-युक्त चूरमा और हल करने वालों को खीर और लपसी बना कर खिलाऊँगी।

(२३) इसी तरह का एक दूसरा ग्राम-जीवन का चित्र है जिस में पशु-जगत् प्रधानता के साथ आया है। वही ग्राम-व्यू कह रही है—

मेरो देवरियो चरावै साँड, करला गरजणा।

टोडियो चरावै, टोडड़ी चरावै, वो तो ल्यावे ल्यावे घराँ ए चराय साँदया गरजणा।

भैंस्याँ चरावै वो तो भूरटी, वो तो ल्यावे ल्यावे घराँ ए चराय भैंसा आरणा।

धोळती चरावै वो तो दू झणी, कोई न्यावे ल्यावे घराँ ए चराय साँड दडकणा।

मेरो जेठ जी बाँधँ टोडिया, मेरे परण्यो बाँधँ ऊँट, करला बोलणा।

मेरो बडलो भतीजो बाँधँ भूरटी, मेरो छोट्क्यो बाँधँ गाय, धोळी दूझणी।

म्हारो साँड दडकै गोर में, म्हारो भैंसो भैंस्याँ माँय, साँड दडकणा।

मेरो परण्यो चुंधावै टोडिया, मेरो जेठजी दूवँ भूरी झोट, करला गाजणा।

मेरी नणदल पकड़ै बाछड़ा, मेरो देवरियो दूवँ धोळी गाय, धोळ्याँ दूझणी।

मेरा देवर गरजने वाले ऊँट और ऊँटनियाँ चराता हैं, वह ऊँट के छीने चरा कर साँस को गरजती हुई ऊँटनियों को घर लाता है।

भूरी भैंसें भी वह चराता है और उन के साथ मोटे-ताजे जंगली भैंसे।

वह दुधारू गायें और गरजने वाले साँड भी चराता है और चरा कर उन्हें घर लाता है। इसी प्रकार जेठ जी, पति, बड़े और छोटे भतीजे और ननद को भी पशु-पालन और ग्रामीण गृहस्थ-संबंधी किसी न किसी कार्य में संलग्न बताया गया है।

(२४) चरखा ग्राम-जीवन की अंतरात्मा से अलग नहीं किया जा सकता। वह ग्रामीणों का इतना ही प्यारा है जितना जीवन का और कोई आवश्यक साधन। उस के तार-तार में, उस के स्वर-स्वर में ग्रामीण जीवन की आत्मा और चरित्र का राग ओत-प्रोत है। बहुत से गीत तो चरखे के स्वर में स्वर मिला कर गाए जाते हैं। परंतु अब शहरों की हवा गांवों में भी फैलती जा रही है और चरखा दिनोंदिन निष्प्राण और लुप्त होता जा रहा है। इस गीत में चरखे का वर्णन है—

चाल रे चरखला, हाल रे चरखला।

ताकू तेरो सोवणो, लाल गुलाबी माळ।

चरकूँ मरकूँ फिरँ घेरणी मधरो-मधरो चाल॥ चाल रे चरखला० ॥

गुड्डो तेरी राँग रंगीली, तकली चक्करदार।

चोखो वण्यो दमकड़ो तेरो, कूकड़ियो री लार॥ चाल रे चरखला० ॥

कातणवाळी छैल-छवीली, वैठी पीढो ढाल।

मही-मही वा पूणी कातै, लंबो काढे तार॥ चाल रे चरखला० ॥

ताकू (तकुवा), माळ (मालाकारडोर), घेरणी (हत्था), गुड्डो, तकली, दमकड़ो, कूकड़ो, पूणी, तार आदि विशेष शब्द हैं जो चरखे के यंत्र से संबंध रखते हैं। अब जमाना आ रहा है जब हम इन शब्दों को भी भूल रहे हैं। छैल-छवीली कत्तिन की भावना इस विवरण में जान डाल देती है।

(२५) एक ग्रामगीत में बड़ी शक्ति के साथ वाजरे के खिचड़े पर काव्य-प्रतिभा जगमगाती मिलती है—

म्हारो मीठो लागै खीचड़ो। म्हारो चोखो लागै खीचड़ो॥

छुल्लवयो-छांटयो वाजरो। म्हें बळी ए मुंगा की दाळ॥ मीठो खीचड़ो॥

बूखल घाल्यो वाजरो। म्हें छाल्ले घाली दाळ॥ मीठो खीचड़ो॥

म्हे नान्हो कूट्यो वाजरो। म्हें मांठी छांटी दाळ॥ मीठो खीचड़ो॥

खदबद सीझें वाजरो। कोई लयपय सीझें दाळ॥ मीठो खीचड़ो॥

दूध खीचड़ो खावा दैट्या। कोई तरसै म्हारी जाड़॥ मीठो खीचड़ो॥

वाजरे का 'खीचड़ा' मीठा लगता है। साफ़ किया—छांटा हुआ वाजरा और दली हुई मूँग की दाल।

ऊखल में वाजरा महीन कूटा गया और छाज में दाल छांटी गई। दोनों को मिला कर पकाते समय वाजरा 'खदबद' और दाल 'लयपय' ध्वनि करने लगी।

जब तैयार हुआ और दूध के साथ मिला कर घर के लोग खाने लगे, तो बनाने वाली बू के मुँह में पानी भर आया।

(२६) एक घनवान् छपक की कन्या, जो पिता के घर में आराम से पली थी, मानूली खेतिहर को व्याही गई। पति के घर का कठोर जीवन उसे कष्टकर लगा। इस

पर उस ने पिता से शिकायत की। पिता ने उसे आश्वासन दिया। जब मेह वरसा और वन-वान्य, फल, शाकादि की उपज हुई तो यही कठोर जीवन इस कन्या को रुचने लगा और वह अपने पिता को सराहने लगी, जिस ने इसे इस अदना परंतु परिश्रमी और ईमानदार खेतिहर को व्याहा। गीत का नाम 'हाळी' है। गीत इस प्रकार है—

काळी तो पीळी ए, मा मोरी, बावळी। वरसण लागो मेह।

मेरे बाबाजी ने कहियो ए, हाळी ने बेटी क्यूं दई ? ॥ टेक ॥

आठ बळदाँ की ए मा मोरी, नीरणी। आठ हाळ्याँ की छाक ॥

बाबा जी नें कहियो ए० ॥

दीनूँ देराणी-जेठाणी मेरी लड़ मरी। कूण उठावें म्हारी छाक ॥

बाबा जी नें कहियो ए० ॥

गज को तो काढो ए लाडो बेटी घूँघटो, मचक उठावो क्षाक्षी छाक ॥

बाबाजी नें कहियो ए० ॥

खेताँ तो खेताँ ए मा मोरी, में फिरी, कठेय न लाध्यो खेत ॥

बाबा जी नें कहियो ए० ॥

टीचे तो ओल्हे ए लाडो बेटी, टीवड़ी, जें तळे हाळीड़े रो खेत ॥

बाबा जी नें कहियो ए० ॥

देवर-जेठाँ के ए मायड़ मेरी, रुसणो, कूण उतारे म्हारी छाक ॥

बाबा जी नें कहियो ए० ॥

गज को तो काढो ए लाडो बेटी घूँघटो, मचक उतारो क्षाक्षी छाक ।

बाबा जी नें कहियो० ॥

डहराँ तो डहराँ ए मा मोरी बाजरो, टीवाँ मूळी ए जँदार ।

बाबा जी नें कहियो हाळी नें बेटी भल दीज्यो ॥

डहराँ तो डहराँ ए मा मोरी काकड़ी, टीवाँ में गुडस मतीर ॥

बाबा जी नें कहियो ए० ॥

मीठो तो लागे ए मा मोरी बाजरो, फीको तो लागे ए जवारं ॥

बाबा जी नें कहियो ए० ॥

खाटी तो लागे ए मा मोरी काकड़ी, मीठा तो लागे ए मतीर ॥

बाबा जी नें कहियो ए हाळी नें बेटी नित दीजो ॥

ए मा, काली-भीली घटा उमड़ी है और मेह बरसने को है। पिता जी से कहना कि खेतिहर को वेटी क्यों दी ! मैं आठ-आठ बैलों को चारा डालती हूँ और आठ हलियों की छाक पकाती हूँ। मेरी देवरानी-जेठानी आपस में लाड़ली हैं। खेत में ले जाने को मेरी छाक कौन उठावे ?

माता कहती है, लाड़ली वेटी, घबरा मत, शील-पूर्वक घूँघट निकाल कर ससुराल में रह। खुद झमक कर छाक उठा लिया कर।

ए मा, मैं खेत-खेत में घूमी लेकिन अपना खेत न मिला।

प्यारी वेटी, टीवे के तले छोटी टीवड़ी है उस के तले तेरे पति का खेत है।

इसी प्रकार माता-वेटी का प्रश्नोत्तर चलता है। अंत में मेह बरसा, टीवे-टीवे पर ककड़ी और मीठे मतीरे, वाजरा और मूली पैदा हुए, जिन्हें रुचि-रुचि कर इस कन्या ने खाया और अपने जीवन को धन्य समझा। अब यही लड़की माता-पिता को सलाह देती है कि कृपक का जीवन अच्छा जीवन है, अतएव उस की बहिनों को कृपकों को व्याहा जाय।

बारहमासा

(२७) कृपक के लिए उस का काम ही परमात्मा है। उस की ईश्वर की भावना लंबी-चौड़ी दार्शनिक दलीलों पर नहीं अटकी रहती। वह ईश्वर का रूप कौन-कौन सी विभूतियों में देखता है और उस की उपासना किस ढंग की है, यह बात इस गीत से मालूम हो जायगी।

‘साड़ महीने बिरखा लागी, वाजरियाँ री बाह।

माऊ जी म्हारे भातो लावँ, बाहरे साँई बाह॥

सावण महीने बाजर लागी, नीनाणाँ री नाह।

काचरियाँ री बेलीं टाळाँ, बाह रे साँई बाह॥

भादू महीने भुँगा होसी, तीवणियाँ री ताह।

बाजरियाँ री रोटी खावाँ, बाह रे साँई बाह॥

आसोजाँ में आसा लागी, हक्कालाँ री हाह।

राती बासे रोही रहत्याँ, बाह रे साँई बाह॥

काती महीने करड़ा सिट्टा, भावें इत्ता खाह ।
 काती महीने सिट्टा कीना, वाह रे साँई वाह ॥
 मिगसर महीने मोका महता, लेखो लेती साह ।
 लेय'र देय'र दूरा होस्याँ, वाह रे साँई वाह ॥
 पोह महीने पाळो पड़सी, खालड़ी रो खोह ।
 खालड़ी रो खोह कीनो, वाह रे साँई वाह ॥
 माह महीने पाळो पड़सी, पाणी पत्थर खाह ।
 पाणी रो तो पत्थर कीनो, वाह रे साँई वाह ॥
 फागण महीने फाग खेलै, गोपियाँ रो नाह ।
 महुड़े रो मद् पीयो, वाह रे साँई वाह ॥
 चैत महीने चंपा मोरी, चंचल मोरचा साह ।
 बिन बूठाँ ही हरिया होसी, वाह रे साँई वाह ॥
 वैसाखाँ में धूप पड़ सी, तावड़िये री ताह ।
 पड़छायाँ में पड़िया रहस्याँ, वाह रे साँई वाह ॥
 जेठ महीने धूप पड़सी, तावड़िये री ताह ।
 खेजड़ चढ़'र खोला खास्याँ, वाह रे साँई वाह ॥

कृपक के सादे जीवन का इस गीत में संपूर्ण इतिहास है। उस का काय ही उस का ईश्वर है। जब वह सफल हो जाता है तो उसे परमात्म-प्राप्ति का-सा सुख होता है, इस लिए वह ईश्वर को धन्यवाद देता है। क्या सचमुच जीवन की सारी फ़िलासफ़ी का निचोड़ इसी में नहीं है ! यदि है, तो हमें कृपक के जीवन से उपदेश लेना चाहिए।

आपाड़ महीने में वर्षा का आरंभ होता है, कृपक खेत में काम करता है और उस की माता उसे रोटी पहुँचाती है। सावन में वाजरा फूटता है, खेत निराया जाता है, काचर-मतीरकी बेलें बचा दी जाती हैं। भादों में भुनगे बहुत होते हैं जिन के शरीर के चमकीले भाग से लड़कियाँ गहने—मालाएँ आदि—बनाती हैं तरकारी खूब निपजती है और नई वाजरी की रोटियाँ बनाते हैं।

आसोज में फ़सल की आशा लग जाती है और 'हवकाल हाका' कर के चिड़ियाँ

उड़ाते हैं। कृपक रात में भी खेत में रहते हैं। कार्तिक में सिट्टे खूब होते हैं—चाहे जितने खाओ। वाह रे ईश्वर, तुझे धन्य है !

मिगसर में बनिया लेखा करता है। कृपक किसी प्रकार ले-देकर हिसाब साफ़ करता है।

पीप में जोर का जाड़ा पड़ता है जो चमड़ी को खा जाता है।

माघ में कड़ाके का जाड़ा पड़ता है, पानी जम जाता है।

फागुन में गोपियों के नाथ ने फाग खेला था; कृपक भी महुवे का मद पी कर मस्त रहता है।

चैत में चंपा फूलती है और मोर चंचल हो जाते हैं, इस महीने में बिना वर्षा के खेती होती है।

वैशाख और जेठ में धूप भयंकर पड़ती है; कृपक या तो छाया में झोपड़ी या वृक्ष के तले पड़ा रहता है अथवा खेजड़ों पर चढ़ कर फली तोड़ कर खाता है।

हे ईश्वर, तुझे धन्य है जो प्रत्येक ऋतु और मास में कृपक को नए-नए अनुभव और फल देता है !

नाट्यगीत

(२८) नृत्य, गीत और नाट्य का संबंध बहुत पुराना है। नाटक की उत्पत्ति सभ्यता के विकास से बहुत पहले इन्हीं तीन तत्त्वों से हुई थी। अब तक जिन गीतों के उदाहरण दिए गए, वे गेय मात्र हैं। परंतु इन के अतिरिक्त राजस्थानी में ऐसे गीत भी हैं, जो गेय होते हुए नृत्य और नाट्य भी हैं। गुजराती में 'गरबा' नाम के गीत इसी कोटि के गीत हैं। राजस्थानी में ऐसे गीतों का एक उदाहरण 'हरियाळो' गीत में मिलता है। विवाह अथवा अन्य किसी मांगलिक अवसर पर स्त्रियाँ इकट्ठी हो कर यह गीत गाती हैं। और स्त्रियाँ चारों ओर घिर कर ठेक गाती हैं और बीच वाली स्त्री गाई जाने वाली पंक्ति के भाव का नाट्य कर के दिखाती है। यह गांव का गीत है; इस लिए अधिकांश में कृपक-जीवन के व्यापारों का उल्लेख और नाट्य किया जाता है, परंतु नागरिक लोगों ने भी इस को अपना लिया। अतएव नागरिक व्यापारों का

उल्लेख और नाट्य भी इस में सम्मिलित कर लिया गया। गीत का क्रम और प्रश्नोत्तर नाट्य के साथ-साथ इस ढंग से चलता है—

सब स्त्रियाँ मिल कर गाती हैं—गोरी म्हारी ए, हरियाळो बूठी जे क्यूँ ? अर्थात् हरियाली के मौसम में वर्षा कैसे बरसती है ? तो, बीच वाली स्त्री नाट्य कर के भाव बताती है—यूँ म्हारा साजन यूँ जी यूँ (इस प्रकार—अर्थात् हाथों को इस ढंग से ऊँचा-नीचा कर के, मानो आकाश से पानी बरस रहा है।)

इसी प्रकार जब जेठ अथवा नवदोई को जिमाने का प्रसंग आता है तो नाट्य करने वाली स्त्री अपनी ओढ़नी की छोर को हाथ में ले कर उस में पंखा हाँकने का इंगित करती है।

भाव का क्रम-विकास गीत में इस ढंग से होता है—मेह बरसा, खेत जोते और निराए गए, उन की रखवाली हुई, फसल काटी गई, धान इकट्ठा हुआ, उस से रसोई बनी और फिर परिवार के आत्मीय, सगे-संबंधी निर्मात्रित कर के जिमाए गए।

गीत बहुत लंबा है। यहाँ पर थोड़ा सा प्रारंभिक और अंतिम भाग उद्धृत कर के बस करते हैं—

गोरी म्हारी ए हरियाळो बूठी जे क्यूँ ? यूँ म्हारा सायब यूँ जी यूँ ।
गोरी म्हारी ए हरियाळो वाई जे क्यूँ ? यूँ म्हारा सायब यूँ जी यूँ ।
गोरी म्हारी ए हरियाळो नीनाणी जे क्यूँ ? यूँ म्हारा सायब यूँ जी यूँ ।

×

×

×

गोरी म्हारी ए धीवड़ ने मुकलाई जे क्यूँ ? यूँ म्हारा सायब यूँ जी यूँ ।

अंत में दो एक बातों की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करते हैं। गीत हमारी जातीय संपत्ति हैं। इन में मनोविज्ञान, समाज-दर्शन और मानव-वृत्तियों का अखूट और अमूल्य भंडार भरा पड़ा है। इन्हें हम उपेक्षा की दृष्टि से न देखें; गँवारू समझ कर इन्हें लुप्त न होने दें। ये हमारी पूर्व-संस्कृति के अच्छे परिचायक हैं। जिस प्रकार भूतकाल के इतिहास को पढ़ कर हम अपने वर्तमान जीवन के लिए उपयोगी मार्ग निकाल सकते हैं, वैसे ही भूतकाल की संस्कृतियों के स्मारक-स्वरूप इन गीतों को हम जातीय उत्थान के

कार्य में लगा सकते हैं। यह जान लेना चाहिए कि गीतों की दुनिया मरी हुई दुनिया नहीं है, वह जीवित है। गीत हमारे सामाजिक, धार्मिक, नैतिक जीवन के एक बहुत बड़े भाग को अनुप्राणित करते हैं और हमारे समाज का आधा अंग गीतों की नींव पर अपनी धर्म-नीति और दिनचर्या को रखती है। ईश्वर करे, वह दिन शीघ्र आवे, जब हम अपनी इस खो रही बहुमूल्य संपत्ति को वचाने की प्राणपण से चेष्टा करें।

भारतीय साहित्य के सौ वर्ष

[लेखक—प्रोफ़ेसर अमरनाथ झा, एम० ए०]

यदि सन् १८३७ में, किसी भारतवासी से यह प्रश्न किया जाता कि भारतीय इतिहास में वे प्रमुख लेखक कौन हैं जिन की कृतियाँ पढ़ी जाने के योग्य हैं तो उत्तर में निश्चय ही प्रसिद्ध संस्कृत साहित्यिकों की ओर संकेत किया जाता। उस समय भी पढ़ी-लिखी जनता का अधिकांश संस्कृत का अध्ययन करता था; जिन लोगों का संबंध शासन से कर्मचारी के रूप में था, वे फ़ारसी भी पढ़ते थे। परन्तु उस समय सूरदास या तुलसीदास, विद्यापति या चंडीदास, बली या मीर के नाम किसी के मुँह पर न आते। संस्कृत इस समय भी अध्ययन का मुख्य विषय था। जनता की सभी आवश्यकताओं की पूर्ति संस्कृत दर्शन, संस्कृत नाटकों, महाकाव्यों और गीतकाव्यों से हो जाती थी। नक्षत्र-विद्या, ज्योतिष और गणित का ज्ञान संस्कृत द्वारा सुलभ था। इसी प्रकार विधान, कर्मकांड और धर्म का ज्ञान भी। विद्वान् लोग वार्तालाप तथा शिक्षण के लिए संस्कृत के माध्यम का ही उपयोग करते थे। देश के विभिन्न भागों का आपस में पत्र-व्यवहार संस्कृत द्वारा ही होता था। यह बात नहीं कि आधुनिक भाषाओं में साहित्यिक कार्यशीलता ही न रही हो; परन्तु यह भाषाएँ गंभीर अध्ययन अथवा विशेष अनुशीलन की दृष्टि से इतनी सम्मानित नहीं थीं।

आज, यदि विशिष्ट विद्वानों की चर्चा छोड़ दी जाय, तो यह देखा जायगा कि संस्कृत तथा फ़ारसी का स्थान प्रायः संपूर्णतया आधुनिक भाषाओं ने ले लिया है। अभी कुछ ही समय पूर्व तक हमारे विश्वविद्यालयों में, आर्ट्स विभागों में, प्राचीन भाषाओं के किंचित् अनिवार्य अध्ययन पर जोर दिया जाता था। परन्तु उपयोगितावादी वर्चस्व की शक्तियों ने इसे न केवल अनावश्यक बना दिया है, वरन् परिस्थिति यह है कि प्राचीन भाषाओं का ज्ञान एक प्रकार से वायक समझा जाता है, और उन के अध्ययन के विषय में निरुत्साह दिलाया जाता है। इस शोच्य स्थिति का श्रेय अथवा अश्रेय दो बातों पर है—एक तो विज्ञान-संबंधी ज्ञान की अद्भुत शक्ति में विदवांस पर, दूसरे इस पर कि प्रत्येक

उच्च शिक्षा-संबंधी आयोजना में देशीय आधुनिक भाषाओं को प्रमुख आसन दिलाने का प्रयत्न होने लगा है।

सौ वर्ष पूर्व यद्यपि हिंदी, उर्दू और बँगला भाषाएँ बहु-संख्यक जनता द्वारा बोली और लिखी जाती थीं, फिर भी उन की संस्कृत अथवा फ़ारसी से कोई प्रतिद्वंद्विता न थी। आधुनिक भाषाओं में कविता अधिकांश अशिक्षित साधारण वर्ग के नैतिक उत्सर्ग के तात्पर्य से लिखी जाती थी; और प्राचीन कथाएँ, धार्मिक शिक्षाएँ, भक्ति-संबंधी गीत—यही बहुधा इस प्रकार के साहित्य के रूप तथा विषय थे। ऐसे ही कहीं कोई अर्द्ध-शिक्षित व्यक्ति किसी अकाल अथवा युद्ध का वर्णन टूटे-फूटे पद्य में कर दे तो दूसरी बात है, अन्यथा आधुनिक भाषाएँ गौण स्थान रखती थीं, और उन का विशेष मान न था।

भारतवर्ष की आधुनिक भाषाओं के साहित्य की अद्भुत उन्नति का श्रेय अंग्रेजी के अध्ययन, धार्मिक मुद्दा-संबंधी आंदोलनों, जातीयता की भावना की वृद्धि, और विकास पाती हुई राजनैतिक भावना को प्राप्त है। गेटे के समय में जर्मनी में साहित्यिक बुद्धि का जो प्रचुर विकास और प्रस्फुटन हुआ था, उसे छोड़ कर साहित्य के इतिहास में, मेरी समझ में कोई दूसरा काल नहीं हुआ है जिस की तुलना उस अद्भुत उन्नति से की जा सके जो कि हमारी आधुनिक भाषाओं ने इस थोड़े समय में की है। भाषा गद्य मुख्यतया इसी युग की उत्पत्ति है। इसी युग में भाषा उपन्यासों का आरंभ होता है; गल्प, निबंध, आलोचनाएँ, इतिहास तथा साहित्य के अन्य अंग इसी युग से सन्नद्ध हैं। भाषा की कविता—विशेष कर उस का वह अंश जो इस पीढ़ी में प्रशंसित है—वह भी इसी युग में रची गई है।

बंकिम चटर्जी, रमेश दत्त, रवींद्रनाथ ठाकुर, दारू चटर्जी के उपन्यास; रवींद्रनाथ और नरेश सेनगुप्त की आख्यायिकाएँ, माइकेल मधुसूदन दत्त, नवीन सेन, रवींद्रनाथ, अतुलप्रसाद सेन, चित्तरंजन दास, नज़रुल इस्लाम की कविताएँ; द्विजेंद्र लाल राय, गिरीश बोस, अमृतलाल बोस के नाटक—बँगला में; ग़ालिव, हाली, इज़्ज़ाल, चक्रवर्त, अकबर की कविता, रसवा और सरशार के उपन्यास, आज़ाद और शिवली के निबंध; 'अवधपंच', 'जमाना', 'निगार' तथा अन्य पत्रों का कार्य पत्रकारिता के क्षेत्र में; पद्य-रचना संबंधी विविध प्रयोग—उर्दू में; हरिश्चंद्र, अयोध्यासिंह, नुमिद्वानंदन, निराला, मैथिलीशरण, तथा अन्य तरण-कवियों की कविता; प्रेमचंद के उपन्यास, सुदर्शन और कांशिक की आख्यायिकाएँ; महावीरप्रसाद द्विवेदी के निबंध; मिश्रबंधु, श्यामसुंदर दास, पद्मसिंह

शर्मा की आलोचनाएँ—हिंदी में; इन सभी पर उन परिस्थितियों की छाप है जिन का वर्णन मैं ऊपर कर चुका हूँ। बिना अंग्रेजी शिक्षा और राष्ट्रीयता की भावना के ये साहित्य विल्कुल भिन्न होते। संभव है वह और भी अच्छे होते, अथवा इतने भी न बन पड़ते; परंतु जैसे हुए हैं उन से भिन्न अवश्य होते।

यदि हम साहित्यिक विकास के क्रम का निरीक्षण करने के लिए ठहरें तो हम देखेंगे कि दो परस्पर-विरोधी प्रभाव काम करते रहे हैं। एक ओर तो अंग्रेजी का और उस के माध्यम से यूरोपीय साहित्यों का प्रभाव हमारे अवेक्षण को विस्तृत करता रहा है, हमारे मानसिक क्षितिज की सीमा को बढ़ाता रहा है, हमारी सहानुभूति को उदार बनाता रहा है, तथा हम में नए-नए साहित्यिक रूपों में प्रयोग करने की इच्छा उत्पन्न करता रहा है; दूसरी ओर राष्ट्रीयता की भावना पुराने छंदों के चुनाव, संस्कृत उद्गम के शब्दों की खोज, और परंपरा-प्रतिष्ठित विषयों के दृढ़ता-सहित ग्रहण किए जाने के लिए उत्तरदायी रही है। साथ ही साथ सांप्रदायिक भावना ने भी हिंदुओं द्वारा कठिन संस्कृत शब्दों के और मुसलमानों द्वारा अप्रचलित अरबी शब्दों के व्यवहार के रूप में उद्गार पाया है।

उपन्यास के क्षेत्र में मुख्य प्रेरणा स्कॉट और थैकरे से तथा कविता में शेली और स्विनबर्न से प्राप्त हुई है। परंतु ऐसा अनुमान करना भूल होगी कि भारतीय कवियों और उपन्यासकारों ने केवल अनुकरण किया है और उन में कोई मौलिकता नहीं है। वे अपने पैरों के बल पर खड़े हुए हैं। उन्होंने ने भिन्न प्रकार के प्रयोग किए हैं, और अपने लिए वह रूप ग्रहण किया है जो उन के मत से भारतीय जाति तथा भाषा के अनुकूल हो। स्वतंत्रता के लिए युद्ध करते हुए, संसार की महान् जातियों के बीच अपने लिए जगह प्राप्त करने का प्रयत्न करते हुए, सभ्यताओं के संघर्ष के मध्य में, मध्यकालीनता और आधुनिकता के मिश्रण में, वर्णव्यवस्था के संरक्षण से निःसीम प्रतिस्पर्द्धा के परिवर्तन में, भारतीय लेखकों ने जिन विषयों का चुनाव किया है वह विभिन्न भी हैं और साथ ही अक्षय भी। समसामयिक जीवन तक सीमित रहने की उन्हें आवश्यकता नहीं—यद्यपि, जो कुछ भी वह लिखेंगे उस का अधिकांश उस जीवन से संबंध रखेगा जिस से वह परिचित हैं, और उन के रहन-सहन से निकटतम है। परंतु वह अतीत काल से भी वर्तमान के लिए प्रेरणा ग्रहण कर सकते हैं। आयलैंड के कवियों ने लोक-साहित्य, प्राचीन परंपरा, डायरमूड और डायड़ी की कहानियों से विषय ग्रहण किए हैं और उन की कविताएँ साधारण आइरिश बालक और

वालिकाओं द्वारा गाई जाती हैं। मिस्टर डब्ल्यू० वी० यीट्स अपने 'आक्सफोर्ड वूक आव् माडर्न वर्स' नामक काव्य-संग्रह की भूमिका में लिखते हैं—

“बारह वर्ष हुए आलिबर गोगर्टी अपने वैरियों द्वारा पकड़ लिया गया और लिफ्टी के तट पर एक निर्जन घर में बंदी किया गया, जहाँ कि मृत्यु की पूर्ण संभावना थी। एक स्वाभाविक आवश्यकता का कारण ले कर वह बाग में गया और पानी में कूद पड़ा और जिस समय कि वह तमंचों की गोलियों की वीछार में दिसंबर के बर्फ़-जैसे ठंडे जल को तैर कर पार कर रहा था, उस ने मानता की कि यदि मैं सकुशल नदी पार कर लूँगा तो उसे दो हंस चढ़ाऊँगा। जिस समय उस ने अपने वचन की पूर्ति की मैं उपस्थित था। उस की कविता इस घटना पर ठीक बैठती है, अर्थात् वह प्रसन्न, निस्संग और वीर-संगीत है।”

यहाँ पर जीवन की एक महान् घटना काव्य-रूप में परिणत हो गई है, कविता सत्राण हो उठी है। जब कि कवि अपने को इस भाँति अपने देश से अभिन्न बना लेता है, और उच्च आत्म-निवेदन करता है तब कविता भी तेजमयी हो उठती है। इस प्रकार की कविता के कुछ उदाहरण हसरत मोहानी, नज़रुल इस्लाम, चक्रवर्त और नवीन ने प्रस्तुत किए हैं। आख्यायिकाएँ लिखने में, नए से नए अंग्रेजी पद्य-प्रयोगों की शैली में गीतों की रचना में, समसामयिक सामाजिक परिस्थितियों को विषय मान कर नाट्य-रचना में हमारे लेखक पीछे नहीं रहे हैं। समालोचना के क्षेत्र में भी उन्होंने ने पाश्चात्य से स्वतंत्रता-पूवक विचार ग्रहण किए हैं—साथ ही उन्होंने ने इस बात का अनुभव नहीं किया है कि काव्य-समीक्षा तथा सौंदर्य-निरूपण-संबंधी विस्तृत साहित्य संस्कृत में भरा पड़ा है।

व्यंग्य और हास्य-संबंधी पद्य रचना, विशेष रूप से पनपी नहीं है—यद्यपि इस प्रसंग में अकबर का नाम उल्लेखनीय है। विनोदपूर्ण परिहास, सरस व्यंग्य, व्याजपूर्ण उपहास—इन्हें लिखने का सफलता पूर्वक प्रयत्न नहीं हुआ है। साहित्यिक आक्राधियों के लिए इतिहास भी बहुत अच्छा क्षेत्र है। ऐसे जीवनचरित जो साहित्यिक महत्व भी रखें अभी लिखे नहीं गए। एकांकी नाटकों का विशेष-रूप से सृजन नहीं हुआ है। इन आवश्यकताओं की पूर्ति कठिन नहीं है। परंतु हमारी आधुनिक भाषाओं को संपन्न बनाने के प्रयास में अपनी परंपरा से दूर हटना हमारे लिए घातक सिद्ध होगा। यह एक मूर्खता-पूर्ण विचार है कि हिंदी अथवा बंगाली का काम बिना संस्कृत के चल सकता है अथवा उर्दू बिना हिंदी और फ़ारसी का पोषण पाए हुए जीवित रह सकती है। इन भाषाओं की धाती

बड़ी भरी-पूरी है; अतीत से इन्हें बहुत प्रतिष्ठित उत्तरदान मिला है । नवीन के प्रेम में तथा विदेशी के आकर्षण में पड़ कर हमें पूर्ण अराष्ट्रीयता, से बचना चाहिए । हम रशान, फ्रेंच, जर्मन और इटालियन साहित्य से अवश्य जो चाहें सो ग्रहण करें, परंतु हमें उन्हीं अंशों को ग्रहण करना चाहिए जिन्हें हम पचा सकें । नहीं तो हमारी स्थिति उन जीवों की-सी हो जायगी जिन्हें, उन का आकार देखते हुए, अत्यधिक भोजन मिल गया है और हम लोग दंभियों की एक जाति बन कर रह जावेंगे ।

हिंदुस्तानी एकेडेमी का पंचम वार्षिक साहित्य-सम्मेलन, लखनऊ

(१६-१८ जनवरी, १९३७)

१-सभापति डाक्टर राय राजेश्वर बली का भाषण

हिंदुस्तानी एकेडेमी के सदस्यगण, देवियो और सज्जनो !

हिंदुस्तानी एकेडेमी के पंचम वार्षिक साहित्य-सम्मेलन के अवसर पर मुझे सभापति का आसन ग्रहण करने को कह कर आप ने जो मेरा मान बढ़ाया है उसे मैं भली भाँति समझ रहा हूँ। यह वास्तविक संतोष का कारण है कि एकेडेमी अपने कार्यकाल के दस वर्ष पूरे कर चुकी। मुझे खूब याद है कि आज से ठीक दस साल पहले, २२ जनवरी, सन् १९२७ को संयुक्त-प्रांतीय सरकार के एक प्रस्ताव से एकेडेमी का जन्म हुआ था, और इसी शहर (लखनऊ) में उसी साल २९ मार्च को तत्कालीन गवर्नर सर विलियम मैरिस ने मेरी प्रार्थना पर एकेडेमी का विधिवत् उद्घाटन किया था। चूँकि उस समय शिक्षामंत्री की हैसियत से एकेडेमी की स्थापना में मेरा भी एक दायित्व था, मैं इस के सुयोग्य अध्यक्ष सर तेज बहादुर सप्रू के संचालन में इस की उन्नति और श्रीवृद्धि को बड़ी दिलचस्पी से देखता आ रहा हूँ। मैं कह सकता हूँ कि नींव पड़ने के बाद उस के ऊपर की इमारत खड़ी करना कोई साधारण काम न था। नए आदर्श स्थापित करने थे, लोकमत को अपने पक्ष में करना तथा लोगों में फैले हुए संदेहों को दूर करना था। इन के सिवाय एकेडेमी को अपने निर्माणकाल में ही ऐसी आर्थिक कठिनाइयों से युद्ध करना पड़ा जिन के ऊपर इस का कोई वश नहीं था, और जिन से यह अभी तक अपने को स्वतंत्र नहीं कर सकी है। मैं निस्संदेह यह कह सकता हूँ कि एक महत् उद्देश्य-साधन के लिए एकेडेमी के अधिकारी-गण सदा प्रयत्नशील रहते हुए हमारे धन्यवाद के पात्र हैं।

यह बड़े खेद का विषय है कि साहित्यिकों के कुछ दलों में एकेडेमी के उद्देश्यों के संबंध में बड़ी भ्रांतियाँ फैली हुई हैं। मैंने लोगों को यह कहते सुना है कि एकेडेमी की स्था-

पना एक नई भाषा के सृजन के लिए है। क्या यह संभव है? साथ ही यह भी लोगों की धारणा है कि एकेडेमी हिंदी और उर्दू भाषा के वास्तविक हितसाधन में बाधक हो रही है। इस प्रकार की शंकाएँ तो एकेडेमी के छपे उद्देश्यों और नियमावली आदि पर एक दृष्टि डालने से ही दूर हो सकती थीं। उन में तो यह साफ़-साफ़ कहा गया है कि एकेडेमी का उद्देश्य “हिंदी और उर्दू साहित्य की रक्षा, प्रचार तथा उन्नति” करना है। इस से संतोष न होने पर एकेडेमी के प्रकाशनों को देखने पर किसी भी संदेह को यह स्पष्ट हो जायगा कि क्या हिंदी क्या उर्दू, किसी के लेखक को अपनी स्वाभाविक भाषाशैली को छोड़ने पर बाध्य किए जाने का कहीं कोई प्रयत्न नहीं किया गया, और दोनों भाषाएँ अपने विकास के स्वाभाविक स्रोत में ही आगे बढ़ रही हैं। यह अवश्य है कि एक ही संस्था की देख-रेख में दोनों ही भाषाओं की उन्नति के कार्यसाधन में कुछ स्पष्ट लाभ है। भाषातत्त्व की दृष्टि से दोनों भाषाओं में इतनी अधिक समानता है कि दोनों एक ही भाषा के दो भिन्न रूप कही जा सकती हैं। हमारे प्राचीन साहित्य में बहुत सी ऐसी बातें हैं जो दोनों ही की बपीती कही जा सकती हैं। दोनों को एकत्र रखने और उन में संपर्क बनाए रखने से लाभ ही हो सकता है। मैं जानता हूँ कि पृथक्करण की धाराएँ वह चली हैं, पर इन से हमारे नागरिक जीवन में अपार हानि हो कर रहेगी। मैं इस संवेद में आगे और विचार कहूँगा। यहाँ पर मैं केवल इतना ही कहना चाहता हूँ कि हिंदुस्तानी एकेडेमी का कर्तव्य यही है कि वह एक उच्च आदर्श की स्थापना द्वारा इन पृथक्करण की धाराओं का विरोध करती हुई तथा इन झूठे लाल्छनों से विचलित न होती हुई अपने कर्तव्य-मार्ग पर दृढ़ रहे।

एक साहित्यिक संस्था के जीवन में दस वर्ष का काल बहुत नहीं होता। फिर भी इतने ही समय में एकेडेमी ने प्रशंसनीय कार्य कर दिखाया है। इस का मुख्य कार्य उचित प्रकार के ठोस साहित्य का सृजन ही है। अब तक हिंदी और उर्दू दोनों मिला कर यह पचास से ऊपर बड़ी पुस्तकें प्रकाशित कर चुकी हैं। ये प्रकाशन मुख्यतया मौलिक विषयों पर विभिन्न विषयों के विशेषज्ञों द्वारा लिखाए गए हैं। लेखकों की सूची पर एक दृष्टि डालने से यह स्पष्ट हो जायगा कि अपनी पुस्तकों के लिए यशस्वी लेखकों का सहयोग प्राप्त करने में एकेडेमी को संभाग्य से बड़ी सफलता मिली है। एकेडेमी ने कुछ लब्धप्रतिष्ठ पाश्चात्य नाट्यकारों के नाटकों के अनुवाद भी प्रकाशित किए हैं, जिन से कि प्रायः इसी कोटि के मौलिक नाटक हमारी अपनी भाषा में लिखने में प्रोत्साहन मिलना चाहिए। इस ने हिंदी

और उर्दू काव्य के दो महान् काव्यसंग्रह भी सुयोग्य विद्वानों द्वारा तैयार करवाए हैं और प्रत्येक संग्रह छः बड़ी-बड़ी जिल्दों में समाप्त हुआ है। इन में से कुछ जिल्दें प्रकाशित हो गई हैं, कुछ यंत्रस्थ हैं और शेष छपने को हैं। एक दूसरा महत्वपूर्ण कार्य हिंदी और उर्दू में “हिंदुस्तानी” नाम की दो पृथक् त्रैमासिक पत्रिकाओं का प्रकाशन है, जिन्होंने कि अभी-अभी अपने जीवन का छठवाँ वर्ष पूरा किया है, और इसी बीच इन्होंने हिंदी और उर्दू के पत्र-जगत् में अपने लिए एक सुप्रतिष्ठित स्थान बना लिया है। इन पत्रिकाओं ने लोक-रुचि के पीछे न पड़ कर साहित्य, कला, पुरातत्व, इतिहास, तथा दर्शन आदि गंभीर विषयों पर ऐसी मननशील रचनाएँ प्रकाशित करने की विशेषता अपनाई है जिस से कि ये किसी भी पुस्तकालय की उपयोगिता बढ़ा सकती हैं।

हिंदुस्तानी एकेडेमी का कार्य प्रकाशनों तक ही परिमित नहीं रहा है। उत्पादक और समालोचनात्मक साहित्य के विविध अंगों की रचित पुस्तकों पर पुरस्कार प्रदान द्वारा तथा साहित्य, कला और ऐतिहासिक अथवा सांस्कृतिक विषयों पर सर्वसाधारण के हितार्थ व्याख्यानों द्वारा इस संस्था ने उच्च कोटि के साहित्य के सृजन में प्रोत्साहन दिया है। पाँच-पाँच सौ रूपयों के कुल सोलह पुरस्कार अब तक एकेडेमी हिंदी और उर्दू की अन्य-तम कृतियों पर प्रदान कर चुकी है और सौ-सौ रूपयों के आठ पुरस्कार यह विद्यार्थियों को दे चुकी है। लब्ध-प्रतिष्ठ विद्वानों द्वारा बारह विभिन्न व्याख्यानों का आयोजन भी इस की ओर से हो चुका है। इन में से कुछ दोनों भाषाओं में पुस्तकाकार प्रकाशित भी हो चुके हैं क्योंकि एकेडेमी का उद्देश्य यह रहा है कि दोनों माध्यमों द्वारा समान-रूप से ज्ञान-वितरण होता चले। इन सेवाओं के अतिरिक्त एकेडेमी ने सात सहस्र पुस्तकों से ऊपर का एक विशद पुस्तकालय भी संग्रह कर लिया है जिस के अनेक ग्रंथ बहुत मूल्यवान् और दुर्प्राप्य हैं, और साथ ही कुछ हस्तलिखित मौलिक पुस्तकें भी हैं। इन सब के अतिरिक्त, इस ने अपने वार्षिक साहित्य-सम्मेलनों द्वारा भाषा और शैली-संबंधी महत्वपूर्ण प्रश्नों पर सर्व-साधारण का ध्यान केंद्रित कर के और विविध विषयों पर साहित्यिक निबंध पढ़वा कर कुछ कम उल्लेखनीय कार्य नहीं किया है।

परंतु यह एक महान् खेद का विषय है कि आर्थिक वलेश के कारण इस संस्था को कई दिशाओं में अपनी कार्यवाही कम करनी या बंद कर देनी पड़ी है। मुझे मालूम हुआ है कि इसी अभाव के कारण उल्लिखित व्याख्यानों का आयोजन बंद कर दिया गया है और

पुरस्कारों में काफ़ी कमी कर देनी पड़ी है। वैज्ञानिक तथा उद्योग-धंधों-संबंधी शब्दकोष का अत्यावश्यक प्रस्तुतीकरण बंद कर देना पड़ा है। बहुत-सी समाप्त की हुई हस्तलिखित पुस्तकों का प्रकाशन रोक दिया गया है और हिंदी तथा उर्दू साहित्य की संशोधित सर्वे रिपोर्टों का लेखन हाथ में नहीं लिया जा सका है। मुझे पूरी आशा है कि यथासंभव शीघ्र गवर्नमेंट पर हमारी आवश्यकताएँ व्यक्त करने का प्रयत्न किया जायगा जिस से कि सरकार पहले जो रकम इस संस्था को देती थी वही फिर से देने के संबंध में सहानुभूतिपूर्ण विचार करे।

हिंदुस्तानी एकेडेमी के कार्यों का यह सिंहावलोकन वहाँ से प्रकाशित वार्षिक रिपोर्टों के आधार पर हुआ है जो कि देखने से विज्ञापनार्थ न हो कर केवल याददाश्त के मतलब से प्रकाशित हुई जान पड़ती हैं। मेरी राय में अब यह उचित होगा कि अपने जीवन के दस वर्ष की समाप्ति पर एकेडेमी अपने कार्यों का पूरा विवरण प्रकाशित करे। मैं देखता हूँ कि ऐसी ही राय मेरे सुयोग्य मित्र श्री सच्चिदानंद सिनहा ने भी दी थी, जिन्होंने ने गत वर्ष इस पद को सुशोभित किया था। मैं हृदय से उन का समर्थन करता हूँ। इस संस्था के लिए उचित विज्ञप्ति और प्रचार नितांत आवश्यक है। यह कहना व्यर्थ है कि एकेडेमी जो कुछ कार्य कर चुकी है उस पर किसी भी संस्था को उचित गर्व हो सकता है। सर्व-साधारण का ध्यान इस की ओर केंद्रित करना बहुत आवश्यक इस लिए नहीं है कि इसे अपने कार्यों के प्रदर्शन का अवसर मिले, बल्कि इस लिए कि उचित परिमाण में सब की सद्भावना यह प्राप्त कर सके, जिस की कि मेरी राय में वह निस्संदेह अधिकारिणी है।

मैं एकेडेमी के अधिकारियों से अनुरोध कहूँगा कि भविष्य में कुछ काल तक के लिए वह लोकप्रिय विषयों पर लिखी हुई सस्ती पुस्तकों के प्रकाशन की ओर ध्यान दें। मैं यह राय नहीं देता कि ऐसी पुस्तकों के प्रकाशन में एकेडेमी अपना स्टैंडर्ड नीचा कर दे। मेरा मतलब केवल यही है कि पुस्तकों का दाम कम रखने से अधिक संख्या में जनता इन्हें अपना सकेगी। मुझे यह जान कर प्रसन्नता हुई है कि इस दिशा में एकेडेमी ने कार्यारंभ कर दिया है और 'होम यूनिवर्सिटी लाइब्रेरी' नामक प्रसिद्ध पुस्तकमाला के ढंग पर प्रकाशित होने वाली पुस्तकों की एक विज्ञप्ति निकल चुकी है। इस के साथ ही एकेडेमी यदि "वर्ल्ड्स क्लासिक्स" जैसी पुस्तकमाला के आदर्शों के अनुसार कम दाम पर एक और पुस्तकमाला प्रकाशित करने का काम उठा ले जिस में केवल हमारे ही नहीं बल्कि विदेशी

सर्वश्रेष्ठ पुराने लेखकों की अमर कृतियों का प्रकाशन संभव हो सके तो बड़ा अच्छा हो। हमें यह मानना ही पड़ेगा कि पश्चिम के संपर्क के कारण हमारे देशवासियों में पाश्चात्य साहित्य में जो कुछ सर्वश्रेष्ठ है उस को पढ़ने, समझने और उस से लाभ उठाने की प्रबल आकांक्षा उत्पन्न हो गई है। इस प्रकार की सर्वसाधारण की युक्तिसंगत माँग का पूरा होना हम दैव के ऊपर नहीं छोड़ सकते और एकेडेमी जैसी संस्था का ही यह काम है कि वह जनता के लिए केवल अच्छी-अच्छी पुस्तकें ही न चुने बल्कि उन की आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए अच्छे-अच्छे अनुवाद भी प्रकाशित करे।

एक और कार्य, जिस के प्रति एकेडेमी के अधिकारियों का गंभीर ध्यान में आकृष्ट करना चाहता हूँ, है दोनों भाषाओं में प्रतिवर्ष प्रकाशित होने वाले सत्साहित्य की विशद समीक्षा। प्रतिवर्ष प्रेस से निकलने वाले अतिकाय साहित्य में से बिना मुफ्त में पैसे वरवाद किए हुए पढ़ने योग्य साहित्य को चुनना सब का काम नहीं है, और एकेडेमी जैसी संस्था का कर्तव्य है कि वह सच्चे मार्ग-प्रदर्शक की भाँति लोगों को इस में सहायता दे। एक उपाय मार्ग-प्रदर्शन तथा उचित साहित्य के उत्पादन का यही है कि जनता के सामने आने वाली पुस्तकों पर वह निष्पक्ष और आलोचनात्मक सम्मति देती रहे। इस से केवल उचित पुस्तकों के प्रचार में ही सहायता नहीं मिलेगी बल्कि इस प्रकार के साहित्य के नियंत्रण में भी सहायता मिलेगी जो जनता को कुरुचि की ओर खींचता है। इस तरह की वार्षिक रिव्यू से हमारे प्रांत के सर्वसाधारण तथा निजी पुस्तकालयों को भी पुस्तकें चुनने में बड़ी सहायता मिलेगी जिन के सामने सदा यह कठिनाता रहती है कि वह किस प्रकार की पुस्तकों का संग्रह करें। पुस्तकों के संबंध में जानकारी सुव्यवस्थित-रूप से वितरित करने की व्यवस्था हिंदी और उर्दू साहित्य-जगत में अभी तक नहीं हुई है और मेरी राय में इस काम को उठाने के लिए एकेडेमी ही सब से अधिक उपयुक्त संस्था है। बल्कि सब से अच्छा तो यह होता कि एकेडेमी अपने जीवन के प्रथम दस वर्ष के काल में प्रकाशित होने वाले साहित्य के संबंध में भी एक विशद पुस्तक-विवरण प्रकाशित कर देती।

पुस्तक-विवरण के प्रकाशन के साथ ही साथ एक और काम जो हाथ में लेना चाहिए यह है कि एकेडेमी अपने पुस्तकालय का प्रहले से कहीं बड़े पैमाने पर निर्माण करे। मुझे यह सुन कर बड़ा दुःख हुआ कि अर्थभाव के कारण गत चार वर्षों से एकेडेमी अपने पुस्तकालय में विशेष वृद्धि नहीं कर सकी है। एकेडेमी का जैसा नाम है उस के अनुसार

इसे केवल कुछ पुरानी पुस्तकों से ही संतोष नहीं कर लेना चाहिए, वल्कि समय के साथ-साथ इस की वृद्धि होती चलनी चाहिए। प्रतिवर्ष प्रकाशित होने वाली हिंदी और उर्दू की जरूरी पुस्तकों की एक-एक प्रति इस की आलमारियों में होनी चाहिए। एकेडेमी के लिए एक ऐसे ही पुस्तकालय की आशा सर विलियम मैरिस ने १९२७ में इस के उद्घाटन के समय की थी। उन्होंने कहा था, "मैं चाहता हूँ कि, यदि आवश्यकता हो तो कानून द्वारा, हिंदी और उर्दू की प्रत्येक प्रकाशित पुस्तक की एक प्रति का एकेडेमी में आना अनिवार्य कर दिया जाय, और इस प्रबंध तथा अपने सुचारु पर्यवेक्षण द्वारा एकेडेमी के लिए यह संभव हो सकेगा कि उस के पुस्तकालय में हिंदी उर्दू की सभी अच्छी पुस्तकें मिल सकें।" प्रांत भर के लिए एक ऐसे पुस्तकालय की आवश्यकता इतनी अधिक है कि इस संबंध में विशेष कहना व्यर्थ है। मैं एकेडेमी के अधिकारियों से चाहूँगा कि वह इस प्रकार की व्यवस्था के लिए सरकार से अनुरोध करें जिस से कि इस प्रांत में प्रकाशित हिंदी-उर्दू की प्रत्येक पुस्तक की एक-एक प्रति एकेडेमी में भेजी जाय। और फिर यह अपनी सालाना आय से अपने संग्रह को और बढ़ा कर अपना पुस्तकालय भरा-पूरा रख सकती है।

एक बात और है जिस के प्रति मैं खास तौर से एकेडेमी के अधिकारियों का ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ। इस समय हमारे ग्रामीण भाइयों के उपयुक्त साहित्य-प्रकाशन की नितांत आवश्यकता है। उन के लिए केवल ऐसी पुस्तकों की ही आवश्यकता नहीं है जिन से उन को आधुनिक काल में मनुष्य द्वारा उपार्जित ज्ञान की जानकारी हो सके वल्कि ऐसी पुस्तकों की भी जो कि उन की व्यक्तिगत आवश्यकताओं की पूर्ति करें अर्थात् जो केवल मनोरंजन के लिए पढ़ी जायें। मेरी समझ में है तो यह काम बड़ा ही कठिन। इसके लिए विशेष योग्य व्यक्तियों के काम में लगाने की आवश्यकता होगी। परंतु हमारे समाज में लोकतंत्र की जो शक्तियाँ इस समय काम कर रही हैं उन की ओर से हम कब तक आँखें मूंदे रहेंगे? साहित्य अब कुछ इन्ने-गिने लोगों तक ही परिमित नहीं रह सकेगा और न रहना ही चाहिए। जिस आवश्यकता की ओर मैं आप का ध्यान आकृष्ट कर रहा हूँ उस के प्रति हम अब अधिक काल तक उदासीन नहीं रह सकते। सर विलियम मैरिस ने अपने भाषण में गंभीर और ग्राम्य-पुस्तकालयों के प्रोत्साहन तथा उन में रखने योग्य साहित्य-सृजन की आवश्यकता पर जोर दिया था। मेरी राय में इस समय यह आवश्यकता कई गुना बढ़ गई है, और यदि प्राचीन ग्राम्य-साहित्य के आधुनिक हिंदी में

रूपांतरद्वारा तथा देहातों में बसने वालों के उपयोगी नवीन साहित्य-निर्माण द्वारा हिंदु-स्तानी एकेडेमी इस काम में अग्रणी हो सके तो सचमुच बड़ा काम हो। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए एकेडेमी मौजूदा साहित्य का सिंहावलोकन कर इस काम के उपयुक्त पुस्तकों खोज सकती है और गरीबी तथा ग्राम्य-पुस्तकालयों के प्रबंधकों तथा इस दिशा में काम करने वाले अन्य लोगों के लाभार्थ ऐसी पुस्तकों की एक सूची बना सकती है।

यदि एक ओर लोकतंत्र की भावना के प्रसार के कारण साहित्य को साधारण से साधारण मनुष्य की पहुँच के अंदर आने योग्य बनाने के उपाय सोचे जा रहे हैं, तो दूसरी ओर राजनीतिक एकता बढ़ने से भौगोलिक न्याय से देश भर के लिए एक समान भाषा निर्धारित करने का प्रश्न भी हमारे सामने उपस्थित होता है। एकेडेमी के गत वर्ष वाले साहित्य-सम्मेलन के अधिवेशन के बाद से समग्र देश भर के लिए एक भाषा के प्रश्न को लेकर बहुत से मत-मतांतर प्रगट किए जा चुके हैं। देश भर में अनेक प्रांतों से विभिन्न भाषाओं के पक्ष में राष्ट्र-भाषा के दावे पेश किए गए हैं। इनमें हिंदी या उर्दू का पक्ष सब से प्रबल है। व्यक्तिगत रूप से मैं इस स्थिति से बिल्कुल चिंतित नहीं होता। मैं समझता हूँ कि इन दोनों में से किसी एक के भी समर्थक को अपनी भाषा को, अपर वर्ग के लोगों के सम्मुख योग्य बनाने के लिए विवश होना पड़ेगा—यदि वह हृदय से अपनी भाषा को राष्ट्रभाषा बनाने का प्रयत्न करता है। और इस प्रकार स्वतः दोनों भाषाओं का पार्थक्य उत्तरोत्तर रूप से नगण्य होता जायगा। यदि हिंदी या उर्दू को सचमुच राष्ट्रभाषा होने का गौरव प्राप्त करना है तो इन्हें अपनी शैली को सरल, सुबोध और सीधी-सादी बनाना पड़ेगा, जिस से दोनों पार्थक्य की ओर न बढ़ कर एकता की ओर बढ़ें।

इस प्रश्न के प्रचार वाले पहलू से हम एकेडेमी वालों का कोई संबंध नहीं है, हमारा संबंध केवल इस के व्यावहारिक और अधिक महत्वपूर्ण पहलू से है, और वह है इन दोनों भाषाओं के लिए एक ऐसी लोकप्रिय शैली का विकास जिस से भाषा के स्वाभाविक सौंदर्य और लालित्य को अक्षुण्ण बनाए रखते हुए वह सब प्रकार के विचार-विनिमय का साधन होकर दोनों ही भाषाओं के लेखकों और पाठकों के बोधगम्य हो सके। यह काम धीरे-धीरे ही होगा और अंत में चाहे यह उद्देश्य सिद्ध न भी हो तो भी इस दिशा में किया गया प्रयत्न व्यर्थ नहीं जायगा क्योंकि इस से कम से कम इतना तो अवश्य ही होगा कि दोनों भाषाओं में वर्तमान पृथक्करण की प्रवृत्तियों को तो प्रोत्साहन न मिलेगा, जिस का कि

वड़ा बुरा प्रभाव हमारे सामाजिक जीवन पर पड़ रहा है। यहीं पर एकेडेमी की भाषा-संबंधी नीति के संबंध में जो भ्रांतियाँ फैली हैं उन्हें दूर कर देना चाहता हूँ। इस संबंध में मैं सर विलियम मैरिस की एकेडेमी के उद्घाटन करते समय वाली वक्तृता से अधिक विश्वास-योग्य कोई प्रमाण नहीं दे सकता। उन्होंने कहा था—

“गवर्नमेंट का वह प्रस्ताव जिस ने एकेडेमी को जन्म दिया है, हिंदी और उर्दू को इन प्रांतों की यमज (जोड़वाँ) भाषाएँ मानता है और हिंदुस्तानी के संभवतः अवैज्ञानिक पर साथ ही अति उपयुक्त नाम से दोनों को अपने अंतर्गत करता है।”

आगे चलकर फिर आपने कहा है—

“यदि हिंदी और उर्दू को उन्नति के शिखर पर पहुँचना है तो दोनों को अपने स्वाभाविक विकास-स्रोत से ही चलना होगा। पर साथ ही साथ इस की प्रतिक्रियाओं के प्रति भी हमें सावधान रहना पड़ेगा। भय यह है कि साहित्यिक लाभ जितने भी हों वह सार्वजनिक हानियों के आगे नगण्य हो सकते हैं। भाषाओं की विरोधिनी प्रवृत्ति के कारण उत्तर भारत के हिंदू और मुसलमानों में भेद-भाव बढ़ना यों भी कोई कल्याणकारी बात नहीं है, पर यदि राजनीतिक उद्देश्य से प्रेरित हो कर जान-बूझ कर इस पार्यव्य के बढ़ाने का प्रयत्न किया जाय तो मैं इस कार्य की देशद्रोह के रूप में निंदा करने को तैयार हूँ। यह विषय कुछ ऐसा अनोखा है जिस की कोई परिभाषा नहीं हो सकती है और न कोई नियम ही रक्खे जा सकते हैं। जिन का इस प्रश्न से संबंध है उन सब के विवेक और सुबुद्धि पर ही इस प्रश्न को छोड़ देना होगा। प्रत्येक हिंदू लेखक को यह आदर्श सामने रखना चाहिए कि वह मुसलिम पाठकों तक पहुँचने की आकांक्षा रखता है और प्रत्येक मुसलिम लेखक को हिंदू पाठकों को ध्यान में रखना चाहिए।”

उक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि हिंदुस्तानी एकेडेमी में हिंदी और उर्दू दोनों यथोचित रूप से स्वीकृत हैं और यह भी स्वीकृत है कि दोनों को स्वाभाविक विकास का अवसर देना चाहिए, और साथ ही साथ संस्था की यह हार्दिक अभिलाषा रही है कि दोनों भाषाओं में सद्भावना बनी रहे। इन बातों से एकेडेमी की भाषा-संबंधी नीति भलीभाँति स्पष्ट हो जाती है और इस में कहीं भ्रष्टाचार की गुंजाइश नहीं रह जाती।

एक समान भाषा के विकास में वह लोग कोई विशेष बाधा नहीं पहुँचाते जो हिंदी या उर्दू को अपनाने के लिए हठ करते हैं क्योंकि यह तो केवल नामकरण का झगड़ा रह जाता

है, जो कि आसानी से हल किया जा सकता है। सचमुच भय उन लोगों से है जो राजनीतिक या सांप्रदायिक उद्देश्यों से प्रेरित हो कर दोनों भाषाओं को संस्कृत का अरबी-फ़ारसी के बोझ से दबाते चले जाते हैं। इस स्थिति को हमारे एकेडेमी के अध्यक्ष माननीय तेज बहादुर सप्रू ने भलीभाँति पहचाना है, और जुलाई सन् १९३४ की 'हिंदुस्तानी' में एक सुंदर लेख द्वारा आप ने इस प्रवृत्ति की उचित समालोचना भी की है। मैं आशा करता हूँ कि एकेडेमी की नीति के संचालक सब प्रकार से इस प्रवृत्ति को रोकते हुए दोनों भाषाओं के बीच सद्भावना बढ़ करने के उपाय ढूँढ़ निकालेंगे।

मेरी समझ में इस का एक उपाय है हिंदी और उर्दू की एक साधारण मूल-शब्दावली (ऐसे शब्दों की सूची जो साधारणतः सब विचार प्रगट करने के लिए पर्याप्त हो) का संग्रह प्रकाशित करना। दोनों का व्याकरण तो समान है ही, साथ ही शब्द-भंडार भी दोनों का बहुत कुछ समान है। इस प्रकार के समान शब्दों का प्रकाशन एकता की भावना को बढ़ावेगा। रह गए वैज्ञानिक और पारिभाषिक विषयों से संबंध रखने वाले शब्द सो ये सर्वसम्मति से गढ़े जा सकते हैं। इस का फल यह होगा कि एक काफ़ी बड़ा शब्द-भंडार प्रस्तुत हो जायगा जिस से कि आवश्यकतानुसार दोनों के लेखक, लाभ उठा सकते हैं।

मैं इस बात को स्वीकार करता हूँ कि दो विभिन्न लिपियों का प्रचलन स्थिति को और भी उलझन में डाल देता है। एक साधारण लिपि होती तो दोनों के भेद-भाव आप ही आप बहुत-कुछ दूर हो जाते। फिर भी हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि भाषा के रूप और लिपि में कोई अनिवार्य संबंध नहीं होता, दोनों दो जुदा चीज़ें हैं। इस सम्मेलन में पढ़े जाने के लिए जो निबंध आए हैं उन में से कुछ इस प्रश्न तथा इस से संबद्ध विषयों पर लिखे गए हैं और उन के पाठ के समय इस विषय पर आप को विचार और तर्क का अवसर मिलेगा। मैं आप के निर्णय का पहले से अटकल नहीं करना चाहता। यहाँ पर मैं केवल इतनी आशा प्रगट करता हूँ कि आप इन प्रश्नों पर व्यावहारिक पहलू को दृष्टि में रख कर तथा सर विलियम मैरिस के आशय से दूर न जाते हुए ही बहस करेंगे।

सज्जनों, मैं और अधिक आप का समय नहीं लेना चाहता। गंभीर प्रश्नों पर आप को इस समय विचार करना है, ऐसे प्रश्न जिन के ठीक हल करने पर ही आप के

साहित्य और समाज का कल्याण संभव है और मुझे तनिक भी संदेह नहीं आप अपने और इस संस्था की प्रतिष्ठा के अनुरूप ही अपने निर्णय करेंगे।

२—हिंदी-विभाग के सभापति

रावराजा रायवहादुर पंडित श्यामविहारी मिश्र का भाषण

सभापति महोदय, भाइयो और बहनो !

प्रदर्शनी के संवंध में अपनी एकेडेमी की इस बैठक में मैं आप महाशयों का स्वागत करता हूँ। आशा है कि हमारी यह बैठक भी गत वर्ष के समान ही सफल होगी। मैं आज हिंदुस्तानी एकेडेमी के विषय में कुछ जानने योग्य बातें आप के सामने उपस्थित कर के तब आगे बढ़ना चाहता हूँ। इस का जन्म २२ जनवरी १९२७ में प्रकाशित गजट के प्रस्ताव से हुआ। तत्कालीन शिक्षा-सचिव माननीय डाक्टर राय राजेश्वर बली ने यह घोषणा की कि उन्होंने ने सरकारी वजट में एकेडेमी के लिए २५०००) २० का प्रबंध कर दिया है। आप ने अपने समय में साहित्य, संगीत और कला इन तीनों को प्रोत्साहन दिया। अनंतर १० मार्च १९२७ को प्रांतीय लाट हिज़ एक्सिलेंसी सर विलियम मैरिस द्वारा इस का उद्घाटन हुआ। इस संवंध में लाट महोदय तथा शिक्षा-सचिव ने जो भाषण किए वे बड़े सारगर्भित और पांडित्यपूर्ण थे। इस संस्था की रजिस्ट्री भी नियमानुसार हो गई है, और यह एक पूर्ण नैतिक व्यक्ति है। इस का उद्देश्य साहित्योन्नति है। इस के लिए यह उत्कृष्ट ग्रंथों के रचयिताओं को पारिश्रमिक या पुरस्कार देती आई है तथा नवीन मौलिक ग्रंथों या अनुवादों के रचे जाने का भी प्रबंध करती आई है। जिन विषयों पर अभी तक उत्कृष्ट ग्रंथों का उर्दू या हिंदी में अभाव था या है, उन पर यह संस्था विशेष ध्यान देती आई है, तथा उत्कृष्ट विषयों पर व्याख्यानों की भी वृद्धि इस के द्वारा हुई है।

इस के संगठन में कांसिल और कार्यकारिणी समिति की प्रतिष्ठा है। समिति के दो सदस्य कांसिल चुनती है तथा सात सरकार की ओर से निर्वाचित होते हैं। इस ने अब तक प्रायः ५० वृहत् और प्रामाणिक ग्रंथ तैयार किए हैं। हिंदी और उर्दू दोनों भाषाओं पर इस की सम-भाव से दृष्टि रहती है। एकेडेमी यह भी चाहती है कि हिंदी से संस्कृत तथा

उर्दू से अरबी-फ़ारसी-पन हट कर ये दोनों भाषाएँ अपने वास्तविक एक्य को प्राप्त हो कर अधिक लोकोपयोगी, अथवा व्यापक बनें। इस प्रश्न के विषय में आगे बैठकों में कुछ विशेष कथन होगा ही। इस प्रश्न के उचित-रीत्या निर्णीत होने से न केवल भाषा की व्यापकता बढ़ेगी, वरन् देश में प्रायः एक हजार वर्षों से स्थापित हिंदू मुस्लिम भेदों में भी बहुत कुछ कमी आवेगी, जिस से देशोन्नति में भारी सहायता मिलेगी। एकेडेमी द्वारा प्रकाशित निम्न ग्रंथ मुख्य महत्ता-युक्त हैं:—महामहोपाध्याय डाक्टर गंगानाथ झा लिखित 'कवि रहस्य'; डाक्टर वेणीप्रसाद लिखित 'हिंदुस्तान की पुरानी सभ्यता'; महामहोपाध्याय राय बहादुर गीरीशंकर हीराचंद जी ओझा लिखित 'मध्यकालीन भारतीय संस्कृति'; मौलाना सैयद सुलैमान नदवी लिखित 'अरब और भारत के संबंध'; डाक्टर गोरखप्रसाद लिखित 'सौर-परिवार'; विश्वेश्वर नाथ जी रेड लिखित 'भोजराज'; एन० सी० मेहता महोदय लिखित 'भारतीय चित्रकला'; राय बहादुर लाला सीताराम लिखित 'अयोध्या का इतिहास' आदि। एकेडेमी तीन ग्रंथमालाएँ तथा हिंदी और उर्दू की एक-एक तिमाही पत्रिका भी निकालती है, जिन में बड़े महत्व के लेख रहते हैं। इस ने एक नई पुस्तकमाला की भी घोषणा की है जिस में, साहित्य, विज्ञान, इतिहास, कला, दर्शन आदि की समान आकार-प्रकार की सर्वसाधारण के जानने योग्य एक ही प्रकार की उच्चता और विद्वत्ता-पूर्ण ग्रंथ निकला करेंगे। इस से इस माला की लोकप्रियता विशेष होगी, ऐसी आशा है।

एकेडेमी ने अब तक आठ महाशयों को उत्कृष्ट ग्रंथों के लिए पाँच-पाँच सौ रूपयों के पुरस्कार भी दिए हैं। हिंदी और उर्दू के भारी काव्य-संग्रह भी निकाले जा रहे हैं। तन् १९३० से जो हिंदी और उर्दू की तिमाही पत्रिकाएँ निकल रही हैं, उन के संपादक रामचंद्र जी टंडन तथा मौलवी असगर हुसैन साहब जैसे प्रसिद्ध विद्वान् हैं। (बहुत खेद है कि मौलवी असगर हुसैन साहब का हाल में परलोक-वास हो गया है।) हमारे पुस्तकालय में सात हजार से अधिक ग्रंथ हैं और उसी के साथ एक वाचनालय भी लगा है, सो ये ग्रंथ सर्वसाधारण को वहीं वांचने को भी उपलब्ध हैं। एकेडेमी ने चार साहित्य-सम्मेलन भी किए हैं। इन कुछ वर्षों से सरकारी आय के संकुचन से एकेडेमी के प्रति सरकारी सहायता में बड़ी कमी आ गई है, जिस से हमारे कई उपयोगी कार्य त्यगित हैं। फिर भी यह संस्था यथासाध्य साहित्यिक उन्नति में प्रवृत्त रहती है। आशा है कि समय के साथ इन की उपयोगिता, मनोहरता, चारता आदि में उचित अभिवृद्धि होती रहेगी।

हिंदी भाषा का इतिहास देखने से प्रकट है कि इस के चलन का पहला प्रमाण सातवीं शताब्दी में मिलता है। तब से चंद-पूर्व प्रायः सन् ११५० तक, लोक में हिंदी का प्रचार बढ़ता रहा किन्तु साहित्य में अपभ्रंश-प्राकृत का अधिक मान रहा। अनंतर रासो और उत्तर-प्रारंभिक काल (प्रायः सन् १३८७) तक हिंदी साहित्य में भी व्याप्त हो गई और अपभ्रंश का चलन देश में तो रह गया ही न था, साहित्य से भी उठ-सा गया। हमारा साहित्य काव्यग्रंथों से उठा था जैसा कि प्रायः होता है, किन्तु इस काल-पर्यंत गद्य का भी प्रचार होने लगा। अनंतर सन् १५०३ पर्यंत देश में साहित्य और वार्मिक उपदेश दोनों का चलन और मान बहुत अच्छा बढ़ा, जिस से हमारे हिंदू समाज ने प्रायः ३०० वर्षों से पद-दलित होने पर भी अच्छी दीप्ति दिखलाई। अनंतर १५०३ से १५७३ तक सूरकाल रहा और हम ने वैष्णव महात्माओं द्वारा भजनों के साथ अपने साहित्य को समर्थ-रूप में पाया। उस काल तक वह इतनी उन्नति कर आया था कि अन्य भाषाओं तक के उत्कृष्ट साहित्य का सामना कर सकता था। आगे १६२३ तक तुलसीकाल रहा, जिस में हमारे यहाँ भजनों की चाल कम पड़ गई और विविध विषयों के फैलाव से कविता ने भारी दीप्ति पाई, विशेषतया गोस्वामी तुलसीदास के प्रयत्नों से।

इस के पीछे १८३२ पर्यंत कलाकाल की महत्ता प्रायः दो सौ वर्षों तक रही। इस काल हमारी कविता ने शृंगार और वीरकाव्य तथा भाषा के शाब्दिक शृंगार को पुष्ट किया, अर्थात् उस में भाव और भाषा दोनों अलंकृत हुई। इसी लिए हम ने इसे अलंकृत-काल कहा है। अनंतर १८३२ से १८६८ तक हमारे यहाँ परिवर्तन-काल माना जाता है और इस के पीछे वर्तमान काल।

वेद-पूर्व का हाल वेदों के वर्णनों अथवा मोहंजोदड़ो और हड़प्पा की खोदाई से प्रकट होता है। उस काल तक यहाँ वैभव, विद्या, बुद्धि आदि से इतर व्यक्तियों में किसी सामाजिक बड़ाई-छोटाई का प्रमाण नहीं मिलता। वैदिक विजय से आर्यों और अनार्यों में वर्णभेद स्थापित हो कर सामाजिक विभेद की पहली बल-विनाश-कारिणी नींव पड़ी। अनंतर ब्राह्मण एवं सूत्रकाल में सामाजिक मिश्रण के अंकुर दिखे और तब वैदिक विजय की भाँति बौद्धकाल में हमारे यहाँ दूसरी क्रांति का युग आया। चाहे बौद्धमत की दया-वाह्यता से हो या सम्राट् अशोक के कुप्रबंध से, भारत में इस काल निर्वलता आई तथा दूसरी शताब्दी बी० सी० से छठवीं तक यहाँ सीदियन, गक, कुषान और हूण नाम्नी चार विजयिनी

धाराएँ आ-आ कर-न्यूनाधिक काल के लिए विविध प्रांतों में शासिका हुई, किंतु इन से समाज में कोई अंतर न पड़ा और ये हिंदू समाज में मिलती रहीं। मुसलमानों के आने से पहले-पहल भारत का प्रचंड शत्रु सामाजिक भेद प्रकट हुआ और हमारे साहित्य ने धर्म एवं शौर्य के कथन-वाहुल्य से पराजित हिंदू समाज को सबल एवं संगठित करने का प्रयत्न किया। उस काल एक प्रकार से धार्मिक और सामरिक साहित्य ही हिंदुओं के लिए देशप्रेम का साधक था। हिंदू-मुस्लिम अंतर मोगल साम्राज्य के समय बहुत कुछ घट गया और औरंगजेब के पूर्व हमारा साहित्य मोगल विलासिता से भी प्रोत्साहन पा कर वाममार्गस्थ धार्मिक भावों की आड़ में खासा शृंगारिक विवरण दिखलाता है। औरंगजेब के समय से धार्मिक असहिष्णुता के कारण फिर हिंदू-मुस्लिम युद्धारंभ हुआ, जिस से इन दोनों के बल-हीन हो जाने से ब्रिटिश साम्राज्य स्थापित हुआ। अंतिम मोगल-काल में हिंदुत्व की भारी जागृति हो कर वही देश-प्रेम के रूप में साहित्य-क्षेत्र में भी अवतीर्ण हुआ। यद्यपि इस आंधे देश-प्रेम से समय पर हिंदू-मुस्लिम दोनों गिरे।

मोगलों के समय तक हमारे यहाँ धार्मिक से इतर कोई ऊँच-नीच का सामाजिक या जातीय प्रश्न न था। भारतीय व्यापार का हिंदू, मुस्लिम दोनों उचित रीति पर समर्थन करते थे और दोनों पूरे भारतीय यहाँ तक हो गए थे कि अकबर क्या औरंगजेब तक के समय में हिंदू सेनापति स्वयं काबुल पर आक्रमण करने भेजे गए, जो उन्हीं की बलायत थी। औरंगजेब शिवाजी तक को युद्धार्थ उधर भेजना चाहते थे। जो हिंदू मुसलमान हो जाता था, उस का मान किसी भी मुस्लिम से कम नहीं रहता था। जहाँगीर, शाहजहाँ और दारा की माताएँ तक हिंदू थीं और आगरे के शाही महल तक में महावीर का मंदिर बना। मुस्लिम सङ्घिण्टा का यह सर्वोत्कृष्ट प्रमाण है।

मोगलों के राज्य-पर्यंत हमारे साहित्य में भारतीयता का प्रश्न कभी न उठा और भारतीय स्वराज्य के प्रतिकूल केवल धार्मिक विभ्राट् का प्रश्न था, और कोई नहीं। वह भी अकबर से शाहजहाँ तक के समय में लुप्त हो गया था। यही दशा बहुत कर के १८३२ पर्यंत स्थापित रही, जितना कुछ व्यापारिक गड़बड़ बंगाल आदि में ईस्ट इंडिया कंपनी द्वारा भारत के प्रतिकूल चला था, उस का पूरा फल भारत ने न जान पाया था और न उस का प्रभाव तत्कालीन साहित्य में आया।

१८३२ से १८५८ तक जो परिवर्तन काल हुआ, उस में पाश्चात्य जीवन-होड़ का

प्रभाव हमारे यहाँ फैलने लगा और भारत की पराधीनता व्यक्तिगत न रह गई वरन् सारे ग्रेट ब्रिटेन देश का राज्य भारत पर संस्थापित हुआ। वाणिज्य का भी ह्रास होने लगा। स्त्रियों, धर्म आदि संबंधी जो अत्याचार कभी-कभी हो जाया करते थे, वे एक दम बंद हो गए, लूट-खसोट का नाम न रहा और शांति पूर्णतया स्थापित हुई, किंतु इसी के साथ भारतीय व्यापार गिर गया और धन के विदेश जाने से वरकत की कमी समझ पड़ने लगी, जिस से तथा सारे देश की राजनीतिक अवनति से देशप्रेम की प्रचंड रूप से जागृति होने लगी, जो दिनों दिन प्रबल पड़ती गई। विदेशियों में जो दोष न थे वे भी बहुतांशों को समझ पड़ने लगे। नए भारतीयों को प्राचीन गड़बड़ों का अनुभव न होने से उन के चित्तों पर अंग्रेजी राज्य द्वारा उन बुराइयों के मिटने से कोई आभासीपन न रह गया और योरोपियनों की योग्यता अथवा विदेशी राज्य के कारण समझा हुआ उन का अनुचित मान हजारों देशियों को कुढ़ाने लगा। इन सब बातों के प्रभाव अब कविता में भी देख पड़ते हैं, यद्यपि ऐसे विचार वाले मनुष्यों की संख्या अभी पूरी जनसंख्या के पड़ते में बहुत कम है। ऐसे भाव १८६८ तक कुछ-कुछ और १९२० के पीछे अधिकता से देख पड़ते हैं।

१८२५ से यहाँ गद्य की उन्नति प्रारंभ हुई जो समय के साथ बढ़ती आई है। कुछ काल से ब्रजभाषा के सामने खड़ी बोली की महिमा बढ़ रही है। ब्रजभाषा के भाव, उपमाएँ आदि बहुत दिनों से जैसे के तैसे ही चले आते हैं, जिस से नवीनता की कमी से उन में अलौकिक आनंद प्रदान की शक्ति कम रह गई है। इधर खड़ी बोली में भाषा-परिवर्तन के साथ भाव-परिवर्तन भी आधिक्य से हो रहा है और लोग उमर खैराम, बौली, कीट्स, कबीर, टैगोर आदि के विचारों को बहुत कुछ बढ़ा कर छायावाद की ओर तीव्र गति से जा रहे हैं। जहाँ ब्रजभाषा में कवन की साँची बहुत कुछ सुगम हो गई थी और रचनाओं में नए भावों की कमी से उन के समझने में कोई भी कठिनाता नहीं, वहाँ खड़ी बोली में इतने भाव भरे जाते हैं कि बहुत दशाओं में कथित शब्दों में वे समाते ही नहीं, और अर्थ जिधर चाहो उधर ही मुड़ने लगता है। जिन कवियों की भाषा भावों के आधिक्य और दूर की काँड़ी लाने के उद्दाम प्रयत्नों से अर्थ व्यक्त करने में असमर्थ सी हो गई है, उन की रचनाओं में अलौकिकानंद की कमी हो जाती है। समालोचकों ने इस की निंदा भी आधिक्य से की, जिस से थोड़े ही दिनों से अब इस का चलन कमी पर है और खड़ी बोली की रचना बहुत कर के समझने योग्य होने लगी है। खड़ी बोली में मुक्तकों की रीति पर कविता प्रायः होती है,

किंतु जहाँ प्राचीन काल में एक ही एक पद्य के मुक्तक होते थे, वहाँ अब कई-कई पृष्ठों के होते हैं, अथवा रचना में प्रायः भारी कथा-प्रसंग नहीं होते। जहाँ दो-चार ऐसे ग्रंथों में कथाएँ कही भी गई हैं, वहाँ रामायण आदि की भाँति सिलसिलेवार कथा न कह कर कवि-गण प्रायः साहित्यिक छटा मात्र दिखलाने का प्रयत्न करते हैं, जिस से कथा का डोर पूरा नहीं बैठता और रचना से मुक्तकपन की हवा नहीं हटती। फिर भी अभी तक वृद्धता-पूर्वक सम्मति देने अथवा मत-स्थापन का समय नहीं आया है, क्योंकि खड़ी बोली की रचना-प्रणाली अत्यधिक नवीन होने से अभी उस का कोई ढाँचा नहीं बैठ पाया है। आशा है कि समय पर उन्नति करते हुए नवीन भावपूर्ण किंतु वर्णनपूर्णता अथवा अर्थव्यक्त का स्वाद लिए हुए वह नाटकों आदि के समान कथा भी सुचारुरूपेण कहने लगेगी। नाटकों की उन्नति हुई है तथा उपन्यासों और छोटी कथाओं की भी। प्रबंधों की अभी कुछ कमी है। उन का भी प्रभाव बढ़ रहा है और विविध विषयों के वर्णन तो खूब ही बढ़े हैं, विशेषतया गद्य में। ब्रजभाषा भी अभी तक चल रही है किंतु खड़ी बोली के सामने उस का पाया दबता हुआ देख पड़ता है।

कुल बातों पर विचार करने से देख पड़ता है कि हमारी हिंदी में इन पचास-साठ वर्षों के अंदर बहुत अच्छी उन्नति हुई है। देश में इस के पठन-पाठन की प्रणाली भी अच्छी चली है और बढ़ती जाती है। यद्यपि दर्शन, विज्ञान आदि के टुकसाली सर्वमान्य ग्रंथ अभी नहीं हैं, तथापि सूत्रपात सभी बातों का हो चुका है और देशोन्नति के साथ हिंदी के ऐसे विभागों की भी उन्नति अवश्यभावी है। जिन-जिन कलाओं, व्यापारों, विद्या के विभागों आदि का चलन देश में होता जाता है, उन के ग्रंथ भी हिंदी में बनते हैं और समय तथा उन्नति के साथ अधिकाधिक बनेंगे। आशा है कि हमारी यह सभा भी इन विषयों की वृद्धि के उपाय सोचेगी।

३—जेनरल सेक्रेटरी डाक्टर ताराचंद का भाषण

मेरा पहला कर्तव्य यह है कि मैं हिंदुस्तानी एकेडेमी की तरफ से डाक्टर राय राजेश्वर बली साहब को धन्यवाद दूँ। यह आप सब को मालूम है कि इन दिनों चुनाव की तैयारी बड़े जोर से हो रही है और जो चुनाव में भाग ले रहे हैं उन का सारा समय इस के संबंध के कामों में लग रहा है। इस के अलावा भी राय साहब के जिम्मे इतने

और धंवे हैं, कि उन से बहुत कम फुरसत मिलती है। इन दिक्कतों के होते हुए भी आप ने हमारी प्रार्थना को माना और एकेडेमी के लिए समय निकाला इस के लिए हम आप का सच्चे दिल से शुक्रिया अदा करते हैं।

सब जानते हैं कि दस वरस हुए आप ही ने अपने हाथों से एकेडेमी के पीघे को लगाया था। आज आप इसे दस वरस के बाद फिर देख रहे हैं। इस समय में यह बड़ा और फला-फूला है। दस वरस हुए किन उम्मीदों के साथ इस ने जन्म लिया था; आज उन में से कौन-कौन सी पूरी हुई, कौन सी अभी अधूरी हैं, और कौन सी ऐसी हैं जिन की तरफ से हम निराश हैं, इन सब का व्यौरा थोड़े समय में देना आसान नहीं। हर एक प्राणी जो इस संसार में पैदा होता है जीवन की मंजिलें उसी हालत में सफलता के साथ तै कर सकता है जब उस के अंदर बढ़ने की शक्ति हो और जब उसे बाहरी दुनिया की ताकतें सहायता दें। बाहरी ताकतों पर तो किसी का जोर नहीं। इन्होंने ने हम पर दया और रहम की नज़र भी डाली है और क्रोध और ग़ज़ब की भी। एकेडेमी को सावन की सुहावनी रत भी मिली है जब उस ने उन्नति के रास्ते पर लंबे-लंबे पग आगे रखे और गर्मी की लूँ भी नसीब हुई जिन में उस का कलेवर सूखा वेदम-सा रह गया। हमारी भीतरी शक्ति का आसरा हमारे आदर्शों पर है। हमारे जीवन का अंदाज़ा इसी से हो सकता है कि हमारे विचार कितने ऊँचे और उदार हैं, हमारे भाव कितने پاک और सुधरे हैं, हमारे इरादे कितने अटल और बलवान् हैं।

जब कोई नई संस्था या नया इंदारा नया ख़याल ले कर सामने आता है तो स्वभाव से ही इस अनजाने अजनबी की तरफ़ लोग पहले अचरज से देखते हैं। फिर कुछ तो उसे विन-बुलाया विन-चाहा मेहमान समझ कर ट्रेप करने लगते हैं, कुछ उस से परच जाते हैं; उस में गुण देखते हैं और उसे काम का जान कर अपनाने लगते हैं। ज्यों-ज्यों अजनबीयत दूर होती है क्रूर बढ़ने लगती है। पिछले दस वरसों में एकेडेमी भी इन पड़ावों से पार हुई है। मेरा अपना यह विचार है कि धीरे-धीरे अब वह ज़माना आ गया है कि देश में इस संस्था की ज़रूरत का अनुभव होने लगा है। पढ़े लिखों और सोच-विचार करने वालों के दिलों में यह खयाल पैदा हो गया है कि ज़वान और अदब, भाषा और साहित्य क़ान की जिंदगी के साथ धंवे हैं और इन के पालने-पोसने के लिए एक स्थायी संस्था या मुस्तक़िल इंदारे की ज़रूरत है।

इस जरूरत को हिंदुस्तानी एकेडेमी ने भरसक पूरा करने का जतन किया है। सरमाया कम है, काम बड़ा, काम करने वाले साधारण। फिर भी किताबों से, रिसालों से, इनामों और कान्फ्रेंसों से एकेडेमी ने हिंदी और उर्दू की सेवा की है, और इस का फल कम से कम इतना तो जरूर है कि हर तरफ जगाव है। खोटे-खरे साहित्य को सच्ची कसौटियों पर कसा जा रहा है, भाषा के मर्मों की गहरी जाँच हो रही है, कविता में नए भावों और नए विचारों का संचार है, विद्या और साहित्य का नया महल मजबूत और गहरी नींवों पर खड़ा हो रहा है। एकता की रेशमी लड़ी जो हिंदुस्तान के बिखरे हुए दानों को क्रीमियत की एक माला में पिरो रही है कितने ही वागों से गुंधी है। इन में भाषा भी एक धागा है जिस की महत्ता किसी से कम नहीं। हमारी एकेडेमी को चाहिए कि फुचड़ों को अलग कर ऐसा सुता धागा तैयार करे जो भारी दानों की तान को भलीभाँति सहार सके।

भाषा के धागे के बाटने और सँवारने का काम कठिन है लेकिन असंभव नहीं। इस के मुतबल्लिक कुछ उलझने पैदा हो गई हैं जिन का साफ़ कर देना जरूरी जान पड़ता है। पहली बात तो यह है कि कुछ लोगों का खयाल है कि भाषा बनाने से नहीं बनती वह स्वभाव से बदलती है। इस लिए जान बूझ कर यह कोशिश करना कि एक आमफ़हम भाषा तैयार हो जाय बेकार है। मेरी राय में यह खयाल ठीक नहीं है। भाषा ऐसी क़द्रती चीज़ नहीं जिस पर सोच-विचार का असर न पड़ सके—वह बहुत कुछ तो बनावटी चीज़ है। हम जितने लफ़्ज़ बोलते हैं उन में से निन्तानवे फ़ी सदी से भी अधिक ऐसे हैं जिन का जीवन आपस के समझौते पर निर्भर है। लफ़्ज़ तो निशान हैं जिन्हें हम ने मिल कर चुन लिया है। यह निशान हमेशा बदलते रहते हैं कभी एक-साँ नहीं रहते। इस उमूल की मिसालें बहुत सी मिलती हैं। आज हमारे देखते-देखते तुर्क अपनी ज़बान से अरबी लफ़्ज़ों को निकाल ज़बान में पुराने तुर्की लफ़्ज़ भरते जाते हैं। यूनानियों ने थोड़े ही समय में एक नई भाषा बना ली है जिस में साहित्य की किताबें लिखी जा रही हैं। यह भाषा आजगल की बोलियों और पुरानी यूनानी के बनावटी मेल से बनी है। जर्मनी में लूवर के समय में यानी सोल्हवीं नदी में कई बोलियों में साहित्य की रचना होती थी लेकिन सैक्सनी की बोली में लूवर ने वाइमल का तर्जुमा कर इसे ही टकसाली भाषा बना दिया। १९१४ में पहले जर्मन में बहुत से

फ्रांसीसी और दूसरी लातीनी भाषाओं के लफ़्ज़ मिलजुल गए थे। लड़ाई के बाद जर्मनों ने अपनी भाषा से इन को चुन-चुन कर निकाला और ठेठ द्यूटन शब्द इस्तेमाल करने लगे। चौसर ने लंदन की बोली को चुना और सब ऐंग्लो-सैक्सन बोलियों ने इस के सामने माथा झुका दिया। इस चौसर की अंग्रेजी ने ऐसी उदारता दिखाई कि दुनिया की सब भाषाओं से लफ़्ज़ उधार ले लिए और इन्हें अपने में इस तरह समो लिया कि एक-जान हो गए। इसी उदारता का यह फल है कि छयों महाद्वीपों (वरेंआज़मों) में इस के बोलने वाले मीजूद हैं और आज इन की तादाद और सब भाषाओं के बोलने वालों से ज़ियादा है। हमारी आँखों के सामने नागरी-प्रचारणी सभा नित नए लफ़्ज़ घड़ती है और इन्हें साइंसों की किताबों में इस्तेमाल करती है, और यही शेवा अंजुमने-तख़्की उर्दू ने इस्तिवार किया है। इस की इस्तिलाहों की लुग़त चंद आदमियों के मन की घड़ंत है। यह सब मिसालें बताती हैं कि अगर हम मिल कर कोशिश करें तो कोई बजह नहीं कि एक ऐसी भाषा तैयार न हो जावे जो सारे हिंदुस्तान में आपस के व्यवहार के काम में आ सके।

दूसरा एतराज़ जो इस कोशिश के खिलाफ़ किया जाता है यह है कि अगर यह ज़वान बन भी जाय तो साहित्य या अदब की ज़वान नहीं हो सकती, ऐसी खिचड़ी भाषा में “साहित्य-रचना का सौष्ठव सर्वथा नष्ट” हो जायगा। मुझे अफ़सोस के साथ कहना पड़ता है कि एतराज़ वे बुनियाद है। हिंदुस्तानी या उर्दू तो अपनी सरिस्त से ही खिचड़ी ज़वान है शुद्ध-शुद्ध में इस के इस्तेमाल करने वाले इसे ‘रिख़ता’ कहते ही थे। रिख़ता का अर्थ है खिचड़ी की तरह मिली-जुली भाषा। कौन कह सकता है कि उर्दू के नज़म और नज़्म में, गद्य और पद्य में “सौष्ठव”, शुस्तगी, नहीं है? फिर इस सौष्ठव का निर्णय करने वाला कौन है? आगे चल कर मैं दिखलाऊँगा कि समय के साथ साहित्य की भाषा में तब्दीली होती रही है। कभी हमारी भाषा में प्राकृत और संस्कृत की भरमार दिखाई देती है, कभी फ़ारसी-अरबी की। यह तो रिवाज, चाल, या फ़ैशन की बात है। पसंद की गति बड़ी अनोखी है। दो आदमियों की रुचि एक सी नहीं होती। देखना यह है कि यह मिलवां ज़वान काम के योग्य है कि नहीं। एतराज़ करने वाले कहते हैं “क़िस्से कहानियों तथा साधारण विषयों के लेखों के लिए तो थोड़े परिमार्जन ने यह भाषा काम की हो सकती है, शास्त्रीय तथा गंभीर विषयों के लिए यह सर्वथा अनुपयुक्त और असमर्थ है।” अगर इन से पूछा जाय—‘क्यों?’ तो गायब जवाब मिलेगा कि इन के शब्दों का ख़जाना काफ़ी भरा नहीं

है। क्या मैं पूछ सकती हूँ कि हिंदी और उर्दू में सब विद्याओं (इल्मों), शास्त्रीय तथा गंभीर विषयों (इल्मी और संजीदा मजामीन) के लिए काफ़ी लफ़्ज़ हैं? अगर हैं तो यह कोशिश क्यों हो रही है कि संस्कृत और अरबी से पारिभाषिक या इस्तालाही लफ़्ज़ ले कर डिक्शनरियाँ तैयार की जायें? क्यों नहीं संस्कृत और अरबी की जगह ऐसे शब्द ढड़े जायें जो उर्दू और हिंदी दोनों में एक-साँ चल सकें? नए लफ़्ज़ लेने ही हैं तो पेशेवरों से कला-वंतों से लीजिए, न मिलें तो हिंदुस्तानी तरकीबों में ढालिए। हम अंग्रेजी इल्मी किताबों से ले कर अपने देश में इल्म फैला रहे हैं। क्या हर्ज है जो अंग्रेजी धातुओं, मादों, को हिंदुस्तानी जामा पहना कर अपनी ज़वान की कमी को पूरा करें? सिर्फ़ अंग्रेजी से नहीं लेना चाहें तो और ज़वानों से लें, पर इस में क्या आपत्ति है कि हिंदी-उर्दू के लिए एक ही लफ़्ज़ हों? यह यक़ीन कीजिए कि ऐसे लफ़्ज़ों की बजह से ज़वान का सौष्ठव नष्ट नहीं होगा। 'सौष्ठव' का आधार केवल लफ़्ज़ नहीं उन का फ़िक्क़ों में जोड़ है। हर-एक भाषा में कठोर और भद्दी आवाज़ें और मधुर और प्यारी ध्वनियाँ होती हैं। फ़ारसी पढ़ने वाले संस्कृत के घ, झ, ठ, ढ, ढ, घ, फ, भ वग़ैरा को भद्दा और सकील कहते हैं। संस्कृत पढ़ने वालों को ع غ غ غ ق ق ق ض ض इत्यादि कान पर भारी जँचते हैं। फिर भी जानने वाले जानते हैं कि दोनों की कविता में सौष्ठव है और दोनों के गुणों का बख़ान करते हैं। हमारी भाषा में दोनों का मेल है। मिले-जुले शब्दों से इस की सुंदरता कम नहीं होती, बढ़ जाती है। इक़बाल के एक शेर की मिसाल पेश करता हूँ—

है रीत आशिक़ों की तन मन निसार करना ।

रोना सितम उठाना और उन को प्यार करना ॥

ऐसी मिसालों से हिंदी-उर्दू का साहित्य भरा पड़ा है।

तीसरा एतराज़ है कि " जो लोग हिंदुस्तानी का पक्ष ग्रहण कर रहे हैं वे अनजान में अपने देश का अनिष्ट साधन कर रहे हैं और दासत्व की शृंखला दृढ़ करने में सहायक हो रहे हैं। यदि इन लोगों को अपने उद्योग में सफलता मिली तो हमारा संसर्ग प्राचीन संस्कृति से छूट जायगा और हम अपने गौरव से पूर्णतया अनभिज्ञ रह कर अंधकार में टटोलते हुए धागे बँधेंगे और संभव है कि गढ़े में गिर कर अपना अंग भंग कर बैठें ।"

मेरा निवेदन है कि एक्केडेमी के कुछ भूले-भटके मेंबर ही इस पक्ष को ग्रहण नहीं कर रहे हैं बल्कि कुछ और लोग भी इसी मनोरथ को निद्र करना चाहते हैं। गांधी जी ने

अपने अखबार 'हरिजन' में एक लेख लिखा था उस का मंशा यह था कि भाषा के संबंध में जो खयाल उन्होंने ने साहित्य-परिपद् में जाहिर किए थे उन को साक़ कर दें। इस लेख में वह लिखते हैं "परिपद् का मक़सद हिंदुस्तान की सारी भाषाओं में से अच्छी से अच्छी चीज़ों का संग्रह कर के उन को देश के अधिक से अधिक लोगों के लिए उस भाषा के जरिए सुलभ बनाना है जिस को अधिक से अधिक देशवासी समझ सकते हैं"। इसी लेख की दूसरी किस्त में उन्होंने अपना मतलब और भी साफ़ लफ़्ज़ों में बयान कर दिया है। कहते हैं "हिंदी, हिंदुस्तानी और उर्दू एक ही भाषा के मुखतलिफ़ नाम हैं। हमारा मतलब आज एक नई भाषा बनाने का नहीं है, बल्कि जिस भाषा को हिंदी, हिंदुस्तानी और उर्दू कहते हैं उसे अंतर्प्रातीय भाषा बनाने का हमारा उद्देश्य है।"

काका कालेलकर जी जो गाँधी जी के साथियों में ऊँचा दरजा रखते हैं एक लेख 'हिंदी का प्रचार किस लिए और किन उपायों से' में लिखते हैं—"हम अपने यहाँ कोई नई भाषा बनाने नहीं जा रहे हैं। जिस भाषा को उत्तर हिंदुस्तान के शहराती और देहाती लोग मिल कर बोलते हैं, और जो सबों की समझ में बड़ी आसानी से आ सकती है, उसी को हम भारत की राष्ट्रभाषा—हिंदुस्तान की क़ौमी ज़बान—मानेंगे और उसी के सहारे हम अपने राष्ट्रीय साहित्य का भी निर्माण करेंगे।" "हम अपनी राष्ट्रभाषा को पंडितों और मौलवियों की तरह संस्कृत या अरबी-फ़ारसी के शब्दों से लादना नहीं चाहते—हम राष्ट्रभाषा में से संस्कृत और अरबी-फ़ारसी शब्दों को निकाल डालने के पक्ष में नहीं हैं। अगर हम ने ऐसी कोशिश की भी, तो हमारी प्रांतीय भाषाएँ क्षीण हो जायँगी। इस से देश का राष्ट्रीय जीवन निर्बल और ज़हरीला बन जायगा। चुनांचें हमारे भाषाओं में जो शब्द अब द्वय-शक्कर की तरह घुल-मिल गए हैं, और आम जनता जिन्हें आसानी से समझती और अपनाती है, उन सभी शब्दों को राष्ट्रभाषा में स्थान दिया जायगा।" "हम देश के सब धर्मों, संप्रदायों और प्रांतों का एक बिराट संगठन करना चाहते हैं। इस लिए सभी को अपने अनुकूल रखने की हमारी कोशिश होगी।"

अगर गाँधी जी और काका कालेलकर जी जान कर या अनजाने देश का अनिष्ट साधन कर रहे हैं तो अनिष्ट-सिद्धि में इन का साथ देना एतराज करने वालों की प्रशंसा प्राप्त करने से कहीं भला है।

सच तो यह है कि अगर हम एतराजों की असलियत को ध्यान से देखें तो वह निर्मूल

जैवेंगी। सारे एतराजों का आडंबर जिस नींव पर खड़ा किया गया है उस का सारांश यह है कि हिंदुस्तानी एक नव-निर्मित भाषा है। इस बात को साबित करने के लिए, हिंदी का बड़ा रोचक इतिहास घड़ा गया है, जो दिल को मोहने वाला भले ही हो सच्चाई से बहुत निकट नहीं मालूम होता।

बारहवीं-तेरहवीं सदी में उत्तर में कई बोलियाँ बोली जाती थीं, जैसे पंजाबी, राजस्थानी, खड़ी बोली, ब्रज, अवधी, बुंदेली इत्यादि। इन सब बोलियों में धीरे-धीरे साहित्य की रचना होने लगी। खड़ी बोली को मुसलमानों ने अपनाया और अपना धर्म फैलाने की नीति से इस का इस्तेमाल शुरू किया। इस में सब से पहले चौदहवीं सदी में सूफ़ी संतों और दर्वेशों ने पुस्तकें लिखीं। उन में धर्म के या तसव्वुफ़ के उसूल बयान किए। यह बोली इस तरह अवाम या साधारण लोगों की भाषा बनी। बाद में दकन के बादशाहों ने इस पर कृपा की नज़र डाली और इसे दरबार के कामों का ज़रिया ठहराया। वह इस पर इतना रीझे कि स्वयं खड़ी बोली में कविता करने लगे। इस बोली को दकनी या हिंदी नाम मिला। सत्रहवीं सदी के अंत में बली इसे दिल्ली ले कर आए। यहाँ मुग़लों का राज्य था। इन की अपनी ज़बान फ़ारसी या तुर्की थी लेकिन दरबार की ज़बान फ़ारसी थी। रियाया में राजस्थानी, ब्रज, अवधी, बुंदेली में साहित्य की रचना शुरू हो चुकी थी। लेकिन साधु संतों में खड़ी बोली का भी व्यवहार होता था। पंद्रहवीं सदी में दक्खिन से भक्ति की लहर उठ कर उत्तर में फैल चुकी थी। सूफ़ियों के विचारों के साथ-साथ सूफ़ियों की ज़बान भी आई थी। चुनांचे कबीर, नानक जैसे साधु-संतों ने इस का प्रयोग किया।

दकनी-हिंदी मुग़ल दरबार के मुताहिबों और मुताहिबों के हाथों में आई। इन की तो मादरी ज़बान फ़ारसी थी। इन्होंने ने इसे फ़ारसी के रंग में रंगना शुरू किया और मीर ग़ज़हर जानजाना के समय से ले कर ज़ाकिर ग़ालिब के समय तक इस पर यही रंग चढ़ता रहा। दिल्ली पर जब तबाही आई तो फ़ैजाबाद और लखनऊ में इस ज़बान की आव-भगत हुई। यहाँ भी ईरानी नस्ल के नवाब वज़ीर मुल्क पर हकूमत करते थे। इन्हीं के दरबार में यह परवान चढ़ी। नासिर ने खास तौर पर और लखनऊ के और मयारों ने आम तौर पर अपनी समझ में इस को माँजा, साफ़ किया। यह ज़बान उर्दू के नाम से पुकारी जाने लगी।

इस तरह खड़ी बोली की दो शाखें हो गईं। एक अवाम की जवान जिस में दकनी हिंदी, कबीर के रखते, जटमल की गोरा बादल की बात बगैरा शामिल हैं, दूसरी दरवारी जवान जो राज्य के आश्रय में फली-फूली।

हिंदुस्तान की और भाषाओं, जैसे राजस्थानी, ब्रज, अवधी, बुंदेली बगैरा ने इस समय में बड़ी उन्नति की। ब्रज और अवधी में ऐसा सजल और सजीव साहित्य बना कि वह दुनिया के बड़े साहित्यों की टक्कर लेता है। लेकिन धीरे-धीरे लोगों के मन इन की तरफ से फिर गए। उन्नीसवीं सदी के आरंभ में सदासुख लाल, इन्द्या अल्ला खाँ इत्यादि लेखकों ने उत्तर में खड़ी बोली के गद्य की नींव डाली। लेकिन नई बात यह की कि इस में 'हिंदी छुट फ़ारसी-अरबी का पुट' न आने दिया। बहुत दिनों तक गद्य तो खड़ी बोली में लिखा जाता था लेकिन पद्य की भाषा ब्रज ही रही। अवाम की खड़ी बोली की कविता साधुसंतों में प्रचलित थी लेकिन इस में अभी अच्छे ग्रंथ नहीं थे। उन्नीसवीं सदी में भारतेन्दु हरिश्चंद्र के समय से इस खड़ी बोली का पद्य-साहित्य शुरू हुआ। इस साहित्य की जोर से तरक्की हुई लेकिन यह अवाम की जवान से दूर होने लगा। दरवारी खड़ी बोली को फ़ारसी-अरबी और अवाम की खड़ी बोली को संस्कृत के बोझ ने दबा दिया। न केवल दोनों के दरमियान एक गहरी खाड़ी बना दी, बल्कि भाषाओं को ऊँची शिक्षा पाए हुए लोगों के छोटे हल्के में सीमित कर दिया। उर्दू शायर और अदीब ऐसी जवान लिखने लगा जिसे शहरों के फ़ारसीदाँ समझ लें तो समझ लें उस के आम भाई उस से कोई फ़ायदा न उठा सकें, और इस से भी बुरी हालत हिंदी की कविता की हुई।

इस कठिनाई का अनुभव कर के कुछ भूले-भटके लोगों ने यह धुन छेड़ी है कि हमारी जवान ऐसी होनी चाहिए जो सचमुच सारे हिंदुस्तानियों के दिलों की तर्जुमान हो सके। यह कोई नव-निर्मित जवान नहीं, वही पुरानी खड़ी बोली है। यह वही पुरानी उजली नदी है जो दो धारों में बँट गई है। विचार यह है कि बीच की ऊँची जमीन को हमवार कर के क्यों न इन दोनों धारों को मिला दिया जाय, ताकि हमारी जवान एक उमड़ते, गरजते दरिया की तरह आगे बढ़े, जिस का सैलाव हमारे दिलों के खेतों को जिसे फूट, अधिश्वास, शक और शुबहे की गर्म हवाओं ने सुखा दिया है, फिर से हरा-भरा कर दे।

मुझे आशा है कि इस बहस-मुवाहिजे और वाद-विवाद में आप के सभापतित्व में इस काम में सफलता होगी। मैं आप का और उन सच सज्जनों का आभारी हूँ जिन्होंने हमारी फ़ान्फ़ेस में शरीक होने का कष्ट उठाया है।

हिंदुस्तानी एकेडेमी द्वारा प्रकाशित ग्रंथ

(१) मध्यकालीन भारत की सामाजिक अवस्था—लेखक, मिस्टर अब्दुल्लाह यूसुफ़ अली, एम्० ए०, एल्-एल्० एम्० । मूल्य १।१

(२) मध्यकालीन भारतीय संस्कृति—लेखक, रायबहादुर महामहोपाध्याय पंडित गौरीशंकर हीराचंद ओझा । सचित्र । मूल्य ३।१

(३) कवि-रहस्य—लेखक, महामहोपाध्याय डाक्टर गंगानाथ झा । मूल्य १।१

(४) अरब और भारत के संबंध—लेखक, मौलाना सैयद सुलैमान साहब नदवी । अनुवादक, बाबू रामचंद्र वर्मा । मूल्य ४।१

(५) हिंदुस्तान की पुरानी सभ्यता—लेखक, डाक्टर वेनीप्रसाद, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, डी० एस्-सी० (लंदन) । मूल्य ६।१

(६) जंतु-जगत—लेखक, बाबू ब्रजेश बहादुर, बी० ए०, एल्-एल्० बी० । सचित्र । मूल्य ६।१।१

(७) गोस्वामी तुलसीदास—लेखक, रायबहादुर बाबू श्यामसुंदरदास और डाक्टर पीतांबरदत्त बड़वाल । सचित्र । मूल्य ३।१

(८) सतसई-सप्तक—संग्रहकर्ता, रायबहादुर बाबू श्यामसुंदरदास । मूल्य ६।१

(९) चर्म बनाने के सिद्धांत—लेखक, बाबू देवीदत्त अरोरा, बी० एस्-सी० । मूल्य ३।१

(१०) हिंदी सर्वे कमेटी की रिपोर्ट—संपादक, रायबहादुर लाला सीताराम, बी० ए० । मूल्य १।१।१

(११) सौर-परिवार—लेखक, डाक्टर गोरखप्रसाद, डी० एस्-सी०, एफ० आर० ए० एस्० । सचित्र । मूल्य १२।१

(१२) अयोध्या का इतिहास—लेखक, रायबहादुर लाला सीताराम, बी० ए० । सचित्र । मूल्य ३।१

(१३) घाघ और भट्टरी—संपादक, पंडित रामनरेश त्रिपाठी । मूल्य ३।१

(१४) वेलि क्रिसन रुकमणी री—संपादक, ठाकुर रामासिंह, एम्० ए० और श्री सूर्यकरण पारीक, एम्० ए० । मूल्य ६)

(१५) चंद्रगुप्त विक्रमादित्य—लेखक, श्रीयुत गंगाप्रसाद मेहता, एम्० ए० । सचित्र । मूल्य ३)

(१६) भोजराज—लेखक, श्रीयुत विश्वेश्वरनाथ रेड । मूल्य ३।।) सजिल्द, ३) विना जिल्द ।

(१७) हिंदी उर्दू या हिंदुस्तानी—लेखक, श्रीयुत पंडित पद्मासिंह शर्मा । मूल्य सजिल्द १।।), विना जिल्द १)

(१८) नातन—लेखक के जरमत नाटक का अनुवाद । अनुवादक—मिर्जा अबुल्फ़ज़ल । मूल्य १।)

(१९) हिंदी भाषा का इतिहास—लेखक, डाक्टर धीरेन्द्र वर्मा, एम्० ए०, डी० लिट्० (पेरिस) । मूल्य सजिल्द ४), विना जिल्द ३।।)

(२०) औद्योगिक तथा व्यापारिक भूगोल—लेखक, श्रीयुत शंकरसहाय सक्सेना । मूल्य सजिल्द ५।।), विना जिल्द ५)

(२१) ग्रामीय अर्थशास्त्र—लेखक, श्रीयुत ब्रजगोपाल भटनागर, एम्० ए० । मूल्य ४।।) सजिल्द, ४) विना जिल्द ।

(२२) भारतीय इतिहास की रूपरेखा (२ भाग)—लेखक, श्रीयुत जयचंद्र विद्यालंकार । मूल्य प्रत्येक भाग का सजिल्द ५।।), विना जिल्द ५)

(२३) भारतीय चित्रकला—लेखक, श्रीयुत एन्० सी० मेहता, आई० सी० एस्० । सचित्र । मूल्य विना जिल्द ६), सजिल्द ६।।)

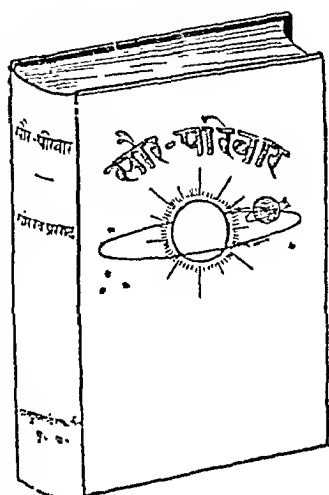
(२४) प्रेम-दीपिका—महात्मा अक्षर अनन्यकृत । संपादक, रायबहादुर लाला सीताराम, बी० ए० । मूल्य १।)

(२५) संत तुकाराम—लेखक, डाक्टर हनु रामचंद्र दिवेकर, एम्० ए०, डी० लिट्० (पेरिस), साहित्याचार्य । मूल्य सजिल्द २।); विना जिल्द १।।)

(२६) विद्यापति ठाकुर—लेखक, डाक्टर उमेश मिश्र, एम्० ए०, डी० लिट्० । मूल्य १।)

सौर-परिवार

[लेखक—डाक्टर गोरखप्रसाद, डी० एस्-सी०]



आधुनिक ज्योतिष पर अनोखी पुस्तक

७७६ पृष्ठ, ५८७ चित्र

(जिन में ११ रंगीन हैं)

इस पुस्तक को काशी-नागरो-प्रचारिणी सभा से रेडिचे पदक तथा २००) का छत्रलाल पारितोषिक मिला है।

“इस ग्रंथ को अपने सामने देख कर हमें जितनी प्रसन्नता हुई उसे हमीं जानते हैं।

* * जटिलता आने ही नहीं दी, पर इस के साथ साथ महत्त्वपूर्ण अंगों को छोड़ा भी नहीं। * * पुस्तक बहुत ही सरल है। विषय

को रोचक बनाने में डाक्टर गोरखप्रसाद जी कितने सिद्धहस्त हैं, इस को वे लोग तो खूब ही जानते हैं जिन से आप का परिचय है।

* * पुस्तक इतनी अच्छी है कि आरंभ कर देने पर बिना समाप्त किए हुए छोड़ना कठिन है।”—सुधा।

“The explanations are lucid, but never, so far as I have seen, lacking in precision. * * I congratulate you on this excellent work.”

श्री० टी० पी० भास्करन, डाइरेक्टर, निजामिया वेधशाला

मूल्य १२)

प्रकाशक—हिंदुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद

हिंदुस्तानी एकेडेमी के उद्देश

हिंदुस्तानी एकेडेमी का उद्देश हिंदी और उर्दू साहित्य की रक्षा, वृद्धि तथा उन्नति करना है। इस उद्देश की सिद्धि के लिए वह

- (क) भिन्न भिन्न विषयों की उच्च कोटि की पुस्तकों पर पुरस्कार देगी।
- (ख) पारिश्रमिक देकर या अन्यथा दूसरी भाषाओं के ग्रंथों के अनुवाद प्रकाशित करेगी।
- (ग) विश्व-विद्यालयों या अन्य साहित्यिक संस्थाओं को रुपए की सहायता देकर मौलिक साहित्य या अनुवादों को प्रकाशित करने के लिए उत्साहित करेगी।
- (घ) प्रसिद्ध लेखकों और विद्वानों को एकेडेमी का फ़ेलो चुनेगी।
- (ङ) एकेडेमी के उपकारकों को सम्मानित फ़ेलो चुनेगी।
- (च) एक पुस्तकालय की स्थापना और उस का संचालन करेगी।
- (छ) प्रतिष्ठित विद्वानों के व्याख्यानो का प्रबंध करेगी।
- (ज) ऊपर कहे हुए उद्देश की सिद्धि के लिए और जो जो उपाय आवश्यक होंगे उन्हें व्यवहार में लाएगी।




हिंदुस्तानी

हिंदुस्तानी एकेडेमी की तिमाही पत्रिका

जुलाई, १९३७

हिंदुस्तानी एकेडेमी

संयुक्तप्रान्त, इलाहाबाद



हिंदुस्तानी, जूलाई, १९३७

संपादक—रामचंद्र टंडन

संपादक-मंडल

- १—डाक्टर ताराचंद, एम्० ए०, डी० फ़िल्० (ऑक्सन)
- २—प्रोफ़ेसर अमरनाथ झा, एम्० ए०
- ३—डाक्टर वेनीप्रसाद, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, डी० एस्-सी० (लंदन)
- ४—डाक्टर रामप्रसाद त्रिपाठी, एम्० ए०, डी० एस्-सी० (लंदन)
- ५—डाक्टर धीरेंद्र वर्मा, एम्० ए०, डी० लिट्० (पेरिस)
- ६—श्रीयुत रामचंद्र टंडन, एम्० ए०, एल्-एल्० वी०

लेख-सूची

- | | |
|---|-----|
| (१) रंगमंच—लेखक, श्रीयुत जयशंकर 'प्रसाद' | २४७ |
| (२) अवधी की कुछ प्रवृत्तियाँ—लेखक, श्रीयुत रामाज्ञा द्विवेदी, एम्० ए० | २६१ |
| (३) हिंदी के कुछ भूले हुए शब्द—लेखक, प्रोफ़ेसर अमरनाथ झा, एम्० ए० | २६७ |
| (४) हिंदुस्तानी के संबंध में कुछ ग़लतफ़हमियाँ—लेखक, डाक्टर ताराचंद, एम्० ए०, डी० फ़िल्० (ऑक्सन) | २७९ |
| (५) भारतीय चित्रकला के सौ वर्ष (१८३७-१९३७)—लेखक, श्रीयुत रामचंद्र टंडन, एम्० ए०, एल्-एल्० वी० | २९९ |
| (६) काश्मीरी ग्रामगीत—लेखक, श्रीयुत रामनरेश त्रिपाठी | ३१३ |
| (७) स्फुट प्रसंग—लेखक, महामहोपाध्याय पंडित लक्ष्मीधर शास्त्री, एम्० ए०, एम्० ओ० एल्०; रायबहादुर पंडित ब्रजमोहन व्यास; श्रीयुत माताप्रसाद गुप्त, एम्० ए०, एल्-एल्० वी० | ३३३ |
| समालोचना | ३४९ |

हिंदुस्तानी

हिंदुस्तानी एकेडेमी की तिमाही पत्रिका

भाग ७ }

जुलाई, १९३७

{ अंक ३

रंगमंच

[लेखक—श्रीधर जयशंकर, 'प्रसाद']

भारत के नाट्य-शास्त्र में रंगशाला के निर्माण के संबंध में विस्तृत रूप से बताया गया है। जिस ढंग के नाट्य-मंदिरों का उल्लेख प्राचीन अभिलेखों में मिलता है, उस से जान पड़ता है कि पर्वतों की गुफाओं में खोद कर बनाए जाने वाले मंदिरों के ढंग पर ही नगर की रंगशालाएँ बनती थीं।

“कार्यः शैल गुहाकारो द्विभूमिर्नाट्यमंडपः” से यह कहा जा सकता है कि नाट्य-मंदिर दो खंड के बनते थे, और वे प्रायः इस तरह के बनाए जाते थे जिस से उन का प्रदर्शन विमान का-सा हो। शिल्प-संबंधी शास्त्रों में प्रायः द्विभूमिक, दो-खंडे या तीन-खंडे प्रासादों को जो कि स्तंभों के आधार पर अनेक आकारों के बनते थे, विमान कहते हैं। यहाँ द्विभूमिः से ऐसा भी अर्थ लगाया जा सकता है कि एक भाग दर्शकों के लिए और दूसरा भाग अभिनय के लिए बनता था। किंतु खुले हुए स्थानों में अभिनय करने के लिए जो काष्ठ के रंगमंच रामलीला में विमान के नाम से व्यवहार में ले आए जाते हैं, उन की ओर संकेत करना में आवश्यक समझता हूँ। रंगशाला में शिल्प का या वास्तुनिर्माण का प्रयोग किन तरह होता था यह बताना सरल नहीं, तो भी नाट्य-मंडप तीन तरह के होते थे—विकृष्ट, चतुरंग और च्यस्व। विकृष्ट नाट्य-मंडप की चौड़ाई से लंबाई दूनी होती थी। उस भूमि के दो भाग

किए जाते थे। पिछले आधे के फिर दो भाग होते थे। आधे में रंगशीर्ष और रंगपीठ और आधे में पीछे नेपथ्य-गृह बनाया जाता था।

पृष्ठतो यो भवेत् भागो द्विधा भूतो भवेत् च सः

तस्यार्धेन विभागेन रंगशीर्षम् प्रयोजयेत्।

पश्चिमेतु पुनर्भागे नेपथ्यगृहमादिशेत्।

(२ अ० ना० शा०)

आगे के बड़े आधे भाग में बैठने के लिए, जिस से दर्शकों को रंगशाला का अभिनय अच्छी तरह दिखलाई पड़े, ऐसा सोपान की आकृति का बैठक बनाया जाता था। कदाचित् वह आज की गैलरी की तरह होता था।

स्तंभानाम् बाह्यतः स्थाप्यम् सोपानाकृति पीठकम्।

इष्टका दारुभिः कार्यम् प्रेक्षकाणाम् निवेशनम्।

ईंटों और लकड़ियों से ये सीढ़ियाँ एक हाथ ऊँची बनाई जाती थीं। इसी प्रसंग में मत्तवारणी का भी उल्लेख है। अभिनवगुप्त के समय में भी मत्तवारणी का स्थान निर्दिष्ट करने में संदेह और मतभेद हो गया था। नाट्य-शास्त्र में लिखा है—

रंग पीठस्य पाश्वे तु कर्त्तव्या मत्तवारणी।

चतुस्तंभस्तमायुक्ता रंगपीठप्रमाणतः

अध्यर्ध हस्तोत्स्येधे न कर्त्तव्या मत्तवारणी।

मत्तवारणी के कई तरह के अर्थ लगाए गए हैं। अभिनवभारती में मत्तवारणी के संबंध में किसी का यह मत भी संग्रह किया गया है कि वह देवमंदिर की प्रदक्षिणा की तरह रंगशाला के चारों ओर बनाई जाती थी। “मत्तवारणी वहिर्निर्गमनप्रमाणेन सर्वतो द्वितीय भित्ति निवेशेन देवप्रासादादालिका प्रदक्षिणासदृशी द्वितीया भूमिरित्यन्ये, उपरि मंडपांतर निवेशनादित्यपरे।” किंतु मेरी समझ में यह मत्तवारणी रंगपीठ के बराबर केवल एक ही ओर चार खंभों से स्कावट के लिए बनाई जाती थी। मत्तवारणी शब्द से भी यही अर्थ निकलता है कि वह मतवालों को वारण करे। यह डेढ़ हाथ ऊँची रंगपीठ के अगले भाग में लगा दी जाती थी।

रंगमंच में भी दो भाग होते थे। पिछले भाग को रंगशीर्ष कहते थे और सब से आगे का भाग रंगपीठ कहा जाता था। इन दोनों के बीच में जवनिका रहती थी। अभिनव

गुप्त कहते हैं—“यत्र यवनिका रंगपीठ तच्छिरसोर्मध्ये ।” रंगमंच की इस योजना से जान पड़ता है कि अपटी, तिरस्करिणी और प्रतिसीरा आदि जो पटों के भेद हैं वे जवनिका के भीतर के होते थे। रंगशीर्ष में नेपथ्य के भीतर के दो द्वार होते थे। रंगशीर्ष, यंत्रजाल, गवाक्ष, सालभंजिका आदि काठ की बनी नाना प्रकार की आकृतियों से सुशोभित होता था, जो दृश्योपयोगी होते। संभवतः यही मुख्य अभिनय का स्थान होता था।

पिंडीबंध आदि नृत्य-अभिनय के साधारण अंश, चेटी आदि के द्वारा प्रवेशक की सूचना, प्रस्तावना आदि जवनिका के बाहर ही रंगपीठ पर होते थे। रंगपूजा रंगशीर्ष पर जवनिका के भीतर होती थी। सरगुजा के गुहा-मंदिर की नाट्यशाला दो हजार वर्ष की मानी जाती है। कहा जाता है कि भोज ने भी कोई ऐसी रंगशाला बनाई थी जिस में पत्थरों पर संपूर्ण शाकुंतल नाटक उत्कीर्ण था। आधुनिक रामलीला के अभिनयों में प्रचलित विमान यह प्रमाणित करते हैं कि भारत में दोनों तरह के रंगमंच होते थे। एक तो वे जिन के बड़े-बड़े नाट्यमंदिर बने थे और दूसरे चलते हुए रंगमंच, जो काठ के विमानों से बनाए जाते थे और चतुष्पथ तथा अन्य प्रशस्त खुले स्थानों में आवश्यकता-नुसार घुमा-फिरा कर अभिनयोपयोगी कर लिए जाते थे।

नाट्यमंदिरों के भीतर स्त्रियों और पुरुषों के सुंदर चित्र भीत पर लिखे जाते थे और उन में स्थान-स्थान पर वातायनों का भी समावेश रहता था। नाट्य-मंडप में कदाएँ बनाई जाती थीं जिन में अभिनय के दर्शनीय गृह, नगर, उद्यान, ग्राम, जंगल, पर्वत और समुद्रों का दृश्य बनाया जाता था। आधुनिक काल के रंगमंचों से कुछ भिन्न उन की योजना अवश्य होती थी। किंतु—

कक्ष्या विभागे ज्ञेयानि गृहाणि नगराणि च
उद्यानारामसहितो देशो ग्रामोऽष्टवो तथा।

(ना० शा० १४ अ०)

इत्यादि से यह मालूम होता है कि दृश्यों का विभाग कर के नाट्य-मंडप के भीतर उन की इस तरह से योजना की जाती थी कि उन में सब तरह के स्थानों का दृश्य दिखलाया जा सकता था; और जिस स्थान की वार्त्ता होती थी उस का दृश्य भिन्न कक्ष्या में दिखाने का प्रबंध किया जाता था। स्थान की दूरी इत्यादि का भी संकेत कक्ष्याओं में उन की दूरी से किया जाता था।

वाह्यम् वा मध्यमम् वापि तथैवाभ्यंतरम् पुनः
 दूरम् वा सन्निकृष्टम् वा देशाश्च परिकल्पयेत् ।
 यत्र वाक्ता प्रवर्तते तत्र कक्ष्याम् प्रवर्तते ॥

रंगमंच में आकाशगामी सिद्ध विद्याधरों के विमानों के भी दृश्य दिखलाए जाते थे। यदि मृच्छकटिक और शाकुंतल तथा विक्रमोर्वशी नाटक खेलने ही के लिए बने थे जैसा कि उन की प्रस्तावनाओं से प्रतीत होता है, तो यह मानना पड़ेगा कि रंगमंच इतना पूर्ण और विस्तृत होता था कि उस में वौलों से जुते हुए रथ और घोड़ों के रथ तथा हेमकूट पर चढ़ती हुई अप्सराएं दिखलाई जा सकती थीं। इन दृश्यों के दिखलाने में मोम, मिट्टी, तृण, लाख, अन्नक, काठ, चमड़ा, वस्त्र और वांस के फंठों से काम लिया जाता था।

प्रतिपादी प्रतिशिरः प्रतिहस्तौ प्रतित्वचम्
 तृणजैः कीलजैर्मण्डैः सरूपाणीह कारयेत् ।
 यद्यस्य यादृशं रूपं सारूप्यगुणसंभवम्
 मृन्मयं तत्र कृत्स्नं तु नाना रूपांस्तु कारयेत् ।
 भांडवस्त्रमधूच्छिष्टैः लाक्ष्यान्मदलेन च
 नगास्तु विविधा कार्याः चर्मवर्मध्वजास्तथा ।

(२४ अध्याय)

ऊपर के उद्धरणों से जान पड़ता है कि सरूप अर्थात् मुखियों का भी प्रयोग दैत्य-दानवों के अंगों की विचित्रता के लिए होता था। कृत्रिम हाथ और पैर तथा मुखों के मिट्टी, फूस, मोम, लाख और अन्नक के पत्रों से बनाए जाते थे।

कुछ लोगों का कहना है कि भारतवर्ष में 'जवनिका' जवनों अर्थात् ग्रीकों से नाटकों में ली गई है। किंतु मुझे यह शब्द शुद्ध रूप से व्यवहृत 'जवनिका' भी मिला। अमरकोष में—“प्रतिसीरा जवनिका स्यात् तिरस्करिणी च सा”; तथा हलामुघ में—“अपटी कांडपटः स्यात् प्रतिसीरा जवनिका तिरस्करिणी।”

इस में 'य' से नहीं किंतु 'ज' से ही जवनिका का उल्लेख है। जवनिका से शीघ्रता का धोतन होता है। जब का अर्थ वेग और त्वरा से है। तब जवनिका उस पट को कहते हैं जो शीघ्रता से उठाया या गिराया जा सके। कांड-पट भी एक इसी तरह का अर्थ ध्वनित करता है, जिस में पट अर्थात् वस्त्र के साथ कांड अर्थात् डंडे का संयोग हो। प्रतिसीरा

और तिरस्करिणी भी साभिप्राय शब्द मालूम होते हैं। प्रतिसीरा तो नहीं किंतु तिरस्करिणी का प्रयोग विक्रमोर्वशी में एक जगह आता है। द्वितीय अंक में जब राजा प्रमद वन में आते हैं, तो वहीं पर आकाश-मार्ग से उर्वशी और चित्रलेखा का भी आगमन होता है। उर्वशी चित्रलेखा से कहती है, “तिरस्करिणी परि परिच्छन्ना पार्श्ववर्त्तिनी भूत्वा श्रोत्र्ये तावत्।” और फिर आगे चल कर उसी अंक में “तिरस्करिणीम् अपनीम्” तिरस्करिणी को हटा कर प्रगट होती है। प्रतिसीरा का भी प्रयोग संभव है खोजने से मिल जाय, किंतु अपटी शब्द अत्यंत संदेह-जनक है। मृच्छकटिक, विक्रमोर्वशी आदि में “ततः प्रविशत्यपटीक्षेपेण” कई स्थानों पर मिलता है। विक्रमोर्वशी के टीकाकार रंगनाथ ने, “यतः—नासूचितस्य पात्रस्य प्रवेशो नाटके मतः इति नाटकसमयप्रसिद्धेयत्रा सूचित पात्र प्रवेशस्तत्राकस्मिक प्रवेशोऽपटीक्षेपेणेति वचनं युक्तम्। अत्र तु प्रस्तावनान्ते सूचिता नामेवाप्सरसां प्रवेश इति। केचित्पुनः—न पटीक्षेपोऽपटीक्षेपे इति विग्रहं विधाय पटीक्षेपं विनैव प्रविशन्तीति समर्थयन्ते तदप्यापाद्य कुचोद्यमानमित्यास्तां तावत्।”

इस से जान पड़ता है कि प्रवेशक की सूचना अत्यंत आवश्यक होती थी और यह कार्य अंकों के आरंभ में चेटी, दासी या अन्य ऐसे ही पात्रों के द्वारा सूचित किया जाता था। उस के बाद अभिनय के वास्तविक पात्र रंगमंच पर प्रवेश करते थे। विक्रमोर्वशी में प्रस्तावना में ही अप्सराओं की पुकार सुनाई पड़ती है और सूत्रधार रंगमंच से प्रस्थान कर जाता है और अप्सराएं प्रवेश करती हैं। किंतु ऐसा प्रतीत होता है कि पटी अभी तक उठी नहीं है और अप्सराओं का प्रवेश हो गया है। रंगमंच के उसी अगले भाग पर वे आ गई हैं, जहाँ कि सूत्रधार ने प्रस्तावना की है। इस के बाद अपटीक्षेप होता है अर्थात् पर्दा उठता है तब पुरुष का प्रवेश होता है और सामने हेमकूट का भी दृश्य दिखाई पड़ता है। इस लिए कुछ विशेष ढंग के परदे का नाम अपटी जान पड़ता है। संभवतः अपटीक्षेप उन स्थानों पर किया जाता था जहाँ सहसा पात्र उपस्थित होता था। उसी अंक में अन्य पात्रों के द्वारा कथावस्तु के अन्य विभाग का अभिनय करने में अपटीक्षेप का प्रयोग होता था। यह निश्चय है कि कालिदास और शूद्रक इत्यादि प्राचीन नाटककार रंगमंच के पटीक्षेप से परिचित थे और दृश्यांतर (ट्रांसफ़र सीन) उपस्थित करने में उन का प्रयोग भी करते थे। यद्यपि वे प्राचीन रंगमंच आधुनिक ढंग से पूर्ण रूप से विकसित नहीं थे, फिर भी रंगमंचों के अनुकूल कक्ष-विभाग और उन में दृश्यों के

लिए शैल, विमान, और यान तथा कृत्रिम प्रासाद-यंत्र और पटों का उपयोग होता था।

नाट्यमंदिर में नर्तकियों का विशेष प्रबंध रहता था। जान पड़ता है कि रेचक, अंगहार, करण और चारियों के साथ पिंडीबंध अथवा सामूहिक नृत्य का भी आयोजन रंगमंच में होता था। अति प्राचीन काल में भारतवर्ष के रंगमंच में स्त्रियाँ नाटकों को सफल बनाने के लिए आवश्यक समझी गईं। केवल पुरुषों के द्वारा अभिनय असफल होने लगे तब रंगोपजीवना अप्सराएं रंगमंच पर आईं। कहा गया है—

कौशिकीश्लक्षणेपथ्या शृंगाररससंभवा
अशक्याः पुरुषैसातु प्रयोक्तुम् स्त्री जनादृते।
ततोऽसृजन्महातेजा मनसाप्सरसो विभुः।

रंगमंच पर काम करने वाली स्त्रियों को अप्सरा, रंगोपजीवना इत्यादि कहते थे। मालविकाग्निमित्र में स्त्रियों को अभिनय की शिक्षा देने वाले आचार्यों का भी उल्लेख है। उन का मत है कि पुरुष और स्त्री के स्वभावानुसार अभिनय उचित है। क्योंकि, "स्त्रीणां स्वभाव मधुरः कण्ठो नृणां द्रलत्वञ्च"—स्त्रियों का कंठ स्वभाव से ही मधुर होता है, पुरुष में द्रल है। इस लिए रंगमंच पर गान स्त्रियाँ करें, पाठ्य अर्थात् पढ़ने की वस्तु का प्रयोग पुरुष करें। पुरुष का गाना रंगमंच पर उतना शोभन नहीं माना जाता था। "एवं स्वभावसिद्धं स्त्रीणां गानं नृणां च पाठ्यविधिः।"

सामूहिक पिंडीबंध आदि चित्रनृत्यों का रंगमंच पर अच्छा प्रयोग होता था। पिंडीबंध चार तरह का होता था—पिंडी, शृंगलिका, लताबंध और भेद्यक। कई नर्तकियों के द्वारा नृत्य में अंगहारों के साथ, परस्पर विचित्र बाहुबंध और संबंध कर के अनेक आकार बनाए जाते थे। अभिनय में रंगमंच पर इन की भी आवश्यकता होती थी। और पुरुषों की तरह स्त्रियों को भी रंगमंच-शाला की उच्च कोटि की शिक्षा मिलती थी। नाटकोपयोगी दृश्यों के निर्माण-वस्त्र तथा आयुधों के साथ कृत्रिम केश-मुकुटों और दाढ़ी इत्यादि का भी उल्लेख नाट्यशास्त्र में मिलता है। केश-मुकुट भिन्न-भिन्न पात्रों के लिए कई तरह के बनते थे।

रक्षो दानवर्दंत्यानां पिककेशकृतानितु
हरिश्मश्रूणि च तथा मुखशीर्षाणि कारयेत्।

कोयल के पंखों से दैत्य दानवों की दाढ़ी और मूँछ भी बनाए जाते थे। मुकुट अभिनय के लिए भारी न हों; इस लिए अन्नक और ताम्र के पतले पत्रों से हलके बनाए जाते थे। कंचुक इत्यादि वस्त्रों का भी नाट्यशास्त्र में विस्तृत वर्णन है। इन वस्तुओं के उपयोग में इस बात का भी विचार किया जाता था कि नाटक के अभिनय में सुविधा हो। नाटक के अभिनय में दो विधान माननीय थे, और उसे लोकधर्मी और नाट्यधर्मी कहते थे। भरत के समय में ही रंगमंचों में स्वाभाविकता पर ध्यान दिया जाने लगा था। रंगमंच पर ऐसे अभिनय को लोकधर्मी कहते थे। इस लोकधर्मी अभिनय में रंगमंच पर कृत्रिम उपकरणों का उपयोग बहुत कम होता था। "स्वभावो लोकधर्मी तु नाट्यधर्मी विकारतः" (१९३, अ० १३)।

स्वाभाविकता का अधिक ध्यान केवल उपकरणों में ही नहीं किंतु आंगिक अभिनय में भी अभीष्ट था। उस में बहुत अंगलीला वर्जित थी।

अतिसत्त्व क्रियाएँ असाधारण कर्म, अतिभाषित लोकप्रसिद्ध द्रव्यों का उपयोग अर्थात् शैल, यान और विमान आदि का प्रदर्शन और ललित अंगहार जिस में प्रयुक्त होते थे—रंगमंच के ऐसे नाटकों को नाट्यधर्मी कहते थे। स्वगत, आकाश-भाषित इत्यादि तब भी अस्वाभाविक माना जाता था, और इन का प्रयोग नाट्यधर्मी अभिनय में ही रंगमंच पर किया जाता था।

आसन्नोक्तं च यद् वाक्यम् न शृण्वन्ति परस्परम्

अनुक्तं श्रूयते वाक्यम् नाट्यधर्मी तु सास्मृता ।

प्राचीन रंगमंच में स्वगत की योजना जिस में कि समीप का उपस्थित व्यक्ति सुनी बात को अनसुनी कर जाता है, नाट्यधर्मी अभिनय के ही अनुकूल होता था; और 'भाष' में आकाश-भाषित का प्रयोग भी नाट्य-धर्मी के ही अनुकूल है। व्यंजना-प्रधान अभिनय का भी विकास प्राचीन रंगमंच पर हो गया था। भावपूर्ण अभिनयों में पर्याप्त उन्नति हो चुकी थी। नाट्यशास्त्र के २६वें अध्याय में इस का विस्तृत वर्णन है। पक्षियों का रैचक से, सिंह आदि पशुओं का गति-प्रचार से, भूत-पिशाच और राक्षसों का अंगहार से, अभिनय किया जाता था। इस भाषाभिनय का पूर्ण स्वरूप अभी भी दक्षिण के कयकलि नृत्य में वर्तमान है।

रंगमंच में नटों के गति-प्रचार (मूवमेंट) वस्तु-नियेदन (टेलिवरी) संभाषण

(स्पीच) इत्यादि पर भी अधिक सूक्ष्मता से ध्यान दिया जाता था। और इन पर अलग-अलग नाट्यशास्त्र में अध्याय ही लिखे गए हैं। रंगमंच पर जिस कथा का अवतरण किया जाता था, उस का विभाग भी समय के अनुसार और अभिनय की सुव्यवस्था का ध्यान रखते हुए किया जाता था।

ज्ञात्वा दिवसांस्तान्क्षणयाममुहूर्तलक्षणे पेतान् ।

विभजेत् सर्वमशेषम् पृथक् पृथक् काव्यमंकेषु ॥

प्रायः एक दिन का कार्य एक अंक में पूरा हो जाना चाहिए और यदि न हो सके तो प्रवेशक और अंकावतार के द्वारा उस की पूर्ति होनी चाहिए। एक वर्ष से अधिक का समय तो एक अंक में आना नहीं चाहिए। प्रवेशक, अंकावतार और अपटीक्षेप का प्रयोग आज कल की तरह दृश्य या स्थान को प्रधानता दे कर नहीं किया जाता था; किंतु वे कथावस्तु के विभाजन-स्वरूप ही होते थे। पाँच अंक के नाटक रंगमंच के अनुकूल इस लिए माने जाते थे कि उन में कथावस्तु की पाँचों संधियों का क्रम-विकास होता था। और कभी-कभी हीन-संधि नाटक भी रंगमंच पर अभिनीत होते थे, यद्यपि वे नियम विरुद्ध माने जाते थे। दूसरी, तीसरी, चौथी संधियों का अर्थात् बिंदु, पताका और प्रकरी का तो लोप हो सकता था किंतु पहली और पाँचवीं संधि का अर्थात् बीज और कार्य का रहना आवश्यक माना गया है। आरंभ और फलयोग का प्रदर्शन रंगमंच पर आवश्यक माना गया है।

रंगमंच की वाच्य-वाचकता का जब विचार हम करते हैं तो उस के इतिहास से यह प्रगट होता है कि काव्यों के अनुसार प्राचीन रंगमंच विकसित हुए और रंगमंचों की नियमानुकूलता मानने के लिए काव्य बाधित नहीं हुए। अर्थात् रंगमंचों को ही काव्य के अनुसार अपना विस्तार करना पड़ा और यह प्रत्येक काल में माना जायगा कि काव्यों के अथवा नाटकों के लिए ही रंगमंच होते हैं। काव्यों की सुविधा जुटाना रंगमंच का काम है। क्योंकि रसानुभूति के अनंत प्रकार, नियमबद्ध उपायों से नहीं प्रदर्शित किए जा सकते और रंगमंच ने सुविधानुसार काव्यों के अनुकूल समय-समय पर अपना स्वरूप-परिवर्तन किया है।

मध्यकालीन भारत में जिस आतंक और अनस्थिरता का साम्राज्य था, उस ने यहाँ की सर्व-साधारण प्राचीन रंगशालाओं को तोड़-फोड़ दिया। धर्मांध आक्रमणों ने जब भारतीय रंगमंच के शिल्प का विनाश कर दिया तो देवालयों से संलग्न मंडपों में छोटे-

मोटे अभिनय सर्व-साधारण के लिए सुलभ रह गए। उत्तरीय भारत में तो औरंगजेब के समय में ही साधारण संगीत का भी जनाजा निकाला जा चुका था। किंतु रंगमंच से बिहीन कुछ अभिनय बच गए, जिन्हें हम पारसी स्टेजों के आने के पहले भी देखते रहे हैं। इन में मुख्यतः नौटंकी (नाटकी?) और भाँड़ ही थे। रामलीला और यात्राओं का भी नाम लिया जा सकता है। सार्वजनिक रंगमंचों के विनष्ट हो जाने पर यह खुले मैदानों में तथा उत्सवों के अवसर पर खेले जाते थे। रामलीला और यात्रा तो देवता-विषयक अभिनय थे। किंतु नाटकी और भाँड़ों में शुद्ध मानव-संबंधी अभिनय होते थे। मेरा निश्चित विचार है कि भाँड़ों की परिहास की अधिकता संस्कृत भाण मुकुंदानंद और रससदन आदि की परंपरा में है, और नाटकी या नौटंकी प्राचीन राग-काव्य अथवा गीति-नाट्य की स्मृतियाँ हैं। रामलीला पाठ्य-काव्य रामायण के आधार पर वैसी ही होती है जैसे प्राचीन महाभारत और वाल्मीकि के पाठ्य-काव्यों के साथ अभिनय होता था। दक्खिन में अब भी कथकलि अभिनय उस प्रथा को सजीव किए है। प्रवृत्ति वही पुरानी है। परंतु उत्तरीय भारत में बाह्य प्रभाव की अधिकता के कारण इन में परिवर्तन हो गया है और अभिनय की वह बात नहीं रही। हाँ एक बात अवश्य इन लोगों ने की है और वह है चलते-फिरते रंगमंचों की या विमानों की रक्षा।

वर्तमान रंगमंच अन्य प्रभावों से अछूता न रह सका, क्योंकि विप्लव और आतंक के कारण प्राचीन विशेषताएं नष्ट हो चुकी थीं। मुगल दरबारों में जो थोड़ी सी संगीत-पद्धति तानसेन की परंपरा में बच रही थी, उस में भी बाह्य प्रभाव का मिश्रण होने लगा था। अभिनयों में केवल भाग ही मुगल दरबार में स्वीकृत हुआ था; वह भी केवल मनोरंजन के लिए।

पारसी व्यवसायियों ने पहले-पहल नए रंगमंच की आयोजना की। भाषा मिश्रित थी—इंद्र-नाभा, चित्रा-वकावली, चंद्रावली और हरिश्चंद्र आदि अभिनय होते थे; अनुकरण था रंगमंच में शेक्सपीरियन स्टेज का। क्योंकि वहाँ भी बिकटोरियन युग की प्रेरणा ने रंगमंच में विशेष परिवर्तन कर लिया था। १९वीं शताब्दी के मध्य में कीन की सहायता से अंग्रेजी रंगमंच में पुरावृत्त की खोजों के आधार पर, शेक्सपियर के नाटकों के अभिनय की नई योजना हुई, और तभी हेनरी इविंग सदृश चतुर नट भी आए। किंतु

साथ ही सूक्ष्म तथा गंभीर प्रभाव डालने वाली इत्सन की प्रेरणा भी पश्चिम में स्थान बना रही थी; जो नाटकीय यथार्थवाद का मूल है।

भारतीय रंगमंच पर इस पिछली धारा का प्रभाव पहले-पहल बंगाल पर हुआ। किंतु इन दोनों प्रभावों के बीच में दक्षिण में भारतीय रंगमंच निजी स्वरूप में अपना अस्तित्व रख सका। कथकलि नृत्य मंदिरों की विशाल संख्याओं में मर नहीं गया था। भावाभिनय अभी होते रहते थे। कदाचित् संस्कृत नाटकों का अभिनय भी चल रहा था, बहुत दवे-दवे। बांध ने आचार्यों के द्वारा जिस धार्मिक संस्कृति का पुनरावर्तन किया था, उस के परिणाम में संस्कृत साहित्य का भी पुनरुद्धार और तत्संबंधी साहित्य और कला की भी पुनरावृत्ति हुई थी। संस्कृत के नाटकों का अभिनय भी उसी का फल था। दक्षिण में वे सब कलाएँ सजीव थीं; उन का उपयोग भी हो रहा था। हाँ वाली और जावा इत्यादि के मंदिरों में इसी प्रकार के अभिनय अधिक सजीवता से सुरक्षित थे। ३० वरस पहले जब काशी में पारसी रंगमंच की प्रबलता थी, तब भी मैंने किसी दक्षिणी नाटक-मंडली द्वारा संस्कृत मृच्छकटिक का अभिनय देखा था। उस की भारतीय विशेषता अभी मुझे भूली नहीं है। कदाचित् उस का नाम 'ललित-कलादर्श-मंडली' था।

दृश्यांतर और चित्रपटों की अधिकता के साथ ही पारसी स्टेज ने पश्चिमी ट्यूनों का भी मिश्रण भारतीय संगीत में किया। उस के इस काम में बंगाल ने भी साथ दिया, किंतु उतने भद्दे ढंग से नहीं। बंगाल ने जितना पश्चिमी ढंग का मिश्रण किया वह सुखि से बहुत आगे नहीं बढ़ा। चित्रपटों में सरलता उस ने रखी। किंतु पारसी स्टेज ने अपना भयानक ढंग बंद नहीं किया। पारसी स्टेज में दृश्यों और परिस्थितियों के संकलन की प्रधानता है। वस्तु-विन्यास चाहे कितना ही शिथिल हो किंतु अमुक परदे के पीछे वह दूसरा प्रभावोत्पादक परदा आना ही चाहिए। कुछ नहीं तो एक असंबद्ध फूहड़ भड़ैती से ही काम चल जायगा।

हिंदी के कुछ अकाल-पत्र आलोचक जिन का पारसी स्टेज से पिंड नहीं छूटा है सोचते हैं स्टेज में यथार्थवाद। अभी वे इतने भी सहन-शील नहीं कि फूहड़ परिहास के बदले—जिस से वह दर्शकों को उलझा लेता है—तीन-चार मिनट के लिए काला परदा खींच कर दृश्यांतर बना लेने का अवसर रंगमंच को दें। हिंदी का कोई अपना रंगमंच नहीं है। जब उस के पतन का अवसर या तभी सस्ती भावुकता ले कर वर्तमान सिनेमा में,

बोलने वाले चित्रपटों का अभ्युदय हो गया, और फलतः अभिनयों का रंगमंच नहीं-सा हो गया है। साहित्यिक सुरुचि पर सिनेमा ने ऐसा धावा बोल दिया है कि कुरुचि को नेतृत्व करने का संपूर्ण अवसर मिल गया है। उन पर भी पारसी स्टेज की गहरी छाप है। हाँ, पारसी स्टेज के आरंभिक विनय-सूत्रों में एक यह भी था, कि वे लोग प्राचीन इंग्लैंड के रंगमंचों की तरह स्त्रियों का सहयोग नहीं पसंद करते थे। १८वीं शताब्दी में धीरे-धीरे स्त्रियाँ रंगमंच पर इंग्लैंड में आईं। किंतु सिनेमा ने स्त्रियों को, रंगमंच पर अबाध अधिकार दिया। बालकों को स्त्री-पात्र के अभिनय की अवांछनीय प्रणाली से छुटकारा मिला। किंतु रंगमंचों की असफलता का प्रधान कारण है स्त्रियों का उन में अभाव; विशेषतः हिंदी रंगमंच के लिए। बहुत से नाटक मंडलियों द्वारा इस लिए नहीं खेले जाते कि उन के पास स्त्री-पात्र नहीं हैं। रंगमंच की तो अकाल मृत्यु, हिंदी में दिखाई पड़ रही है। कुछ मंडलियाँ कभी-कभी साल में एकाध बार, वार्षिकोत्सव मनाने के अवसर पर कोई अभिनय फर लेती हैं। पुकार होती है आलोचकों की, हिंदी में नाटकों के अभाव की। रंगमंच नहीं है, ऐसा समझने का कोई साहस नहीं करता। क्योंकि दोष-दर्शन सहज है। उस के लिए वैसा प्रयत्न करना कठिन है जैसा कीन ने किया था। युग के पीछे हम चलने का स्वाँग भरते हैं। हिंदी में नाटकों का यथार्थवाद अभिनीत देखना चाहते हैं और यह नहीं देखते कि पश्चिम में अब भी प्राचीन नाटकों का फिर से सवाक्-चित्र बनाने के लिए प्रयत्न होता रहता है। ऐतिहासिक नाटकों के सवाक्-चित्र बनाने के लिए उन ऐतिहासिक व्यक्तियों की स्वरूपता के लिए टनों मेक-अप का मसाला एक-एक पात्र पर लग जाता है। युग की मिथ्या धारणा से अभिभूत नवीनतम की खोज में, इन्तनिज्म का भूत वास्तविकता का भ्रम दिखाता है। समय का दीर्घ अतिक्रमण कर के जैसा पश्चिम में, नाट्यकला में अपनी सब वस्तुओं को स्यान दिया है, वैसा क्रम-विकास कैसे किया जा सकता है यदि हम पश्चिम के आज को ही सब जगह खोजते रहेंगे; और यह भी विचारणीय है कि क्या हम लोगों का सोचने का, निरीक्षण का दृष्टिकोण सत्य और वास्तविक है। अनुकरण में फ्रैशन की तरह बदलते रहना साहित्य में ठोस अपनी वस्तु का निमंत्रण नहीं करता। वर्तमान और प्रतिक्षण का वर्तमान सदैव दूषित रहता है, भविष्य के सुंदर निर्माण के लिए। कलाओं का अकेले प्रतिनिधित्व करने वाले नाटक के लिए तो ऐसी 'जल्दवाजी' बहुत ही अवांछनीय है। यह रस की भावना से अस्पृष्ट व्यक्ति-वैचित्र्य की यथार्थवादिता

ही का आकर्षण है, जो नाटक के संबंध में विचार करने वालों को उद्विग्न कर रहा है। प्रगतिशील विश्व है; किंतु अधिक उछलने में पदस्खलन का भी भय है। साहित्य में युग की प्रेरणा भी आदरणीय है किंतु इतना ही अलं नहीं। जब हम यह समझ लेते हैं कि कला को प्रगतिशील बनाए रखने के लिए हम को वर्तमान सभ्यता का—जो सर्वोत्तम है—अनुसरण करना चाहिए, तो हमारा दृष्टिकोण भ्रमपूर्ण हो जाता है। अतीत और वर्तमान को देख कर भविष्य का निर्माण होता है। इस लिए हम को साहित्य में एकांगी लक्ष्य नहीं रखना चाहिए। जिस तरह हम स्वाभाविक या प्राचीन शब्दों में लोकधर्मी अभिनय की आवश्यकता समझते हैं ठीक उसी प्रकार से नाट्यधर्मी अभिनय की भी; देश, काल, पात्र के अनुसार रंगमंच में संगृहीत रहना चाहिए। पश्चिम ने भी अपना सब कुछ छोड़ कर नए को नहीं पाया है।

श्री भारतेन्दु ने रंगमंच की अव्यवस्थाओं को देख कर जिस हिंदी रंगमंच की स्वतंत्र स्थापना की थी, उस में इन सब का समन्वय था। उस पर सत्य-हरिश्चंद्र, मुद्रा-राक्षस, नीलदेवी, चंद्रावली, भारत-दुर्दशा, प्रेमयोगिनी सब का सहयोग था। हिंदी रंगमंच की इस स्वतंत्र चेतनता को सजीव रख कर रंगमंच की रक्षा करनी चाहिए। केवल नई पश्चिमी प्रेरणाएँ हमारी पथ-प्रदर्शिका न बन जाएँ। हाँ, उन सब साधनों से जो वर्तमान विज्ञान द्वारा उपलब्ध हैं; हम को वंचित भी न होना चाहिए।

आलोचकों का कहना है कि “वर्तमान युग की रंगमंच की प्रवृत्ति के अनुसार भाषा सरल हो और वास्तविकता भी हो।” वास्तविकता का प्रच्छन्न अर्थ इन्सेनिज़्म के आधार पर कुछ और भी है। वे छिप कर कहते हैं; हम को अपराधियों से घृणा नहीं सहानु-भूति रखनी चाहिए। इस का उपयोग चरित्र-चित्रण में व्यक्ति-वैचित्र्य के समर्थन में भी किया जाता है। रंगमंच पर ऐसे वस्तु-विन्यास समस्या बन कर रह जायेंगे। प्रभाव का असंबद्ध स्पष्टीकरण भाषा की क्लिष्टता से भी भयानक है। रेडियो ड्रामा के संवाद भी लिखे जाने लगे हैं, जिन में दृश्यों का संपूर्ण लोप है। दृश्य वस्तु श्रव्य बना कर संवाद में आती है। किंतु साहित्य में एक प्रकार के एकांकी नाटक भी लिखने का प्रयास हो रहा है। वे यही समझ कर तो लिख जाते हैं कि उन का अभिनय सुगम है। किंतु उन का अभिनय होता कहाँ है। यह पाठ्य छोटी कहानियों का ही प्रतिरूप नाट्य है। दृश्यों की योजना

साधारण होने पर भी खिड़की के टूटे हुए काँच, फटा परदा और कमरे के कोने में मकड़ी का जाला दृश्यों में प्रमुख होते हैं—वास्तविकता के समर्थन में !

भापा की सरलता की पुकार भी कुछ ऐसी ही है। ऐसे दर्शकों और सामाजिकों का अभाव नहीं किंतु प्रचुरता है, जो पारसी स्टेज पर गाई गई गजलों के शब्दार्थों से अपरिचित रहने पर तीन बार तालियाँ पीटते हैं। क्या हम नहीं देखते कि बिना भापा के अवोल-चित्रपटों के अभिनय में भाव सहज ही समझ में आते हैं और कयकलि के भावाभिनय भी शब्दों की व्याख्या ही हैं ? अभिनय तो सुरुचिपूर्ण शब्दों को समझाने का काम रंगमंच से अच्छी तरह करता है। एक मत यह भी है कि भापा स्वाभाविकता के अनुसार पात्रों की अपनी होनी चाहिए और इस तरह कुछ देहाती पात्रों से उन की अपनी भापा का प्रयोग कराया जाता है। मध्यकालीन भारत में जिस प्राकृत का संस्कृत से सम्मेलन रंगमंच पर कराया गया था वह बहुत कुछ परिमार्जित और कृत्रिम-सी थी। सीता इत्यादि भी संस्कृत बोलने में असमर्थ समझी जाती थीं। वर्तमान युग की भापा-संबंधी प्रेरणा भी कुछ-कुछ वैसी ही है। किंतु आज यदि कोई मुगल-कालीन नाटक में लखनवी उर्दू-मुगलों से बलवाता है तो वह भी स्वाभाविक या वास्तविक नहीं है। फिर राजपूतों की राजस्थानी भापा भी आनी चाहिए। यदि अन्य असभ्य पात्र हैं तो उन की जंगली भापा भी रहनी चाहिए। और इतने पर भी क्या वह नाटक हिंदी का ही रह जायगा। यह विपत्ति कदाचित् हिंदी नाटकों के लिए ही है।

मैं तो कहूँगा कि सरलता और क्लिष्टता पात्रों के भावों और विचारों के अनुसार भापा में होगी ही और पात्रों के भावों और विचारों के ही आधार पर भापा का प्रयोग नाटकों में होना चाहिए। किंतु इस के लिए भापा की एकतंत्रता नष्ट कर के कई तरह की खिचड़ी भापाओं का प्रयोग हिंदी नाटकों के लिए ठीक नहीं। पात्रों की संस्कृति के अनुसार उन के भावों और विचारों में तारतम्य होना भापाओं के परिवर्तन से अधिक उपशुक्त होगा। देश और काल के अनुसार भी सांस्कृतिक दृष्टि से भापा में पूर्ण अभिव्यक्ति होनी चाहिए।

रंगमंच के संबंध में यह भारी भ्रम है कि नाटक रंगमंच के लिए लिखे जायें। प्रयत्न तो यह होना चाहिए कि नाटक के लिए रंगमंच हों, जो व्यावहारिक हैं। हाँ, रंगमंच पर सुशिक्षित और कुशल अभिनेता तथा समर्पण सूत्रधार के सहयोग की आवश्यकता

है। देश-काल की प्रवृत्तियों का समुचित अध्ययन भी आवश्यक है। फिर तो पात्र रंगमंच पर अपना कार्य सुचारु रूप से कर सकेंगे। इन सब के सहयोग से ही हिंदी रंगमंच का अभ्युत्थान संभव है।

अवधी की कुछ प्रवृत्तियाँ

[लेखक—श्रीयुक्त रामात्ता द्विवेदी, एम्० ए०]

“हिंदुस्तानी” के एक पुराने अंक^१ में मैंने अवधी के कुछ नामधातु तथा प्रत्ययों का दिग्दर्शन कराया था और यह लिखा था कि जितने नामधातु इस भाषा में होते और बन सकते हैं उतने शायद संसार की किसी भी भाषा में नहीं। आज पाठकों के मनोरंजनार्थ मैं यहाँ अवधी की कुछ प्रबल प्रवृत्तियों का सिंहावलोकन कराना चाहता हूँ जिससे यह स्पष्ट होगा कि संसार की भाषाओं में अवधी अपना एक विशिष्ट स्थान रखती है।

तुलसीदास की अवधी में तो पाठकों को फ़ारसी के बड़े-बड़े शब्दों को भी ठोंक-पीट कर सीधा कर लेने की प्रवृत्ति मिलेगी ही, जैसे “गरीबनेवाज” का “गरीबनेवाजू”। परंतु आधुनिक अवधी में भी अनेक अंग्रेजी शब्दों को तोड़-फोड़ कर उन्हें देहाती कर लेने की परम प्रबल प्रवृत्ति मिलती है। यों तो इस भाषा की दो बहुत प्राचीन तथा सर्वव्यापी प्रवृत्तियाँ हैं, एक तो ब्रजभाषा की भाँति इस में “ने” नहीं प्रयुक्त होता और इस के कारण वाक्यों की गति-विधि में एक विशेष माधुर्य आ जाता है; दूसरे उन अक्षरों का विलकुल प्रयोग नहीं किया जाता जिनके उच्चारण में या तो अधिक समय लगता हो या सीधे-सादे बोलने वालों को कुछ अड़चन पड़ती हो। इसी के फलस्वरूप इस में ज, ग, फ़, क़ आदि फ़ारसी उच्चारण नहीं मिलते जो सर्वथा संस्कृत के कारण हैं। दूसरी भाषाओं के विकट से विकट शब्दों को भी तोड़-मरोड़ कर उन्हें देहाती साँचे में ढाल लेना अवधी के लिए साधारण-सी बात है। उच्चारण की सुगमता तथा समय की बचत करने की प्रवृत्ति के ही कारण अवधी में “श” का भी “ने” की भाँति प्रयोग विलकुल ही नहीं होता। अंग्रेजी का “मशीन” शब्द घोर देहाती बन कर “मसीनि” में परिवर्तित हो जाता है, और यह उदाहरण अवधी की इस सुगमतान्वेषक प्रवृत्ति का दोनों ही प्रकार से द्योतक है। एक तो “श” घिस कर

“स” हो गया और अंत में “न” का “नि” हो जाने से ऐसा प्रतीत होता है मानों इस घोर वैज्ञानिक युग में मशीन रूपी राक्षस को इकारांत कर के और स्त्रीलिंग में परिवर्तित कर के एक निःसहाय तथा मृतप्राय बुढ़िया का कपड़ा पहना दिया गया हो। इसी प्रकार “लैटर्न” को खड़ी बोली वालों ने तो केवल “लालटेन” का चोला दिया, पर अवधी में वह “लालटेनि” बोला जाता है, और प्रायः अनपढ़ देहातियों के मुँह में तो वह “लालटेमि” अथवा “लामटेमि” तक हो जाता है। और जब चिढ़ कर कोई गँवार अपना क्रोध प्रगट करना चाहता है तो इन शब्दों को “मसिनिया”, “ललटेमियाँ” आदि तक कह डालता है। “इया” एवं “वा” लगा कर तो प्रत्येक शब्द को “टुकारने” की प्रवृत्ति अवधी में बहुत ही व्यापक है, यहाँ तक कि वह उजड़ुपन अथवा असभ्यता की सीमा तक पहुँच गई है। क्योंकि “साहव” या “डिप्टी” जैसे शब्द भी इसी प्रवृत्ति के शिकार बन कर “सहेववा” तथा “डिपटिया” अथवा “डिपटियवा” हो जाते हैं।

टुकारने की इस प्रवृत्ति को छोड़ कर यों भी बड़े से बड़े और कठिन से कठिन बाहरी शब्दों को भी सीधा कर लेना अवधी को खूब आता है। इस का बड़ा अच्छा उदाहरण अंग्रेजी का “एग्रीमेंट” शब्द है जो उन दिनों सारे अवध प्रांतके देहातोंमें बहुत प्रचलित हुआ था। जब गाँव वाले भरती हो कर आसाम के चाय के बगीचों अथवा फ़िजी आदि टापुओं में सालों के लिए काम करने जाते थे, इस भरती में उन्हें नौकरी के लिए निश्चित अवधि के लिए ठेका लिख देना पड़ता था, जिसे एग्रीमेंट कहते थे, और जिसे देहात में “गिरमिट” कहने लगे। इसी प्रकार सायकिल को “सइकिलि”, पेंसिल को “पिसिनि” (जो पेंशन के लिए भी प्रयुक्त होता है), स्टेशन को “टेसन”, रेशन को “रासन” रेल को “रेलि”, निव को “निवि” आदि कहते हैं। यह तो हुई अंग्रेजी शब्दों की दशा; पर फ़ारसी तथा संस्कृत के भी अनेक शब्द इस तोड़-मरोड़ से नहीं बच सके हैं। सिपाहियों की पेंशन को कभी-कभी “इंगलिस” भी कहते हैं और अनेक रोज़मर्रा के काम आने वाले शब्द जो फ़ारसी, अरबी अथवा संस्कृत के हैं घिस कर इसी साँचे में ढल जाते हैं। जैसे मुकदमा का “मोकदिमा” फ़ौज का “फजदि”, आप्रत का “आफति”, दावात से “दुवाइति”, कलम से “कलमि”, जहाज से “जहाजि”, मोटर से “मोटरि”, रेकूट का “रैकूट”, क़वायद (ड्रिल) का “कवाइति”, समाजत (सुनवाई) का “समाइति” आदि। “सुलह” शब्द तो अपने असली रूप में केवल अदालती अर्थ में ही प्रयुक्त होता है, पर जब वह देहाती “सुल्लह” रूप धारण करता है तो उस का अर्थ घरेलू सा हो जाता है, जैसे ‘यन के घर माँ बड़ी सुल्लह बाय’ अर्थात् इन

के घर के लोगों में आपस में बड़ा मेल-जोल है। संस्कृत का “शांत” शब्द “सानित” हो जाता है और प्रायः उन वदमाशों के लिए प्रयुक्त होता है जो बहुत दंडों के बाद अपनी शरा-रतें छोड़ देते हैं। इसी प्रकार “वज्र” शब्द “वज्जर” का रूप धारण कर लेता है जो सर्वथा अपने संस्कृत मूल से कहीं अधिक अर्थ-साम्य का द्योतक है, क्योंकि जो प्रभाव सुनने वाले पर “वज्जर” कहने से होता है वह “वज्र” से नहीं, जैसे ‘यहि वेचारे क छाती वज्जर क होय गई’ अर्थात् इस वेचारे की छाती वज्र की हो गई (इतना कष्ट सहन कर लिया)। इसी प्रकार म्लेच्छ का “मलिच्छ”, वर्द (वैल) का “वर्ध”, एंजिन का “अहिजन”, सपत्नी को “सडति”, बल्कल का “बोकला” (पेड़ की छाल) आदि हो जाता है।

ऊपर के उदाहरणों से स्पष्ट हो जायगा कि कठोर से मधुर करने के लिए शब्दों के बीच में या अंत में इ-कार अथवा उ-कार या कभी-कभी दोनों ही जोड़ दिए जाते हैं, जैसे तनुस्वाह से “तनुखाह” आदि में। एकाक्ष शब्दों की मात्राएँ तो अंतिम अक्षरों से अलग हो कर पृथक् “इ” अथवा “उ” के रूप में ही लिख दी जाती हैं, जैसे मूली के ‘लकार का रकार’ हो कर “मूरी” न हो कर “मुरई” (र+ई) बन जाता है, चिड़िया का इ र में परिवर्तित हो कर और अंतिम यकार का लोप हो कर चिरी बनता हुआ “चिरई” (र+ई) हो जाता है। इसी तरह चूड़ा का “चिउरा” और चींटी का “चिउँटी” बन जाता है, जिस से शब्दों को चपटा बना कर उन की कर्कशता दूर करने की प्रवृत्ति स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। ठीक इस के विपरीत दूसरी प्रवृत्ति है कुछ शब्दों के आगे ‘में’, ‘पर’, ‘से’ आदि न लग कर इन का उन्हीं में सम्मिलित हो जाना। यह है तो संस्कृत व्याकरण का अनुकरण-सा, पर न तो सभी शब्दों में ऐसा होता है और न सभी के ही साथ। उदाहरण के लिए ‘पेड़ें चढ़ा वाय’ (अर्थात् पेड़ पर चढ़ा है) कहेंगे, पर यह नहीं कह सकते कि “पेड़ें चिरई बइठी वाय” (पेड़ पर चिड़िया बैठी है)। उसी तरह नगीचें (नगीच=पास पास में); भूईं (भू=पृथ्वी+ई=जमीन पर); बजारें (बाजार में), घरें (घर में), बनें (बन में) आदि प्रयोग प्रचलित हैं। कानें मुनेन=कान से मनें स्वयं सुना (केवल दूसरे का कहा हुआ नहीं सुना); हायें दिहेन=मनें स्वयं अपने हाथ से दिया; बेरमिहां अपने गोड़ें चलागै=बीमार स्वयं अपने पैरों चला गया; पेटें खाइस=पेट भर खाया आदि प्रयोग हैं तो थोड़े ही, पर इस प्रवृत्ति के स्पष्ट द्योतक हैं। यहाँ तक कि “बाहर” (जो अव्यय है) तक से “बहरें” भी बन जाता है, और उन विधवाओं को जो अपने पति से कभी मिलने के पहले ही विधवा बन जाती हैं “नीके (नीक=विवाह की वेदी) क राँटि (विधवा)” अर्थात् नीक पर की विधवा कहते

हैं। मुंह से “मुँहें” (जैसे अपने मुँहें कहिस=स्वयं अपने मुँह से कहा) और आँखि से “आँखीं” (अपनी आँखी देखीं वाति होय=अपनी ही आँखों देखी वात है)।

दिशा अथवा दूरता बतलाने वाले इसी प्रकार के कुछ थोड़े से शब्दों में “इँत” प्रत्यय लगा दिया जाता है जिस से न्यूनता का बोध होता है। जैसे ‘बतइँत नायँ बड़ठत्या राजू?’—भले आदमी ज़रा उधर हट कर क्यों नहीं बैठते? ‘लमहँत (लाम=दूर) भागि गवा’=कुछ दूर भाग गया; ‘मछरिया तरहँत (तर=तल=नीचे) बूड़ि गई’ अर्थात् मछली ज़रा नीचे डूब गई; ‘यतहँत घुसुकि आवी’=ज़रा इधर खिसक आओ आदि। मालवी तथा जयपुरी बोलियों की भाँति अवधी में भी “कतिक” (कितने)—उदाहरण, ‘गिरिसम होंहि न केतिक गुंजा’ (तुलसीदास)—कहाँक, कहवाँक (कहाँ), वहाँकाँ (वहाँ) आदि प्रयोग तो होते ही हैं पर “तक” अर्थ में “लै” प्रत्यय लगा दिया जाता है, जैसे यहाँ लै (यहाँ तक) वहाँ लै (वहाँ तक), कहँ लै, जहँ लै आदि। लंवाई-चौड़ाई आदि के द्योतक शब्दों में भी ऐसे ही कुछ प्रत्यय लग कर वही अर्थ देते हैं जो अंग्रेज़ी में “इश” लग कर मिलता है, जैसे बड़ा से बड़हन (कुछ बड़ा), छोट से छोटहन या छोटट (कुछ छोटे), लम्मा (लम्बा) से लमछर (कुछ लंबा) करिया (काला) से करियाँछ (कुछ-कुछ काला)। फ़ारसी का “गर” प्रत्यय जो “कारगर” आदि शब्दों में मिलता है अवधी के साधारण शब्दों में भी लग जाता है, जैसे हाड़ (हड्डी) से “हड़गर” (मोटी हड्डी वाला), मासु (मांस) से “मसुगर”, रस से “रसगर” (रसवाला) जूस से “जुसगर” (जूसवाला) पानी से “पनिगर” (पानी-वाला) आदि।

एक और बहुत बड़ी प्रवृत्ति प्रत्येक शब्द में ‘या’, ‘वा’, ‘का’, ‘हा’ आदि प्रत्ययों को लगा कर घृणा, प्रेम, भय आदि भावों का प्रदर्शन करना है। संज्ञाओं में ‘वा’ अथवा ‘या’ लगा कर घृणा या दया दिखलाई जाती है और उन के अंतिम अक्षरों के स्वरों को दीर्घ से ह्रस्व कर के वा और या लगा दिए जाते हैं। जैसे नदी से नदिया। “नदिया विरकुल्लै झुराय गई” (नदी बिलकुल सूख गई); “सबुइया महा मलिच्छ वाय” (साबू बड़ा गंदा है); “एसीं खेतिya म कुटुइ न भय” (इस साल खेती में कुछ भी नहीं हुआ); “पंडितवा पोयिया वेंचि डारिस” (पंडित ने पोयी ब्रेच डाली); “बेटवा अपनी मह-तरिया क गरियाइस” (बेटे ने अपनी माँ को गाली दिया)। यही शब्द यदि आदर-छांतक रूप में प्रयुक्त हों तो नदी, साबू, खेती, पंडित, पोयी, बेटवा, महतारी होंगे। जैसे कोई

लड़का अपने बाप को प्रणाम करे तो कहेंगे कि “बेटवा बापे क पयलगी किहिस” और यदि उसे मारे तो कहा जायगा कि “बेटउवा वपवा क मारिस”। भावानुसार भापा की शैली का यह परिवर्तन सर्वथा सराहनीय है। यह परिवर्तन केवल जीवित प्राणियों या बड़ी ही वस्तुओं के ही संबंध में नहीं होता, बल्कि छोटी से छोटी वस्तु के लिए भी लागू है। क्यों कि यदि घर गिर जाय तो कहेंगे “घरा गिरि परा” और क्रलम टूट जाय तो कहेंगे “कलमिया टुटि गइ”। अ-कारांत शब्दों में यह परिवर्तन केवल ‘अ’ को ‘आ’ कर देने से ही स्पष्ट होता है। यों तो कुछ शब्द ही ऐसे हैं जिन का अंत “हा” में होता है और जो सदा ही निकृष्ट अर्थ में प्रयुक्त होते हैं, जैसे “कुटिहा” (कूटि अर्थात् खराब मजाक करने वाला); “मोटहा” (गट्टर ले जाने वाला कुली); “फटहा” (फटा कपड़ा पहने हुए वरिद्र); “गैतलहा” (बहुत पुराना, नष्ट-भ्रष्ट); “मरतकहा” (मरणासन्न; बेकाम)।

जिन विशेषणों को धृद्धा अथवा भय-पूर्वक प्रयोग में लाया जाता है उन में ‘का’ प्रत्यय लगा दिया जाता है, जैसे “ललका” घोड़ा (वह अच्छा लाल घोड़ा); “ऊँचका” घर (वह बढ़िया ऊँचा घर); “उजरका” कोट (वह धुला सफ़ेद कोट); “गोरहरका” मनई (गोरा आदमी); “निकका” वर्द (नीक=अच्छा; वर्द=वैल); “मोटका” सिपाही (मोटा सिपाही) आदि। एकाध विशेषणों के दोनों ही प्रयोग देखने में आते हैं, जैसे किसी पतले आदमी को यदि प्रेमपूर्वक स्मरण करना हो तो कहेंगे “ऊ पतरका जवान” (वह पतला जवान) और उस को ही यदि घृणा से देखेंगे तो उस के लिए “पतरपुवकी” या “पतरपुवका” विशेषण प्रयोग करेंगे। इसी तरह परसकाष्ठा दिखलाने के लिए एकाध शब्दों में “अंठ” प्रत्यय लगा देते हैं, जैसे “झुरंठा” (सूखा हुआ जो झूर या एकदम नीरस हो गया हो); “मुरहंठ” (हृद दर्जों का मुरहा या पाजी आदमी)।

पाठकों को अवधी की एक और प्रवृत्ति के कुछ नमूने दे कर यह लेख वहीं समाप्त कहेंगा। यह प्रवृत्ति शब्दों की अनुकरणात्मक प्रवृत्ति कही जा सकती है क्योंकि भिन्न-भिन्न क्रियाओं की जो ध्वनि है उन्हीं का अनुकरण करना ही इस प्रवृत्ति का मुख्य ध्येय है। ये ध्वन्वात्मक शब्द सभी दुहरे होते हैं और प्रायः सभी द्रुत गति तथा क्रिया के द्योतक हैं, जैसे यदि कोई किसी को जल्दी-जल्दी पीट डाले तो कहेंगे “पटर-पटर पीटि दिहिस”; इसी तरह सड़क पहन कर जल्दी-जल्दी चलने के लिए “खटर-खटर”; गालियाँ देने के लिए “लटर-लटर”; दूबता हुआ मनुष्य जब जल्दी-जल्दी पानी पीने लगता है तो उसे “बुबुर-

हुचुर" और बहुत प्यासा आदमी जब जल्दी-जल्दी शरबत या पानी पीने लगता है तो उसे "घुटुर-घुटुर", छोटे बच्चे के लिए "घुट-घुट", और इसी तरह बहुत भूखा मनुष्य जब ज़्यादा खाना सट-सट खा जाता है तो उस के लिए "गुटुर-गुटुर" शब्दों का प्रयोग होता है। कोई सुस्त औरत जब इधर-उधर घूमती फिरती बातें बनाती रहती है तो उस के लिए "पुटुर-पुटुर" तथा "चिदिर-चिदिर" का प्रयोग करते हैं। इन ध्वनि-सूचक शब्दों की भी कई श्रेणियाँ हैं, जैसे पानी या मट्ठा पीते समय यदि कोई गँवार गले से अधिक शोर करे तो "घुटुर-घुटुर" के स्थान में "घटर-घटर" कह देंगे, बच्चों के खाने के लिए इसी तरह "सुटुर-सुटुर" की जगह "सटर-सटर" कहेंगे। ताकने के लिए "टुकुर-टुकुर" कहते हैं जिस से निर्निमेष एवं निष्क्रिय हो कर देखने का भाव प्रकट होता है। इसी प्रकार कितने ही शब्दों की सृष्टि और भी हो जाती है जो भिन्न ध्वनियों तथा अर्थों के द्योतक होते हैं, जैसे "टुल्लफुल्ल" (मनमुटाव या झगड़ा); "गुम्म-गुम्म" (जब हवा नहीं चलती और गर्मी बहुत पड़ती है उस समय का द्योतक है); चमा-चम्म, रपा-रप्प, ठना-ठल्ल, गता-गम्म आदि भी इसी प्रकार के अनेक दुहरे शब्द हैं जिन के प्रयोग का आनंद देहात के प्रयोग करने वाले ही जान सकते हैं।

यदि हम अवधी के शब्दों की प्रतिनिधि-स्वरूप एक लंबी सूची अर्थों-सहित दे सकते तो स्पष्ट हो जाता कि अवधी का शब्द-भांडार कितना पूर्ण और अगाध है। दुहरे अव्ययों अथवा विशेषणों की भाँति कुछ पूर्वकालिक के क्रिया-वाचक खंड भी प्रयुक्त होते हैं जैसे "घुसरि-पसरि", "खाइ-खुइ", "नोचि-चोचि", आदि और कुछ भाववाची पद भी ऐसे ही हैं जैसे "चोरी-चमरई", "लूगा-लूता", "अल्ल-पानी", "लकड़ी-पयरी" इत्यादि। ऐसे ही दुहरे प्रयोग कुछ क्रियाओं के भूत एवं भविष्य रूपों के साथ लगते हैं जो कई दृष्टि से अंग्रेजी व्याकरण से मिलते जुलते हैं, जैसे "जावै त किहिस" (गया ही तो); "चलै त गय" (चला ही तो गया); "मरवै करव" (माहँगा भी); "गइउ रहा" (गया भी था); "चलवै किहिस" (चला ही गया) तथा "जावै करवूँ" या "जावै करवूँ" (मैं तो जाऊँगा भी या मैं तो जाऊँगा ही)। ये प्रयोग अंग्रेजी के "डिड गो" की भाँति हैं जिस में दो क्रियाओं का एक साथ ही समावेश हो जाता है। हम यहाँ यह भी बतला देना चाहते हैं कि हम ने अवधी के शब्दों का जो अपूर्ण संग्रह किया है उस में ही खाने-पीने, खेती-बारी आदि भिन्न-भिन्न विभागों के इतने शब्द आ गए हैं कि उन्हीं के बल पर यह कहा जा सकता है कि अवधी का शब्द-भांडार भरा-पूरा है और संसार की उल्लत भाषाओं में बहुत पीछे न ठहरेगा।

हिंदी के कुछ भूले हुए शब्द

[लेखक—प्रोफेसर अमरनाथ झा, एम्० ए०]

इधर तीस-चालीस वर्ष से हिंदी गद्य और पद्य की गति अधिकाधिक संस्कृत की ओर होती रही है—उर्दू और फ़ारसी के डर से, पुराने हिंदी के शब्दों का भी प्रयोग कम होने लगा है। अब तो दशा यह है कि कम से कम आज कल की हिंदी कविता केवल वही समझ सकता है जो संस्कृत में पूर्ण अवगति रखता हो। यही दशा उर्दू की हो रही है। इस समय मुझे हिंदी के ही विषय में कुछ लिखना है। हिंदी केवल विद्वानों की भाषा नहीं है—सर्व साधारण की भाषा है—मजदूरों की, काश्तकारों की, इक्केवालों की, दूकानदारों की भी भाषा है। आज ही हिंदी की एक मान्य पत्रिका में सब से पहली कविता जो मुझे मिली, उस का अंतिम पद यों है—

चली स्नान-हित शोभा-बलपित,
गीत-सदृश चित्त प्रिय-छवि-निर्मित;
क्षालित शत-तरंग-तनु पालित,
अवगाहित निकली छुति निर्मल।

इस में हिंदी के दो शब्द, 'चली', 'निकली',—बीस में से दो शब्द—घोखे से आ गए हैं। जनता को छोड़ दीजिए, पढ़े-लिखे वाचकों को भी समय लगेगा इस के समझने में। ऐसी कविताओं का भी साहित्य में स्थान है, ऊँचा स्थान है। परंतु जब सभी कवि इसी शैली का अनुकरण करेंगे तो हिंदी और संस्कृत में भेद ही क्या रह जायगा, जीवित और पुरानी भाषा में अंतर ही कौन सा होगा? सुलभता से उर्दू में भी ऐसे क्लिष्ट, अरबी-मिश्रित उदाहरण मिल जायेंगे। हिंदू और मुसलमानों के परस्पर विरोध और मनोमालिन्य के ही कारण हिंदी और उर्दू की ऐसी प्रगति हो रही है। यह खेद का विषय है। साथ ही 'हिंदुस्तानी' का भी इस समय में विरोधी हूँ, इस लिए कि इस नई भाषा के संस्करण में हिंदी की सर्वथा हानि है और उर्दू की उन्नति। पढ़े-लिखे हिंदू बहुत संख्या ऐसे मिलते

हैं जो उर्दू पढ़ने और लिखने की योग्यता रखते हैं—मुसल्मान ऐसे बहुत थोड़े हैं जो हिंदी के अक्षरों से भी परिचित हों। ऐसी दशा में हिंदी-उर्दू मिलन में उर्दू का ही प्राधान्य होगा, और हिंदुस्तान के साधारण लोगों के लिए यह एक क्लिष्ट विदेशी भाषा हो जायगी। साथ ही संयुक्त प्रांत और पंजाब के अतिरिक्त और प्रांत वालों के लिए तो इस का समझना असंभव ही हो जायगा। कालक्रम से, पचास-सौ वर्ष में, हिंदू मुसल्मानों में ऐक्य स्थापित होने पर, संभव है 'हिंदुस्तानी' भाषा प्रचलित करने का यत्न सफल हो। 'हिंदुस्तानी' को आज कल की साधारण भाषा मान कर जो उस का समर्थन करते हैं, उन की भाषा के कुछ उदाहरण नीचे उद्धृत करता हूँ:—

(१) "मेरा जाती अक्कीदह यह है कि अगर हिंदुस्तान में क़ौमी इत्त-हाद की बुनियाद कोई हो सकती है तो वह मुश्तर्का अदब या मुश्तर्का ज़वान है। हम में अगर एक-दूसरे के अदब ओ शेर और तारीखो-फ़लसफ़ा की क़द्र पैदा हो जाय या बलफ़ाज़े दीगर हम एक दूसरे को समझने लगे तो बहुत कुछ इख़्तलाफ़ और ग़लतफ़हमियाँ जो इस वक़्त हमारे लिए बायसे नंग हैं दूर हो सकती हैं।"

(२) "मेरी नाचीज़ राय में हिंदुस्तान का लिसानी इत्तिहाद जिस में हिंदुस्तानी आम ज़वान होगी इसी क़द्र अहम है जितना कि मुल्क का इंतज़ामी इत्तिहाद जो नई इसलाहात की तहत में क़ायम किया जाने वाला है।"

(३) "अगर हमारी एकेडमी हमारे कवियों और लेखकों को जगा सके ताकि वह इस मायावी दुनिया के सपनों की असलियत पहचान लें और उस सच्ची दुनिया के अमृतमय नूर से हमारे मनों को रोशन कर दें तो सचमुच इस संस्था का मक़सद पूरा हो जाय।"

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि अभी कुछ दिनों तक हिंदी-उर्दू संमिश्रण केवल कठिन ही नहीं, हानिकारक और हास्यास्पद भी है।

फिर भी मेरा विचार है कि हिंदी लिखने और बोलने वालों का यह कर्तव्य है कि जहाँ ठेठ हिंदी के शब्द का उपयुक्त प्रयोग हो सके वहाँ अनावश्यक कठिन संस्कृत शब्द का प्रयोग न करें। बहुत स्थान में, विचार की गूढ़ता से, भाव की असाधारणता से, पद के लालित्य से विवश हो कर संस्कृत का सहारा लेना पड़ता है। परन्तु हमारा हिंदी का भंडार

खाली हो रहा है। हम दिनानुदिन इन शब्दों को देहाती समझ कर भूलते जाते हैं। इनकी ही कृपा से हमारी भाषा जीवित रह सकती है और सर्व-साधारण के हृदयंगम हो सकती है।

सब से पहला हिंदी-कोप हैरिस साहिव ने मद्रास में सन् १७९० ई० में प्रकाशित किया। फिर सन् १८०८ ई० में एक कोप मद्रास में ही मुद्रित हुआ। हिंदुस्तानी का एक कोप सन् १८०८ ई० में कलकत्ता में टेलर साहव और हंटर साहव ने प्रकाशित किया था। फिर एक नया संस्करण परिवर्धित रूप में, लंडन में, सन् १८१७, में मुद्रित हुआ। जॉन शेक्सपियर साहव का सन् १८३४ का कोप बहुत ही उपकारी है, और उस समय के सब कोपों से अच्छा है। इस के तीसरे संस्करण के प्रकाशित होने की तिथि से पूरे सौ वर्ष हो चुके हैं, और इस को देखने से ज्ञात होता है कि उस समय कितने शब्द प्रचलित थे जिन्हें हम भूल गए हैं अथवा जिन्हें हम देहाती कह कर तिरस्कार करते हैं।

अपनी भूमिका में शेक्सपियर साहव ने एक बड़ी अच्छी बात कही है जिस से उन लोगों के मत की पुष्टि होती है जो हिंदी को राष्ट्रभाषा कहते हैं—

“भारतवर्ष जैसे विस्तृत देश में, जहाँ मनुष्यों की विभिन्न जातियाँ बसती हैं, सब से प्रचलित व्यावहारिक भाषा—जैसे हम ‘जवाने-उर्दू’, ‘रेल्ता’, ‘हिंदी’, ‘हिंदुस्तानी’ अथवा ‘दकनी’ जो चाहें कह लें—के अंतर्गत बोलियों की विभिन्नता मिलना स्वाभाविक है, और एक भाग के साधारण शब्द दूसरे भाग के निवासियों के लिए न केवल अपरिचित वरन् नितान्त दुरूह हो सकते हैं। इस लिए वह भाषा जो यहाँ वर्णित है, और जो साधारणतया हिंदुस्तान खास या दकन में, दिल्ली, आगरा, हैदराबाद या कर्नाटक में प्रचलित है मूलतया एक है, फिर भी देश के विस्तार के कारण बोलियों में, अनेक अंशों में भेद हुए बिना नहीं रह सकता।”^१

^१ In India, extensive as it is, and peopled by many different races of men, variety of dialects must be expected to occur in the most prevalent colloquial language, whether denominated *Zaban-i-urdu*, *Relhta*, *Hindi*, *Hindustani*, or *Dakbani*; and words of common use in some parts

इस कोष का टैटिल पेज यों है:

“A Dictionary, Hindustani and English, with a copious Index, fitting the work to serve, also, as A Dictionary English and Hindustani By John Shakespear. London: Printed for the Author, by J. L. Cox and Son, 75 Great Green Street, Lincoln's-Inn Fields; and sold by Parbury, Allen and Co. Booksellers to the Hon. East India Company. Leadenhall Street. MD CCC XXXIV.”

हज़ार पृष्ठ से अधिक का यह कोष मेरे इस लेख का आधार है।

मैं कुछ ऐसे हिंदी शब्दों की सूची देता हूँ जिन का अब प्रायः व्यवहार नहीं होता है—

अवन	निर्वन के अर्थ में
उवाकना	वमन करना
अवलापा	कमज़ोरी-असामर्थ्य
अवृझ	नासमझ
अवोला	जिसे चुप रहने की आदत हो
उभराना	वर्तन को ऊपर तक भर देना
अपटक	जो हाथ पैर चलाने में असमर्थ हो
उपराला	सहायता

may appear strange, or be even unintelligible, to the inhabitants of others. Thus, though the language here treated of, and which most generally prevails in Hindustan proper, or in the Dakhan, at Delhi, Agra, Hyderabad, or in the Carnatic, is essentially one and the same; yet, through so wide a range of country, differences will present themselves in various particulars of speech.

उपरावरी	लड़ाका
उपराँचा	अँगोछा
अफेंडा	घमंडी
अटन	ढेर
उजान	नदी के प्रवाह के विरुद्ध
उजवाना	एक पात्र से दूसरे में उड़ेलवाना
उज्जड़	गँवार
अदसी	मलमल का एक प्रभेद
अधवर	बीच में
अघसी	कपड़े का आधा टुकड़ा
अर्वराना	धवड़ाना
अरस्त	नीरस
अकंट	चतुरता
अर्गाना	भिन्न करना
अर्गनी	कपड़ा सुखाने के लिए रस्ती
उरेव	धोखा
अड़ानी	बड़ा छाता
अड़ंग	ऐसा शहर जहाँ तिजारत हो
अड़ेंच	दुश्मनी
ओतारा	बरांडा
उसिजना	उवालना
बासन तले आना	आधीन होना
असी	इस वर्ष
उसीसा	तकिया
अगुधिया	अगुद्ध बोलने या पड़ने वाला
अकड़त	अकड़ने वाला
आग फांकना	बातें बनाना

आगम बाँधना	भविष्यवाणी करना
अगोरना	देख-भाल करना .
अगोरिया	चौकीदार
अलंग	किनारा; कोना
अंटाचित्त	अभागा
इंडुआ	कपड़े का टुकड़ा जिस पर गठ्ठर रक्खा जाय
आवाई	खबर
ओस पड़ जाना	दाम कम हो जाना
ऊकना	भूल करना
औगाह	गहरा
उहार	पालकी को ढकने का कपड़ा
वात फेंकना	चिढ़ाना
वाज	विरह
वाछना	चुनना
वाँस पर चढ़ना	अपवादित होना
ववरुता	वहरूपिया; मूर्ख
वित्तम वित्तम	थोड़ा थोड़ा कर के
वटपाड़	डाकू
वजोड़ना	मारना
विचकाना	प्रतिज्ञा भंग करना
वुरास	क्रोध; अग्रसन्नता
वसनी	वटुआ
विमुरना	धीरे-धीरे रोना
वकारा	मुसाफ़िर
विलल्ला	मूर्ख
बंदूहा	आँधी

बनहा	जादूगर
बवेसिया	वकनेवाला
बिहाना	समय व्यतीत करना
भदेसल	भद्दा; कुरूप
बहुरना	वापस आना
भड़ंग	भड़भड़िया
भकुआ	बेवकूफ़
भंभूआ	वह फ़कीर जो चोरी करने पर वाध्य होता है
भोकस	जादूगर
पाटूनी	मल्लाह
पातर	वेश्या
पिछलपाई	भूतिनी
पिड़ाना	दर्द करना (यह अच्छा संस्कृत "पीड़ा" से उत्पन्न हुआ शब्द है)
परचूनिआ	अनाज बेचने वाला
पसर	मवेशी को रात में चराना
पखेस	मुहर
पुलहाना	राजी करना
पेंवारा	कहानी
पोआना	धूप में सुखाना
पोटला	गदर
पोढ़ना	लिटना
पोली	बेवकूफ़
पोहना	रोटी बनाना
फफ़सा	बे स्वाद का
फफ़द	भोगा

फसकड़	जमीन पर पाँव फैला कर बैठना
पेखनिया	नाटक करने वाला पात्र
तारे तोड़ना	धोखा देना
तपरी	थोड़े ऊँचाई की जगह
ततरी	चपला कुमारी
तिर्तिदा	अड़चन
तुर्तुरा	तेज (मनुष्य)
तड़ा	द्वीप
ताँसना	गर्मी से परेशान होना
थाँग	चोरों का अड्डा
थोड़दिला	कृपण
त्यूर	सर चकराना
त्याँधा	जिसे कम सूझता है
टावर	छोटा तालाब
टिपका	उँगली से लगाया हुआ कोई रंग
टकसाल चढ़ना	शिक्षा प्राप्त करना
ठेसरा	ताना
जागावंदी	नींद आना
जुल	धोखा
जमोगना	दयाप्रित करना
जुन्हाई	चंद्रमा की ज्योति
झाँसू	धोखा देने वाला; फुसलाने वाला
झकोर	हानि
झोझा	पेट
चपड़ाऊ	निलंज
चप्पन	वर्तन का ढक्कन

चफाल	ऐसा स्थान जिस के चारों तरफ़ दल- दल हो
चट्टा	विद्यार्थी
चकरैला	गोल
चकलाना	चीड़ा करना
चिकनिया	शौकीन आदमी
चंडावल	सेना के पीछे का अंश
चौतर्का	एक प्रकार का तंब
चोर ढोर	मुद्ई और मुद्दालह
चीड़ाई मारना	वातें बनाना
चीकड़ी भूलना	आपे से बाहर होना
चौंटी आसमान पर घिसना	घमंडी होना
छतनार	चिपटा
छुरी तले दम लेना	कठिनाई में न धबराना
छीजना	घटना; रोगी होना
दुरना	छिपना
दसांधी	प्रशंसात्मक कविता लिखने वाला
डगरा	सड़क
दिगवार	चीकीदार
दुल्मियां	छोटा बटुआ
दिनी	बुढ़ा (जानवर)
धँधार	अकेला
धुंधेला	दुष्ट
धिगाना	नस्त करना
धूरा देना	ठगना
शबक	कुएँ का ताज़ा पानी
दुकरिया	बुढ़िया

ढाँसा	अपवाद
रवड़	थकान
रमदू फटू	साधारण लोग
रहवाई	मकान का किराया
सापन	वह रोग जिस में सर के बाल झड़ जाते हैं
सपर्दा	नाचने वाली औरत के साथ का बजाने वाला
सुतार	बढ़ई
सन्नाना	क्रुद्ध होना
सताऊ	तंग करने वाला
सतीला	बलवान
सुकलाई	(शुक्ल से) सफ़ेदी
सिबाना	सीमा
सुनोधन	इशारा
सेना	गाँव का तहसीलदार
कालिमा	अपवाद
कुलाँच मारना	कूदना
कुलबोड़	जो अपने कुल को कलंक लगाता है
कमठ	एक तरह का धनुष (यह संस्कृत शब्द है)
कंटर	कृपण
कंगड़ा	मोटा-ताजा
कने	नजदीक ; पास
कूटना	दाम लगाना
कौंध	चमक (जैसे बिजली की)
खव्वा	वैहिय्या

खटाल	वसंत समय
खरियाना	जमा होना
खिसियाहट	विगड़ना

इस प्रकार के सैकड़ों शब्द हिंदी में पहले बोल-चाल में व्यवहृत थे । कोई कारण नहीं कि ये फिर से व्यवहार में न लाए जावें ।

हिंदुस्तानी के संबंध में कुछ ग़लतफ़हमियाँ

[लेखक -- डाक्टर ताराचंद, एम्० ए०, डी० फ़िल्० (आक्सन)]

इधर हाल में कई पत्र-पत्रिकाओं में ऐसे लेख प्रकाशित हुए हैं, जिन का संबंध उस समस्या से है जो हिंदुस्तान की आधुनिक भाषाओं के, और विशेषतः संयुक्त प्रांत की भाषा के विकास से दिलचस्पी रखनेवालों का ध्यान आकर्षित कर रही है। समस्या नई नहीं है। वास्तव में उन्नीसवीं सदी के शुरू में ही, जब कि जॉन बोयविक गिलक्राइस्ट ने कलकत्ता के फ़ोर्ट विलियम कालिज में लल्लूलाल, सदल मिश्र, मीर अम्मन, मीर बहादुर अली, हैदरख़ा 'हैदरी', काज़िम अली 'जवान', मज़हर अली खाँ 'विला', निहाल-चंद, शेरअली 'अफ़सोस' इत्यादि को इकट्ठा कर के उन के द्वारा फ़ारसी और ब्रजभाषा से अनुवाद कराना शुरू किया था, अनुवाद के लिए प्रयोग में लाई जानेवाली भाषा के नाम, स्वभाव, मर्यादा और शैली की समस्या उपस्थित हो गई थी। इस समस्या की ओर उन्नीसवीं सदी भर लोगों का ध्यान आकर्षित होता रहा, और कुछ वर्षों में तो वादविवाद बहुत जोर से चला। १८६० और १८८० के बीच जॉन वीम्स और एफ़० एस्० ग्राउज ने इस विषय पर शास्त्रीय पत्रिकाओं में विद्वत्तापूर्ण लेख लिखे। राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद ने वीम्स का पक्ष ग्रहण करते हुए भाषा में फ़ारसी और अरबी के प्रभाव को क़ायम रखने के लिए अपील की, किन्तु राजा लक्ष्मणसिंह ने इस का विरोध किया और फ़ारसी तथा अरबी अंशों को हटा कर उन के स्थान पर संस्कृत के शब्दों को लाने के पक्ष में ग्राउज का समर्थन किया। यह बात भी मनोरंजक है कि ईसाई धर्म-प्रचारकों ने भी संस्कृत के प्रभाव का पक्ष लेने में कमी नहीं की। सर जी० ए० ग्रिअर्सन—जिन्हें सभी लोग भारतीय भाषा-विज्ञान का आचार्य मानते हैं—ने अपनी पुस्तक 'लिंग्विस्टिक सर्वे अन्ड इंडिया' के भाग ९ के पहले हिस्से में लिखा है—“दुर्भाग्यवश इस युग में सब से प्रभाव-शाली अंगरेज संस्कृत-मिश्रित भाषा के ही पक्ष में रहे हैं। ईसाई धर्म-प्रचारकों द्वारा इसी संस्कृत-मिश्रित हिंदी का प्रयोग हुआ है, और इंग्लिश का अनुवाद भी उसी हिंदी

में हुआ है। कुछ भारतीय लेखक जो ठेठ हिंदी के पक्ष में थे इस भ्रमपूर्ण प्रयत्न के शक्ति-शाली उदाहरण के मुक़ाबले में बहुत कम सफल हुए।”

बीसवीं सदी के आरंभ से वही विवाद फिर जोरों के साथ शुरू हो गया है। इस प्रकार यह विवाद जो लगभग डेढ़-सौ बरस से जारी है केवल सामयिक या महत्वहीन नहीं कहा जा सकता। वास्तव में इस समस्या के निर्णय पर बहुत से व्यावहारिक महत्व के परिणाम निर्भर हैं। इस लिए यह आवश्यक है कि इस समस्या पर बिना अनावश्यक आवेश और जहाँ तक संभव हो सके बिना दलबंदी के भाव के गौर किया जावे।

नाम-संबंधी ग़लतफ़हमियाँ

प्रश्न के पक्ष-विपक्ष में विचार करने और दोनों विरोधी दलों के पृथक्-पृथक् दृष्टि-कोण को समझने के पहले मुझे यह आवश्यक मालूम होता है कि जिन नामों का हम प्रयोग करें उन की ठीक-ठीक परिभाषा दे दें, क्योंकि इस संबंध में बहुत कुछ ग़लतफ़हमी इस कारण होती है कि उन नामों के अर्थ के बारे में लोगों को भ्रम है। इस विषय में बहुत से नामों का प्रयोग हुआ है, जिन में से कुछ ये हैं—‘भाषा’, ‘हिंदवी’, ‘हिंदी’, ‘हिंदुस्तानी’, ‘जवानेहिंदुस्तान’, ‘देहलवी’, ‘खड़ी बोली’, ‘मध्यदेश की बोली’, ‘रेस्ता’, ‘जवाने-उर्दू-ए-मुअल्ला’, ‘उर्दू’। इन सब नामों में ‘हिंदी’, ‘हिंदुस्तानी’ और ‘उर्दू’ का प्रयोग अधिक होता है, और वास्तव में वादविवाद भी अब इन तीन नामों के प्रयोग के ही संबंध में है।

हिंदी

सब से पहले हमें हिंदी नाम को ही लेना चाहिए। जैसा कि भारतीय भाषा-विज्ञान के सभी विचारार्थी जानते हैं। हिंदी या हिंदवी नाम का प्रयोग कई विभिन्न अर्थों में हुआ है। उन में से तीन जो अधिक महत्व रखते हैं, नीचे दिए जाते हैं—

(१) हिंदी या हिंदवी नाम का प्रयोग साधारणतया भारतीय के अर्थ में हुआ है। भारतवर्ष के साथ जब मुसलमानों का प्रारंभिक संपर्क हुआ तभी से उस का प्रयोग इसी अर्थ में होने लगा। लाहौर और दिल्ली के पास बसने के बाद जब मुसलमानों ने

भारतीय आर्य-भाषा को अपनाया तब उस भाषा के लिए हिंदी या हिंदवी नाम का प्रयोग हुआ। इस प्रयोग के कुछ उदाहरण यहाँ दिए जाते हैं। १२२८ में मोहम्मद औफ़ी ने कुछ कवियों की कविताओं का संग्रह किया। उन कवियों में उस ने ख्वाजा मसूद सआद सलमान नामक एक कवि का भी जिक्र किया है, और लिखा है कि उस ने हिंदवी भाषा में एक दीवान लिखा था। अलाउद्दीन खिलजी (१२९५-१३१५) के शासनकाल में, फ़ख़रुद्दीन मुबारक ग़जनवी ने एक शब्द-कोष तैयार किया जिस में उस ने फ़ारसी के शब्दों के हिंदी पर्यायवाची शब्दों को दिया। अमीर खुसरो (जिस की मृत्यु १३२५ में हुई) ने भी हिंदी और हिंदवी नामों का प्रयोग किया। शाह मीराँ जी शमसुल उद्शाक्र ने, जिन का देहांत १४९५ में हुआ, अपनी रचनाओं की भाषा हिंदी बतलाई है। दक्षिण भारत में भी हिंदी शब्द का प्रयोग दक्खिनी के साथ-साथ आम तौर पर हुआ। नुसरती ने, जो बीजापुर के शासक, अली आदिल शाह द्वितीय के दरबार में राजकवि था, अपनी हिंदी कविताओं का जिक्र किया है। दक्षिण में विकसित होनेवाली कविता को जब मुग़ल दरबार में आश्रय मिला तब दिल्ली के शायरों ने भी अपनी काव्य-भाषा के लिए हिंदी नाम का ही प्रयोग किया। शायरों में, शाह हातिम से ले कर ग़ालिब तक, इस प्रयोग के अनेक उदाहरण मिल सकते हैं, और गद्य के संबंध में भी प्रारंभिक लेखकों से ले कर सर सैयद अहमद खाँ तक अनेक उदाहरण मिलेंगे। इस प्रयोग के अनुसार हिंदी का अर्थ यही है जो आजकल उर्दू का है।

(२) हिंदी शब्द का दूसरा प्रयोग प्रांतीय प्रचलित भाषाओं के उस वर्ग के लिए होता है, जिसे ग्रियर्सन ने 'टर्शियरी प्राकृत' (तीसरी प्राकृत) और डाक्टर सुनीतिकुमार चटर्जी ने नई इंडो-एरियन भाषाएँ कहा है। वह प्रदेश, जहाँ इन भाषाओं का प्रयोग होता है, पश्चिम में सरहिंद से ले कर पूरब में बनारस तक, और उत्तर में हिमालय की तराई से ले कर दक्षिण में नर्मदा तक फैला हुआ है। इन भाषाओं का प्रचार प्राचीन मध्य-प्रदेश और उत्तरी और दक्षिण कोशल में है। ये भाषाएँ पश्चिमी हिंदी और पूरबी हिंदी, इन दो शाखाओं से संबद्ध हैं। इस प्रकार हिंदी शब्द का प्रयोग निम्नलिखित मानी हुई प्रचलित भाषाओं के लिए होता है—बुंदेली, कन्नौजी, ब्रजभाषा, बाँगड़, ग्रियर्सन द्वारा पुकारी जानेवाली हिंदुस्तानी या बाबू हरिश्चंद्र द्वारा पुकारी जानेवाली सड़ीवाली या, गोल बाज़न और अमीर तुग़री द्वारा पुकारी जानेवाली देहलीवी, अवधी, बघेली और

छत्तीसगढ़ी। इन आठ भाषाओं के अतिरिक्त कुछ विद्वान् राजस्थानी और मगही को भी इसी वर्ग में शामिल करते हैं। पंडित सूर्यकरण पारीक और श्री नरोत्तमदास स्वामी राजस्थानी के और श्री राहुल सांकृत्यायन मगही के पक्षपाती हैं। इस प्रकार पंजाब से ले कर बंगाल तक की सभी प्रचलित भाषाओं के लिए हिंदी शब्द का प्रयोग होता है।

(३) तीसरे अर्थ में हिंदी शब्द का प्रयोग विशेषतः हिंदुस्तानी, खड़ीवोली या देहलवी नाम से पुकारी जानेवाली साहित्यिक भाषा के लिए होता है। ध्वनि और व्याकरण की दृष्टि से आधुनिक हिंदी उन सब प्रचलित भाषाओं से भिन्न है, जो पश्चिमी और पूरबी हिंदी के वर्गों में शामिल की जाती हैं, और उर्दू के समान है।

उर्दू

हिंदी के लिए उर्दू नाम का प्रयोग शायद मुसहफ़ी ने ही पहले-पहल किया था। १७५२ में तैयार किए गए अपने कविता-संग्रह में मीर ने 'जवाने-उर्दू-मुअल्ला' नाम का प्रयोग किया। क़ाज़म की 'मख़ज़ने निकात' (१७५४) में भी इस नाम का प्रयोग मिलता है। वाक़र आगाह नामक दक्षिण के एक शायर ने १७७२ में, और अली इब्राहीम खाँ ने १७८३ में उर्दू शब्द का प्रयोग किया था। अता हुसैन तहसीन ने 'नौ तर्ज़े-मुस्तसा' (१७७० या १७९७) में 'जवाने-उर्दू-मुअल्ला' का उल्लेख किया है। १८०१ में लिखी गई पुस्तक 'बाग़ो-बहार' की भाषा को मीर अम्मन ने उर्दू कहा था। ध्वनि और व्याकरण के नियमों को देखते हुए उर्दू हिंदी के ही समान है, अंतर केवल ब्राहरी शब्दों के आने के कारण हो गया है।

हिंदुस्तानी

वजही (१६३५) की रचनाओं में, फ़रिस्ता (जन्म १५९०) द्वारा लिखे हुए इतिहास में, और अब्दुल हमीद लार्हारी (मृत्यु १६५४) के 'बादशाहनामा' में 'जवाने-हिंदुस्तान' नाम का प्रयोग हुआ है। इस प्रकार मालूम होता है कि इस भाषा के लिए १६-१७वीं सदियों में जवाने हिंदुस्तान नाम काफ़ी प्रचलित था। टैरी और (१६१६) फ़ायर (१६७३) ने इसे 'इंडोस्तान' नाम से पुकारा है, और अमादुज़्ज़ी ने १७०४ में 'लिंगुए इंडोस्तानिका' के हस्तलिखित शब्द-कोष का जिक्र किया है। १७१५ में केटेलेयर

ने 'लिंग्वा हिंदोस्तानिका' की सब से पहली व्याकरण-पुस्तक और शब्द-कोष की रचना की। अठारहवीं सदी में हिंदुस्तानी नाम का प्रचलन हुआ। जब १८०१ में मीर अम्मन ने 'बाग़ी-बहार' की रचना शुरू की तो उस ने जान-बूझ कर ठेठ हिंदुस्तानी का प्रयोग किया। गिलक्राइस्ट ने 'हिंदुस्तानी' शब्द का ही अपनी किताबों के नाम के साथ प्रयोग किया, उदाहरणार्थ 'अंगरेजी-हिंदुस्तानी डिक्शनरी' और गार्सें द तासी ने पेरिस में हिंदी और हिंदुस्तानी के इतिहास पर भाषण दिए। 'हिंदुस्तानी' नाम का प्रयोग 'खड़ीबोली' के लिए किया गया है। बहुत से लेखकों ने इस नाम का प्रयोग उर्दू के लिए और कुछ ने आधुनिक हिंदी के लिए किया है।

हिंदुस्तानी की ग्रियर्सन द्वारा दी गई परिभाषा नीचे दी जाती है ताकि उस से स्थिति साफ़ हो जावे—'हिंदुस्तानी मुख्यतः गंगा के दोआब के ऊपरी भाग की भाषा है और भारतवर्ष की राष्ट्रभाषा भी है, जो कि फ़ारसी और देवनागरी, दोनों लिपियों में लिखी जा सकती है। उस के साहित्य में विशुद्ध तत्सम शब्दों का प्रयोग कम होता है और फ़ारसी तथा संस्कृत शब्दों का प्रयोग अधिक नहीं होता। इस प्रकार उर्दू नाम हिंदुस्तानी की केवल उस विशेष शाखा को दिया जा सकता है जिस में फ़ारसी शब्दों का बहुधा प्रयोग होता है..... और इसी प्रकार हिंदी उस शाखा को कहेंगे जिस में संस्कृत शब्दों का बाहुल्य है।'

इस प्रकार मालूम हो जाता है कि हिंदुस्तानी नाम नया गढ़ा हुआ नाम नहीं है जिस का मन्शा हिंदी और उर्दू का स्यान लेना हो। हिंदुस्तानी एक पुराना और प्रसिद्ध नाम है, जो उस भाषा के लिए प्रयोग में आता है जिस के उर्दू और हिंदी दो रूप हैं, और जो इन दोनों का आधार है।

भाषा-संबंधी गलतफ़हमी

नाम के संबंध में गलत धारणा होने की वजह से भाषा के संबंध में भी अजीब गलत-फ़हमी फैल गई है। भाषा और साहित्य के बड़े-बड़े इतिहासकारों ने भी हिंदी, उर्दू और हिंदुस्तानी की उत्पत्ति और विकास के संबंध में निर्णय करने में गलती की है। इस गलती का कारण यह है कि या तो साहित्य की विभिन्न धाराओं का उन्हें ज्ञान नहीं है, या वे हिंदी के उपरोक्त तीनों अर्थों को और विशेषतः दूसरे और तीसरे को पृथक्-पृथक् रूप

से समझन में असमर्थ हैं। जब कुछ लोग हिंदी के विकास की बात करते हैं तो वे इस बात का खयाल नहीं करते कि हिंदी का इतिहास राजस्थानी, ब्रजभाषा और अवधी जैसी भाषाओं के इतिहास से भिन्न है। वे इस बात को भी भूल जाते हैं कि हिंदी और उर्दू के इतिहास में बहुत-सी समानता है।

हिंदुस्तानी या खड़ीवोली का, जो कि भारतीय आर्य-भाषाओं की ही एक शाखा से निकली है, मध्यदेश की अन्य भाषाओं से दसवीं सदी के लगभग अलग होने के बाद से, अपना एक अटूट इतिहास है। जैसा कि सब लोग जानते हैं, गंगा के ऊपरी दोआब और आस-पास के हिस्सों में रहनेवाले लोगों की यही मुख्य भाषा थी और है। जब बारहवीं सदी के अंत में मुसलमान दिल्ली में और उस के आस-पास बसने लगे तब उन्होंने ने इस प्रचलित भाषा को अपना लिया। इस प्रकार नए भाषा-भाषियों की जवान से कुछ नई ध्वनियाँ भी आ गई। खड़ीवोली के व्याकरण-संबंधी नियमों में भी कुछ हलके और साधारण परिवर्तन हुए और मुसलिम विजेताओं की भाषा से उस में कुछ बाहरी शब्द भी आ गए। इस प्रकार जो परिमार्जित भाषा पैदा हुई, साहित्यिक प्रयोग के लिए वही काम में आने लगी। कहा जाता है कि अमीर खुसरो ने इस भाषा का प्रयोग चौदहवीं सदी में किया था, लेकिन उस समय का कोई पक्का सबूत नहीं मिलता, इस लिए यह बात निश्चय रूप से नहीं कही जा सकती। लेकिन दक्षिण में खड़ीवोली गद्य और पद्य दोनों की भाषा बन गई और वहाँ चौदहवीं और अठारहवीं सदियों के बीच उस भाषा में एक संपन्न साहित्य का सृजन हुआ। दक्षिण के इस साहित्य में भाषा-संबंधी दो विशेषताएँ हैं—भाषा में तद्भव शब्दों का बाहुल्य है और साहित्य में केवल विदेशी बातों की भरमार नहीं है। दक्षिण के लेखक उचित ही अपने को हिंदी का लेखक समझते थे। अपने गद्य और पद्य की भाषा को उन्होंने ने ठीक ही हिंदी नाम दिया था।

इस के प्रतिकूल उत्तरी भारत में परिस्थिति बड़ी अजीब थी। यद्यपि खड़ीवोली या हिंदुस्तानी उत्तर भारत की ही भाषा थी किंतु साहित्यिक भाषा के रूप में उस का विकास मुख्यतः दक्षिण में ही हुआ। सत्रहवीं सदी से पूर्व उत्तर भारत में इस भाषा में पूरी तरह से लिखा हुआ कोई प्रमुख ग्रंथ मुश्किल से ही मिलेगा। जब तेरहवीं सदी में खड़ीवोली परिमार्जित हो कर सामने आई तो उसे राजस्थानी जैसी प्रतिद्वंदी भाषा ने साहित्य के क्षेत्र में मुकाबला करना पड़ा। उस काल में राजस्थानी ही साहित्य के लिए

लोकप्रिय भाषा थी; जैन ग्रंथ और नरपति नल्ह आदि के काव्य भी उसी भाषा में मिलते हैं।

पंद्रहवीं सदी में जब भक्ति की लहर फैलनी शुरू हुई तब उस से तीन मतों का जन्म हुआ—निराकार-भक्ति, कृष्ण-भक्ति और राम-भक्ति। पहले मत के संत कबीर, नानक, दादू ने अपने विचारों का प्रचार करने के लिए अन्य प्रांतिक भाषाओं के साथ खड़ी बोली का प्रयोग किया। सूरदास, नंददास आदि कृष्ण-भक्तों ने अपने गीतों और भजनों में केवल ब्रजभाषा का ही प्रयोग किया। तीसरे संप्रदाय के संतों ने जिन के नेता गोस्वामी तुलसीदास थे, अपनी रचनाओं में अवधी भाषा का प्रयोग किया।

पंद्रहवीं सदी तथा उस के बाद साहित्य की नदी दो धाराओं में प्रवाहित हुई, जिन में एक अवधी थी और दूसरी ब्रजभाषा। केवल हिंदू लेखकों ने ही इन भाषाओं का प्रयोग नहीं किया, मुसलमानों ने भी उन्हें अपनाया। रहीम, रसखान और रसलीन ब्रजभाषा के इतिहास में उसी प्रकार प्रसिद्ध हैं जैसे हिंदू कवि, और सब लोग जानते हैं कि यदि मलिक मोहम्मद जायसी ने साहित्य की नींव न डाल दी होती तो कदाचित् अवधी 'रामचरितमानस' जैसे महान् ग्रंथ की रचना से वंचित रहती।

इस काल में आधुनिक हिंदी या संस्कृत-मिश्रित हिंदुस्तानी की हालत ड़ाँवाडोल रही। बोलचाल के लिए तो खड़ीबोली जीवित भाषा थी ही, लेकिन जहाँ तक साहित्य से संबंध है हिंदी (फ़ारसी-मिश्रित हिंदुस्तानी), ब्रजभाषा और अवधी ही क्षेत्र में थीं और अठारहवीं सदी के अंत तक परिस्थिति ऐसी ही बनी रही; हिंदी साहित्य का इतिहास लिखनेवाले कुछ लोगों ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि अठारहवीं सदी से पहले भी आधुनिक हिंदी में साहित्य था, किंतु ये प्रयत्न सफल नहीं हुए हैं। सोलहवीं सदी में गंगाभट्ट द्वारा लिखित १६ पृष्ठ की 'चंद छंद वर्णन की महिमा' एक छोटी-सी पुस्तिका को आधुनिक हिंदी की पहली गद्यरचना बतलाया जाता है, और बहुत समय के बाद जटमल की 'गोरा बादल की बात' का नंबर आता है। पहली पुस्तक मिश्रित ब्रजभाषा और खड़ीबोली में लिखी हुई है, और दूसरी के बारे में सिद्ध हो गया है कि वह उन्नीसवीं सदी में लिखी गई थी, और मूल राजस्थानी काव्य-ग्रंथ का अनुवाद है। कहा जाता है कि अठारहवीं सदी में दो या तीन और पुस्तकें जैसे 'मंडोवर का वर्णन', 'चफला की पातझाही की परंपरा' और मिलती हैं, जो खड़ी बोली में लिखी गई हैं। किंतु उन

की, साहित्यिक दृष्टि से, हिंदी (फ़ारसी-मिश्रित हिंदुस्तानी), ब्रजभाषा और अवधी की गद्य-रचना से मुश्किल से ही तुलना की जा सकती है।

उन सब सदियों में फ़ारसी-मिश्रित हिंदी ही, न कि संस्कृत-मिश्रित हिंदी, सभ्य समाज की भाषा थी—वह हिंदू समाज हो या मुसलिम। यहाँ तक कि १८७१ में भारतेंदु हरिश्चंद ने अग्रवालों की उत्पत्ति पर अपनी पुस्तक के प्राक्कथन में लिखा था “इन की (अग्रवालों की) बोली—स्त्री और पुरुष सब की—खड़ीबोली अर्थात् उर्दू है।” जो बात अग्रवाल जाति के विषय में सत्य थी वह उत्तर भारत के और सभी लोगों के विषय में भी सत्य थी।

आधुनिक हिंदी का जन्म

वास्तव में आधुनिक हिंदी का युग उन्नीसवीं सदी के आरंभ से शुरू होता है। मुंशी सदासुखलाल नियाज़ ने ईस्ट इंडिया कंपनी की नौकरी से पेन्शन लेने के बाद जब इलाहाबाद में निवास करना शुरू किया, तब उन्होंने ने श्रीमद्भागवत का स्वतंत्र अनुवाद किया और उसे ‘सुखसागर’ नाम दिया। उसी समय इन्द्या अल्ला खाँ ने ‘रानी केतकी की कहानी’ की रचना की। इस के बाद गिलक्राइस्ट और फ़ोर्ट विलियम कालिज के अँगरेज़ प्रोफ़ेसरो ने सदल मिश्र और लल्लूलाल से हिंदुओं के वास्ते फ़ारसी-मिश्रित हिंदुस्तानी अथवा हिंदी के स्थान पर दूसरा साहित्यिक माध्यम तैयार करने के लिए कहा। ‘हेरिटेज अन्ड इंडिया सीरीज़’ में प्रकाशित ‘हिंदी साहित्य के इतिहास’ में श्री एफ० ई० के० लिखते हैं—“किंतु उर्दू का शब्दकोष ऐसा था जिस में फ़ारसी तथा अरबी भाषाओं के, जिन का संबंध इस्लाम से था, अनेक शब्द ग्रहण कर लिए गए थे। हिंदी भाषा-भाषियों के लिए ऐसी साहित्यिक भाषा का होना जो हिंदुओं को ग्राह्य हो, उचित ही था। ऐसी भाषा उर्दू से फ़ारसी-अरबी के शब्द निकाल कर उन के स्थान पर संस्कृत और हिंदी के शब्द रख कर पैदा कर ली गई।” उन्होंने ने फिर कहा है कि “लल्लूलाल की हिंदी वास्तव में एक नई साहित्यिक भाषा थी।” पंडित चंद्रवर शर्मा गुलेरी ने १९२१ में ‘नागरी-प्रचारिणी पत्रिका’ में प्राचीन हिंदी पर एक लेख-माला लिखी थी। वह कहते हैं—“मेरे कहने का तात्पर्य यह था कि हिंदुओं की रची हुई पुरानी कविता जो मिलती है, वह ब्रजभाषा या पूर्वी वसवाड़ी, अवधी, राजस्थानी, गुजराती आदि ही में मिलती है, अर्थात् ‘पड़ी बोली’ में पाई

जाती है। खड़ीवोली या पक्की वोली या रेख्ता या वर्तमान हिंदी के आरम्भ-काल के गद्य और पद्य को देख कर यही जान पड़ता है कि उर्दू रचना में फ़ारसी-अरबी तत्सम या तद्भव शब्दों को निकाल कर संस्कृत या हिंदी तत्सम और तद्भव रखने से हिंदी बना ली गई है।" एम० जूल्ज़ ब्लाक ('मराठी भाषा का निर्माण' नामक पुस्तक के लेखक) ने श्री के और पंडित गुलेरी के मत का समर्थन किया है। उन के अनुसार "लल्लूलाल ने डाक्टर गिलक्राइस्ट के कहने से 'प्रेमसागर' लिख कर इस प्रथा को बदल दिया। क्योंकि उस के गद्य-भाग प्रायः उर्दू में ही हैं, जिन में से फ़ारसी के शब्दों को निकाल कर भारतीय आर्य शब्द रख दिए गए हैं। नई भाषा हिंदुओं की आम भाषा बन गई।"

कुछ नए हिंदी-लेखकों ने हिंदी की उत्पत्ति के विषय में इस मत का विरोध किया है, लेकिन जहाँ तक मुझे मालूम होता है उन के विरोध का अधिक समर्थन नहीं हुआ है। मुझे तो ऐसा मालूम होता है कि आधुनिक हिंदी (संस्कृत-मिश्रित हिंदुस्तानी) की उत्पत्ति और विकास के अध्ययन से हम केवल एक निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं—वह यह कि यह भाषा केवल १३५ वर्ष पुरानी है, और शायद उतनी भी नहीं, क्योंकि यद्यपि सद्गल मिश्र और लल्लूलाल ने आधुनिक हिंदी का श्रीगणेश किया, किंतु वह वास्तविक श्रीगणेश न था क्योंकि हिंदी पर फिर अंधकार के दिन आए और वह अंधकार १९५७ के ग़दर तक दूर न हुआ। उस अंधकार को राजा शिवप्रसाद, राजा लक्ष्मणसिंह, बाबू हरिश्चंद्र आदि ने सदैव के लिए दूर किया और आधुनिक हिंदी साहित्य के युग का आरंभ किया।

ग़लतफ़हमी को दूर करने के लिए मैं निम्न-लिखित निष्कर्षों को पेश करता हूँ और मुझे विश्वास है कि उन्हें भाषा को शास्त्रीय रूप से अध्ययन करनेवाले ठीक मानेंगे—

(१) भारतीय आर्यवर्ग की पूर्वी भाषा मगही का साहित्य आठवीं सदी से शुरू होता है, जैसा कि श्री राहुल सांकृत्यायन ने दिखलाया है।

(२) उसी वर्ग की पश्चिमी भाषा, राजस्थानी, में बारहवीं से उन्नीसवीं सदी तक बहुत बड़ा साहित्य है, लेकिन अब वह साहित्यिक भाषा नहीं रह गई है।

(३) उसी वर्ग की दूसरी पश्चिमी भाषा, ब्रजभाषा, भी पंद्रहवीं से उन्नीसवीं सदी तक खूब संपन्न रही है। आधुनिक हिंदी के विकास के बाद वह गद्य-भाषा नहीं रह गई और अब पद्य-भाषा के रूप में भी क्षेत्र से हटती जा रही है।

(४) उन्नीसवीं सदी की पूर्वी भाषा, अवधी, पंद्रहवीं सदी में एक प्रमुख भाषा बन गई

लेकिन उसे ब्रजभाषा के समान लोकप्रियता नहीं हासिल हुई । अब वह साहित्यिक भाषा नहीं रह गई है ।

(५) चौदहवीं से उन्नीसवीं सदी तक पश्चिमी और पूर्वी हिंदी की अन्य शाखाएँ साहित्यिक माध्यम बनीं, लेकिन अब उन सब का प्रयोग समाप्त हो गया है ।

(६) खड़ीबोली या हिंदुस्तानी के दो साहित्यिक रूप हैं । पहले के रूप का नाम उस भाषा का प्रयोग करनेवालों ने हिंदी रखा और अब उसे उर्दू कहा जाता है । चौदहवीं सदी से आज तक का उस का अटूट इतिहास है । दूसरे रूप का नाम आधुनिक हिंदी है । साहित्य के लिए इस का प्रयोग उन्नीसवीं सदी के प्रारंभ में हुआ और ग़दर के बाद से उस ने तेज़ी से उन्नति की है ।

हिंदी, उर्दू और हिंदुस्तानी का पारस्परिक संबंध

एक ओर ग़लतफ़हमी हिंदी, उर्दू और हिंदुस्तानी के पारस्परिक संबंध के विषय में है । किसी को इस विषय में संदेह न होना चाहिए कि वास्तव में तीनों नाम एक ही भाषा के लिए हैं । भाषाओं के पारस्परिक संबंध को जानने के लिए यह आवश्यक होता है कि निम्नलिखित बातों को ध्यान में रख कर उन का तुलनात्मक अध्ययन किया जाय—

(१) ध्वनि-संबंधी विशेषताएँ ।

(२) व्याकरण अथवा शब्द-विन्यास की विशेषताएँ ।

(३) शब्द-कोष ।

इन तीनों में भी पहली दो बातें विशेष महत्व रखती हैं, और तीसरी का महत्व साधारण है । भाषाविज्ञान के सभी लेखक इस बात को मानते हैं कि भाषा में स्थायी चीज़ उस का व्याकरण होता है, जिस का यद्यपि समय के साथ कुछ रूपांतर होता रहता है किंतु वह असंलियत में अद्युष्ण रहता है । ध्वनि-संबंधी विशेषताएँ भी यद्यपि व्याकरण की भांति स्थायी नहीं होतीं किंतु फिर भी वे काफ़ी स्थिर होती हैं । लेकिन भाषा का शब्द-कोष तरह-तरह की रुचियों पर निर्भर रहता है । ए० मेथीए जो आज भाषा-संबंधी सर्व-प्रमुख विद्वानों में से हैं, कहते हैं—

“उच्चारण और व्याकरण के क्रम स्थायी हैं, इन क्रमों के सारे अंग एक दूसरे से जुड़े रहते हैं । ध्वनि और विन्यास के क्रम बाहरी प्रभावों को सहज में नहीं अपनाते

इस के विपरीत शब्दकोष का कोई नियत क्रम नहीं। ज्यादा से ज्यादा उस के बारे में यह कह सकते हैं कि शब्दों के छोटे-छोटे वर्ग होते हैं। सच तो यह है कि प्रत्येक शब्द का अपना पृथक् अस्तित्व होता है। इस प्रकार भाषा की मर्यादा को कायम रखने की इच्छा अर्थात् समय के परिवर्तन के बावजूद भाषा के व्यक्तित्व को बचाए रखने की इच्छा ध्वनि और विन्यास द्वारा ही सफल होती है।”

फ़ारसी में यद्यपि अरबी शब्दों की भरमार है, किंतु फिर भी वह सेमेटिक भाषाओं के कुटुंब से पृथक् आर्यवर्ग में शामिल है। यद्यपि अंगरेजी पर लैटिन का प्रभाव बहुत काफ़ी मात्रा में है किंतु फिर भी उस की गिनती ट्यूटन कुटुंब में ही बनी हुई है। ऐंग्लो-सैक्सन शब्दों की तरजीह देनेवालों और जीनसन के अनुयायियों (लैटिन शब्दों का अधिक प्रयोग करनेवालों) की दो झूलियों के कारण अंगरेजी दो भाषाओं में विभक्त नहीं हो गई है। इतनी दूर न जाकर अपने देश की भाषाओं पर दृष्टि डालें तो देखेंगे कि सिंधी और पंजाबी में भी यही सिद्धांत काम करता दिखाई देता है। इन दोनों भाषाओं ने फ़ारसी और अरबी से काफ़ी शब्द लिए हैं, किंतु अपने ध्वनि और विन्यास-संबंधी नियमों के नाते वे भारतीय आर्यभाषाएँ हैं। शब्दकोष तो इतिहास, घटना-चक्र आदि पर निर्भर रहता है, जिस का उदाहरण गत महायुद्ध से मिल सकता है। युद्ध के समय इंग्लैंड में उच्च घरानों ने जर्मन नामों को हटा कर अंगरेजी नाम धारण किए; इस प्रकार इंग्लैंड के वाद-शाह के घराने का नाम हैनोवर के बजाय विंडसर पड़ा। फ़्रेंच भाषा में, जो वैदेशिक शब्दों के विषय में सदैव सतर्क रहती है, अंगरेजी शब्द जैसे 'जेंटिलमैन' और 'स्पोर्ट' प्रवेश कर गए। रूस में शहरों के वाद आनेवाला शब्दांश 'वर्ग' हटा दिया गया, और उस के स्थान पर स्लाव लोगों का 'ग्राड' जोड़ दिया गया। इस प्रकार सेंट पीटर्सबर्ग का नाम पेट्रोग्राड हो गया, और जब भाग्य-चक्र ने पीटर्स के घराने को तबाह कर दिया तो पेट्रोग्राड का नाम लेनिनग्राड पड़ गया। ऐतिहासिक घटनाएँ, राष्ट्रीय आकर्षण और राष्ट्रीय विद्वेष तथा अन्य सामाजिक कारणों से शब्द-कोष सदैव प्रभावित होता रहता है।

इन सिद्धांतों को ध्यान में रखते हुए हम किस निर्णय पर पहुँचते हैं? हिंदी, उर्दू और हिंदुस्तानी का ध्वनि-समूह एक है। तीनों में निम्नलिखित तीन तरह की ध्वनियाँ मौजूद हैं—प्राचीन भारतीय आर्यभाषा के स्वर और व्यंजन, अर्वाचीन भारतीय भाषा के स्वर और व्यंजन तथा सेमेटिक भाषाओं की कुछ ध्वनियाँ। इस बात को कभी-कभी

थोड़ी-सी हिचकिचाहट के साथ, व्याकरण के आचार्य मानते हैं। उदाहरणार्थ देखिए पंडित कामताप्रसाद गुरु का 'हिंदी-व्याकरण', डाक्टर धीरेंद्र वर्मा का 'हिंदी भाषा का इति-हास', और मौलवी अब्दुल हक का 'क्रवायदे-उर्दू'। ध्वनि-क्रम के अनुसार हिंदी, उर्दू, हिंदुस्तानी एक हैं, किंतु अन्य आर्य और सेमेटिक भाषाओं, जैसे संस्कृत, व्रजभाषा, अवधी, फ़ारसी और अरबी, से भिन्न हैं।

इन तीनों का व्याकरण भी करीब-करीब एक-सा ही है। ग्रियर्सन साहब लिखते हैं कि "उर्दू और हिंदी में इस्तेमाल होनेवाली क्रिया और संज्ञा के रूपांतरों में भी कोई खास फ़र्क नहीं है।"

'आधुनिक आर्य-भाषाओं का तुलनात्मक व्याकरण' में जॉन वीम्स लिखते हैं :— "जब दोनों भाषाओं के व्याकरण में कोई विशेष अंतर नहीं, तब उर्दू और हिंदी को दो भिन्न भाषाएँ बतलाना यह जाहिर करता है कि लोगों को व्याकरण के प्रश्न पर तथा भाषा-विज्ञान के सिद्धांतों के बारे में बड़ी गलतफ़हमी है।"

शब्दकोष का अंतर

शब्दकोष की दृष्टि से इन भाषाओं में पूरी समानता नहीं है। किसी भाषा में एक तो भाषा में बोले जानेवाले तद्भव शब्द होते हैं, दूसरे अन्य भाषाओं से लिए गए बाहरी शब्द होते हैं, और तीसरे नए बनाए हुए शब्द होते हैं। जहाँ तक उर्दू और हिंदी से संबंध है, दोनों में प्रथम कक्षा के बहुत-से समान शब्द हैं, उदाहरणार्थ सब क्रियाएँ, सर्वनाम, बहुत से अव्यय आदि एक हैं।

फिर जहाँ तक संज्ञाओं और विशेषणों का प्रश्न है, दोनों ने संस्कृत, प्राकृत, फ़ारसी, अरबी तथा अन्य भाषाओं से शब्द उधार लिए हैं। इस प्रकार कितने बाहरी शब्द लिए गए, यह ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इस दृष्टि से पूर्ण वैज्ञानिक ढंग पर बनाए गए शब्द-कोष अभी नहीं मिलते। 'फ़रहंगे-आसफ़ीया' नामक प्रसिद्ध शब्दकोष के संकलन-कर्ता मुन्शी सैयद अहमद देहलवी ने अपने संगृहीत शब्दों का विरलेपण किया है। कुल शब्दों की तादाद ५०००९ है, जिन में से अरबी से लिए गए शब्द ७५८४, फ़ारसी से लिए गए ६०४१, संस्कृत से ५५४, अँगरेज़ी से ५०० और अन्य भाषाओं से लिए गए शब्द १८१ हैं। बाक़ी तद्भव शब्द हैं। नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा संगृहीत 'हिंदी

शब्द-सागर' के पृष्ठों को यदि उलट कर देखें तो हमें मालूम होगा कि उन ७५८४ अरबी और ६०४१ फ़ारसी के शब्दों में प्रायः सब उस हिंदी शब्द-कोष में मौजूद हैं। अब साफ़ जाहिर हो जाता है कि जहाँ तक बाहरी शब्दों से ताल्लुक है वहाँ भी हिंदी और उर्दू में इतना अधिक अंतर नहीं, जैसा कि कुछ लोगों का खयाल है। जहाँ तक उपसर्ग और प्रत्यय से बने हुए शब्दों से ताल्लुक है मालूम होता है कि इन में भी बहुत कुछ समानता है।

यहाँ तक तो हम ने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि हिंदी और उर्दू के शब्द-कोष में समानता है, पर यह भी जान लेना जरूरी है कि दोनों में विभिन्नता भी है, और वह विभिन्नता बहुत बड़ी है, और यदि उस की तरफ़ ध्यान न दिया जाय तो उस के बहुत बड़ जाने की संभावना है। हिंदी और उर्दू के लेखक दो दलों में विभक्त हैं। एक दल तो प्राचीन भाषाओं से तत्सम शब्दों को अधिकाधिक संख्या में लेने को उत्सुक रहता है, और दूसरा दल उस संख्या को सीमित रखना चाहता है। हिंदी और उर्दू के पहले दल वाले एक ही सी दलीलें पेश करते हैं। उदाहरणार्थ हिंदी के कुछ लेखक संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग करने में और फ़ारसी तथा अरबी शब्दों का वहिष्कार करने में निम्न-लिखित दलीलें पेश करते हैं—

(१) हिंदी भारतीय आर्यभाषा है और उस का बँगला, मराठी, गुजराती आदि उसी वर्ग की भाषाओं से घनिष्ठ संबंध है। इस लिए यह स्वाभाविक ही है कि ये सब भाषाएँ संस्कृत भाषा से अपने शब्द लें क्योंकि संस्कृत से उन का जन्म हुआ है। जितने ही अधिक तत्सम शब्दों का प्रयोग होगा और जितने ही अधिक संस्कृत मूलों का प्रयोग किया जायगा उतना ही अधिक ये सब प्रांतीय भाषाएँ निकट आती जायेंगी और हिंदी की लोक-प्रियता बढ़ेगी। इस प्रकार हिंदी अखिल-भारतीय भाषा बन सकेगी।

(२) शब्दों में एक विदेशी सांस्कृतिक वातावरण हुआ करता है। संस्कृत शब्दों में प्राचीन भारतीय संस्कृति की छलक मौजूद है, जब कि फ़ारसी और अरबी के शब्दों में विदेशीपन टपकता है। इस लिए किसी भी भारतीय भाषा में संस्कृत शब्दों का समावेश फ़ारसी तथा अरबी शब्दों के समावेश से ज्यादा अच्छा होगा।

इन दलीलों में सार है। यही नहीं, इन में हृदय को प्रभावित करने की क्षमता है। इस लिए इन तर्कों का सावधानी के साथ अध्ययन करना होगा।

जो लोग अरबी के शब्दों के लेने के पक्ष में हैं, वे भी इसी तरह की दलीलें पेश करते

हैं। इन के मतानुसार अरबी एक बहुत बड़े संप्रदाय की धर्म-पुस्तकों की भाषा है और उस में उन की परमप्रिय परंपराओं का समावेश है। इस के साथ अरबी एक जीवित भाषा है जिस में तेजी के साथ पाश्चात्य वैज्ञानिक प्रभावों का समावेश हो रहा है, और इसी लिए अरबी द्वारा आधुनिक विचार-धारा के अनुसार प्रयुक्त होनेवाले शब्द आसानी से मिल सकते हैं। सारे भारतवर्ष में अरबी धार्मिक संप्रदाय में काफ़ी पढ़ी जाती है, और उस की ध्वनियों से तथा उस के शब्दों से काफ़ी लोग परिचित हैं। खड़ीबोली या हिंदुस्तानी पर इस का काफ़ी प्रभाव पड़ा है, जिस के सबूत में खड़ीबोली का व्याकरण या उस की ध्वनियों तथा उस की शब्दावली को पेश किया जा सकता है। पहले भी सूरदास ऐसे ब्रजभाषा के तथा तुलसीदास ऐसे अवधी के महान कवियों ने अपनी कविताओं और गीतों में अरबी शब्दों का प्रयोग करने में आपत्ति नहीं की; और कवियों ने हजारों ऐसे शब्द भाषा में सम्मिलित कर लिए जो 'शब्दसागर' में देखे जा सकते हैं। इन तर्कों के सार में कोई अविश्वास नहीं कर सकता। लेकिन इन पर ध्यान से विचार करने के बाद इसी निर्णय पर आना पड़ता है कि इन दोनों के बीच का रास्ता ही ठीक होगा। हिंदुस्तानी में संस्कृत शब्दों के प्रयोग के खिलाफ़ आवाज़ उठाने वालों में जे० वीम्स और सर जी० ए० ग्रिअर्सन की कोटि के प्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान् ही नहीं बल्कि राजा शिवप्रसाद, पंडित बालकृष्ण भट्ट, पंडित गिरिधर शर्मा, पंडित पद्मसिंह शर्मा और पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय जैसे हिंदुस्तानी विद्वान् भी मौजूद हैं।

यहाँ पर मैं केवल पंडित गिरिधर शर्मा की सम्मति उद्धृत करता हूँ—“संस्कृतमय बना कर आपने बंगाल, महाराष्ट्र आदि में हिंदी का प्रचार शीघ्र कर लिया, किंतु वह केवल शिक्षितों की भाषा बन गई। सर्वसाधारण उसे बिलकुल न समझ सके तो क्या लाभ हुआ? लाभ क्या, बड़ी हानि हो गई। हिंदी भाषा में हिंदी भाषा के शब्द ही प्रथम लेने चाहिए, फिर जब उन से आवश्यकता पूरी न हो तब संस्कृत भाषा से सरल शब्द लेने चाहिए।”

दूसरी ओर सैयद हुसैन बिलग्रामी, मौलवी वहीदुद्दीन सलीम और मौलवी अब्दुल हक ऐसे विद्वानों ने अरबी के पक्षपातियों के जोश को कम करने की कोशिश की है। मौलवी वहीदुद्दीन ने 'बज़ए-इस्तिलाहात' नामक किताब में कहा है—“हम को इस बोझ से बचना चाहिए और हिंदी ज़वान के अलफ़ाज़ व हक्क से, जो हमारी ज़वान की

फ़ितरत में दाखिल हैं, नाक भी चढ़ाना नहीं चाहिए। हम जिस तरह अरबी और फ़ारसी से इसतलाहात लेते हैं, इसी तरह हिंदी से भी वेतकल्लुफ़ वाजे इस्तलाहात में काम लेना चाहिए।”

पड़ोसियों के बीच भेद की दीवारें

दुर्भाग्यवश ये वर्ग एक दूसरे से पृथक्-पृथक् काम कर रहे हैं और इस लिए उन की सलाह और चेतावनी पर ध्यान नहीं दिया गया। इस का फल यह हुआ है कि हिंदी और उर्दू शिक्षितों की भापाएँ बनती जा रही हैं, और बोलचाल की भाषा से दूर हटती चली जा रही हैं। पड़ोसियों के बीच वे भेद की दीवारें खड़ी करती जा रही हैं, जब कि चाहिए यह था वे उन के पारस्परिक संपर्क को बढ़ाने के लिए एक माध्यम बनतीं। उन की उपादेयता कम होती जा रही है और उन की लोकप्रियता भी घटती जा रही है।

सांस्कृतिक कारणों के आधार पर दिए जानेवाले तर्कों के महत्व को अवश्य बढ़ा दिया गया है। संस्कृति हमारे आध्यात्मिक, नैतिक, सामाजिक तथा कला-संबंधी विचारों पर निर्भर रहती है। ये विचार एक अंश में मनुष्य के प्रकृति की शक्तियों के विरुद्ध युद्ध करने से पैदा होते हैं। उस संघर्ष के द्वारा ही मानव-समाज अपने जीवन के उपाय करता है; और दूसरे अंश में उन विचारों की उत्पत्ति मनुष्य के आंतरिक संघर्ष से होती है, जिस के द्वारा उस की मनोवृत्तियों का एकीकरण होता है। इस प्रकार भौतिक और मानसिक कारणों से संस्कृति पैदा होती है। इस लिए संस्कृति एक ओर प्रादेशिक होती है, जैसे फ़्रेंच, अँगरेजी, चीनी, फ़ारसी इत्यादि और दूसरी ओर वर्गों के हिसाब से, जैसे कुलीन और धनी लोगों की संस्कृति, मध्यश्रेणी के लोगों की संस्कृति और मजदूर तथा किसानों की संस्कृति। हम भारतीय संस्कृति कह सकते हैं, किंतु क्या उर्दू संस्कृति और हिंदी संस्कृति कहना अर्थ-संगत होगा? उर्दू अर्थात् फ़ारसी-मिश्रित हिंदुस्तानी का पहले भी हिंदुओं के धार्मिक विचारों का प्रचार करने के लिए प्रयोग होता आया है। आज भी उस का इस उद्देश्य से प्रयोग हो रहा है, और जहाँ तक अनुमान होता है भविष्य में भी उस का प्रयोग इस लिए होता रहेगा। इसी प्रकार हिंदी मुसलमानों के लिए उपयोगी सिद्ध होती आई है, और क्यों न हो? जब चीनी, फ़ारसी, पदतो, जावानी, अवधी, बँगला और अरबी से कुछ भी संबंध न रखने वाली ऐसी ही अनेक भाषाओं का प्रयोग मुसलमानों

के धार्मिक विचारों को प्रकट करने के लिए हो सकता है, तब फिर हिंदुस्तानी में संस्कृत के कुछ शब्दों के प्रयोग से धर्म पर क्या आफ़त बरपा-हो सकती है ?

भारतीय संस्कृति आधुनिक विकास की चीज़ है, जिस के विकास में इस महान देश में रहने वाली प्रत्येक जाति का कुछ न कुछ हिस्सा है। उस संस्कृति के आदर्श राष्ट्रीय हैं जो प्रांत, जाति और संप्रदाय की संकीर्णताओं से परे हैं। जिन भौतिक और सामाजिक अवस्थाओं में इस संस्कृति का जन्म हो रहा है वे पहले जैसी नहीं हैं, और हमारे आंतरिक तथा बाहरी संघर्ष भी पहले जैसे नहीं हैं। पुराने विचार बदल रहे हैं, और आवश्यकता अब एक नई व्याख्या और नई अभिव्यक्ति की है। समान संस्कृति के इस अनुभव की प्रेरणा से ही भारतवर्ष के साहित्य का निर्माण होना चाहिए, साहित्य की भाषा तमिल, तेलुगू, गुजराती, बँगला, मराठी या हिंदुस्तानी चाहे जो हो।

हम लोगों को उर्दू और हिंदी के विभिन्न सांस्कृतिक वातावरण पर अधिक ध्यान नहीं देना चाहिए, बल्कि हमें उस नीति के परिणामों पर भी ध्यान देना चाहिए जिस के द्वारा निम्न प्रकार से पारिभाषिक शब्द गढ़े जा रहे हैं:—

अँगरेज़ी	हिंदी	उर्दू
एवसिता	भुज	फ़ासला या मक़तूआ
एक्सोल्यूट टर्म	परमपद	रक़म मुतलक़
एक्सेलरेट	गतिवृद्धि करना	इसरए हरकत
एलजबरा	बीजगणित	मजदूरो मुक़ाबला
आल्टरनेटो	एकांतर निष्पत्ति	तबदील
एंटिसिडेंट	पूर्वपद	मुक़द्दम

मैं ने ये शब्द नागरी-प्रचारिणी सभा, बनारस द्वारा प्रकाशित 'पारिभाषिक-कोष' से तथा औरंगाबाद की अंजुमन-ततरक़िए-उर्दू के 'फ़रहंग' से लिए हैं। ये शब्द बीजगणित में प्रयुक्त हुए हैं, और इन से देखा जा सकता है कि इन शब्दों के प्रयोग से हिंदुस्तानी के दोनों रूपों में कितना अधिक अंतर बढ़ता जा रहा है। जब तक हिंदुस्तानियों की शिक्षा अँगरेज़ी माध्यम द्वारा दी जाती थी तब तक इस बात की अधिक चिन्ता न थी कि इन दो भाषाओं में कौन-कौन से पारिभाषिक शब्द थे। पर अब मध्य-श्रेणी की शिक्षा हमारी निजी भाषा के माध्यम से दी जा रही है और शीघ्र ही उच्च शिक्षा भी इसी माध्यम द्वारा

दी जायगी। ऐसी हालत में प्रत्येक अँगरेजी परिभाषा के लिए हिंदी और उर्दू में अलग-अलग शब्द होने से बंगाल को छोड़ सारे उत्तरी भारत में एक कठिन प्रश्न उठ खड़ा हुआ है। अगर हिंदी और उर्दू के विद्यार्थियों को एक-दूसरे के शब्द समझ में नहीं आते तो इस का नतीजा यह होगा कि स्कूलों में दुहरी शिक्षा हो जायगी, जिस के कारण या तो खर्च बढ़ जायगा और या शिक्षा दोषयुक्त हो जायगी। यूनीवर्सिटियों में यह मुसीबत और भी भीषण रूप धारण करेगी। शोध, अध्ययन तथा शिक्षा-प्रचार की समस्याएँ जटिल हो जायँगी। प्रश्न यह होगा कि या तो प्रत्येक यूनिवर्सिटी में अध्यापकों के दो दल रखे जायें या प्रत्येक केंद्र में दो यूनीवर्सिटियाँ खोली जायें जिन में उर्दू और हिंदी में पृथक्-पृथक् शिक्षा दी जाय।

सरकारी दफ्तरों की तथा व्यवस्थापिका सभाओं की भाषा क्या होगी? यह प्रश्न पंजाब में आज उठ खड़ा हुआ है, और शीघ्र ही युक्तप्रान्त, बिहार और दिल्ली में भी उठ खड़ा होगा। इन के अतिरिक्त सार्वजनिक शिक्षा तथा आमोद-प्रमोद के साधनों, रेडियो, सिनेमा, नाटकों के भी सवाल उठते हैं। फिर प्रांतीय व्यापार-व्यवहार के लिए अँगरेजी के स्थान पर कौन-सी भाषा आएगी? क्योंकि यह तो सब मानते हैं कि अँगरेजी से निकट भविष्य में यह काम न चल सकेगा।

यह बड़े खेद की बात है कि अपनी भाषा में दूसरी भाषाओं के शब्दों को न अपनाने के कारण एक ही भाषा के दो विभागों में बहुत बड़ा अंतर होता जा रहा है और उस के कारण व्यावहारिक, शिक्षा-संबंधी तथा शासन-संबंधी समस्याएँ अधिक से अधिक जटिल होती जा रही हैं।

जैसा कि मैं ने पहले ही दिखलाने की कोशिश की है, हिंदुस्तानी बनावटी भाषा नहीं है। हजार साल से यह स्वतंत्र भाषा के रूप में चली आ रही है। इस में बहुत अधिक साहित्य भी है, क्योंकि दक्षिण में गद्य या पद्य में जो कुछ भी लिखा गया है, उस में से बड़े हिस्से को मैं हिंदुस्तानी में ही शामिल समझता हूँ। उत्तर में भी विदेशों की नक़ल करने वालों का जोर होते हुए भी बहुत-सा साहित्य सीधी-सादी रोजमर्रा की ख़वान में लिखा मिलता है। इस के उदाहरण किसी भी समय के दीवानों में मिल सकते हैं। हाली के 'मुनाजात-ए-बेवा' और 'बरखा रत' ऐसी उर्दू के उदाहरण हैं जो कि भाषा और मुहावरों दोनों में पूर्णरूप से हिंदुस्तानी नज़र आने योग्य हैं। आधुनिक हिंदी में भी ऐसा साहित्य

मौजूद है, जो बताता है कि हिंदुस्तानी किस तरह लिखी जाय। इस स्थान पर केवल एक लेखक का नाम लूंगा। लेकिन वह लेखक आधुनिक हिंदी साहित्य के इतिहास में रचनात्मक कलाकारों में अद्वितीय है। मेरा मतलब मुन्शी प्रेमचंद से है।

अंतर को दूर करने का उपाय

वात वास्तव में यह है कि साहित्य में आधुनिक हिंदी और उर्दू, हिंदुस्तानी की केवल दो शैलियाँ हैं और वैज्ञानिक ग्रंथों में अंतर केवल उद्धृत शब्दों में पड़ता है। मेरा मत है कि इस अंतर को हटाना असंभव नहीं है। केवल इस के लिए प्रबल इच्छा की आवश्यकता है। मेरा दृढ़ मत यह है कि अंतर को दूर करना चाहिए; और मैं उन लोगों के विचार के लिए, जो दोनों भाषाओं का अंतर दूर करना चाहते हैं, कुछ तजवीजें पेश करता हूँ:—

(१) यह प्रयत्न किया जाय कि उर्दू बोलनेवाले आधुनिक हिंदी पढ़ें और हिंदी बोलनेवाले उर्दू पढ़ें।

(२) उर्दू और हिंदी के प्रसिद्ध लेखकों द्वारा व्यवहृत शब्दों का एक कोप बनाया जाय।

(३) हिंदी और उर्दू के ध्वनि, विन्यास आदि से संबंध रखनेवाले नियमों को एकत्र कर के आधुनिक परिपाटी में एक व्याकरण की रचना की जाय।

(४) हिंदी और उर्दू के लेखकों के व्यवहार के लिए पारिभाषिक शब्दों का एक कोप बनाया जाय।

(५) अनुवादकों के लिए एक अँगरेज़ी-हिंदुस्तानी कोप बनाया जाय।

(६) सरल हिंदी तथा उर्दू में लिखे हुए गद्य और पद्य के संग्रह निकाले जायें।

इन में से कुछ बातें व्यक्तियों तथा संस्थाओं द्वारा की जा सकती हैं, लेकिन इन में से कुछ के लिए सरकार की सहायता की आवश्यकता पड़ेगी। उदाहरणार्थ स्कूलों में हिंदी और उर्दू की शिक्षा शिक्षा-विभाग द्वारा ही प्रचलित कराई जा सकती है। पारिभाषिक शब्दों का कोप, जहाँ ये दोनों भाषाएँ प्रचलित हैं, उस क्षेत्र के विद्वानों के मतैक्य के बिना संभव नहीं। चूँकि इस प्रश्न से कई प्रांतों और रियासतों के शिक्षा-कार्य का संबंध है, इस लिए इन जगहों की सरकारों के बिना यह समस्या हल नहीं हो सकती। लेकिन व्यावहारिक आवश्यकता को देखते हुए इन सरकारों का हस्तक्षेप उचित ही होगा। फ़्रांस

की एकेडेमी जैसी जिम्मेदार संस्था की अनुपस्थिति में एक कमेटी ही बना दी जाय जिस में सरकार के, विश्वविद्यालय के, साहित्यिक तथा वैज्ञानिक संस्थाओं के प्रतिनिधि शामिल किए जायें, जो कि इन समस्याओं पर विचार कर के एक क्रियात्मक उपाय निकालें और पारिभाषिक शब्दों की समस्या को हल कर सकें।

अगर वैज्ञानिक तथा पारिभाषिक शब्दों पर कोई समझौता हो गया, तो हिंदी और उर्दू के झगड़े की जड़ कट जायगी और एक ही स्थान में दो भाषाओं की उपस्थिति से जो कठिनाइयाँ पैदा हो गई हैं वे दूर हो जायेंगी। तब हिंदी और उर्दू का अंतर मिट जायगा और भाषा और साहित्य का ऐक्य स्थापित हो सकेगा।

भारतीय चित्रकला के सौ वर्ष

(१८३७-१९३७)

[लेखक—श्रीयुत रामचंद्र टंडन, एम्० ए०, एल्-एल्० बी०]

सन् १८३७ दिल्ली के अंतिम और कठपुतले मुगल बादशाह बहादुर शाह द्वितीय के राज्यारोहण का वर्ष है। इस तिथि से जिस सदी का आरंभ हुआ, और जिस का दूसरा छोर आज तक पहुँचता है, वह क्या राजनीति के क्षेत्र में, क्या सामाजिक तथा धार्मिक जीवन में, और क्या शिक्षा और कला में, एक अत्यंत महत्वपूर्ण सदी रही है। यह संभव नहीं कि पिछले सौ वर्षों में हमारे देश के जीवन तथा इतिहास में जो घोर परिवर्तन उपस्थित हुए हैं, उन का कतिपय पंक्तियों में व्योरा दिया जा सके, अथवा उन की दिशा ही बताई जा सके। बहुत मोटे ढंग से यह कहा जा सकता है कि इस काल में राजनीतिक क्षेत्र में देशी शासकों का क्रमागत ह्रास रहा, ब्रिटिश साम्राज्य ने देश में विस्तार पाया और दृढ़ता ग्रहण की, और फिर लोकमत के प्रभाव से इस ने स्वराज्य की भावनाओं की भी अपेक्षा की। सामाजिक क्षेत्र में पुरानी व्यवस्था का क्षिणिल पड़ना, पाश्चात्य का प्रभाव और तदनंतर आत्मसम्मान की लहर का उठना देखा जाता है। इसी प्रकार से धार्मिक जीवन में एक ह्रास का युग लक्षित होता है, जिस में कट्टरता की वृद्धि के साथ पुरोहितों का आतंक रहता है, फिर देश में शासकों के धर्म के प्रचार का प्रयत्न होता है, और पुनः धार्मिक सुधारकों का प्रादुर्भाव होता है, जो धर्म की संकीर्णता से रक्षा कर के उसे बुद्धिवादिता की नींव पर बिठाने का प्रयत्न करते हैं। शिक्षा के क्षेत्र में हम पुरानी विद्याओं का ह्रास देखते हैं, तदनंतर देश पर पाश्चात्य शिक्षा-प्रणाली का जूआ पड़ता है, और क्रमशः इस शिक्षा-प्रणाली के भीतर से भी अपने प्राचीन ज्ञान तथा साहित्य के लिए सम्मान का उदय होता है। इस प्रकार से यह मान्न होगा कि हमारे जातीय जीवन के विविध विभागों में तीन भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ आती हैं—ह्रास की, पाश्चात्य

के आतंक की, और आत्मसम्मान अथवा पुनरुद्धार की। किसी भी विभाग में पुनरुद्धार की प्रवृत्ति पूर्णतया सफलता नहीं प्राप्त कर सकी है, परन्तु उस के चिह्न स्पष्ट हैं। इस काल में हमारी कला के इतिहास में भी यही तीन अवस्थाएँ बीती हैं, और उस ने भी अन्य क्षेत्रों की प्रवृत्तियों को प्रतिबिंबित किया है। इस लेख में इन सौ वर्षों की भारतीय चित्रकला की प्रगति का केवल संक्षिप्त विवेचन किया जायगा।

उन्नीसवीं सदी के आरंभ में चित्रकला की जिन दो शैलियों का क्रम देश में चला आ रहा था वह 'मुगल' और 'राजपूत' शैलियाँ थीं। इन में से पहली शैली को सदा राज-दरबार तथा उमरावों का आश्रय मिलता रहा था। इस का ऐश्वर्य-काल तो व्यतीत हो चुका था। इस शैली में अच्छा से अच्छा काम जो कुछ हुआ है वह औरंगजेब के समय से पूर्व ही हो चुका था। औरंगजेब के समय में कलाओं को प्रोत्साहन न मिला, यहाँ तक कि दरबारी चित्रकार जीविका तथा आश्रय की खोज में अन्य छोटे-छोटे दरबारों में जाने लगे थे। फिर भी औरंगजेब के उत्तराधिकारियों के समय में जो चित्र रचे गए उन की संख्या भी पर्याप्त है और कला की दृष्टि से भी वे खरे उतरेंगे। परन्तु ज्यों-ज्यों मुगल वाद-शाहों के पराक्रम में ह्रास होता गया त्यों-त्यों ह्रास इस कला में भी हुआ, यहाँ तक कि चित्रकारों में प्रेरणा और सृजन-बुद्धि का प्रायः लोप होता गया और उन की कृतियों का आधार पुरानी परंपरा का अनुकरण मात्र रह गया। शहीदों के अंकन में पुराने मुगल चित्रकारों ने विशेषता प्राप्त की थी। सन् १८३७ में जो शिली रह गए थे वह प्रायः एकमात्र शहीदों के चित्रण में लगे थे। दिल्ली में स्थित चित्रकारों की अपनी विशेष शैली बन गई थी और यह शैली 'दिल्ली क्लम' के नाम से प्रसिद्ध है। चित्रकार नक़ल करने मात्र की योग्यता रखने लगे थे। उन के वंशज प्रायः संपूर्ण उन्नीसवीं शताब्दी में वही धंधा करते रहे। आज से पचास वर्ष पहले तक दिल्ली में हाथीदाँत पर जो वारीक चित्रकारी हुआ करती थी, उस में भी हमें इन चित्तरों के हस्त-कौशल का उदाहरण प्राप्त होता है। यह चित्रकार रंगों के विधान में, और चित्रांकन में प्राचीन परिपाटी के ही अनुयायी थे। अब भी कुछ मुसलमान परिवार अपने पुरतैनी बंधे में लगे हुए हैं। इन की पट्टा केवल नक़ल करने की पट्टा है और इन के चित्रों की खपत अधिकांश पर्यटक संग्राहकों में होती है। चूंकि यह अपने चित्र अधिकांश पुराने कागज़ों पर बनाते हैं, इस लिए यह अपनी नई कृतियों को पुरानी कह कर अच्छे दामों में निकाल

देते हैं। फिर भी इन व्यवसायियों के सामने कठिन समय है। इन पंक्तियों का लेखक इस वर्ग के कतिपय चित्रकारों से परिचित है। नक़ल करने का इन में अद्भुत कौशल है, परन्तु इस कला को वास्तव में कला का आसन नहीं दिया जा सकता।

ह्रास की वही कहानी हमें उन चित्रकारों की कृतियों में भी मिलती है जो लखनऊ में जा कर बस गए थे। ये यह भी 'मुग़ल'-परंपरा के चित्रकार। इन्होंने अवध के नवाबों के यहाँ आश्रय ग्रहण किया था। अठारहवीं सदी के अंत के लगभग के लखनऊ के चित्रों में हमें पुनरुद्धार के लक्षण दिखाई पड़ते हैं। अवध के नवाबों की छत्रछाया में कला कुछ पनपती जान पड़ती है, परन्तु यह लक्षण अस्थायी सिद्ध होते हैं और फिर वही क्रमागत ह्रास दिखाई पड़ता है। उन्नीसवीं सदी में, लखनऊ के चित्रकारों पर यूरोपीय शैली के चित्रों का प्रभाव पड़ा। इस समय तक अनेक यूरोपीय चित्र हमारे देश में पहुँच गए थे। इन चित्रों की नक़ल करने के प्रयास में देशी चित्रकारों ने जो चित्र बनाए वह बहुधा हास्यास्पद हैं। अनेक चित्रकार 'जान कंपनी' के धनी व्यवसायिकों का आश्रय ग्रहण करने लगे और चूँकि यह लोग अपनी शक्ती अंकित करा कर अपने देश में भेजने के लिए बहुत उत्सुक रहा करते थे, इन चित्रकारों को थोड़ा बहुत धंधा मिल जाता था। शक्ती के अंकन में ही इन चित्रकारों की विशेषता थी, और कहीं-कहीं इस में उन्होंने ने अत्यंत कौशल दिखाया है। परन्तु इन चित्रों की इतर सजावट और भड़कीलापन कला के ह्रास के चोतक हैं और शक्ती के चित्रण के कौशल को दबा देते हैं। इस प्रकार की उन्नीसवीं सदी की अनेक कृतियाँ उपलब्ध हैं, जो पूर्व और पाश्चात्य की एक मिश्रित शैली में हैं, जिसे दोगली शैली कहना उपयुक्त होगा। कला की दृष्टि से इन का विशेष मूल्य या महत्व नहीं है। जो कुछ इन का मूल्य है ऐतिहासिक दृष्टि से है। महान् 'मुग़ल' कला का इस प्रकार अधःपतन हो चुका था। अब भी लखनऊ में इने-गिने चित्रकार हैं जो इसी धंधे द्वारा किसी भाँति जीविकोपार्जन करते हैं। यह नई कृतियों की रचना में इतना काम नहीं करते जितना पुरानी कृतियों के जीर्णोद्धार में, और पुरानी कृतियों पर नए रंग लगा कर उन्हें और भी भद्दा बनाने में समर्थ होते हैं।

उन्नीसवीं सदी के अंतिम २५ वर्षों तक 'मुग़ल' शैली की चित्रकला का अभ्यास बिहार में, पटना में भी होता रहा। अवध की भाँति बिहार में भी 'मुग़ल'-परंपरा प्रचलित थी। जिस समय 'मुग़ल' कला का वेग से ह्रास हो रहा था उस समय चित्रकारों

के कुछ कुटुंब हमारे प्रांत से बिहार में जा कर बस गए थे। धीरे-धीरे कुछ स्थानीय विशेषताओं के साथ उन की अलग-सी शैली बन गई जो यद्यपि 'मुगल' शैली का प्रकारांतर मात्र थी, फिर भी पटना कलम कर के प्रसिद्ध हुई। कुछ काल तक तो इन चित्रकारों का धंधा अच्छा चला। उन की कला में अंकन की चतुराई अवश्य थी परंतु उस में निर्जीवता-सी आ रही थी; और लखनऊ कलम की भाँति, वरन् कुछ अधिक मात्रा में, पटना कलम भी, घटिया यूरोपीय चित्रों से प्रभावित हो चुका था। यहाँ भी शबीहों पर ही विशेष ध्यान दिया गया है। यूरोपीय सौदागरों से इन्हें अच्छा काम मिल जाता था और पटना के चित्रकार इन्हीं के आश्रय का बड़ा भरोसा रखते थे। इस चित्रकला के हमें जो उदाहरण प्राप्त होते हैं उन में अंतिम दिनों में एक विचित्र मिश्रित शैली दिखाई पड़ती है जो कि ईस्ट इंडिया कंपनी के समय की कला की एक प्रकार से प्रतीक है। इस शैली का अब लोप हो गया है।

'मुगल' शैली का प्रभाव हमें दकनी चित्रकारों की कृतियों में भी मिलता है। इन की शैली पर भी स्थानीय प्रभाव पड़ा है और वह दकनी कलम के नाम से ज्ञात है। उन्नीसवीं शताब्दी भर इस शैली के चित्रकार अपने धंधे में लगे रहे और आज भी हैदराबाद तथा नेकोंडा में उन के वंशज अपने काम में संलग्न हैं। दकनी कलम 'मुगल' कलम की ही एक प्रशाखा है और यह अनुमान किया जाता है कि या तो औरंगजेब के समय में या उस के अनंतर उत्तर भारत से अनेक चित्रकार आश्रय की खोज में दकन के दरबारों में आ कर बस गए थे क्योंकि दिल्ली में उन्हें आश्रय-दाता न मिलता था। दकन में इस से पूर्व चित्रकला की अपनी परंपरा थी और वहाँ के चित्र ठेठ ईरानी ढंग के होते थे। परंतु दकन के चित्रकारों पर 'मुगल'-परंपरा का प्रभाव हुए बिना नहीं रहा और अठारहवीं तथा उन्नीसवीं सदी में तो वह प्रभाव और भी स्पष्ट है। इन सदियों में औरंगाबाद तथा दौलताबाद में जो चित्र बनते रहे उन पर 'मुगल'-परंपरा की छाप है। इन चित्रकारों के चित्र आकार में किंचित् अपेक्षाकृत छोटे होते। इन चित्रों के विषय प्रायः ऐतिहासिक या अर्ध-ऐतिहासिक होते और बहुत कर के यहाँ भी शबीहों का प्रचार मिलता है। इन शबीहों के विषय दकनी दरबार के विशेष व्यक्तियों से ही लिए जाते। शबीहों के अंकन में चातुरी की कमी नहीं है, परंतु कदाचित् इन में 'ठेठ मुगल' चित्रकारों वगन्ना भाव दर्शन नहीं हो पाया है।

इन प्रमुख केंद्रों से भिन्न, मुगल शैली के चित्रकारों के कुछ वंश उत्तरी हिंदुस्तान

के कतिपय शहरों में यत्र-तत्र बस गए थे और यह स्थानीय प्रतिष्ठित व्यक्तियों के लिए अथवा बाजारू ढंग के चित्रों का आलेखन कर के कालयापन करते थे। परंतु इन चित्रकारों को जीविकोपार्जन में बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता। ऐसे वंशों का विशेष वृत्तांत एकत्र नहीं किया जा सकता। हाल में बनारस के श्री रामप्रसाद ने, जो कि मुगल-परंपरा के अनुयायी हैं, कला-प्रेमी जनता का किंचित् ध्यान आकर्षित किया है।

भारतीय चित्रकला की दूसरी परंपरा—राजपूत शैली—भौगोलिक दृष्टि से दो परस्पर-संबद्ध वर्गों में विभाजित होती है। एक तो पर्वतीय या पहाड़ी शैली है और दूसरी राजस्थानी। पहाड़ी शैली की प्रतिनिधि-स्वरूप चित्रकारी हमें हिमालय की पहाड़ी रियासतों, विशेष कर काँगड़ा प्रदेश में अधिकांश मिलती है; और राजस्थानी शैली के उदाहरण हमें जयपुर तथा राजपूताना की अन्य देशी रियासतों की चित्रकला में मिलेंगे। काँगड़ा की घाटी तथा जयपुर में हमें भारतीय चित्रकला की परंपरा का अनुगमन बराबर मिलेगा।

जयपुर तथा काँगड़ा की शैलियों में भी, जयपुर की शैली में ह्रास के चिह्न पहले लक्षित हुए। कारण कदाचित् यह है कि जयपुर मैदान में है और पहाड़ी प्रदेशों में आवागमन की कठिनाइयों के कारण परंपरा की विशेष रक्षा हो सकी है। उन्नीसवीं सदी में जयपुर शैली में जो चित्र लिखे गए उन में रचनात्मक भाव के ह्रास के साथ सजीवता का ह्रास भी लक्षित होता है। इस शैली के चित्रों में परंपरा का अंध अनुसरण मात्र मिलेगा और वही पुराने बंधे तुले हुए विषयों का चित्रण दिखाई देगा। इस काल के अंकित अधिकांश चित्रों में वंश-परंपरागत चित्रकार के हस्तकीशल का प्रमाण तो मिलता है, परंतु पुराने चित्रों की सजीवता इन में नहीं है। शायद ही ने प्रधानता अवश्य धारण कर ली है परंतु अन्य विषयों का चित्रण भी बराबर मिलता है। इन अन्य विषयों में राग-रागिनियां मुख्य हैं। साथ में पशु-पक्षियों के भी सुंदर रेखाचित्र प्राप्त होते हैं। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में तैयार किए चित्र अधिकतर चरखों का आधार ले कर बने हैं। ये चरखे पेंसिल या गेहूँ से बनाए खाकों को रुई की नोक से छेद कर बनाए जाते थे। और इस प्रकार एक ही चरखे से आवश्यकतानुसार एक प्रकार के कई चित्र तैयार हो सकते थे। इस काल में चित्र बाहुल्य से बनते रहे हैं और उन के लिए संग्राहकों में माँग भी अधिक रही है। इन कारण बाजार में बहुत घटिया चित्रों का भी चलन हो गया। राजपूत चित्रकारों की एक विशेष कृति को हमें भुला न देना चाहिए। मेरा तात्पर्य भित्तिचित्रों से है। उन्नीसवीं सदी में, जयपुर और राजस्थान

के अन्य नगरों में, विशेषतया वीकानेर और उदयपुर में भित्तिचित्र बहुसंख्या में बनते रहे। उन में से बहुत तो अब भी देखने को मिल सकते हैं और उन से पता चलता है कि इन के चित्रकारों ने पौराणिक कथानकों के चित्रण में विशेष कौशल प्राप्त किया था।

काँगड़ा चित्रकारों की कला राजस्थानी चित्रकारों की कला की अपेक्षा कहीं अधिक सुरक्षित और क्रमागत रही है। इस का कारण, जैसा कि संकेत किया जा चुका है, यह रहा है कि काँगड़ा के चित्रकार पहाड़ी सुरक्षित सुप्रदेशों में रह कर काम करते थे, और वहाँ पर बाहरी विनाशक प्रभाव देर में पहुँचते थे। काँगड़ा कलम के सर्वोत्तम उदाहरण तो हमें सत्रहवीं और अठारहवीं सदियों के चित्रों में मिलेंगे, परंतु अच्छे चित्र बराबर उन्नीसवीं सदी में भी बनते रहे। यह सही है कि बाद के चित्रों में हमें पहले जैसी सरसता, ललामता और अभिनव भाव नहीं मिलते, फिर भी उन्नीसवीं सदी के ऐसे चित्र हमें पर्याप्त संख्या में मिलेंगे जो कला की कसीटी पर सब प्रकार से खरे निकलेंगे। काँगड़ा कलम के छोटे चित्रपटों में प्राचीन भित्तिचित्रों की परंपरा का अनुगमन हुआ है। इस शैली के चित्र न केवल हमें काँगड़ा की घाटी में मिलते हैं वरन् पंजाब और गढ़वाल तक के प्रायः सभी प्रमुख पहाड़ी रियासतों में प्राप्त होते हैं। अठारहवीं सदी में काँगड़ा शैली उत्तर में जम्मू तक, दक्षिण में गढ़वाल तक और पश्चिम में लाहौर तक फैल गई थी। यद्यपि साथ ही साथ, समस्त पहाड़ी प्रदेशों में, पुराने ढंग की चित्रकारी भी जारी थी। इन चित्रों में गति और भाव-भंगियों का, और सहज, सरस, ग्रामीण जीवन का अद्भुत कौशल के साथ चित्रण हुआ है। इन चित्रों के विषय बहुत विभिन्न हैं। हमें रामायण, महाभारत और अन्य पौराणिक उपाख्यानों के चित्रण मिलेंगे; साथ ही कृष्ण की लीलाओं के ऐसे चित्र जो वास्तव में तत्कालीन ग्राम्य-जीवन के चित्र हैं मिलेंगे। शहीदों और दरबारी जीवन के चित्रण का भी अभाव नहीं है। उन्नीसवीं सदी के अंत में पर्वतीय प्रदेशों की अधुणता कुछ टूटती है, आवागमन के साधनों की उन्नति के साथ ऐसे प्रभाव काम करने लगते हैं जिन से इस कला के सींष्ठ्य पर आघात पहुँचता है। काँगड़ा कलम में ह्रास के चिह्न परिलक्षित होते हैं—और हम अधिकांश पटों में देखते हैं कि चित्रांकण उतनी सहानुभूति के साथ नहीं हुआ है। काँगड़ा चित्रकारों के वंशज पर्वतीय प्रदेशों को छोड़ कर लाहौर तथा अमृतसर में अमीरों के आश्रय में आ कर काम करने लगते हैं। उन पर भी यूरोपीयों से संपर्क का प्रभाव पड़ने लगता है। लाहौर के अजायबघर में लार्ड डलहौजी और सर जान लारेंस के, काँगड़ा चित्रकारों के बनाए,

हुए चित्र सुरक्षित हैं जिन्हें देखने से कीतूहल होता है। कहा जाता है कि काँगड़ा शैली का—अथवा उस कलम का जो कि पहाड़ी प्रदेशों में विशेष कर काँगड़ा की घाटी में परिचलन था—अंत १९०५ ई० में, घरमशाला के विनाशकारी भूकंप के अवसर पर हुआ, जब कि काँगड़ा का सुसंपन्न नगर तथा सारा का सारा पास का जिला विध्वंस हो गया और भग्नावशेषों का ढूँहा वन कर रह गया। परंतु 'हिमालयन आर्ट' नामक प्रसिद्ध पुस्तक के लेखक श्री जे० सी० फ्रेंच का कहना है कि जिस समय वह काँगड़ा की घाटी में, १९२९ ई० में गए थे उस समय भी चित्रकारों के कई घराने अपना धंधा सँभाले हुए थे। हाँ, अब उन का कार्य केवल संग्रहकर्ताओं के साथ व्यापार के निमित्त पुरानी शैली की लकीर पीटते हुए चित्रों का अंकन करना मात्र रह गया था।

हम ने देखा है कि पहाड़ी चित्रकार जीविकोपार्जन के निमित्त अपने दुर्गम प्रदेशों को छोड़ कर बाहर आने लगे थे। हम उन्नीसवीं सदी के मध्य काल से कुछ पूर्व यह पाते हैं कि लाहौर में ऐसे चित्रकार बराबर आए और यहाँ, रंजीतसिंह के आश्रय में एक नई शैली का विकास हुआ, जो काँगड़ा शैली का आधार बिना छोड़े हुए भी मध्यम कोटि की यूरोपीय कला से प्रभावित हुई है। लाहौर तथा अमृतसर में इन चित्रकारों द्वारा भित्ति-चित्र भी बने, और इन लोगों ने सिख गुरुओं के, दरबारियों के, तथा दरबार के अन्य दृश्यों का भी अंकन किया। इन चित्रकारों को हम फ़िरंगियों के व्यंग्य-चित्र बनाते हुए भी पाते हैं। इन के बनाए चित्र उस समय तो चलन पाते रहे; परंतु रंजीतसिंह की मृत्यु पर देश की राजनीतिक परिस्थिति उाँवाडोल रही और यह कला के विकास में सहायक न हुई। अतएव ऐसे चित्रकार जो कि पंजाब के किसी दरबार से संबद्ध न हो सके, विवश हो कर अपने-अपने स्थानों को लौट गए। अपने साथ यह बाहरी दुनिया का ज्ञान भी ले गए और स्वयं अपने प्रदेशों की शैली पर इस का उन्होंने ने प्रभाव डाला।

पुरानी चित्र-परंपरा की दो शैलियों का और भी वर्णन करना आवश्यक है। यह दोनों ही दक्षिण भारत से संबंध रखती हैं। इन में से एक तंजोर की है। स्थानीय किंवदंतियों के आधार पर यह कहा जाता है कि तंजोर के चित्रकार आरंभ में हिंदुस्तान से, राजा सारा-भोजी के काल में, अठारहवीं सदी के अंत में आए थे। चूँकि तंजोर के चित्रकार हिंदू जाति के हैं इस लिए यह अनुमान किया गया है कि यह राजपूत चित्रकारों के वंशज हैं। और जिस समय मुगल वंश का ह्रास हुआ उस समय इन के पूर्वज दक्षिण में आ कर बस गए।

यह बात तो ठीक है कि यह दक्षिणी शैली हिंदुओं की परंपरा में है, परंतु इस के संबंध में कोई ऐसी बात नहीं है जो राजपूत शैली से विशेष समानता रखती हो और गंभीर विवेचकों ने बताया है कि इस का अस्तित्व राजपूत शैली से स्वतंत्र है। यद्यपि इस तंजोर शैली का उद्गम बहुत स्पष्ट रूप से नहीं ज्ञात हो सका है, फिर भी यह निश्चय ही है कि तंजोर के कलाप्रेमी राजाओं के दरबार में आश्रय पा कर यह समुचित रूप से विकसित हुई और वहाँ के शिवाजी (१८३३-५५) के राज्य-काल में चित्रकारों के अनेक कुटुंब हाथीदांत और लकड़ी पर चित्रांकन करने में लगे हुए थे। यह किंचित् आश्चर्य की बात है कि यही चित्रकार तैल के माध्यम से उसी काल में बड़े-बड़े कैनवस के पटों पर भी चित्र अंकित करते थे। यह शैली निश्चय ही उन्होंने ने यूरोपीयों के संपर्क से ग्रहण की थी। इस प्रकार के चित्र, कहा जाता है, पर्याप्त संख्या में तंजोर के राजमहल में तथा पुदुकोटा के पुराने राजमहल में मौजूद हैं। ऐसा जान पड़ता है कि शिवाजी अंतिम राजा थे, जिन्होंने चित्रकारों को आश्रय दिया था, क्योंकि उन के बाद चित्रकला में लगे हुए यह कुटुंब तितर-बितर हो गए और उन्होंने ने और धंधों को अपनाया। हाँ, कुछ थोड़े से कुटुंब अपने परंपरागत व्यवसाय में अब भी लगे हुए हैं और अब भी अधिकांश हिंदू देवी-देवताओं के अच्छे परंतु किंचित् अतिरंजित चित्र बना कर बाज़ार में बेचते रहते हैं। जिस समय तंजोर की शैली अपने पूर्ण विकास पर थी उस समय इस में हाथीदांत पर शिवीहों के अंकन का कार्य बहुत उत्तम हुआ और आजकल भी स्थानीय प्रतिष्ठित घरानों में इस के नमूने सुरक्षित मिलेंगे।

दूसरी शैली मैसूर से संबंध रखती है। इस का इतिहास अठारहवीं सदी के आरंभ-काल में पहुँचता है। परंतु इस शैली के सब से सुंदर उदाहरण उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में राजा कृष्णराजा वाड्यार के आश्रय में रचे गए। कृष्णराजा स्वयं कला के मर्मज्ञ और पारखी थे। अपने दरबारी चित्रकारों की कृतियों में वह व्यक्तिगत रूप से दिलचस्पी लिया करते थे, और उन में आपस में प्रतिस्पर्धा उत्पन्न करने के लिए पुरस्कार दिया करते थे। इस शैली के चित्रकारों का काम भी अधिकांश हाथीदांत के चित्रपटों पर शिवीहों का ही अंकन रहा है, और इस का बहुत अंश मैसूर के महल में सुरक्षित है। कृष्णराजा की मृत्यु १८६८ में हुई। उन की मृत्यु के अनंतर इन दरबारी चित्रकारों की कृतियों का भी प्रायः अंत हो गया।

चित्रकारी का एक वर्ग फिर भी रह गया है जिस का वर्णन आवश्यक है। उत्तरी

तथा दक्षिण भारत के विभिन्न दरवारी चित्रकारों के अतिरिक्त भी देश में स्थान-स्थान पर ऐसे चित्रकार रहे हैं जो अपनी जीविका के निमित्त बाज़ार काम करते रहे हैं। इस प्रकार का काम प्रायः सभी मुख्य नगरों में होता रहा है। खेद है कि यह कार्य सुरक्षित नहीं हुआ है। इस प्रकार के चित्र अधिकांश देवी-देवताओं की मूर्तियों की नक़ल हुआ करते थे। कलकत्ते के श्री अजित घोष ने पटुआ जाति के कुछ चित्तेरों के चित्र एकत्र किए हैं। उन के देखने से ज्ञात होता है कि यह चित्तेरे अपने काम में निपुण थे। उन की रेखाओं में विशेष सजीवता है। त्रिचनापल्ली में भी बाज़ार चित्रकार जो काम किया करते थे वह ऊँची श्रेणी का था। यह लोग देसी रंगों से कागज़ तथा अभ्रक के चित्रपटों पर सुंदर काम करते थे।

जो कुछ कहा गया है उस से यह स्पष्ट हो गया होगा कि उन्नीसवीं सदी के अंत होते-होते मुग़ल तथा राजपूत दोनों ही चित्र-परंपराओं का पूर्ण रूप से ह्रास हो चुका था। अपने देश की कारीगरी और कुशलता प्रायः लुप्त हो चुकी थी। डाक्टर आनंद कुमारस्वामी का कहना है कि यह परिस्थिति “अधिकांश में तथा-कथित ‘अंग्रेज़ी शिक्षा’ द्वारा उत्पन्न रुचियों का परिणाम थी।” श्री ई० बी० हैवेल महोदय भी जिन का कि भारतीय चित्र-कला के पुनरुत्थान में बड़ा हाथ रहा है, जिसे कि हम आगे देखेंगे, “भारतीय यूनिवर्सिटियों की बनावटी संस्कृति” के संबंध में टिप्पणी करते हैं। साधारणतया यूनिवर्सिटी शिक्षा-प्राप्त भारतीय का दृष्टिकोण इंग्लिस्तान से प्रेरणा प्राप्त करने की ओर रहा है। वह यह अनुभव करने में कुछ दिनों पहले तक, अशक्त रहा है कि वास्तविक भारतीय संस्कृति का आधार अपने देश की भूमि में तथा वहाँ की परंपरा में ही मिल सकता है। १९०२-३ की दिल्ली की बड़ी प्रदर्शनी में ऐसे अनेक तैल-चित्र प्रदर्शित किए गए जो कि यूरोपीय शैली के अनुकरण में कलकत्ता, बंबई, मद्रास और लाहौर के सरकारी कला-शिक्षालयों के विद्यार्थियों द्वारा अंकित हुए थे। इन चित्रों में हमें विशेष प्रतिभा के चिह्न न प्राप्त होंगे। कलकत्ता स्कूल अफ आर्ट के भूतपूर्व प्रिंसिपल श्री परसी ब्राउन ने, सर जार्ज वाट द्वारा संपादित ‘इंडियन आर्ट एट देलही’ नामक पुस्तक में इन चित्रों के संबंध में अपना मत अंकित किया है। उन का कहना है कि यह चित्र “अत्यंत साधारण कोटि के थे, इन का रेखांकन शुद्धपूर्ण था और शैली तथा रंगसाजी की दृष्टि से यह नो-मिसियों की कृति जैसे थे।”

यूरोपीय शैली में हिंदुस्तान में जो कार्य हुआ उसे अग्रसर करने तथा प्रसिद्ध करने का श्रेय इस शैली के कुशल चित्रकार त्रावंकोर के स्वर्गीय राजा रविवर्मा को प्राप्त है। राजा रविवर्मा त्रावंकोर के राज-परिवार में उत्पन्न हुए थे। उन्होंने ने बहुतायत से चित्र बनाए और यह चित्र सस्ते बाज़ारू तैल-छापों द्वारा देश में बहुत अधिक प्रचारित हुए। वास्तव में देखा जाय तो इन तैल-छापों के माध्यम द्वारा चित्रकार की असली प्रतिभा क्षीण रूप में ही हमारे सामने आती है। राजा रविवर्मा ने चित्रकला की शिक्षा दक्षिण भारत में भ्रमण करनेवाले यूरोपीय चित्रकारों, विशेष कर थियोडोर जेन्सन नाम के चित्रकार से प्राप्त की थी। इस के अतिरिक्त उन्होंने ने यह कार्य मदुरा के चित्रकार अलाग्री नायडू से भी सीखा था, और अलाग्री नायडू महाराजा त्रावंकोर के आश्रय में यूरोपीय शैली में काम करनेवाला उस समय का सब से प्रसिद्ध चित्रकार समझा जाता था। राजा रविवर्मा तथा अन्य यूरोपीय शैली में चित्रांकण करनेवाले चित्रकारों का कार्य कभी भी बहुत उच्च कोटि का नहीं बन पड़ा और डाक्टर कुमारस्वामी की इस सम्मति का कि रविवर्मा का “कार्य अपने सर्वोत्तम उदाहरण में भी द्वितीय कोटि से आगे नहीं बढ़ा है” अनेक भारतीय तथा यूरोपीय कलामर्मज्ञों ने समर्थन किया है। श्री हँवेल महोदय का कहना है कि “यह निश्चय है कि उन के चित्रों में कल्पना तथा भावपूर्ण भारतीय कविता तथा कथा का जो चित्रण है उस में रस का अत्यंत अभाव है। और यह मूल अपराध ऐसा है कि चित्रण की टेक्निकल जानकारी उस क्षति को किसी प्रकार पूरा नहीं करती।” फिर भी रविवर्मा का कार्य समस्त हिंदुस्तान में अमीर आश्रयदाताओं द्वारा पसंद किया गया और देश के अनेक राजामहाराजाओं ने उन से चित्र बनवा कर अपने महल सजाए। रविवर्मा न केवल शीघ्र ही चित्रित करते थे, वरन् प्राकृतिक दृश्य भी, और बाद में तो प्रायः हिंदू कथाओं को ही चित्रित करते रहते थे।

हिंदुस्तान में कला-संबंधी नवीन आंदोलन किस भाँति आरंभ हुआ इस की कथा भी रोचक है। डाक्टर आनंद कुमारस्वामी ने लिखा है—“जो लोग यूरोपीय कला के भारतीय कला पर उन्नीसवीं सदी में हुए प्रभाव को जानते हैं, और निकृष्ट, प्रेरणा-विहीन तथा नितांत विदेशी ढंग की भारतीय शिक्षा से परिचित हैं—ऐसी शिक्षा से जो कि भारतीयों को अपने ही देश में विदेशी बना देती है—उन्हें जो कुछ भी आंदोलन संभव हुआ है, उस पर आश्चर्य ही होगा।” हिंदुस्तानियों में, कला-संबंधी विषयों में, आत्मसम्मान जागृत करने

का श्रेय वास्तव में एक अंग्रेज सज़्जन को ही प्राप्त है। जिस समय कि श्री हैवेल महोदय कलकत्ते में सरकारी आर्ट स्कूल के प्रिंसिपल तथा इंडियन म्यूज़ियम के कला-विभाग के निरीक्षक बन कर आए, उस समय उन्होंने देखा कि कला-विभाग यूरोपीय चित्रों की अत्यंत घटिया नक़लों से भरा हुआ है और विद्यार्थीगण पुराने यूरोपीय ढंग से त्रिकोणों, चतुष्कोणों और मूर्तियों के सहारे रेखांकन सीख रहे हैं। जो चित्र वह प्रस्तुत करते वह नितान्त प्रेरणा-विहीन होते। श्री हैवेल महोदय के मन में यह बात उठी कि यदि सत्रहवीं सदी के उत्कृष्ट भारतीय चित्रों के आधार पर उन्हें शिक्षा दी जाय तो विद्यार्थियों को वास्तविक रूप में भारतीयता की प्रेरणा प्राप्त हो सकेगी। सीमाव्यवश उन्हें एक कुशल बंगाली चित्रकार का सौहार्द सहयोग प्राप्त हो गया। श्री अवनींद्रनाथ ठाकुर ने, जिन्होंने स्वयं प्रारंभिक वर्षों में, यूरोपीय ढंग के तैल-चित्र बनाए थे, यह अनुभव किया कि अपने ही देश की परंपरा के आधार पर कला-संबंधी आंदोलन का नेतृत्व ग्रहण करने में ही कला का कल्याण है और भविष्य में इस आंदोलन से जागृति तथा हित की बड़ी संभावनाएं हैं। यह विचार कर के उन्होंने ने बड़े उत्साह और लगन के साथ श्री हैवेल महोदय के विचारों को कार्य-रूप में परिणत करने का काम उठाया और इस प्रकार जिस बात को हैवेल महोदय ने सिद्धांत-रूप में उठाया था उस को व्यावहारिक रूप मिला। अवनींद्रनाथ ठाकुर, सरकारी आर्ट स्कूल के सहकारी-प्रिंसिपल बना दिए गए और समान भावों से प्रेरित दो व्यक्तियों ने अपनी भिन्न-भिन्न योग्यताओं के संयोग से उस आंदोलन को जन्म दिया जिस से बंगाल शैली की चित्र-कला चल पड़ी। परंतु जातीय संस्कृति के उत्थान के संबंध में इन महोदयों के कार्यों का आरंभ में स्वागत नहीं हुआ था। यही नहीं उन का घोर विरोध किया गया। उन दिनों एक इस प्रकार का विश्वास जनता के हृदय में घर कर गया था कि यूरोप ही से कला-संबंधी एक मात्र प्रेरणा प्राप्त हो सकती है; अतएव-यह समझा गया कि यह लोग उन्नति के विरोधी हैं। विद्यार्थियों और 'राष्ट्रीय' कहलाने वाले समाचार-पत्रों ने समान रूप से इन के कार्य का विरोध किया। परंतु अंत में सद्बुद्धि सहायक हुई। इस कला-संबंधी आंदोलन के आरंभिक वर्षों में जिन कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, उन से श्री अवनींद्रनाथ ठाकुर को अपने निश्चय में दृढ़ता ही प्राप्त हुई। अंत में उन के रचनात्मक कार्य ने भारतीय कला के इतिहास में एक नए युग का सूत्रपात कर दिया।

बंगाल का कला-संबंधी आंदोलन अब तीसरे वर्ष से अधिक पुराना हो चुका है।

इस बीच में, इस के प्रभाव में आए हुए चित्रकारों ने न केवल अपना बहुत-सा काम जनता के सम्मुख प्रस्तुत किया है, वरन् यह जनता के कला-संबंधी विचारों में आश्चर्यजनक परिवर्तन लाने में सफल हुआ है। इस प्रकार आज, इस आंदोलन के दादागुरु अवनींद्रनाथ अपने पिछले कार्य का किंचित् संतोष के साथ पर्यवलोकन कर सकते हैं। अवनींद्रनाथ की शैली का तीव्र विरोध हुआ है, और यह विरोध अब भी संपूर्णतया ठंडा नहीं पड़ा है। फिर भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि इसी शैली के चित्रकारों की कृतियों द्वारा ही आधुनिक काल में हमारे देश में यह बात सर्वमान्य हो सकी है कि हिंदुस्तान की अपनी चित्रकला अपनी पुरानी परंपरा और भारतीयता के भावों के आधार पर ही निर्मित हो सकती है। यदि यह पूछा जाय कि इस शैली द्वारा वास्तव में क्या कार्य संपादन हुआ है तो हम स्वयं अवनींद्रनाथ के, उन के भाई गगनेंद्रनाथ के, तथा उन के शिष्यों अर्थात् नंदलाल बोस, असित कुमार हल्दार, समरेंद्रनाथ गुप्त, के० एन्० मजूमदार, शैलेंद्रनाथ दे, के० वेंकटप्पा, शारदा उकील, डी० पी० रायचौधुरी, वीरेश्वर सेन आदि आदि की अनेक सफल और सुंदर चित्रों के नाम ले सकते हैं। यह आंदोलन अब बंगाल तक सीमित नहीं रहा है, वरन् सारे देश में फैल गया है, और इस का समर्थन भारतीय तथा विदेशी कला-मर्मज्ञों द्वारा हुआ है। कहने का तात्पर्य यह नहीं कि आंदोलन आरंभ करने वालों ने जिस उद्देश्य को सामने रखा था वह संपूर्णतया फलीभूत हो गया है। इस संबंध में उचित विचार तो यह होगा कि यह शैली अभी, जिसे हम परिवर्तन-काल कहेंगे, उस को पार नहीं कर चुकी। इस शैली की त्रुटियों के विषय में भी बहुत कुछ कहा गया है। इस शैली के चित्रों में कोरी भावुकता होती है, रेखांकन में दृढ़ता का परिचय नहीं मिलता, चित्रकार पुरानी कथाओं के जाल से निकल कर आधुनिक जीवन के मनन पर ध्यान नहीं देते, रंगों की व्यवस्था चटक न हो कर घूमिल होती है, आदि आदि आलोचनाएँ की जा चुकी हैं और की जाती हैं। इस बात को स्वीकार करने में संकोच न होना चाहिए कि यह सभी आलोचनाएँ अंशतः ठीक हैं; अर्थात् प्रस्तुत कार्य के एक अंश की ही उचित समीक्षा करती हैं। परंतु यह भी न भूलना चाहिए कि शैली में जो कुछ सर्वोत्तम कार्य हुआ है उन पर यह लागू नहीं होती। यह आलोचनाएँ इस बात पर भी ध्यान नहीं देती कि सामूहिक रूप से बंगाल शैली ने कितना बड़ा कार्य-साधन किया है। बंगाल शैली अपनी पहली मंजिल पार कर चुकी; वह अब दूसरी मंजिल में पैठी है। इस ने आधुनिक जीवन की वास्तविकताओं तथा कठोर सत्य की ओर से आँखें नहीं फेरी हैं,

तथा व्यक्तिगत विकास का चित्रकारों को पूर्ण अवसर दिया है और यदि इस में अब भी ऐसे चिह्न मिलते हैं जिन से प्रयोग की अवस्था ज्ञात होती है, तो यह भी जान लेना चाहिए कि यह प्रयोग उन्नतिगामी है। श्री ओ० सी० गांगुली महोदय ने ठीक ही बताया है कि “सभी समालोचक इस बात पर सहमत हैं कि इस शैली की कृतियाँ सच्चे भारतीय भावों को ले कर और उन के प्रति सम्मान का भाव धारण करते हुए रची गई हैं और भारतीय विषयों को भारतीय वातावरण में प्रस्तुत करने में सफल हुई हैं।” इस शैली का यह उद्देश्य नहीं रहा है कि विदेशी प्रभावों को बिल्कुल दूर रक्खा जाय। प्रयत्न यह रहा है कि जो प्रभाव भारतीय विचारधारा में सहज में समा सकें उन्हें ग्रहण कर लिया जाय।

बंगाल में जो कला-संबंधी जागृति हुई उस का प्रभाव समस्त देश पर हुए बिना न रहा। फिर भी हमारे देश के चित्रकारों के एक वर्ग ने, विशेष कर बंबई में, अपने को इस से अलग रक्खा। पाश्चात्य शैली की उस ‘एकेडेमिक’ परंपरा में पोषित हो कर जिस में ‘सादृश्यता’ या ‘नेच्यूरलिज़्म’ पर विशेष ध्यान दिया जाता है, बंबई के इस विशेष वर्ग ने बंगाल के चित्रकारों की बराबर निंदा की है और उन की कृतियों को “काल्पनिक, अवास्तविक, वेतुकी” आदि कहा है। पाश्चात्य का अनुकरण करने वाले बंबई शैली के चित्रकारों की कृतियों में हमें विशेष प्रतिभा का परिचय तो मिलता नहीं। उन का अधिकांश मध्यम या निकृष्ट श्रेणी का हुआ है।

हमारे देश की चित्रकला में और भी नए-नए प्रयोग हुए हैं। रवींद्रनाथ ठाकुर ने चित्रकार के रूप में किसी भी परंपरा को न ग्रहण कर के अपनी ‘आदि-मता’ द्वारा जनता को स्तंभित किया है। यह नहीं कहा जा सकता कि उन के चित्रों में अपना कुछ विशेष आकर्षण नहीं है। उन के अतिरिक्त अमृत शेरगिल जैसी कुशल चित्रलेखा भी कुछ प्रयोग प्रस्तुत कर चुकी हैं, जिस के विकास की भविष्य में बड़ी संभावनाएँ हैं।

भविष्य के संबंध में क्या कहा जाय? यह अनुभव किया गया होगा कि बंगाल के चित्रकारों ने ‘भारतीयता’ पर अधिक जोर दिया है। कदाचित् यह देखते हुए कि हम पाश्चात्य के प्रवाह में वह न जाएँ यह अब तक आवश्यक भी था। परंतु यह संभव नहीं कि भारतीय कला संसार के प्रभावों से बिल्कुल अलग-अलग रह कर पनप सके। यह अनुमान कर लेना चाहिए कि भारतीय चित्रकार अब ऐसी स्थिति प्राप्त कर सके हैं कि बाहरी प्रभावों के ग्रहण करने में उन की ‘भारतीयता’ के नाश होने का भय नहीं है, और यह अब

ऐसे प्रभाव ग्रहण कर सकते हैं जो उन के अनुकूल सिद्ध हों। ध्यान से देखा जाय तो स्वयं वंगाली कला वाहरी प्रभावों को विल्कुल दूर नहीं रख सकी है। डाक्टर कुमारस्वामी ने ठीक ही लिखा है कि “विदेशी प्रभावों को पचा कर अपनी परंपरा के आधार पर नवीन शैली का विकास करने की संभावना भारतीय चित्रकला के भविष्य के लिए शुभ-सूचक है”। यह कहना न होगा कि नवीन आंदोलन इसी पथ पर चल रहा है।

काश्मीरी ग्रामगीत

[लेखक—श्रीयुत रामनरेज त्रिपाठी]

मैं मई, १९२८ में काश्मीर गया था। उन दिनों मैं ग्रामगीतों के संग्रह का काम हाथ में लिए हुए था। इस से काश्मीर के बाह्य-सौंदर्य के साथ-साथ उस के अंतःसौंदर्य को भी, जो ग्रामगीतों में चित्रित है, देखने को मैं लालायित था। संयोग से उन्हीं दिनों में स्व० लाला लाजपतराय भी श्रीनगर में ठहरे हुए थे। उन से मेरा पहले का भी परिचय था और काश्मीर में तो महीनों मिलते-जुलते रह कर हम लोग बहुत निकट हो गए थे। काश्मीरी गीतों के संग्रह में उन की प्रेरणा और सुरुचि ने मुझे बहुत ही उत्साहित किया था।

मैं ने काश्मीर के गाँवों में भ्रमण किया। घानों के खेतों में निराती हुई, और घरों के सामने खड़े-खड़े घान कूटती हुई स्त्रियों के मनोमुग्धकारी स्वरों में गाए जाते हुए गीत और हार्जियों (माझियों) के तरह-तरह के स्वरों और लयों के गीत गवा कर मैं ने सुने और संग्रह किए और एक शास्त्री जी की सहायता से उन के अर्थ समझे। काश्मीरी भाषा न जानने के कारण काश्मीरी गीतों के समझने ही में नहीं, संग्रह में भी मुझे बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ा। और साथ ही उन के उच्चारण में आई हुई कुछ नई ध्वनियों के वर्णों के अभाव में मैं उन्हें शुद्ध-शुद्ध लिखने में भी असमर्थ रहा।

जो थोड़े से गीत मुझे प्राप्त हुए हैं, वे भू-स्वर्ग के गीत होने के उपयुक्त ही हैं। उन में जो भाव व्यक्त किए गए हैं वे मनुष्य स्वभाव की उच्च कोटि की संस्कृति में पले हुए जान पड़ते हैं। काश्मीर जैसा सुंदर है, वैसा ही उस के गीतों में प्रेमरस भी प्रचुरता से छलक रहा है। सौंदर्य के साथ प्रेम का होना विलुक्त स्वाभाविक है।

काश्मीरी गीतों के कुछ उदाहरण देने के पहले काश्मीरी भाषा के संबंध में कुछ सूचनाएँ, जिन्हें मैं जानता हूँ, यहाँ दे देना पाठकों के लिए उपयोगी समझता हूँ।

काश्मीरी भाषा में संस्कृत और फ़ारसी शब्दों का खूब मिश्रण है। मुसलमानों के आक्रमण और अधिकार के पहले काश्मीर संस्कृत शिवा का केंद्र था। काश्मीरी भाषा

हिंदी की तरह एक स्वतंत्र भाषा है, उस में भी संस्कृत के बहुत से तत्सम और तद्भव शब्द भरे हुए हैं जो उस के मूल का पता बतलाते हैं। जैसे—

काश्मीरी	हिंदी
वाय (पाय)	= रास्ता
पोश (पुष्प)	= फूल
पूर (पूर्व)	= पूरव
दछुत (दक्षिण)	= दक्खिन
नविद् (नापित)	= नाई
मोल (मूल्य)	= दाम
गछ (गच्छ)	= जाओ
नास (नासा)	= नाक
अस (अस्य)	= मुंह
ज्याव (जिह्वा)	= जीभ
अत्य (हस्त)	= हाथ
अंगुली (आंगुल्य)	= उँगली
बोई (भ्राता)	= भाई
आन (आनय)	= लाओ
कोत (कुत्र)	= कहाँ
तोत (तत्र)	= वहाँ

इसी तरह अरबी-फ़ारसी के भी बहुत से शब्द, कुछ तो असली वेप में और कुछ काश्मीरी जामे के अंदर, काश्मीरी भाषा में घर किए हुए हैं। जैसे —

सोदा, बाज़ार, ज्याद (ज़ियादा), इत्यादि।

काश्मीरी वर्णमाला में कुछ ऐसे अक्षर हैं, जो देवनागरी में नहीं हैं। जैसे एक अक्षर ऐसा है जिस का उच्चारण च और छ के मध्य का है। मैंने गीतों में उसे स्पष्ट करने के लिए च के नीचे बिंदी देकर काम निकाला है। कुछ अक्षरों और शब्दों के उच्चारण में एक खास प्रकार का जोर देना पड़ता है। उन का उच्चारण भाषा से परिचय रखने वाले ही उचित रीति से कर सकते हैं।

काश्मीरी गीतों के संबंध में एक यह बात विशेष ध्यान देने की है कि शृंगार और विरह के गीत मुख्य कर मुसलमान समाज ही में प्रचलित हैं। मुसलमान काश्मीर में हैं भी ९५ फ्री सदी, इस से उन के गीत भी इसी औसन से हैं। वहाँ की पंडित जाति ऐसे गीतों को असभ्यों के गीत समझ कर उन की उपेक्षा करती है। पंडितों में भक्ति और ज्ञान तथा वैराग्य के गीतों का अधिक प्रचार है। पंडितों की स्त्रियाँ उत्सवादि में जो गीत गाती हैं, उन में शृंगार के गीत तो नाम मात्र ही के होते हैं। यहाँ पंडित और मुसलमान दोनों समाजों में प्रचलित कुछ गीत दिए जाते हैं:—

[१]

अरिन्य रंग कोरुनम हिये वन्यतोम अद कर यिये ॥

(उस ने) मुझ चमेली का रंग अरिन्य पुष्प (जुही ?) का-सा कर दिया है (अर्थात् में सुरक्षा गई हूँ) । मुझे बताइए वह फिर कब आएगा ।

छाडान लूसस वननय क्याह सना गोस ना कननय ।

चोलुम कय दरदच्य नये वन्यतोम अद कर यिये ॥

वनों में हँदते-हँदते थक गई हूँ । क्या उस के कानों तक यह बात नहीं पहुँच गई ? किस दूर वन में वह चला गया है ? मुझे बताइए वह फिर कब आएगा ।

फुलया लज्यमो गुलनय कोतसन त विधि सुम्वलनय ।

यम्वरजल वोम्वुरनि लये वन्यतोम अद कर यिये ॥

कोसम और सुम्वल आदि फूलों में शिगूफ़े निकल आए । नरगिस का फूल भ्रमर के प्रेम में खिल गया है । मुझे बताइए वह फिर कब आएगा ।

मुशका जान गुलावन वुन्दसय दाग ह्यतो लालन ।

नालान बुलबुल छुये वन्यतोम अद कर यिये ॥

गुलाबों की कौसी सुगंधि है ! लाले ने मध्य भाग में काला चिह्न धारण कर लिया है । बुलबुल भी फ़रियाद करती है । मुझे बताइए वह फिर कब आएगा ।

वरिमस खा स्य तय सुरये क्याह सना विधि ना त च्यये ।

म्यति आस तमि संज प्रये वन्यतोम अद कर यिये ॥

मैं ने उस के लिए प्यालियाँ और सुराहियाँ (प्रेम-रस से) भर दी हैं। काश वह आ कर इस को पी जाता ! मुझ को भी उसी की प्रीति है। मुझे बताइए वह फिर कब आएगा।

लाल म्यानि असि दर्शुन हाव बुज्ज असि चय मो गशाराव।

अ नस कास्तम खये वन्यतोम अद कर यिये ॥

हे मेरे लाल (प्यारे) अब हमें दर्शन दो और अब हमें मत विसारो। (मेरे) आर्देन (हृदय) का जंग दूर करो। मुझे बताइए वह फिर कब आएगा।

प्रयि च्यानि वर बुख आयस चय पत वन्य दिनिद्रायस।

विधि अस्य मटि कस छिये वन्यतोम अद कर यिये ॥

तुम्हारे प्रेम से मेरे संतोष का प्याला भर गया है। (इस लिए) मैं तुम्हारी खोज में निकली हूँ। हमें और किसका आश्रय है? मुझे बताइए वह फिर कब आएगा।

लोल नार छुह जोरावार प्रारान छस वाति ना यार।

लायिनम लोलचय छये वन्यतोम अद कर यिये ॥

प्रेम की आग बड़ी प्रबल है। उस के आने की प्रतीक्षा में हूँ। उस ने मुझ में प्रेम की चिनगारियाँ लगाई हैं। मुझे बताइए वह कब आएगा।

त्राविथ चोलुम सु पानस व्यूठम ला मकानस।

बुछान लूसम लये वन्यतोम अद कर यिये ॥

मुझ गरीब को छोड़ कर वह शून्य-लोक में जा बैठा है। उसे देखते-देखते, आँखें थक गई। मुझे बताइए वह फिर कब आएगा।

पोशनूल छुय वनान जार यम्बरजलि थवत्तम चय सार।

प्रारान छिह दर्शुन दिये वन्यतोम अद कर यिये ॥

पोशनूल (जानवर) प्रार्थना करता है कि नरगिस को सुरक्षित रखो। उस के दर्शनों की प्रतीक्षा है। मुझे बताइए वह कब आएगा।

[२]

प्रवाय हो आव अछय मुचराव,

न्यंदर मो त्राव न्यं दर मो त्राव।

अब प्रभात काल आया, आँखें खोलो। नींद को छोड़ो; नींद छोड़ो।

छू चमकान आत्मा सिर्युक गाश
न्यवर अन्दर धि द्यय आकाश।
मुचर अछय दारि मो त्रोपराव
न्यंदर मो त्राव न्यंदर मो त्राव ॥

आत्मा के सूर्य का प्रकाश चमकता है। बाहर और अंदर से चिद्रूपी आकाश भी चमकता है। अब नेत्रों को—जो द्वार हैं—खोलो। नींद को छोड़ो; नींद को छोड़ो।

छतञ्ज ह्यत्यनै द्य कहुनी कीश,
च चेतन कोन छुल वुपदीश।
समय गव रंग वदलिय आव
न्यंदर मो त्राव न्यंदर मो त्राव ॥

अब तुम्हारे काले केश सफ़ेद होने लगे। अब भी तुम उपदेश क्यों नहीं ग्रहण करते हो; समय का रंग बदल गया, नींद को छोड़ो; नींद को छोड़ो।

समय ज्ञान बांड जशना जान,
गछ्यस युय त्युय गंडुन सामान।
नो वुय पावरा ह्य च़ाव
न्यंदर मो त्राव न्यंदर मो त्राव ॥

समय को तुम भाँड़ के तमाशे के समान जानो। जैसी सामग्री उपलब्ध है उस से इसे सजाना चाहिए। यह नित नया स्वांग धारण कर के आता है। नींद को छोड़ो; नींद को छोड़ो।

ज्ञानुक दीफ प्रजलिय जान
व्यचारकि न्यत्र वुछ शिव छान।
वुजिय युव न लयालुक वाव,
न्यंदर मो त्राव न्यंदर मो त्राव ॥

ज्ञान के दीपक को प्रज्वलित जान कर विचार के नेत्रों से कल्याण की मूर्ति को देखो।

ऐसा न हो कि तुम्हारे कुतर्कों का वायु चले। नींद को छोड़ो; नींद को छोड़ो।

मकर चेर फेर च होशत कुन,

बोझू गवय जाम नाली छन।

च्ययस वुजनाव आलुच त्राव,

न्यंदर मो त्राव न्यंदर मो त्राव ॥

अब देर न करो; होश की तरफ़ फिरो; उद्योग के कपड़े पहनो। अपने चित्त को जगाओ और आलस्य को छोड़ो। नींद को छोड़ो; नींद को छोड़ो।

संगरमालन छयचर सम्पुन,

ह्योतुन सोरुय जगत नाम्पुन।

च मुख अद्वैत आनस हाव

न्यंदर मो त्राव न्यंदर मो त्राव ॥

पर्वतमाला के चारों ओर रोशनी फैल गई, और सारा जगत प्रकाशमान होने लगा। तू अपना मुख अद्वैत के शीशे में देख। नींद को छोड़ो; नींद को छोड़ो।

बोझूगा कर त सामी सुर,

स्यदय पानय दिविय ईश्वर।

सु करिय युथ च करहस बाव,

न्यंदर मो त्राव न्यंदर मो त्राव ॥

तुम उद्योग करो और परमात्मा का ध्यान करो। वह तुम को स्वयं ही सिद्ध दगा। तुम उस की जैसी भावना करोगे, वैसा फल मिलेगा; इस लिए उठो और नींद को छोड़ो; नींद को छोड़ो।

व्यनय सायय छनय रायय,

तिहुन्द सामी छु प्रवायय।

अमिस निश अमि यय हो जाव,

न्यंदर मो त्राव न्यंदर मो त्राव ॥

क्षण, घड़ी, दिन, रात आदि कालचक्र का स्वामी प्रभात काल है; इसी काल में

अभिजित् की उत्पत्ति होती है। नींद को छोड़ो; नींद को छोड़ो।

गछून हुशयार च्य वड गय छय,
च्य लागञ्ज कुस लागय छय।
न्यराशन पान गाश हो आव,
न्यंदर मो त्राव न्यंदर मो त्राव ॥

(इस समय) जागना उत्तम गति है। इस में तुम को क्या लागत लगानी है ?
तिराशों के लिए स्वयं ही प्रकाश आया है। नींद को छोड़ो; नींद को छोड़ो।

कर्म द्याव दर्म खोरन त्राव,
गछ आय्म तीर्य तन मन नाव।
वखत्त सर प्रयम पोञ्जा छाव,
न्यंदर मो त्राव न्यंदर मो त्राव ॥

कर्म की खड़ाऊँ धर्म के पैर में पहन कर जाओ; आत्मा के तीर्य में तन और मन
को धो डालो, भक्ति के तालाब में प्रेम के पानी से भैल छुड़ा डालो। नींद को छोड़ो; नींद
को छोड़ो।

युगन चुन मज छु चूर्युम जान,
छु र्यय च्यय खुश गछून वगवान।
पतिम पहरस्त छु युय सुवाव,
न्यंदर मो त्राव न्यंदर मो त्राव ॥

चार युगों में चोया ही अच्छा है कि जिस में खा-पीकर ही भगवान् खुश होने हैं।
(रात की) अंतिम पड़ी (अर्थात् प्रभात काल) का ऐसा ही स्वभाव होता है। नींद को
छोड़ो; नींद को छोड़ो।

[३]

गवकीत भारवनि युद घोश दारवनि।
शुव शांत बुद चूर गूर गूर करयो ॥

हे मधु और कैटभ या मद-अहंकार को मारने वाले, युद्धवेश धारण करने वाले,
शुद्ध, शांति-स्वरूप और दूध (मन) को चुराने वाले, मैं तुम को डुलाती रहूँ।

शंहर शहर गाम गाम राम राम स्वरयो।

दक्षिण दूतरि पछम पूरि गूर गूर करयो॥

प्रत्येक शहर और प्रत्येक ग्राम में राम के रूप में मैं तेरा स्मरण कहूँ और
दक्षिण-उत्तर-पश्चिम-पूर्व चारों ओर तुम्हें डुलाती रहूँ।

कर हृशीकोश राग दीश किस शीशस।

खंजि खंजि चूर चूर गूर गूर करयो॥

मेरी संपूर्ण इंद्रियों के स्वामी ! राग, द्वेष आदि के शीशे को टुकड़े-टुकड़े कर चूर
चूर कर डालो। मैं तुम को डुलाती रहूँ।

छिय वसंत रंग जाम यिन च्यानि फोजि शाम।

लंजि लंजि मूरि मूरि गूर गूर करयो॥

वसंती रंग के कपड़े वाले श्याम ! तुम्हारे आने से मैं लता की तरह टहनी-टहनी
पत्ते-पत्ते फूल गई हूँ। मैं तुम्हें डुलाती रहूँ।

वोंदूर गीता छ्यसयो गोवान।

स्वर्ग - मंडलचि हूर गूर गूर करयो॥

मैं तुम्हारे प्रेम में बिरह-गाथा गाती हूँ, जैसे स्वर्ग-मंडल में अप्सराएँ गाती हैं।
मैं तुम्हें डुलाती रहूँ।

तिर्य वरदान दित मूह गटि मंज नित।

यित नूरकि नूर गूर गूर करयो॥

सूर्य की तरह दर्शन दे कर मेरे मोह-रूपी अँधेरे को हटा लो। प्रकाश को भी प्रका-
शित करने वाले आओ। मैं तुमको डुलाती रहूँ।

तुलसी छावय त हिय तन नावय।

फलयल मुशक कोफूर गूर गूर करयो॥

तुलसी को लगा-लगा के इस चमेली जैसे शरीर को साफ़ कहूँगी । फुल्ले और कपूर की सुगंध भी मैं इस में लगाऊँगी । मैं तुम को डुलाती रहूँ ।

मननकि तेलन न्यदिद्यासन टोठ ।

श्रवणकि कन दूर गूर गूर करयो ॥

मनन से मैं ने तुम को मन में रक्खा है और विचार से अब तुम मेरे मन में रहे रहो । हे मेरे कान के फूल, मैं तुम को डुलाती रहूँ ।

राजयोग राज वोख साजि ताज ताज स्वर ।

प्रथम साज संतूर गूर गूर करयो ॥

हे राजयोग के राजन् ! हमारे प्रेम-रूपी साज और संतूर (वाद्ययंत्र विशेष) के ताजे-ताजे स्वरों को सुनो, और मैं तुम को डुलाती रहूँ ।

दीह अभिमानुक फुल ह्यय छ्यननुय ।

त्याग वाराग सूर गूर गूर करयो ॥

देह का अभिमान-रूपी वृक्ष त्याग और वराग्य की राख से कटने लग जाएगा । मैं तुम्हें डुलाती रहूँ ।

[४]

आदि प्रयातस अछय मुच्यं जे

मन किज सोयं जे श्री वगवान ॥

प्रभात से पहले नेत्रों को खोलना चाहिए और मन से श्री भगवान् का स्मरण करना चाहिए ।

न्यमल वोख ववसागर तयंजे

न्यदकल पारवल कर्यं जे धान ।

अ्यशक्य मल अविमानपय ह्यंजे

मन किज सोयं जे श्री वगवान ॥

निर्मल बुद्धि से भवसागर को तरना चाहिए । निदकल सरोवर में स्नान करना

चाहिए। अभिमान के तीनों मल दूर करने चाहिए और मन से परमात्मा का स्मरण करना चाहिए।

संसार ब्रम मानिय दम दर्य जे
 सोहम सोर्य जे ठहरिय प्राण।
 यन्द्रिय शोमरिय चुमरन फिर्य जे
 मन किञ्ज सोर्य जे श्री बगवान्॥

संसार को भ्रम मान कर समय बिताना; प्राणों को रोक कर सोऽहं को विचारना।
 इंद्रियों को शांत कर के माला फेरना और मन से परमात्मा का स्मरण करना चाहिए।

त्याग सन्य राग दीश निश व्यसर्ग जे
 सोहम सोर्य जे दर्य जे दान।
 मन थर कर्य जे संथर पर्य जे
 मन किञ्ज सोर्य जे श्री बगवान्॥

त्याग से, राग और द्वेष से पीछे हटना चाहिए; सोऽहं सोच कर ध्यान धरना चाहिए। मन को स्थिर कर के मंत्र पढ़ना चाहिए; मन से भगवान् का स्मरण करना चाहिए।

श्री कृष्ण चरण कमलन अछय जय जे
 यछि यछि श्रदायि वाचनाय सान।
 मानसी पूजि सत्य दीह मशर्य जे
 मन किञ्ज सोर्य जे श्री बगवान्॥

इच्छा, विश्वास भावना से भगवान् कृष्ण के चरण-कमलों पर नेत्र को जड़ दो;
 मानसी पूजा से अपने शरीर को भूल जाओ; फिर मन से भगवान् का स्मरण करना चाहिए।

नाना सूरिय दानन दर्य जे
 वाचनायि हुंछ खीर खण्ड पकवान।
 श्री कृष्ण महाराजत आपर्य जे
 मन किञ्ज सोर्यजे श्री बगवान्॥

नाना भावों को समाप्त कर के (सब व्यवहार करो) ; भावना के खीर और खाँड़ के पकवान, भगवान् कृष्ण को खिलाना और मन से ईश्वर का स्मरण करना चाहिए।

अष्टदल हृदयस मंज वयर्थ जे
न्यर्वासन आसन की थान।
कृष्ण ध्यान सत्य पान थान आवर्थ जे
मन किञ्ज सोर्य जे श्री वगवान् ॥

अष्टदल हृदय के बीच निर्वासना रूपी आसनों को बिछाना और स्वयं स्थान को कृष्ण के ध्यान से बंद करना तथा मन से भगवान् का स्मरण करना चाहिए।

दीह दम्बकिस फुटम्बस रावर्थ जे
आशय जे ज्ञान संतान।
ईकांतव्य शान्ति शक्ति वर्थ जे
मन किञ्ज सोर्य जे श्री वगवान् ॥

शरीर के मद-रूपी फुटुंब को छोड़ना और ज्ञान-रूपी संतान को धारण करना चाहिए। एकांत की शान्ति-रूपी शक्ति को धारण करके मन से भगवान् का ध्यान करना चाहिए।

दर्म कर्म जोर मूह राजस फर्थ जे
सत्य ह्यय दम दम की पहलवान।
आनन्द नगरस राज्या फर्थ जे
मन किञ्ज सोर्य जे श्री वगवान् ॥

दम और दम नामक पहलवानों को साथ लेकर धर्म और कर्म के जोर से मोह राजा को जीतो। फिर आनंद के नगर का राज्य करो और मन से भगवान् को ध्यान में लाओ।

वाल मुकुन्दुन धाना दर्य जे
दुन जन्मन हंज हर्पजे हान।

न जि जांह ज्यविजे नजि जांह मयं जे
मन किज सोर्य जे श्री बगवान ॥

ईश्वर का ध्यान धर कर दोनों जन्मों की हानि को दूर करना, फिर न कभी जन्म लेना और न कभी मरना। मन से भगवान् का स्मरण करना।

[५]

राम जुव श्याम रूप हावे,
परम गय प्रावनावे ॥

रामचंद्रजी श्याम-मूर्ति दिखा कर (हम को) परम गति को पहुँचा देगा।

यूग शोग ह्यय ज्यय हारे,
अचि मंज शान्त वारे।
ब्रह्मानन्द की पोश छावे,
परम गय प्रावनावे ॥

योग का तोता मन की मैना को लेकर शांति की फुलवाड़ी में जायगा। वहाँ वह ब्रह्मानन्द के फूलों का स्वाद दे कर परम गति को पहुँचा देगा।

फरि सत संग बोलबाशे,
चटि मूह वाल वाशे।
हंस पखवय बुफनावे,
परम गय प्रावनावे ॥

(वह) सत्संग की बातें करेगा; मोह के जाल को काटेगा; हंस के पंरों से उड़ायेगा और परम-गति को पहुँचा देगा।

बखच ओला येरनावे,
शखच सत्य बसावे।
अमर्यय की फल ख्यावे,
परम गय प्रावनावे ॥

(वह) भक्ति का घोंसला बनवा देगा। शक्ति से मिला कर बसायेगा। अमृत के फल खिलायेगा और परम गति को पहुँचा देगा।

पोशनूल जन गंजरावे,
 प्रेयस गीय ग्यवनावे।
 नाव सुमरय सुस्थ थावे,
 परम गय प्रावनावे॥

(वह) पोशनूल की तरह (वागों में) प्रेम के गीत पढ़ायेगा। नाम-स्मरण में स्वस्थ रखेगा और परम गति को पहुँचा देगा।

रुद्ध मत्य जन मननावे,
 आय्म तीर्थ मन नावे।
 निष्काम जल दाम च्यावे,
 परम गय प्रावनावे॥

(वह) मानो रुठे हुआँ को मनायेगा; आत्मा के तीर्थ में मन को साफ़ करेगा; निष्काम जल को पिलाएगा; और परम गति को पहुँचा देगा।

[६]

क्याह यावुन यिधिना फीरिय,
 मानंदि तीर जन गोम नीरिय॥

काश वह यौवन फिर आता, जो तीर की तरह निकल चला !

दम तिहुंदय क्याह यिधि दरकार,
 यस न सत्य आसि यनुन यार।
 ख्ययि अफसूस अय गछि मूरिय,
 मानंदि तीर जन गोम नीरिय॥

उस के जीवित रहने से क्या लाभ है जिस का यार साथ न हो ? वह हाथों को मलते हुए शोक करेगा—हाथ तीर की तरह यह (यौवन) निकल चला।

रिंद आशक हा ज़िंदग मूदे
 तिम हस तोर क्युत मुकलिय गय।
 गछि खाक स खाक नत मीलिय,
 मानंदि तीर जन गोम नीरिय ॥

मस्त प्रेमी जीवित ही मर गए और वे ही इस संसार के दुःखों से छूट गए; नहीं तो मिट्टी के साथ मिट्टी मिल जायगी। हाय, यह (यीवन) तीर की तरह चला गया।

मो नाज यय यावन रायस,
 यावन मंजय प्यत पायस।
 गर छ्युय गछुन पान थव शीरिय,
 मानंदि तीर जन गोम नीरिय ॥

इस यीवन-रूपी राजा का अभिमान मत कर। यीवन काल में ही विचार कर, यहाँ से घर जाना है, इस लिए शरीर को तैयार रख, हाय, तीर की तरह यह (यीवन) चला गया।

[७]

यार चोलमय चूरि चूरे,
 मूरि योवुनम लोल नार।
 कर सना म्य ड्यक पूरे
 यार अचि हे आंगन ॥

मेरा यार चोरी-चोरी से भाग गया। उस ने मुझ दहनी में प्रेम की आग लगा दी। मेरे भाग्य कब खुलेंगे कि वह मेरे पास आएगा?

रय व बंद सय दूरि दूरि
 मूरि योवुनम लोल नार ॥

मैं अपना खून बरतनों में निकाल-निकाल कर उपहार दूँगी। (उस ने) मुझ दहनी में प्रेम की आग लगा दी।

यार चोलुम तय कति छांडन
 आर आस नय व्यसियय ।
 यारस रो स्तुय वाग फोलमय
 कुस म्य छाव्य म कर क्या ह ॥

मेरा यार भाग गया। अब उस को कहाँ ढूँँ? हे सखि! मुझ एक मात्र पर उस को दया नहीं आई? उस की अनुपस्थिति में (मेरे जीवन-रूपी) वाग में वसंत आया। कौन इस वाग का रस लेगा? हाय, मैं क्या करूँ?

फीरम जरदी रंग रोयस
 मार फरनस व्यसियय ।
 अम्य धारन वेआरन
 खार थोव नम दर दिल ॥

मेरे लाल वर्ण के मुख पर पीला रंग छा गया। हे सखि! मैं भारी गई! इस निर्दय ने मेरे दिल को मसल डाला।

नेर हा नन्य वन्य व दिमसय
 वार छुम नय व्यसियय ।
 गरि द्रायस मायि तिहिदे
 रुदुम कय सना शाये ॥

मैं बाहर निकलती और उस की खोज करती; मगर हे सखि! मैं विवश हूँ। मैं घर से उस की प्रीति से निकल भी गई तो वह कहाँ है, यह कौन जानता है।

जायि जाये वन्य दिमसय
 वजि प्राये व्यसियय ।
 लोलमतय सय ललि करसय
 फरस लुलमत लाय ॥

हे सखि! मैं स्थान-स्थान में ऊपर को देखती हुई उग को ढूँँगी। उस प्रिय-तम प्यारे को बहुत प्यार करती हुई बलिहारी हो जाऊँगी।

क्य थो जाज्ययस आमतावय
 व्यय नाविय गोम ।
 पान आल वस यिलि वडेशन
 करस वालिज्य मंज जाय ॥

उस ज़ालिम ने मुझ को जलाया । फिर छोड़ गया । जब मैं उस को देखूंगी तो
 बारी हो जाऊँगी और हृदय में उसे स्थान दूँगी ।

[८]

अस्य आय लारान लोल सती,
 लो लती लो ।

हम प्रेम से खिंचे हुए दौड़ते हुए आए, हे प्यारी ! आँखों की पुतली !

यय अश्क बागस वन्य म्य दिती,
 रीबुम सोरुप दोह ।
 यिम पोश लागस कारि पती
 लो लती लो ॥

प्रेम के उपवन में मैं ने उसे ढूँढ़ा । सारा दिन बीत गया । यह फूल मैं (उस के)
 सिर में लगाऊँगा । हे मेरी प्यारी ! आँखों की पुतली !

अर्जा बोज़ तम रोज़ अती,
 बोज़ तम आरिजो ।
 यिम नाज कदम त्राव सोती,
 लो लती लो ॥

ज़रा ठहरो । मेरी प्रार्थना मुनो और मेरी इच्छा से परिचित हो जाओ । अहा !
 यह अदा की चाल ! शनैः-शनैः चलो । हे मेरी प्यारी ! आँखों की पुतली !

रातस गारान गाम बान्ती,
 लूचुम सना दोह ।

जायन ब करता नाल मती,
लो लती लो॥

रात बीत गई; ढूँढ़ते-ढूँढ़ते मैं विह्वल हो गई। अब दिन भी समाप्त हो गया।
क्या मैं (उन) जगहों को आलिंगन करूँगी! मेरी प्यारी! आँखों की पुतली!

जुल्फ चयानी छिय बबरि फोती,
नत यास्मन पोश।
शवान क्याह छिय च्य कारि पती
लो लती लो॥

तुम्हारी जुल्फें बरुँ की डालियाँ हैं या मालती के फूल। अहा ये तुम्हारी गर्दन
के पीछे कैसी शोभा दे रहे हैं! हे मेरी प्यारी! आँखों की पुतली।

वादाम च्यशमव जीनिमती,
चदमं नरगिस आ हो।
डीशिय हिरनव जंगल रटी,
लो लती लो॥

(तुम्हारे) वादामी नेत्रों ने नरगिस फूल और हरिण को जीत लिया है; (यह)
देख कर हरिणों ने वन का आश्रय किया है। हे मेरी प्यारी! आँखों की पुतली!

[९]

बुछ्त गोलनस अम्य दिलदारन लोल नारन कोरनम सूर।
खूनि दिल छुस चशमव हारन लोल नारन कोरनम सूर॥

देख, इस दिलदार (माशूक) ने मुझ को खराब किया। प्यार की आग ने मुझे
जलाया है। मैं दिल का खून नेत्रों से निकालता हूँ। प्यार की आग ने मुझे जलाया है।

बुछिय त्रोवनस अश्कज्य मारन बलि फर छुम ललबुन नार।
तंद लाबिय चोल लाचारन लोल नारन कोरनम सूर॥

प्रेम-रूपी साँप ने मुझे डस लिया है। इस पीड़ा से मैं कब मुक्त हो सकूँगा? मुझे

इसे सहन ही करना होगा। वह (हम) असहायों को प्रलोभन दे कर चला गया। प्रेम की आग ने मुझ को जलाया है।

पश नोवतस चोन वन्य पहरन छुम न हावान माहि रखसार।

गोश थाबिना जारन त पारन लोल नारन कोरनम सूर ॥

(उस ने रात के) चारों पहरोँ में मुझे उदासी का अनुभव कराया। तो भी चढ़े चाँद का-सा मुख वह नहीं दिखाता। क्या (वह) मेरी इस विनती पर कान नहीं देगा? मुझे प्रेम की आग ने जलाया है।

रंगि बुलबुल चाव लाल जारन नाल प्रावान खुश गुफ्तार।

मस दिय म्य रुदुम कितारन लोल नारन कोरनम सूर ॥

बुलबुल की तरह (वह) लालों के उपवनों में चला गया और मीठे स्वर से फरियाद करने लगा। मुझ को मतवाला बना कर उस ने कितारा पकड़ा। प्रेम की आग ने मुझे जलाया है।

आन डवि प्यठ माशोक प्रारन रय तम्य सुन्द छु पुर अनवार।

तंवलावान नेको कारन लोल नारन कोरनम सूर ॥

शीशे के वरामदे पर माशूक इंतिज़ार करता है। उस का मुख चमक रहा है, और वह कैसे-कैसे नेक काम करने वालों को भी विह्वल करता है। प्रेम की आग ने मुझे जलाया है।

वंद मिस्कीन जोल अश्क नारन करि क्याह प्योस स्वरनुय यार।

पत लारान साहिब कारन लोल नारन कोरनम सूर ॥

वंदे गरीब को इश्क की आग ने जलाया। क्या करें, यार का खयाल रखना ही पड़ा। (यह) उत्तम काम करने वालों के भी पीछे-पीछे दीड़ती है। इसी ने मुझ को भी जलाया है।

[१०]

वनत हय व्यस्य यार म्योनूय,

यार छा गमलार छा।

सीन जोलनम अशक नारी,
यूत जालिम धार छा ॥

ऐ सखि ! तुम कहो कि यह मेरा यार है, या गमखवार है ? प्रेम की आग ने मेरे कलेजे को जलाया है। क्या यार इतना जालिम है ?

तंव लाविय दूरि चोलुमय,
दूरि हाविय चूरि ख्य।
मिहर छा महताब छा
गुलजार छा खलसार छा ॥

वह मुझ को दूर से चोरी-चोरी मुंह दिखा कर तरसाता हुआ चला गया। सूरज है, या चाँद है ? गुलजार है, या खलसार है ?

जुल्फि मिशकीन याम ब्रोवुन,
आशकन थोवुन फिराक।
जुल्फ छा जंजीर छा या,
सुम्बले तातार छा ॥

ज्यों ही उस ने अपनी शोभायमान जुल्फें फैलाई त्योंही प्रेमी विकल हो गए। क्या यह जुल्फ है ? या साँकल है ? या तातार का सुंबुल है ?

दामि गंसो कोसि अन्नो,
तीरि भिजगान तेगि नाज।
हुस्न की सामान छा यिम,
चूर छा हथियार छा ॥

केशपाश का जाल, भ्रू-भंग का धनुष, पपनी का तीर, और हाव-भाव की तलवार—क्या ये सौंदर्य की सामग्रियाँ हैं या चोर (चित्त के चुराने वाले) हैं या आयुध हैं ?

नागिराय छायि खुम,
जाय फरनस हिय माल।

च्यश्मसय मंज रुद जागिय,
या सु लागिय मार छा ॥

उस 'नागिराय'^१ (नागों के राजा) ने छाया में छिप कर मुझे 'हियमाल' को बहुत हानि पहुँचाई। या वह साँप वन कर किसी चश्मे में ताक लगाये बैठा तो नहीं है ?

बुलबुले सहरी .चोलुम त्रा—,
विय गुलत छयम न खबर।
रञ्जिशे दिल तस ज्यमन छा,
या ज़िरोके खार छा ॥

(वह) प्रभात का बुलबुल गुल को छोड़ कर चला गया। मुझे मालूम नहीं है कि वह मुझे से अप्रसन्न है या मुझे तड़पाना चाहता है।

जोश गोंडनम अशक नारन,
वाल यारन न्यूम होश।
पोश मोत वागस अन्दर छा,
या लवे अनहार छा ॥

प्रेम की अग्नि ने (मुझे) जलाना शुरू किया। यार ने मेरे होश उड़ा दिए। न जाने वह वाश में है या नहर के किनारे पर है ?

गछत है व्यस्य अस्त पाठिन,
बुछत आमृत यार छा।
दूरिख वर क्या स्य छा,
या मन्दिन्यन गटफार छा ॥

हे सखि ! तुम धीरे-धीरे जाओ और देखो, वह आया तो नहीं ? क्या यह मेरा भ्रम है ? या मध्याह्नकाल ही मुझे अंधकार सा दिखाई पड़ता है ?

^१ यहाँ 'नागिराय' और 'हियमाल' की कथा की ओर संकेत किया गया है।

स्फुट प्रसंग

१-कवि पेमी और उस की हिंदी कविता

मुझे अभी एक हस्तलिखित पुस्तक प्राप्त हुई है, जो फ़ारसी अक्षरों में लिखी है। इस का नाम 'पेमपरकाश' है। इस के रचयिता का उपनाम पेमी है। इस की भाषा हिंदी है। इस का विषय सूफ़ी-मत के अनुसार ईश्वर-प्रेम है। अनेक छंदों में यह लिखी गई है। खुदा और रसूल की तारीफ़ करने के बाद साह मुहीउद्दीन पीर की तारीफ़ कर के कवि अपना और अपनी रचना का परिचय इस प्रकार देता है—

औरंगजेब के राज में, भई ग्रंथ की आस।
पेमी नांओ विचार के, धरी पेम-परकास ॥
हम वासी स्त्री नगर के, आय चसे सब छोर।
मार हर ऐसे नगर में, जहाँ साह नहीं चोर ॥
हम पूरब के पुरबिया, जात न पूछें कोय।
जात पात सो पूछिए, जो धुर पूरब का होय ॥

इस की कविता बड़ी सुंदर है और इस की कविता का उद्देश्य सराहनीय है। इस के कुछ पद नीचे उद्धृत किए जाते हैं, जिस से इस कवि की मनोहर वाणी और श्रेष्ठ भावों का कुछ परिचय प्राप्त होगा—

(१)

पेमी हिंदू तुल्क में, हर रंग रहो समाइ।
वेचल और मसीत में, बीप एक है भाइ ॥

(२)

मारग तिय परेम की, जानो चाहे कोय।
मगरमच्छ के वदन में, प्रथम चसेरो होय ॥

(३)

पेमी हरदरसन ललित, फूल रही फुलवार ।
फिल् संवात् विल् अर्ज में, देखो आँख पसार ॥

(४)

सुख आवे जब मित्त की, औ होत सुरत में एन् ।
मोती माला आँसु की, नौछावर करें नैन ॥

(५)

तुम सूरज हम दीप निस, अजुगति कहै सुनाय ।
बिन देखै नहि रह सकूँ, देखै रहौ न जाय ॥

(६)

हौं चकई वा सिव की, जहाँ न सूरज चंद ।
रात दिवस नहि होत है, नाँ डुख नाहि अनंद ॥

(७)

मन पारा तन की खरी, ध्यान ज्ञान रसमोय ।
बिरह अगन सँ फूँक दै, निरमल कुंदन होय ॥

(८)

जहाँ पीत तहँ बिरह है, जहाँ सुख दुख देख ।
जहाँ फूल तहँ काँट है, जहाँ दरव तहँ सेख ॥

(९)

बीज बिरछ नहि दोइ हैं, रुई चीर नहि दोय ।
दव तरंग नहि दोइ हैं, बूझो ज्ञानी लोय ॥

(१०)

रक्त पान पकवान तन, हियो रसोई सार ।
बैठी बिरहा रावरी, सदा करत जिवनार ॥

(११)

मधुकर जात न ओसन प्यास ।
ध्यान ज्ञान फछु काम न आवत, कीनो घट्ट अन्व्यास ॥

हम चाहक वह रूप मनोहर, तुम क्या जोग बखानौ ।

आंव छाडि के गिने लख कौं, सोई पुरुष अयानो ॥

जामें सुरत होय ध्यानन की, ताको जाय चत्ताओ ।

हम डोरत वोरें वरानी, हमे कहा समझाओ ॥

जो तु रंग बन ताजन दोरे ताकी दीजे आस ।

पेमी दरसन हेत को , अरनी बन बन फिरत उदास ॥

इस प्रकार साठ-त्रासठ पृष्ठ की कवित्त-छप्पय-दोहे और राग-रागिनियों में लिखी हुई यह हिंदी कविता, एक मुसल्मान ईश्वर-भक्त की है जिस का प्रेम-संदेश हिंदू-मुसलमानों को एकत्रित करने के लिए हिंदी भाषा में बड़े गौरव की चीज है । सुविधा प्राप्त होने पर यह कविता पुस्तकाकार में छपवाई जा सकती है; इस से न केवल कविता का किंतु औरंगजेब के समय की हिंदी भाषा के रूप का भी भला बोध होता है । फारसी अक्षरों में लिखी होने के कारण इस के पढ़ने में कठिनाई है, कहीं-कहीं कागज को कीड़ों ने खा लिया है इस लिए कुछ शब्द अभी दुर्बोध हैं, तथापि आशा है कि परिश्रम करने पर यह कार्य सफल होगा ।

लक्ष्मीधर शास्त्री

२-कौशांबी का एक नया सिक्का

हाल में मुझे कौशांबी से एक तांबे का सिक्का मिला है, जो बड़े महत्व का है । उस में गुप्तकालीन अक्षरों में 'कोसाम्बी' लिखा हुआ है । विशेष महत्व इस सिक्के का यह है कि अब तक कौशांबी में कोई ऐसा सिक्का नहीं मिला था जिस में शब्द 'कोसाम्बी' लिखा हो, और जो कौशांबी कहाँ है इस को निश्चिन्त रूप से स्थिर करता हो । कौशांबी के संबंध में पुरातत्त्व-वेत्ताओं में बड़ा मतभेद रह चुका है । विन्सेंट स्मिथ का कथन है कि कनिंगहम जिस को बौद्ध कौशांबी बतलाते हैं, वह बौद्धों की कौशांबी नहीं है, बल्कि जनों की है । बौद्ध कौशांबी सतना के पास कहीं है । कनिंगहम का कहना था कि बौद्धों की कौशांबी यही है, जो मंजनपुर तहसील जिला इलाहाबाद में है और जो प्रयाग से लगभग ४० मील पर है । यह विषय विवाद-ग्रस्त इस कारण से हो गया कि ह्येनसांग ने अपने भ्रमण-वृत्तांत में एक जगह यह लिखा कि यह बौद्ध कौशांबी में गया था और वह प्रयाग से ५०० ली दूरी

पर थी। दूसरी जगह उस ने यह लिखा कि कौशांबी प्रयाग से १५० ली दूरी पर है। इस पर विवाद छिड़ गया।

कनिंगहम जब १८६८ में कौशांबी गए तो उन्होंने ने इस की खूब जाँच-पड़ताल की, और उन्होंने ने यही निश्चय किया कि इलाहाबाद ज़िले वाली ही बौद्ध कौशांबी है। परंतु विसैंट स्मिथ अपनी ही बात पर अड़े रहे। उस समय तक कोई ऐसा पक्का प्रमाण, शिलालेख, ताम्रपत्र, या सिक्के के रूप में नहीं मिला था जो अकाट्य रूप से इस का निश्चय कर सके। जैसे-जैसे समय बीताता गया कनिंगहम के मत की पुष्टि होती गई। कनिंगहम के पक्ष में उस समय तक केवल दो ही लिखित प्रमाण थे। एक तो वह शिलालेख जो कि इस समय पभोसा के धर्मशाला में लगा हुआ है। यह लेख किसी विशेष महत्व का नहीं है, क्योंकि वह बहुत पुराना नहीं है। वह इस प्रकार है—

चन्द्रसात्पुत्रसाक श्री हीरालालेन कौशाम्बी नगर बाह्य । प्रभासा चलोपरि श्री पद्मप्रभजिन दीक्षा ज्ञान कल्याण । कक्षभे श्री जिन विम्ब प्रतिष्ठा करित ।

अरेज बहादुर राज्ये शम.

इस लेख में संवत् १८८९ और प्रयाग लिखा हुआ है।

दूसरा शिलालेख इस से पुराना है। यह लेख अशोक-स्तंभ, जो इस समय भी कौशांबी में है, उस के ऊपरी भाग में खुदा हुआ है। यह लेख नांगरी अक्षरों में है। इस लेख में कुछ सुनारों ने गणेश और शिवभैरव की स्तुति कौशांबी के सुनारों के मंगलार्थ की है। लेख में संवत् १६२१ जो ईसा का सन् १५६५ है, दिया हुआ है। विसैंट स्मिथ इन दोनों शिलालेखों से संतुष्ट न थे। और उन का संतुष्ट न होना किसी हद तक सही भी था। पहला लेख तो बिल्कुल नया था, और दूसरा लेख यद्यपि १५६५ ई० का था परंतु उस से इतना ही सिद्ध होता था कि जिन सुनारों ने इस लेख को खोदा था, वे कौशांबी के रहने वाले थे। यह नहीं सिद्ध होता था कि जिस स्थान पर वह स्तंभ और लेख था, वही कौशांबी है।

तीसरा लेख जो इस से भी पुराना था और जिस का पता उन्नीसवीं शतवादी के आरंभ में लगा वह संवत् १०९३ का था। यह लेख कढ़े के किले के फाटक पर खुदा हुआ था और अब इंडियन म्यूजियम कलकत्ते में है। वह शिलालेख अशुद्ध संस्कृत में है, और इस प्रकार है—

ओम् सं० १०९३ आपाढ़ सुदि १ अद्यहं श्री मत्कटे महाराजाधिराज यसः
पाला कोसाम्बमण्डले पयलास ग्रामे महन्त मनुसमादिसति यया पभोसेकीय मायुर
विकटस्य सासनत्वं प्रसादि कृत्य मत्वमाग भोगाकर हिरन्य प्रत्यादायादिकं मत्वोपने
तव्यमिति दसवंधेनसह अलभ्रत पुत्र पौत्राणां

इस का अर्थ संक्षिप्त में यह है—

सं० १०९३ आपाढ़ सुदी १ के दिन महाराजाधिराज यशस्वी यशपाल, कड़े में
आने के अवसर पर पयलास ग्राम के महंत को आदेश करते हैं कि यह गाँव उन्होंने दान में
पभोसा निवासी मयुरा वकट को दे दिया है। उस गाँव की कुल आमदनी उन को और
उन के पुत्र-पौत्रों को मिला करे। पुरातत्त्व-विभाग के भूतपूर्व डाइरेक्टर-जनरल राय
बहादुर दयाराम साहनी ने कड़े के आस पास पयलास ग्राम की बहुत खोज की तो उन
को मालूम हुआ कि कड़े से पाँच मील उत्तर-पश्चिम पर एक ग्राम है जिस का नाम परास
है। साहनी जी को संदेह नहीं है, कि यह वही पयलास ग्राम है जिस का वर्णन उपर्युक्त
शिलालेख में है। यह सही भी हो सकता है क्योंकि व्याकरण का सूत्र है कि “रलयो
रभेदः” अर्थात् र और ल में कोई भेद नहीं है, और बोलचाल में ऐसा परिवर्तन हो भी जाता
है। इस लिए पयलास से पयरास और पयरास से परास हो जाना असंभव नहीं। परंतु
फिर भी अक्षरों की खींचातानी ही से इस शिलालेख द्वारा कोशांबी का स्थान निश्चित
करने में सहायता मिलती है।

चौथा शिलालेख जो सब से अधिक महत्व का है वह संवत् १२४५ का है। यद्यपि
यह लेख कड़ा के शिलालेख के लगभग २०० वर्ष बाद का है परंतु इस में शब्दों की खींचातानी
की आवश्यकता नहीं। गाँव का नाम स्पष्ट रूप से लिखा है, और वही नाम अब तक चला
आता है।

यह शिलालेख इलाहाबाद म्युनिसिपल म्यूजियम में सुरक्षित है। लेख इस प्रकार
है—

ओम् परम भट्टारकेत्यादि राजावली पञ्चत्पोपेता श्वपति-गजपति-नरपति
राजत्रयाधिपति विविधविद्याविचारवाचस्पति श्रीमज्जयचंद्रदेवराज्ये सम्बत् १२४५
अद्येय कोशाम्ब पतलाया गेह्यडग्रामवास्तोकि श्रीवास्तव्य ठक्कुर श्री
सिद्धेश्वरस्य प्रसावम् अका (रयत्)

मैंने इस शिलालेख को मेहवड ग्राम से जो कौशांबी से लगभग दस मील की दूरी पर है लाकर इलाहाबाद म्यूजियम में रक्खा है।

इन सब शिलालेखों से यह ज्ञात होता है कि कौशांबी के स्थान का प्रमाण १०६५ के पहले का कोई नहीं मिला। यह गौरव प्राचीन मुद्राशास्त्र ही को प्राप्त था कि वह कौशांबी की स्थिति के संबंध में आज से लगभग १७०० वर्ष पहले का प्रमाण दे सके। वह प्रमाण एक नया ताँवे का सिक्का है, जो कौशांबी ही से मिला है। यह सिक्का प्रसिद्ध 'लैंकी वुल' (दुर्बल वेल) के प्रकार का है। 'लैंकी वुल' सिक्के तो बहुतेरे कौशांबी में मिल चुके हैं। इन सिक्कों के एक ओर एक वेल और दूसरी ओर मेरु, स्वस्तिक, चक्र, इत्यादि कई प्रकार के चिह्न होते हैं। परंतु उन पर कोई लेख प्रायः नहीं होता। यह जो नया सिक्का प्राप्त हुआ है, वह इस प्रकार है—

सामने—

एक वेल खड़ा हुआ, बाईं ओर पैर बढ़ाए जा रहा है, वेल के ऊपर सिर के निकट 'कोसाम्बी' लिखा हुआ है। वेल के पिछले पुट्टे के ऊपर X चिह्न है—

पीछे—

कई फल का चक्र, उज्जैन चिह्न, यानी क्रॉस के चारो कोने पर लट्टू, मेरु या चैत्य, और भी कई चिह्न हैं—

यह सिक्का अभी पूर्ण-रूप से साफ़ नहीं किया जा सका है। मुमकिन है साफ़ हो जाने पर और चिह्नों का पता चले। यह सिक्का इलाहाबाद के म्युनिसिपल म्यूजियम में सुरक्षित है। 'लैंकी वुल' प्रकार के सिक्कों का समय ईसा की तीसरी शताब्दी निर्विवाद रूप से निश्चित हो चुका है, इस लिए कौशांबी के संबंध में यह प्रमाण सब से पुराना है।

ब्रजमोहन व्यास

३—'रामचरितमानस' की सब से प्राचीन प्रति के तीन पृष्ठ

जनवरी सन् १९२५ की 'हिंदुस्तानी' में मैंने एक लेख 'रामचरितमानस की सब से प्राचीन प्रति' शीर्षक लिखा था जिस में मैंने सं० १६६१ में लिखी गई 'रामचरितमानस'

रिहो मुविष्वतगादिजोरिस्तोलाभावाशी ॥ १० ॥ ॥ जय धुनिवेदीवेरधुनिमंगलगा
नभिताना ॥ सुनिहरषहिवरपहिविबुधधुरतरुधुमनमुनाना ॥ १२ ॥ ॥ कुश्रुकुश्रिकलभा
वरिहो ॥ नमनलामुसवसादरलेरी ॥ मनडुमदनरतिधुरिवडुनया ॥ देपतरामविश्राऊ
अनपा ॥ दरसलालसासकुचनयोरी ॥ प्रगटतउरतवहोरिवदीरी ॥ अयेमगानसवदप
निरारि ॥ जनकसमानअपानवितारि ॥ प्रमुदितमुनिनभानरीकरी ॥ नेगसहितसवरी
तिनिवेरी ॥ रामुसायतिरसेउरदेही ॥ सीभाकहिननातिविधिकरी ॥ अरुनपरागजल
नुभरिनीके ॥ सासिहभषअहिलोभअमीकी ॥ वडरिवसिषदीनिअनुसासनावरु
उलहितिबेटेएकआसना ॥ ॥ कड ॥ ॥ वैठेवरासत्रामुनानकिमुदितमनदसर

नकिनकिनीरमहीसचलावा। करिछलसुअरसरभववावा। प्रकटतुदुरतजार
मगभागा। रिसवसरूपवलेउसंगलागा। गण्डुदरिचनगहनवराह। जहनाहि
नाजवागिनिवाह। अतिअकेलवनविपुलकलेआतरपिनमगमगतनैनरे
हा। कोलाविलोकिभूपवंधीरा। भागिपठगिरिगुहागभीरा। अगमदयेपिनपु
अतिपण्डितारी। पिरउमसावनपरेअमुलादी। ॥ दोहा ॥ ॥ पिरपिनरुदितनपि
नराजावाजिसमेता। पोतनवाकलसरितसरजलविबुधअउअवेता। ॥ ५० ॥
पिरतविपिनआअमएकदेयात। हरिवसभोवकरजानी। आपनअतिअसमय
अनुमानी। ॥ गणउमटमेनवजगलाती। मिलानरझारिपअभिमानी। ॥ रिस

की एक हस्तलिखित प्रति का सविस्तर परिचय दिया था। साथ ही मैं ने उस में किए गए कुछ संशोधनों की लिखावट के संबंध में यह विचार किया था कि वे तुलसीदास की हस्तलिपि में हैं या नहीं। यह विचार दो पृष्ठों के संशोधनों को लेकर किया गया था जिन की लिखावट एक व्यक्ति की ज्ञात होती थी और तुलसीदास की मानी जाने वाली अन्य लिखावटों से अन्य संशोधनों की अपेक्षा अधिक निकट थी। उन्हीं दो पृष्ठों में से एक का चित्र प्रस्तुत चित्रों में से पहला है। अन्य दो पृष्ठों के भी संशोधन तुलसीदास के किए हुए कहे जाते हैं किंतु, वे तुलसीदास की लिखी हुई मानी जानेवाली लिखावटों से और भी कम साम्य रखते हैं; शेष दो चित्र उन्हीं दो पृष्ठों के हैं। ये चित्र जिस समय उपर लेख लिखा गया था उस समय प्राप्त नहीं थे इस लिए अब दिए जा रहे हैं। मूल प्रति, जैसा लिखा जा चुका है, श्रावणकुंज अयोध्या में सुरक्षित है।

माताप्रसाद गुप्त

समालोचना

कविता

श्री राजराजेश्वरी-ग्रंथावली—रचयिता, राजा राजराजेश्वरी प्रसाद सिंह, 'प्यारे' (भूतपूर्व सूर्यपुराधीश) । प्रकाशक, श्री राजराजेश्वरी-साहित्य-मंदिर, सूर्यपुरा, शाहाबाद (बिहार) । १९३७ । मूल्य ५)

सूर्यपुरा का राजकुटुंब अपने साहित्य-प्रेम और साहित्यिकों को आश्रय देने के लिए प्रसिद्ध रहा है । प्रस्तुत ग्रंथ में राज्य के वर्तमान स्वामी राजा राधिकारमणप्रसाद सिंह ने, अपने स्वर्गीय पिता की प्राप्य रचनाओं को एकत्र कर के सुरक्षित करने का उद्योग किया है । इस के संपादन में हिंदी के कुशल साहित्य-सेवी श्री शिवपूजन सहाय जी का भी हाथ रहा है । वर्तमान राजा साहब ने ग्रंथावली के भूमिका-भाग में लिखा है:—“इन रचनाओं का रचना-काल आज से लगभग ५० वर्ष पूर्व का है । इस बीच हिंदी-साहित्य की जो अभूतपूर्व प्रगति और उन्नति हुई है, वह सचमुच आश्चर्यजनक है । शृंगार-रस और ब्रजभाषा की रचनाएँ अब असामयिक प्रतीत हो रही हैं; पर जिस समय ये रचनाएँ रची गई थीं, वह समय आज से सर्वथा भिन्न था । मेरे पिता जी हिंदी-भूषण भारतेन्दु हरिश्चंद्र के समकालीन थे और उन से इन की खासी घनिष्टता थी । ब्रजभाषा की रचनाओं और शृंगार-रस की प्रधानता का वह युग था । उस समय यदि इन का प्रकाशन हुआ रहता, तो हिंदी-साहित्य में इन का क्या स्थान होता, यह विचारने की बात है ।” यह वक्तव्य परिचयात्मक होने के साथ आलोचनात्मक भी है । संग्रह में रचयिता के गद्य तथा पद्य दोनों के ही उदाहरण मिलेंगे और दोनों ही पर ५० वर्ष पूर्व की छाप है । प्रकाशक का कहना है कि “यद्यपि ग्रंथावली की कुछ चीजें अधूरी ही हैं, तथापि प्रकाशित कर दी गई हैं; क्योंकि ग्रंथकार की एक पंक्ति को भी नष्ट होने देना अभीष्ट न था ।” ग्रंथकार के पूज्य पिता जी की कुछ स्फुट रचनाएँ परिशिष्ट-रूप में दे दी गई हैं । प्रकाशन सज्जज के साथ हुआ है ।

अर्चना—लेखक, वावू चंद्रभान सिंह । प्रकाशक, लक्ष्मी आर्ट प्रेस, दारागंज, प्रयाग । पृष्ठ संख्या, ४+१४८, मूल्य, १।।

इस पुस्तक में रचयिता की १०१ फुटकर कविताएँ भिन्न-भिन्न शीर्षकों से संग्रहीत हैं, और यह दारागंज प्रयाग की 'तरुण-भारत ग्रंथावली' की ४०वीं संख्या के रूप में प्रकाशित हुई है । कविताओं के विषयों में प्राकृतिक वस्तुओं से ले कर मानव-जीवन की विविध बातें तक आती हैं, और उन्हें कवि ने अपने ही ढंग से चित्रित करने का प्रयत्न किया है । भावों में सादगी किंतु कहीं-कहीं सुंदरता भी लक्षित होती है और यद्यपि भाषा एवं काव्यकला की दृष्टि से कवि का अधिकार पूरा नहीं कहा जा सकता, फिर भी प्रस्तुत संग्रह में ऐसी अनेक रचनाएँ मिलेंगी जिन में रचयिता के उज्ज्वल भविष्य का आभास स्पष्ट दीख पड़ता है । इस से पहले कवि की दो-एक और कृतियाँ निकल चुकी हैं । यह पुस्तक कवींद्र रवींद्र को समर्पित है और इस की भूमिका पंडित लक्ष्मीधर वाजपेयी ने लिखी है ।

प० रा० च०

आषाढ़—रचयिता तथा संपादक श्री भुवनेश्वरसिंह, "भुवन" । प्रकाशक, वैशाली-प्रेस, मुजफ्फरपुर (बिहार), मूल्य ॥

यथार्थ में यह ग्रंथ 'भुवन' जी की अपूर्व मैथिली कविताओं का एक छोटा-सा संग्रह है । आदि में कवि ने कविताओं के संबंध में एक संक्षिप्त किंतु रोचक भूमिका दी है । जिस से कवि के हृदय का परिचय हमें पूर्ण-रूप से मिलता है । 'भुवन' जी की कविताओं से प्रायः हिंदी जनता भी परिचित है । कवि ने अपने उद्गारों का एक छोटा संग्रह प्रकाशित कर कवि-समाज का जो उपकार किया है, उस के निमित्त हम उन्हें बधाई देते हैं । इन सभी कविताओं में भाव, भाषा तथा रचना-शैली मनोहर हैं । आशा है जनता इस ग्रंथ का उचित आदर करेगी ।

श्री उमेश मिश्र

नाटक

आनंदविजयनाटिका—रचयिता, श्री रामदास उपाध्याय; संपादक और

टिप्पणीकार, श्री भुवनेश्वरसिंह "भुवन" । प्रकाशक, वैशाली प्रेस, मुजफ्फरपुर (बिहार) । पृष्ठ संख्या २०+५८ । मूल्य ॥

यह चार अंकों में लिखित एक छोटी नाटिका है । यद्यपि प्रधान-रूप से यह ग्रंथ मैथिली भाषा में लिखा गया है, तथापि इस में तीन तो संस्कृत के पद्य हैं और कहीं-कहीं संस्कृत तथा प्राकृत भाषाओं में सरल गद्य भी है । मैथिली भाषा में पच्चीस सुंदर पद दिए हैं । राधा-माधव के मिलनोपाय का वर्णन ही इस छोटे ग्रंथ का विषय है । साहित्य के ग्रंथों में 'नाटिका' के जिन लक्षणों का वर्णन हमें मिलता है उन में से सभी लक्षण इस नाटिका में हमें नहीं मिलते हैं । तथापि प्रधान बातों के समावेद को देख कर इसे 'नाटिका' कहने में कोई विशेष आपत्ति नहीं देख पड़ती ।

ग्रंथकार पंडित रामदास झा पंडित कृष्णदास झा के पुत्र थे । गंगादास, गोविंद-दास, (प्रसिद्ध गोविंद-गीतावली आदि के रचयिता), और हरिदास इन के सौंदर भाई थे । जिला दरभंगा के लोहना ग्राम में इन का जन्म हुआ था । इन के पूर्वज सभी विशिष्ट विद्वान् और ग्रंथों के रचयिता हुए हैं ।

कवि रामदास झा मिथिला के राजा सुंदर ठाकुर के आश्रय में रहते थे । राजा सुंदर ठाकुर, मिथिलाराज्योपाजक महामहोपाध्याय महेश ठाकुर से लें कर नवें शासक हुए हैं । सुंदर ठाकुर का राज्यारंभ काल १०५१ फसली वर्षात् लगभग १६४८ ई० कहा जाता है । अतएव रामदास झा की भी स्थिति इसी समय में मानना होगा ।

नाटिका के भाव, भाषा तथा रचना शैली सभी अत्यंत मधुर हैं । शब्द-काठिन्य तो है ही नहीं । इन की कविताओं में उमापति उपाध्याय-रचित 'पारिजातहरण' का प्रभाव स्पष्ट मालूम होता है । बहुत से शब्दों में प्राचीनता की झलक भी स्पष्ट है । पुस्तक अत्यंत उपादेय है, इस में कोई संदेह नहीं । संपादक ने अपनी भूमिका और टिप्पणियों से इस के महत्व को अत्यधिक बढ़ा दिया है । जहाँ-तहाँ उन्हें सूर, तुलसी, विद्यापति, कालिदास आदि के भाव-सादृश्य मिले संपादक ने उन्हें उद्धृत पदों द्वारा दिखलाया है । अलंकारादि को भी यथास्थान चतलाने का प्रयत्न संपादक ने किया है । उन सब के लिए हम उन्हें हार्दिक धन्यवाद देते हैं । कोई भी मनुष्य इस ग्रंथ की टिप्पणियों को देना कर 'भुवन' जी के परिश्रम को समझ सगता है । आशा है इसी प्रकार आप के प्रयत्न ने और भी ग्रंथों के दर्शन होंगे ।

श्री उमेश मिश्र

साहित्य-समीक्षा

शतपंच चौपाई—(भावप्रकाशिका टीका-सहित)—मूल-लेखक, गोस्वामी तुलसीदास; टीकाकार पंडित श्री विजयानंद त्रिपाठी, महोपदेशक, साहित्य-रंजन । प्रकाशक, गीता प्रेस, गोरखपुर । पृष्ठ-संख्या, १२+३२६ । मूल्य ॥२॥

‘रामचरितमानस’ की स्वयं गोस्वामी तुलसीदास द्वारा निर्दिष्ट ‘शतपंच चौपाई’ किन्हीं समझना चाहिए यह प्रश्न अभी तक बहुत कुछ विवादग्रस्त रहता चला आया है । टीकाकार ने अपने मतानुसार इस का उत्तर प्रस्तुत पुस्तक में संगृहीत चौपाइयों को ही शतपंच चौपाई मान कर दिया है और इस के समर्थन में जो वक्तव्य द्वारा उस ने अपने तर्क दिए हैं वे युक्ति-संगत जान पड़ते हैं । उक्त चौपाइयाँ (जिन में कुछ दोहे भी सम्मिलित हैं) ‘रामचरितमानस’ के अंत में दिए गए कागभुशंडी व गरुड़ के संवाद वाले अंश में आती हैं, और ग्रंथ का उपसंहार-स्वरूप होने के कारण बहुत महत्वपूर्ण समझी जाने योग्य हैं । टीकाकार ने उक्त पद्यों को पाँच प्रसंगों में विभक्त कर उन्हें भिन्न-भिन्न शीर्षकों के अंतर्गत रखा है, और प्रत्येक चौपाई का भाव स्पष्ट करने के लिए उस की विस्तृत विश्लेषणात्मक व्याख्या की है, तथा भावसाम्य दिखलाने के लिए कहीं-कहीं उद्धरण भी दिए हैं । व्याख्या कहीं-कहीं आवश्यकता से अधिक लंबी हो गई है, फिर भी पुस्तक संग्रहणीय है ।

सौंदर्य-महाकाव्य—मूल-लेखक, महाकवि अश्वघोष; अनुवादक, पंडित रामदीन पांडेय, एम्० ए०, बी एल्०, अध्यापक, रांची कालेज (बिहार); प्रकाशक, श्री दुलारेलाल भार्गव, अध्यक्ष, गंगा-पुस्तक-माला, लखनऊ । पृष्ठ-संख्या, ११+९० । मूल्य ॥१॥

प्रस्तुत पुस्तक का विषय भद्रत अश्वघोष के सौंदर्य-महाकाव्य का केवल कथा-सार है । संकलयिता ने ‘वक्तव्य’ में अपने तथा पुस्तक के प्रकाशक के संबंध में कुछ परिचयात्मक एवं प्रशंसात्मक बातें लिखी हैं जो अनावश्यक प्रतीत होती हैं, और ‘उपक्रम’ में जो उस ने आलोचनात्मक विचार प्रकट किए हैं वे भी बहुत-कुछ अधूरे व अव्यवस्थित हैं । फिर भी अनुवादित अंश का गद्य अच्छा है, और उसे पढ़ते समय वैसा वाहरी प्रभाव नहीं दीखता । हाँ, एकाग्र स्थलों पर दो-चार वाक्य ऐसे अवश्य आ गए हैं जो, समानोच्च पुस्तक

की प्राचीनता की दृष्टि से, खटकने वाले कहें जा सकते हैं। उदाहरण के लिए “अतः यह नगर जनसंख्या में द्वितीय लंदन हो गया” (पृ० १५) तथा “ये वृक्ष ‘अरेवियन नाइट’ के भूगर्भ-स्थित उद्यान के वृक्षों को भी भात करते थे” आदि ऐसी बातें हैं जिन्हें काल व परिस्थिति को ध्यान में रखते हुए सर्वथा अनुपयुक्त कहा जा सकता है।

साहित्य की झांकी—लेखक, श्री गीरीशंकर ‘सत्येंद्र’ एम्० ए०, विशारद, शिक्षक सी० ए० इंटरमीडिएट कालेज, मयुरा। प्रकाशक, श्री भगवानदास केला, व्यवस्थापक, भारतीय ग्रंथमाला, वृंदावन। पृष्ठ-संख्या, २+५+१२६। मूल्य ॥॥

इस पुस्तक में लेखक के ७ साहित्यिक निबंध संग्रहीत हैं जिन में से प्रथम पांच का संबंध हिंदी साहित्य के भवित्काव्य से है, और अंतिम दो के विषय उन के शीर्षक क्रमशः ‘हिंदी नाटकों में हास्यरस्य’ एवं ‘भूषण कवि और उन की परिस्थिति’ से जाने जा सकते हैं। लेखक का उद्देश्य अपने उक्त निबंधों द्वारा हिंदी साहित्य में “अध्ययन शैली का स्वरूप उपस्थित करना और साहित्य के अमर रूप और उस के धारारूप की झांकी कराना है और इसी लिए उस ने विशेष कर अपने प्रथम “पांच निबंधों में भवित-काल तक के हिंदी साहित्य की मूल प्रवृत्तियों का अंतर्दर्शन” कराने की चेष्टा की है। लेखक के विचार इस विषय में अवश्य ध्यान देने योग्य हैं, क्योंकि किसी भी साहित्य के इतिहास का पूर्ण ज्ञान केवल उस के कवियों वा लेखकों तथा उन की रचनाओं का परिचय मात्र देने से नहीं हो सकता। साहित्य-संबंधी इतिहास के रचयिता का मुख्य लक्ष्य अपने साहित्य के वास्तविक रूप तथा उस के विकास की धाराओं के विविध क्रमों का पता लगाना होना चाहिए। हिंदी साहित्य के इतिहासकार अभी तक इस ओर समुचित ध्यान देते हुए नहीं दीख पड़ते, और अब आवश्यकता है कि इस बात के महत्व पर अधिक जोर दिया जाए। लेखक के सभी विचारों से विषय के विशेषज्ञ विद्वान् संभवतः सहमत न होंगे, किंतु पुस्तक विशेषकर नवीन दृष्टिकोण की ओर संकेत करने वाली होने के कारण पढ़ने योग्य है।

प० रा० च०

ल्यू पोएम्स इन हिंदी—लेखक, श्री ओ० सी० गांगुली। प्रकाशक, श्री ए० एन्० गांगुली, ६ ओल्ड पोस्ट आफिस स्ट्रीट, कलकत्ता। २९ सादे और ४ रंगीन चित्र सहित। ५६ पृष्ठ। १९३६। मूल्य ५)

गांगुली महोदय भारतीय कला के मर्मज्ञ हैं और कलकत्ते से “रूपम्” नाम की जो कला पत्रिका निकला करती थी, उस के संपादक रह चुके हैं। अब आप ‘लिट्ल बुक्स आन् एशियाटिक आर्ट’ नाम की एक ग्रंथमाला निकाल रहे हैं, जिस में एशियाई कला के विविध अंगों पर विवेचन निकल रहे हैं। प्रस्तुत पुस्तक उसी ग्रंथमाला में चौथा प्रकाशन है। सजवज, छपाई-सफाई और चित्र-संकलन की दृष्टि से पुस्तक सचमुच कला की वस्तु जान पड़ती है।

परन्तु हिंदी की प्रेम-संबंधी कविताओं पर जो लेखक का छोटा-सा निबंध है, वह विषय का विस्तार देखते हुए अपूर्ण भी है और एकांगी भी। आरंभ में ही लेखक ने यह स्वीकार कर लिया कि उस का हिंदी कविता का परिचय गंभीर परिशीलन पर आश्रित नहीं है। अधिकांश रीति-कालीन पद्यों के फुटकर उदाहरण के आधार पर हिंदी के वृहत् कविता-साहित्य की आलोचना कर डालना किंचित् साहस का काम है। पुस्तक में उद्धृत हिंदी कविताओं के पाठ प्रूफ की अशुद्धियों के कारण नितांत भ्रष्ट हो गए हैं। इन अशुद्धियों की संख्या सैकड़ों में जायगी। लिप्यंतर भी शुद्ध नहीं हुआ है। कविताओं के अनुवाद शाब्दिक नहीं हैं, जैसा कि शास्त्रीय ग्रंथों की रीति है, वरन् उन में बड़ी स्वतंत्रता ली गई है। फिर भी संग्रह जैसा हुआ है, अंग्रेजी पाठकों के लिए मनोरंजक होगा। जो कविताएँ उद्धृत की गई हैं वह वास्तव में पुस्तक में संग्रहीत चित्रों को स्पष्ट करने के लिए, और इस दृष्टि से संकलन अनुपयुक्त नहीं है। चित्र भारतीय चित्रकला की विविध शैलियों के परिचायक हैं और अपने ढंग के उत्कृष्ट नमूने हैं। पुस्तक की चारुता पर हिंदी पद्यों की भ्रष्ट छपाई के कारण बड़ा आघात पहुँचता है। अंग्रेजी में मतिराम के लिए ‘मोंतिराम’, पहाड़ी के लिए ‘पाहाड़ी’ आदि लिख देना बंगाली दोष हैं, और हिंदी वालों को बहुत खटकेंगे।

रा० ट०

हिंदी प्रोक्-सांग्ज—लेखक, श्री ए० जी० शिरेफ़, आई० सी० एस्०। प्रकाशक, हिंदी-मंदिर, इलाहाबाद। मूल्य १)

हिंदी लोक-गीतों के संबंध में जो निबंध इस पुस्तक में प्रकाशित हुआ है वह कुछ संक्षेप में इस से पूर्व लंदन की रायल एशियाटिक सोसाइटी के ‘जर्नल’ में प्रकाशित हो चुका था। श्रीयुत शिरेफ़ हमारे प्रांत के एक उच्च पदाधिकारी हैं, और न केवल हमारी भाषा

के प्रेमी वरन् जानकार भी हैं। प्रस्तुत पुस्तक में उन्होंने ने १५ हिंदी लोक-गीतों के अनुवाद अंग्रेजी तथा स्काट भाषा के पद्य में दिए हैं। अनुवाद शाब्दिक न होने पर भी मूल-गीतों के वास्तविक भावों की रक्षा करते हैं, और यह आशा की जाती है कि यह हिंदुस्तान के बाहर के तथा इतर-प्रांतीय पाठकों को हमारे गीतों की मधुरिमा और जीवनी-शक्ति का कुछ परिचय देने में समर्थ होंगे। श्रीयुत शिरेफ ने गीतों के मूल-पाठ पंडित रामनरेश त्रिपाठी द्वारा संग्रहीत ग्राम-गीतों से लिए हैं, और उक्त पंडित जी के कार्य की सराहना करते हुए लिखा है कि “इन का हिंदी कविता पर उसी प्रकार गहरा प्रभाव पड़ सकता है, जिस प्रकार कि पर्सी के ‘रेलिव्स’ और स्काट गीतों के संग्रह का अंग्रेजी कविता पर अठारहवीं सदी के उत्तरार्ध में पड़ा था।” पुस्तक की छपाई आदि सुंदर हुई है और अंत में हिंदी के वे गीत भी दे दिए गए हैं जिन के अनुवाद प्रस्तुत किए गए हैं अथवा जिन का हवाला अंग्रेजी लेख में दिया गया है।

रा० ट०

जीवन-चरित्र

हजरत मोहम्मद साहब का जीवन-चरित्र—लेखक, पंडित सुंदरलाल। प्रकाशक, दक्षिण-हिंदी-प्रचार-सभा, मद्रास। पृष्ठ-संख्या, ४+९०। मूल्य, ११)

यह पुस्तक प्रसिद्ध धार्मिक महापुरुष हजरत मोहम्मद साहब की जीवनी है और केवल थोड़े से ही पृष्ठों में बड़े अच्छे ढंग से लिखी गई है। लेखक ने मोहम्मद साहब की समकालीन परिस्थिति, उन के कार्यक्षेत्र, उन की कठिनाइयाँ, उन के प्रयत्न तथा उन की सफलता का संक्षिप्त परिचय दिया है, किंतु साथ ही उन की व्यक्तिगत योग्यता, उन की साधना अथवा आध्यात्मिक जीवन की झांकी का जो चित्र सामने रखता है वह विशेष रूप से उल्लेखनीय है। पुस्तक के अंत में हजरत के कतिपय उपदेशों का भी एक संग्रह है और विदेशी विद्वानों द्वारा की गई प्रशंसाओं के कुछ अवतरण भी हैं। प्रचार की दृष्टि से पुस्तक का मूल्य कुछ और कम रहता तो अधिक अच्छा होता।

प० रा० च०

रामविलास पोदार—संपादन, श्री जवाहिरलाल जैन, एम्० ए०, ‘विद्यारय’। प्रकाशक, रामविलास पोदार-स्मारक-समिति, मुमुक्षु बिल्डिंग, फ़ोर्ट, बंबई। १९३६।

शिक्षित, संपन्न, समाजसेवी और होनहार मारवाड़ी नवयुवक श्री रामविलास पोदार की आकस्मिक मृत्यु से कुछ समय हुए बंबई में शोक की एक लहर फैल गई थी। प्रस्तुत पुस्तक में स्वर्गीय रामविलास जी का जीवन, परिचय और उन के मित्रों के उद्गार एकत्र हैं। पुस्तक बहुत सुंदर छपी है और अनेक चित्रों से सजाई गई है। आशा है जिस ग्रंथमाला का यह पहला उपहार है उस में साहित्य को समुन्नत बनाने वाले अभिनव ग्रंथ भविष्य में प्रकाशित होंगे।

रा० ट०

विज्ञान

सौंदर्य-विज्ञान—लेखक, श्री हरिवंशसिंह शास्त्री। प्रकाशक, मंत्री, काशी विद्यापीठ, बनारस छावनी। पृष्ठ-संख्या, ८+१५८। मूल्य ॥॥

हिंदी में सौंदर्यतत्त्व की विस्तृत वैज्ञानिक व्याख्या करने वाली कदाचित् यह सब से पहली पुस्तक है, तो भी विषय-प्रतिपादन की सजीव शैली एवं भिन्न-भिन्न मतों की समुचित आलोचना, आदि की दृष्टि से हम कह सकते हैं कि लेखक को बहुत अच्छी सफलता मिली है। सौंदर्य का विषय इतना महत्वपूर्ण होते हुए भी भारतीय लेखकों के लिए अभी तक यह बहुत कुछ अछूता ही रहा है। यत्र-तत्र प्रक्षिप्त विचार-प्रदर्शन के सिवाय इस ओर विशेष ध्यान देने का कष्ट हमारे बहुत कम लेखकों ने उठाया है। उधर योरोपीय देशों में इस विषय पर न जाने कितने प्राचीन काल से गंभीर चर्चा होती आई है। हर्ष की बात है कि अब बँगला आदि प्रांतीय भाषाओं के भी लेखक इस विषय को अपनाने लगे हैं और आशा है कि कुछ दिनों में सौंदर्य का दार्शनिक विवेचन पूरे मनोयोग के साथ होने लगेगा।

समालोच्य ग्रंथ के लेखक काशी विद्यापीठ के शास्त्री हैं, और अपने अध्ययन-काल में उन का यह विषय प्रमुख रहा है। इसी संबंध में उन्होंने ने अनेक ग्रंथों का पठन व परिशीलन किया और अपने आचार्य बाबू संपूर्णानंद जी की सहायता से इस नवीन विषय पर भी एक विचारपूर्ण रचना प्रस्तुत करने का साहस किया। इन बातों का दिग्दर्शन भूमिका-लेखक बाबू संपूर्णानंद के शब्दों तथा स्वयं लेखक के भी परिचयात्मक 'दो शब्द' से हो जाता है। पुस्तक नव अध्यायों में विभक्त है, जिन में भिन्न-भिन्न धीर्यों में सौंदर्य के स्वरूप,

उस की परिभाषा एवं सौंदर्य तथा जीवन के संबंध के साथ-साथ भिन्न-भिन्न तद्विषयक मतों की समीक्षा भी दी गई है। समीक्षा में लेखक ने वैज्ञानिकों और दार्शनिकों के विचार उद्धृत कर उन पर अपनी टिप्पणी की है, जिस से, सभी प्रकार से, सहमत होना अत्यंत कठिन है, किंतु तो भी सब के अंत में जो उन्होंने ने निष्कर्ष रूप से सौंदर्य की परिभाषा दी है, वह बहुत अंशों में उचित जान पड़ती है। उन का कहना है कि "स्थूल या सूक्ष्म जगत में आत्मा की अभिव्यक्ति ही सौंदर्य है" और, कोरी वैज्ञानिकता को छोड़ कर, विचार करनेवालों के लिए इसे अपनाना बहुत कठिन न होगा। लेखक के अन्य सिद्धांतों पर विचार करने के लिए अधिक स्थान अपेक्षित है। इस पुस्तक पर सभी बातों की दृष्टि से विचार करते हुए, संक्षेप में, हम कह सकते हैं, कि यह मनन करने योग्य है और इस से हमारी हिंदी के साहित्य की भी वृद्धि होगी।

विज्ञान-रहस्य—लेखक, श्री मनोहरकृष्ण सक्सेना, विशारद, साहित्यरत्न। प्रकाशक, मानसरोवर-साहित्य। निकेतन, मुरादाबाद। पृष्ठ-संख्या, ३+१२७। मूल्य ॥॥

इस पुस्तक में घरेलू उद्योग-धंधा-संबंधी अनेक बातें हरि और रमेश की बातचीत द्वारा लिखी गई हैं। जिस से बहुत सी उपयोगी कलाओं का ज्ञान होना संभव है। नित्य व्यवहार में आने वाली वस्तुओं का बनाना इस से सहज में सीखा जा सकता है।

५० रा० च०

धर्म और दर्शन

ऐतरेयोपनिषद्, तैत्तिरीयोपनिषद्, व माण्डूक्योपनिषद्—सानुवाद प्रांकरभाष्य-सहित। प्रकाशक, गीताप्रेस, गोरखपुर। पृष्ठ-संख्या क्रमशः ६+९४+२; ६+४+२३७+२; व ११+५+२७३+८। मूल्य क्रमशः, १२, ॥॥ व १)

उपनिषद् हमारे वैदिक-साहित्य की विभूति हैं, और गूढ़तम रहस्यों के उद्घाटन, दार्शनिक तत्त्वों के सरल विवेचन एवं आध्यात्मिक जीवन की समस्याओं के निराकरण-संबंधी इन की विशेषताओं के मर्मज्ञ इन्हें अटल शांति का स्रोत माना करते हैं। इन के महत्व के ही कारण, वैदिक काल से आगे चल कर इन के अनुकरण में भिन्न-भिन्न सांप्रदायिक उपनिषदों की रचना होने लगी और क्रमशः एक विनाश उपनिषद्-साहित्य का आविर्भाव हो गया। परंतु, वास्तव में, अब तक भी प्रमुख स्थान उन्हीं

प्राचीन उपनिषदों को प्राप्त है जो सीधे वैदिक साहित्य से निकली थीं। इस श्रेणी की उपनिषदों पर सांप्रदायिक आचार्यों ने अपने-अपने मतानुसार अलग-अलग भाष्य लिखे हैं, और इसी नियमानुसार मुख्य-मुख्य दस उपनिषदों को प्रस्थानत्रयी में भी स्थान प्राप्त है। गोरखपुर का गीताप्रेस, जान पड़ता है, इन्हीं उपनिषदों को स्वामी शंकराचार्य के अद्वैतवाद-मूलक भाष्य के साथ प्रकाशित कराने का विचार कर रहा है। कुछ दिन पहले ईश, कठ, केन, प्रश्न व मुंडक नामक पांच उपनिषदों को उपनिषद्-भाष्य खंड १, के नाम से निकाला था अब ऐतरेय, तैत्तिरीय एवं मांडूक्य उपनिषदों के भी वैसे ही अनुवादित सभाष्य संस्करण कदाचित् उपनिषद्-भाष्य खंड २, के रूप में निकालने वाला है।

ऐतरेयोपनिषद् ऋग्वेदीय ऐतरेयारण्यक के अंतर्गत आया है और इस का मुख्य विषय ब्रह्मविद्या है। इस के तीन अध्यायों में से प्रथम में सव के मूलस्वरूप केवल मात्र आत्मा के 'ईक्षण' से ले कर उस के पुरुष में प्रवेश कर जाने तक का सृष्टिक्रम दिया है, और इस प्रकार संसार को, आत्मा के ही संकल्प द्वारा आविर्भूत होने के कारण, आत्म-स्वरूप सिद्ध किया गया है। इसी भांति इस के द्वितीय तथा तृतीय अध्यायों में आत्मज्ञान को ही परमपद-प्राप्ति का एकमात्र साधन बतला कर उसे भिन्न-भिन्न प्रमाणों द्वारा स्पष्ट किया गया है। स्वामी शंकराचार्य ने अपने भाष्य के उपोद्घात में तथा अन्य आवश्यक स्थलों पर भी अपने मत की पुष्टि में बहुत कुछ लिखा है, और कर्म तथा कर्म-समुच्चित ज्ञान आदि की अपेक्षा केवल ज्ञान को ही मोक्ष का एकमात्र साधन मान कर उस के अधिकारी का संन्यासी होना आवश्यक बतलाया है। इन के अनुसार किसी भी आश्रम में संन्यास हो सकता है। हिंदी अनुवाद अविकतर अधरयः किया गया है, किंतु भाव को स्पष्ट करने के लिए अनुवादक ने कहीं-कहीं कोष्ठकों द्वारा अपनी ओर से भी कुछ जोड़ दिया है, जिस से अच्छी सहायता मिलती है।

तैत्तिरीयोपनिषद्, इसी प्रकार, कृष्ण-यजुर्वेदीय तैत्तिरीय आरण्यक के ७, ८ एवं ९ प्रपाठकों को कहते हैं। उपनिषद् में इन के नाम क्रमशः शीघ्रावल्ली, ब्रह्मानंद-वल्ली व भृगुवल्ली भी हैं और अंतिम दो वल्लियों को आचार्य वरुण के नाम पर एक साथ 'वारुणी उपनिषद्' कहने की भी परंपरा है। यह उपनिषद् भी ब्रह्मविद्या-प्रधान है। परंतु इस के प्रथम अंग में उपासना एवं गुरु-शिष्य-संबंधी शिष्टाचार तथा गृहस्थ-

जनोचित सदाचार का निरूपण है और फिर अन्य दो अंशों द्वारा ब्रह्मज्ञान की विशद व्याख्या की गई है। अंतिम अंश में ही भृगु एवं उस के पिता वरुण के प्रश्नोत्तर हैं जिन के कारण उसे भृगुवल्ली कहते हैं। आचार्य शंकर ने इस उपनिषद् के भाष्य के भी आरंभ में परमपद की प्राप्ति का एकमात्र साधन ज्ञान को माना है और भिन्न-भिन्न तर्क-वितर्कों द्वारा कर्मकांड-संबंधी सिद्धांतों के खंडन करने की चेष्टा की है। इस उपनिषद् का भी हिंदी अनुवाद ऐतरेय की ही भांति हुआ है।

मांडूक्योपनिषद् अथर्ववेदीय ब्राह्मण-भाग का एक अंश है और अपने केवल बारह मंत्रों के कारण मुख्य दस उपनिषदों में सब से छोटी है। किंतु स्वामी शंकराचार्य के दादागुरु गौड़ पादाचार्य ने जो इन पर २१५ कारिकाएं लिखी हैं उन के कारण इन का कलेवर एवं महत्व दोनों बढ़ गए हैं। इस उपनिषद् का प्रधान विषय ओंकार तथा उस की तीन मात्रा अ उ म् का सविस्तर वर्णन है। वास्तव में संपूर्ण उपनिषद् गौड़पादीय कारिकाओं के प्रथम प्रकरण में ही समाप्त हो जाती है और इन के शेष तीन प्रकरणों में आचार्य के सांप्रदायिक सिद्धांत, अद्वैतवाद, का स्पष्टीकरण मात्र है। स्वामी शंकराचार्य ने अपना भाष्य विशेष कर इन कारिकाओं को ही लक्षित करके लिखा है और यह उपनिषद् अपने सभाष्य मांडूक्यकारिका के रूप में अद्वैतवाद का एक अत्यंत प्रामाणिक ग्रंथ बन जाती है। इस का भी हिंदी अनुवाद पूर्ववत् किया गया है और इस के अनुवादक ने ग्रंथ के आरंभ में ११ पृष्ठों की एक भूमिका लिख कर इस के विषय को भली भांति स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। ऐतरेय एवं तैत्तिरीय उपनिषदों के आदि में भी अनुवादक ने क्रमशः 'प्रस्तावना' तथा 'निवेदन' द्वारा उन के विषयों का सार दे दिया है और तीनों उपनिषदों के अंत में अनुक्रमणिकाएं भी लगी हुई हैं। तीनों उपनिषदों में एक-एक चित्र भी दिए गए हैं और तीनों की छपाई आदि को स्वच्छ व सुंदर बनाने की चेष्टा की गई है।

भक्तियोग—लेखक, चौधरी रघुनंदनप्रसाद सिंह। प्रकाशक, गीताप्रेस, गोरगपुर। पृष्ठ-संख्या, ४ + ६९९। मूल्य १=)

इस पुस्तक के आरंभ में हिंदू विश्वविद्यालय के अध्यापक पंडित जीवनशंकर जी याज्ञिक द्वारा लिखी हुई भूमिका ने पता चलता है कि इस के लेखक दरभंगा राज के एक पदाधिकारी थे और पटना में रहते थे। रोद की बात है कि ग्रंथ के प्रकाशित होने

के पहले ही उन का देहावसान हो गया। समालोच्य ग्रंथ के पढ़ने से विदित होता है कि उन्हें भक्तियोग-संबंधी ग्रंथों से अच्छा परिचय था, एवं इस विषय का गहरा अनुभव भी था। भक्ति के प्रायः प्रत्येक अंग पर उन्होंने ने सविस्तर किंतु साथ ही सप्रमाण विवरण देने का प्रयत्न किया है। ग्रंथ, वास्तव में, उन के कई वर्ष पूर्व दो खंडों में प्रकाशित किसी 'साधनसंग्रह' नामक रचना का एक अंश मात्र है। मूल रचना इस समय अप्राप्य है, और उस के शेष अंश 'कर्मभ्यासयोग' एवं 'ज्ञानयोग' के नाम से क्रमशः तारा-ग्रंथालय, काशी तथा गीताप्रेस, गोरखपुर से प्रकाशित हैं। प्रस्तुत पुस्तक अपने पूर्वरूप से परिवर्द्धित है। इस में उपासना-क्रम एवं प्रेम का आवश्यक परिचय देते हुए लेखक ने भक्ति की व्याख्या बड़े विस्तार से की है और आगे चल कर इसी विषय के प्रसिद्ध नव लक्षणों में उत्तरोत्तर विशेषता दिखलते हुए इसे 'राधाभाव' में परिणत कर दिया है। लेखक के विचारों के मुख्य आधार शास्त्रीय प्रमाण एवं प्रसिद्ध संतों के अनुभव जान पड़ते हैं, और इन की सहायता से उस ने भक्ति-विषयक सिद्धांतों को अधिक से अधिक स्पष्ट करने में बड़ा परिश्रम किया है। पुस्तक में यत्र-तत्र पाया जानेवाला पुनरुक्ति-दोष एवं उस की कलेवर-वृद्धि भी इसी बात के परिणामस्वरूप हैं। तो भी ग्रंथ पढ़ने योग्य है।

श्री अरविंद और उन का योग—संपादक, लक्ष्मणनारायण गर्दे। प्रकाशक, मदनगोपाल गाड़ोदिया, श्री अरविंद ग्रंथमाला, ४ हेयर स्ट्रीट, कलकत्ता। पृष्ठ-संख्या, ५+८५। मूल्य ॥)

श्री अरविंद के नामादि से परिचित रहते हुए भी अधिक लोग उन की रहस्यमयी साधना तथा उस के आधारभूत सिद्धांतों के विषय में प्रायः कुछ भी नहीं जानते। 'श्री अरविंद-ग्रंथमाला' का आयोजन विशेषकर ऐसे ही लोगों के लिए हुआ है। प्रकाशक ने अपने छोटे से 'वक्तव्य' द्वारा श्री अरविंद के योग की विशेषता एवं उस के महत्व को समझाने की चेष्टा की है। उस के अनुसार इस का मुख्य ध्येय "प्रभुचैतन्य की विज्ञान-शक्ति का मन, बुद्धि, प्राण व शरीर में अवतरण करना, जड़-प्रकृति में दिव्य जीवन उत्पन्न कराना" है। पुस्तक भिन्न-भिन्न लेखकों द्वारा लिखे गए ८ लेखों का संग्रह है और इन के लेखक श्री दिलीपकुमार राय, श्री नलिनीकांत गुप्त, श्री अनिल वरणराय एवं श्री महेंद्रनाथ मरकार हैं। इन्हें पढ़ने से पता चलता है कि वे निःसंदेह अपने विषय के विशेषज्ञों द्वारा लिखे

गए हैं। पुस्तक में श्री अरविंद का एक चित्र भी है और इस के कागज, छपाई, आदि सभी उत्तम हैं।

प० रा० च०

समाजशास्त्र और राजनीति

संसार की समाज-क्रांति और हिंदुस्तान—मूल-लेखक डाक्टर गजानन श्रीपत खैर। प्रकाशक, काशी विद्यापीठ, बनारस। संवत् १९९३। पृष्ठ-संख्या २८५+९+३। मूल्य (अजिल्द का) १।।

यह मूल-लेखक की मराठी रचना का अनुवाद है। आरंभ में श्री भगवान्दास जी ने ९ पृष्ठ की भूमिका में लेखक और ग्रंथ के विषय का परिचय कराया है। अनुवाद बहुत सुंदर हुआ है; पढ़ने में मौलिक ग्रंथ का-सा आनंद आता है।

लेखक ने यूरोप और अमरीका की सैर की है, आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक अवस्थाओं को गौर से देखा है और उन से हिंदुस्तान के लिए उपयोगी नतीजे निकालने का प्रयत्न किया है। यह पुस्तक उस शैली में नहीं लिखी गई है जिस में समाज या राजनीति-संबंधी वैज्ञानिक ग्रंथ लिखे जाते हैं। पर यह गंभीर विचारों से शून्य भी नहीं है। इस के चार भाग हैं—पहले भाग में अमरीका की संस्कृति की विवेचना की है। दूसरे में रूस की क्रांति और सोवियट-प्रथा का विश्लेषण है। तीसरे भाग में जर्मनी, इंग्लैंड और इटली की चर्चा है। चौथे भाग में संसार-प्रगति की दृष्टि से कुछ भारतीय समस्याओं पर प्रकाश डाला है।

वर्तमान युग विज्ञान और यंत्र का है। गत दो सौ वर्ष के विज्ञान ने संसार के पुराने धार्मिक और सामाजिक विचार बदल दिए हैं और बदल रहा है। विज्ञान की सहायता से बने हुए यंत्रों ने आर्थिक जीवन की काया-पलट कर दी है, खेती की उपज बढ़ा दी है, कार-खानों में विशाल परिमाण में चीजें पैदा (मास, प्रोडक्शन) कराई हैं, समस्त देशों में पारस्परिक संबंध स्थापित कर दिए हैं। इस युगांतर में पाश्चात्य देशों में बहुत सी उन्नति हुई है, धन-वैभव बढ़ा है, शिक्षा का प्रचार हुआ है। पर अनेक जटिल समस्याएँ भी पैदा हो गई हैं। इन को सुलझाने के लिए रूस ने कम्युनिस्टवाद का सहारा लिया है; जर्मनी और इटली ने उस के विपरीत फ़ासिज्म अंगीकार किया है, इंग्लैंड, फ़्रांस आदि देशों ने अपनी

सुदृढ़ संस्थाओं में कुछ परिवर्तन करना ही यथेष्ट समझा है। लेखक ने इन विषयों की चर्चा सावधानी और स्वतंत्रता से की है।

राष्ट्रसंघ और विश्वशांति—लेखक, श्रीयुत रामनारायण यादवेंदु, बी० ए० एल्-एल्० बी०। प्रकाशक, मानसरोवर-साहित्य-निकेतन, मुरादाबाद। १९३६। पृष्ठ-संख्या, ३२४। मूल्य ३।।

इस पुस्तक की भूमिका श्रीयुत संपूर्णानंद जी ने लिखी है और एक विद्वतापूर्ण विवेचना के बाद यह नतीजा निकाला है कि “विश्वशांति का सब से बड़ा और प्रबल वस्तुतः एकमात्र शत्रु पूंजीवाद है। विश्वशांति तभी होगी जब मनुष्य-समाज का संगठन नए ढंगपर होगा।”

हिंदी साहित्य के हितचिंतक इस पुस्तक का हृदय से स्वागत करेंगे। आज कल अंतर्राष्ट्रीय संबंधों की जानकारी बहुत आवश्यक है। कारण यह है कि इन का प्रभाव प्रत्येक देश की आर्थिक और सांस्कृतिक अवस्था पर पड़ता है। हिंदी में अभी तक इस विषय की रचनाएँ बहुत कम हैं। आलोच्य पुस्तक में राष्ट्र-संघ (लीग ऑफ नेशंस) का पूरा वर्णन किया गया है, और भिन्न-भिन्न देशों के पारस्परिक संबंधों पर भी प्रकाश डाला गया है। जो लोग समाचार पत्र पढ़ते हैं वह इस पुस्तक के सहारे बहुत सी बातों को स्पष्टतः समझ सकेंगे। गत महायुद्ध के बाद राष्ट्रसंघ, अंतर्राष्ट्रीय स्थायी न्यायालय (दि पर्मानेंट कोर्ट ऑफ इंटरनेशनल जस्टिस) और अंतर्राष्ट्रीय श्रमिक संघ (इंटरनेशनल लेबर ऑर्गनाइजेशन)—यह तीन बड़ी संस्थाएँ शांति की स्थापना के लिए, और अंतर्राष्ट्रीय सहयोग के लिए स्थापित हुईं। इन का विस्तृत वर्णन पुस्तक के पहले भाग में किया है। दूसरे भाग में अंतर्राष्ट्रीय समस्याओं पर विचार किया है।

लेखक का विश्वास है कि शांति का अग्रदूत भारतवर्ष है। हिंदू, बौद्ध, और जनों के अहिंसा-सिद्धांत से इस मत का आंशिक समर्थन होता है। इस युग में महात्मा गांधी ने अहिंसा-सिद्धांत का व्यवहार राजनैतिक क्षेत्र में किया है, और संसार को कुछ नए सबक सिखाए हैं। पर यह भी मानना पड़ेगा कि हिंदुओं के राजनैतिक साहित्य में युद्ध और साम्राज्य-प्रसार को क्षत्रिय-धर्म का दर्जा दिया है।

पुस्तक में दो-एक छोटी धुटियाँ हैं। लेखक और भूमिका-लेखक के चित्र दिए हैं।

इन की कोई विशेष आवश्यकता न थी। कहीं-कहीं नाम या शब्द केवल अंग्रेजी में ही लिख दिए हैं जिस से अंग्रेजी न जानने वालों को असुविधा होगी।

वेनीप्रसाद

कोष

उर्दू-हिंदी कोष—संपादक रामचंद्र वर्मा। प्रकाशक, हिंदी-ग्रंथ-रत्नाकर कार्यालय, बंबई। १९३६। मूल्य २।।।

देवनागरी लिपि में एक उर्दू-हिंदी कोष की आवश्यकता का अनुभव लोग बहुत दिनों से कर रहे थे। प्रस्तुत कोष से इस आवश्यकता की बहुत-कुछ पूर्ति हो जाती है। सुयोग्य संपादक ने इसे भरसक पूर्ण बनाने का उद्योग किया है। इस की शब्दसंख्या १०१६० है। उर्दू शब्दों के 'हिज्जों' का पता इस से अवश्य नहीं चल पाता है। यदि कुछ विशेष लिपि-चिह्नों का प्रयोग किया जाता तो यही त्रुटि दूर हो सकती थी। इस कोष के प्रकाशन में संपादक का उद्देश्य व्यवहारिक है, वैज्ञानिक नहीं, और इस दृष्टि से इस कोष को हिंदी-प्रेमी तथा हिंदी के विद्यार्थी अवश्य उपयोगी पावेंगे।

फ़ोर थाउजेंट इंपारटेंट हिंदी वर्ड्स—(चार हजार मुख्य हिंदी शब्दों की सूची)—संपादक—रेवरेंड जे० सी० कोएनिग, बालोदा बाजार, सी० पी०। प्रकाशक, मिशन प्रेस, जबलपुर। मूल्य १।।।

यह हिंदी का शब्द-कोष अपने ढंग का अनोखा तथा अत्यंत महत्वपूर्ण है। वच्चों तथा सर्वसाधारण के लिए लिखी गई लगभग १५० पुस्तकों तथा पत्रिकाओं में से ४००० ऐसे हिंदी शब्दों का संग्रह इस में किया गया है जो सब से अधिक प्रयुक्त हुए हैं। ये ४००० शब्द भी चार पृथक् श्रेणियों में विभक्त हैं। सब से अधिक प्रयुक्त प्रथम १००० शब्द एक कालम में दिए गए हैं, तथा क्रम से दूसरे, तीसरे, और चौथे हजार शब्द शेष तीन कालमों में हैं। प्रत्येक शब्द के आगे उस की तुलनात्मक प्रयोग-संख्या भी दे दी गई है।

वैज्ञानिक उपयोगों के अतिरिक्त इस शब्द-संग्रह का व्यवहारिक उपयोग भी पर्याप्त हो सकता है। भविष्य में वच्चों तथा सर्व-साधारण के लिए पुस्तकों लिखने वालों के लिए यह शब्दकोष विशेष सहायक हो सकता है। वे अपनी ऐसी रचनाओं में अप्रयुक्त तथा कठिन शब्दावली को इस शब्द-संग्रह की सहायता से आसानी से बना सकते हैं। नामग्री एकत्रित करने में मिशनरी पुस्तकों की सहायता प्रचुर मात्रा में ली गई है, इस लिए

कुछ ऐसे शब्दों की प्रयोग-संख्या ऊपर उठ गई है जो शब्द वास्तव में सर्वसाधारण की भाषा में इतने अधिक नहीं प्रचलित हैं। ऐसी छोटी-छोटी त्रुटियों के रहते हुए भी यह कहना पड़ेगा यह उद्योग अत्यंत सराहनीय है और अपने ढंग का पहला है। वास्तव में इस ढंग के एक और भी अधिक विस्तृत, पूर्ण, तथा वैज्ञानिक प्रयोग की आवश्यकता है, जो हिंदी भाषा के विद्वानों द्वारा होना चाहिए। तो भी इस मार्ग के पथ-प्रदर्शन का श्रेय सदा इस मिशन-मंडली को ही रहेगा, जिस के लिए ये कार्यकर्ता बघाई के पात्र हैं।

धीरेंद्र वर्मा

यात्रा

उत्तराखंड के पथ पर—लेखक, प्रोफेसर मनोरंजन, एम्० ए०। प्रकाशक, पुस्तक भंडार, लहेरिया सराय, (बिहार)। पृष्ठ-संख्या ३००। सचित्र। मूल्य २।

हिंदुओं के चार धामों में श्री बदरीधाम ही ऐसा है जिस की यात्रा यात्रियों को पूर्व-काल की कठिनाइयों की कुछ याद दिला सकती है, यद्यपि यहाँ का मार्ग भी सुगम होता जा रहा है। इस पुस्तक में हमें पर्वतीय यात्रा-मार्ग के अनेक चित्र और अनुभव मिलेंगे। जो कुछ वर्णन दिया गया है उस की नाँव उस दिनचर्या पर है, जिसे पथ में नियमित रूप से लेखक लिखा करता था। लेखक की शैली मनोरंजक है, और अन्य यात्रियों के लिए इस में बहुत सी ज्ञातव्य बातें मिलेंगी। लेखक न केवल एक श्रद्धालु के रूप में, बल्कि एक विनोदी, सहृदय, प्रकृति-प्रेमी के रूप में हमारे सामने आता है। अपनी निजी, घरेलू बातों को जन-साधारण के सामने रखने में एक सीमा का पालन करना उचित है। लेखक यत्र-तत्र इस सीमा को पार कर गया है, यही पुस्तक के विषय में एक आपत्ति है। पुस्तक अनेक चित्रों से सुसज्जित है और इस में एक उपयोगी मानचित्र भी लगा हुआ है।

रा० ट०

स्फुट

लिपिकला—लेखक, सुलेखाचार्य पंडित गौरीशंकर भट्ट। प्रकाशक, अक्षर-विज्ञान कार्यालय, मरावातपुर, कानपुर। पृष्ठ-संख्या, २+२८+३४। मूल्य १।

लेखक से हिंदी के पाठक भली-भाँति परिचित होंगे। आप लिपिकला के विशेषज्ञ हैं और यह पुस्तक, एक प्रकार से, उन के सिद्धांतों का सचित्र संग्रह है।

प० रा० च०

हिंदुस्तानी एकेडेमी द्वारा प्रकाशित ग्रंथ

(१) मध्यकालीन भारत की सामाजिक अवस्था—लेखक, मिस्टर अब्दुल्लाह यूसुफ अली, एम्० ए०, एल्-एल्० एम्० । मूल्य १।)

(२) मध्यकालीन भारतीय संस्कृति—लेखक, रायबहादुर महामहोपाध्याय पंडित गौरीशंकर हीराचंद ओझा । सचित्र । मूल्य ३।)

(३) कवि-रहस्य—लेखक, महामहोपाध्याय डाक्टर गंगानाथ झा । मूल्य १।)

(४) अरब और भारत के संबंध—लेखक, मौलाना सैयद सुलेमान साहब नववी । अनुवादक, बाबू रामचंद्र वर्मा । मूल्य ४।)

(५) हिंदुस्तान की पुरानी सभ्यता—लेखक, डाक्टर बेनीप्रसाद, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, डी० एस्-सी० (लंदन) । मूल्य ६।)

(६) जंतु-जगत—लेखक, बाबू भ्रजेश चहादुर, बी० ए०, एल्-एल्० बी० । सचित्र । मूल्य ६।)

(७) गोस्वामी तुलसीदास—लेखक, रायबहादुर बाबू श्यामसुंदरदास और डाक्टर पीतांबरदत्त चड्ढवाल । सचित्र । मूल्य ३।)

(८) सतसई-सप्तक—संग्रहकर्ता, रायबहादुर बाबू श्यामसुंदरदास । मूल्य ६।)

(९) चर्म बनाने के सिद्धांत—लेखक, बाबू देवीदत्त अरोरा, बी० एस्-सी० । मूल्य ३।)

(१०) हिंदी सर्वे कमेटी की रिपोर्ट—संपादक, रायबहादुर लाला सीताराम, बी० ए० । मूल्य १।)

(११) सौर-परिवार—लेखक, डाक्टर गोरखप्रसाद, डी० एस्-सी०, एफ० आर० ए० एस्० । सचित्र । मूल्य १२।)

(१२) अयोध्या का इतिहास—लेखक, रायबहादुर लाला सीताराम, बी० ए० । सचित्र । मूल्य ३।)

(१३) घाघ और भट्टरी—संपादक, पंडित रामनरेश त्रिपाठी । मूल्य ३।)

(१४) वेलि क्रिसन रुकमणी री—संपादक, ठाकुर रामसिंह, एम्० ए० और

श्री सूर्यकरण पारीक, एम्० ए०। मूल्य ६]

(१५) चंद्रगुप्त विक्रमादित्य—लेखक, श्रीयुत गंगाप्रसाद मेहता, एम्० ए०।

सचित्र। मूल्य ३]

(१६) भोजराज—लेखक, श्रीयुत विश्वेश्वरनाथ रेड। मूल्य सजिल्द ३।।];

बिना जिल्द ३]

(१७) हिंदी, उर्दू या हिंदुस्तानी—लेखक, श्रीयुत पंडित पद्मसिंह शर्मा।

मूल्य सजिल्द १।।]; बिना जिल्द १]

(१८) नातन—लेखक के जरमन नाटक का अनुवाद। अनुवादक—मिर्जा

अबुलफ़ज़ल। मूल्य १]

(१९) हिंदी भाषा का इतिहास—लेखक, डाक्टर धीरेन्द्र वर्मा, एम्० ए०,

डी० लिट्० (पेरिस)। मूल्य सजिल्द ४]; बिना जिल्द ३।।]

(२०) औद्योगिक तथा व्यापारिक भूगोल—लेखक, श्रीयुत शंकरसहाय

सक्सेना। मूल्य सजिल्द ५।।]; बिना जिल्द ५]

(२१) ग्रामीय अर्थशास्त्र—लेखक, श्रीयुत ब्रजगोपाल भटनागर, एम्० ए०।

मूल्य ४।।] सजिल्द; ४] बिना जिल्द।

(२२) भारतीय इतिहास की रूपरेखा (२ भाग)—लेखक, श्रीयुत जय-

चंद्र विद्यालंकार। मूल्य प्रत्येक भाग का सजिल्द ५।।]; बिना जिल्द ५]

(२३) भारतीय चित्रकला—लेखक, श्रीयुत एन्० सी० मेहता, आई० सी०

एस्०। सचित्र। मूल्य बिना जिल्द ६।।]; सजिल्द ६।।]

(२४) प्रेम-दीपिका—महात्मा अक्षर अनन्त्यकृत। संपादक, रायबहादुर लाला

सीताराम, बी० ए०। मूल्य ॥]

(२५) संत तुकाराम—लेखक, डाक्टर हरिरामचंद्र दिवेकर, एम्० ए०, डी०

लिट्० (पेरिस), साहित्याचार्य। मूल्य सजिल्द २]; बिना जिल्द १।।]

(२६) विद्यापति ठाकुर—लेखक, डाक्टर उमेश मिश्र, एम्० ए०, डी०

लिट्०। मूल्य १]

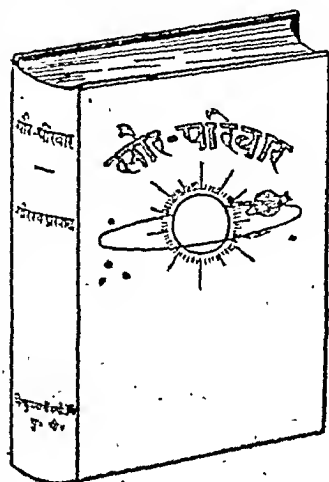
सौर-परिवार

[लेखक—डाक्टर गोरखप्रसाद, डी० एस्-सी०]

आधुनिक ज्योतिष पर अनोखी पुस्तक

७७६ पृष्ठ, ५८७ चित्र

(जिन में ११ रंगीन हैं)



इस पुस्तक को काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा से रेडिचे पदक तथा २००) का छद्मलाल पारितोषिक मिला है।

“इस ग्रंथ को अपने सामने देख कर हमें जितनी प्रसन्नता हुई उसे हमीं जानते हैं।

* * जटिलता आने ही नहीं दी, पर इस के साथ साथ महत्वपूर्ण अंगों को छोड़ा भी नहीं। * * पुस्तक बहुत ही सरल है। विषय

को रोचक बनाने में डाक्टर गोरखप्रसाद जी कितने सिद्धहस्त हैं, इस को वे लोग तो खूब ही जानते हैं जिन से आप का परिचय है।

* * पुस्तक इतनी अच्छी है कि आरंभ कर देने पर बिना समाप्त किए हुए छोड़ना कठिन है।”—सुधा।

“The explanations are lucid, but never, so far as I have seen, lacking in precision. * * I congratulate you on this excellent work.”

श्री० टी० पी० भास्करन, डाइरेक्टर, निजामिया वैद्यशाला

मूल्य १२)

प्रकाशक—हिंदुस्तानी एंक्वेन्सी, इलाहाबाद

हिंदुस्तानी एकेडेमी के उद्देश

हिंदुस्तानी एकेडेमी का उद्देश हिंदी और उर्दू साहित्य की रक्षा, वृद्धि तथा उन्नति करना है। इस उद्देश की सिद्धि के लिए वह

(क) भिन्न भिन्न विषयों की उच्च कोटि की पुस्तकों पर पुरस्कार देगी।

(ख) पारिश्रमिक देकर या अन्यथा दूसरी भाषाओं के ग्रंथों के अनुवाद प्रकाशित करेगी।

(ग) विश्व-विद्यालयों या अन्य साहित्यिक संस्थाओं को रुपए की सहायता देकर मौलिक साहित्य या अनुवादों को प्रकाशित करने के लिए उत्साहित करेगी।

(घ) प्रसिद्ध लेखकों और विद्वानों को एकेडेमी का फ़ेलो चुनेगी।

(ङ) एकेडेमी के उपकारकों को सम्मानित फ़ेलो चुनेगी।

(च) एक पुस्तकालय की स्थापना और उस का संचालन करेगी।

(छ) प्रतिष्ठित विद्वानों के व्याख्यानों का प्रबंध करेगी।

(ज) ऊपर कहे हुए उद्देश की सिद्धि के लिए और जो जो उपाय आवश्यक होंगे उन्हें व्यवहार में लाएगी।



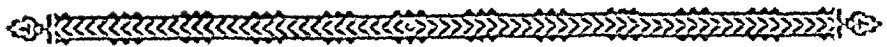
हिंदुस्तानी

हिंदुस्तानी एकेडेमी की तिसाही पत्रिका

अक्तूबर, १९३७

हिंदुस्तानी एकेडेमी

संयुक्तप्रांत, इलाहाबाद



संपादक—रामचंद्र टंडन

संपादक-मंडल

- १—डाक्टर ताराचंद, एम्० ए०, डी० फ़िल्० (ऑक्सन)
 २—प्रोफ़ेसर अमरनाथ झा, एम्० ए०
 ३—डाक्टर वेनीप्रसाद, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, डी० एस्-सी० (लंदन)
 ४—डाक्टर रामप्रसाद त्रिपाठी, एम्० ए०, डी० एस्-सी० (लंदन)
 ५—डाक्टर धीरेंद्र वर्मा, एम्० ए०, डी० लिट्० (पेरिस)
 ६—श्रीयुत रामचंद्र टंडन, एम्० ए०, एल्-एल्० वी०

लेख-सूची

- (१) सिधु-सभ्यता और उस का विश्वव्यापी प्रभाव—लेखक, श्रीयुत
 अमृत वसंत ३५७
 (२) अध्यापक सर सर्वपल्ली राधाकृष्णन्—लेखक, श्रीयुत भोलानाथ
 शर्मा, एम्० ए० ३७७
 (३) भारतीय-मुस्लिम वास्तुकला के आदर्श—लेखक, डाक्टर बनारसी-
 प्रसाद सक्सेना, एम्० ए०, पी-एच्० डी० (लंदन) .. ४०५
 (४) प्राचीन वैष्णव-संप्रदाय—लेखक, डाक्टर उमेश मिश्र, एम्० ए०,
 डी० लिट्० (इलाहाबाद) ४१५
 (५) जमाल के दोहे—लेखक, श्रीयुत नरोत्तमदास स्वामी, एम्० ए० ४३७
 समालोचना ४५१

हिंदुस्तानी

हिंदुस्तानी एकेडेमी की तिमाही पत्रिका

भाग ७ }

अक्तूबर, १९३७

{ अंक ४

सिंधु-सभ्यता और उस का विश्वव्यापी प्रभाव

[लेखक—श्रीपुत अमृत वसंत]

पाश्चात्य पंडित अब तक यही मानते चले आ रहे हैं कि सुमेरियन, सिंधु, मिथ्री, क्रीटन आदि भिन्न-भिन्न सभ्यताएँ भिन्न-भिन्न देशों में स्वतंत्र रूप से उत्पन्न हो कर विकसित हुई थीं। परंतु अब ज्यों-ज्यों नवीन खुदाइयों द्वारा अधिकाधिक प्राचीन वस्तुएँ मिलती जाती हैं, त्यों-त्यों भिन्न-भिन्न सभ्यताओं में समानता दृष्टिगोचर होने लगी है, और इस निष्कर्ष की ओर प्रवृत्ति हो रही है कि सभ्यता किसी एक स्थान से उत्पन्न हो कर सारे संसार में फैली थी।

दक्षिण-पश्चिम ईरान में मुसा की खुदाई में सब से नीचे एक महत्त्वपूर्ण सभ्यता के अवशेष प्राप्त हुए हैं। यह तांबे के युग की सभ्यता थी। मानव-जाति की प्रगति के इतिहास में सर्वप्रथम पत्थर, फिर ताँबा, फिर काँसा और फिर प्रोटो-इलाभाइट-सभ्यता लोहे का युग आया। मुसा के सब से नीचे के नगर (जिस को मुसा प्रथम कहा जाता है) की तांबे की सभ्यता को मानव-जाति की सब से अधिक प्राचीन सभ्यता माना गया है, और पुरातत्त्ववेत्ता इस को प्रोटो-इलाभाइट-सभ्यता कहते हैं। मुसा के अतिरिक्त यह ईरान और मेसोपोटामिया के अनेक स्थानों में प्राप्त हुई है। इस सभ्यता के नीचे और किसी सभ्यता के निशान प्राप्त नहीं हुए, जिस से

पुरातत्त्ववेत्ता यह मानते हैं कि प्रोटो-इलामाइट-सभ्यता किसी अन्य देश से वहाँ पहुँची थी। इस सभ्यता के चिन्ह ईरान के पूर्व की ओर विलोचिस्तान और सिंध में प्राप्त हुए हैं। काठियावाड़ में भी मि० फ़ूट को इस सभ्यता की वस्तुएँ प्राप्त हुई थीं। यह ताँवे के युग की सभ्यता थी। राजपूताना और काठियावाड़ में प्राचीन-काल में ताँवा निकलता था, अतः प्रोटो-इलामाइट-सभ्यता की उत्पत्ति की संभावना भारत के पश्चिमी भाग में ही हो सकती है।

सरस्वती नदी, जिस के तट-प्रदेश को हमारे प्राचीन साहित्य में सभ्यता की आदि-भूमि कहा गया है, उत्तर भारत से पश्चिम-भारत की ओर बहती हुई काठियावाड़ में खंवात की खाड़ी में समुद्र से मिल जाती थी। इसी का तट-प्रदेश ताँवे की उत्पत्ति का क्षेत्र था, अतः ज्ञात होता है कि ताँवे के युग की प्रोटो-इलामाइट-सभ्यता, सरस्वती के तट-प्रदेश पर ही उत्पन्न हुई थी। अतः हमें उस को सरस्वती-सभ्यता कहना चाहिए। सुसा की खुदाई में प्रोटो-इलामाइट अर्थात् सरस्वती-सभ्यता के भग्नावशेषों पर पाँच फ़ुट मोटा धूल का स्तर प्राप्त हुआ है। इस पर सुसा का दूसरा नगर प्राप्त हुआ है, जिस की सभ्यता काँसे के युग की सुमेरियन सभ्यता थी। सुसा-प्रथम की ताँवे के युग की और सुसा-द्वितीय की काँसे के युग की सभ्यताओं की जो पुरातत्त्व-सामग्री प्राप्त हुई है, उस का अध्ययन कर के पुरातत्त्ववेत्ता इस निष्कर्ष पर आए हैं, कि सुसा-प्रथम की प्रोटो-इलामाइट-सभ्यता में से ही सुसा-द्वितीय की सुमेरियन-सभ्यता उत्पन्न हुई थी। परंतु इन दोनों सभ्यताओं के अवशेषों के बीच पाँच फ़ुट मोटा धूल का स्तर पाया गया है, जिस से सिद्ध हुआ है कि सुसा-प्रथम के निवासी किसी कारण से इलाम और मेसोपोटामिया को छोड़ कर स्वदेश चले गए थे। इस बीच सुसा पर ऊँड़ हो जाने से धूल जमने लगी, और पाँच फ़ुट ऊँची जम गई। इस के पश्चात् पुनः सुसा के निवासी अपनी सभ्यता का विकसित रूप ले कर आए और सुसा का दूसरा नगर बसाया। इस प्रदेश में धूल बहुत अधिक उड़ने के कारण करीब २० वर्ष में एक फ़ुट ऊँची जम जाती है। इस प्रकार सुसा-प्रथम और द्वितीय के बीच का पाँच फ़ुट मोटा धूल का स्तर सवा सौ वर्ष में जमा होगा। इस से ज्ञात होता है कि सुसा-प्रथम की प्रोटो-इलामाइट अर्थात् सरस्वती-सभ्यता जब सवा सौ वर्ष पश्चात् पुनः वहाँ पहुँची तो, इतने अर्से में वह उन्नत हो कर सुमेरियन-सभ्यता बन चुकी थी।

सुसा-प्रथम के निवासी क्यों इलाम और मेसोपोटामिया को छोड़ कर चले गए थे, इस का कारण ज्ञात न हो सका था। तीन वर्ष पूर्व मेसोपोटामिया में डाक्टर लैंग्डन को किश

प्रलय

में और वुली को उर में खुदाई कराते समय प्रथम सुमेरियन राज-वंश की वस्तुओं के नीचे पानी-द्वारा जमी हुई मिट्टी का ८ फुट मोटा स्तर प्राप्त हुआ जिस में लोगों की पानी की बाढ़ द्वारा नष्ट-भ्रष्ट की हुई वस्तुएँ दबी हुई मिलीं। यह मिट्टी वास्तव में फ़रात की उस भयंकर बाढ़ द्वारा जमी थी जो वहाँ राजसत्ता की स्थापना के पूर्व आई थी, और जल-प्रलय के नाम से जिस का सुमेरो-बेबीलोनियन और भारत के प्राचीन साहित्य में विवरण लिखा हुआ है। इस के नीचे खोदे जाने पर सुसा-प्रथम और आमरी के समान उर और किश दोनों स्थानों में प्रोटो-इलामाइट अर्थात् सरस्वती-सभ्यता के चिन्ह प्राप्त हुए, जिस से सिद्ध हुआ कि वास्तव में इस प्रलय की बाढ़ के कारण ही प्रोटो-इलामाइट लोग इलाम और मेसो-पोटामिया को छोड़ कर अपने देश अर्थात् भारत चले गए थे। यही कारण है कि प्रलय-कथा एक ओर मेसोपोटामिया में पाई जाती है, दूसरी ओर भारत में। सुमेर की प्रलय-कथा का नायक उत्तानपिष्टिम था, और 'शतपथ ब्राह्मण' की भारतीय कथा का नायक वैवस्वत मनु था। यह वैवस्वत मनु के राज्यकाल की घटना थी, इस लिए ऐतिहासिक दृष्टि से 'शतपथ ब्राह्मण' के रचयिताओं ने भारतीय प्रलय-कथा का नायक मनु को बनाया। इस से मनु के काल पर प्रकाश पड़ता है जो भारत के सब से प्राचीन राजवंश सूर्य-वंश का प्रथम राजा था। सुमेर-जाति की ईंटों पर लिखी हुई, किश, निप्पुर और वेल्ड-वर्ल्डेल नामक वंशावलिओं द्वारा ज्ञात हुआ है, कि बेबीलोन-नगर के प्रथम सेमाइट राजा अनुवामुवाइत से १२७० वर्ष पूर्व मेसोपोटामिया में सुमेर-जाति का प्रथम राजा उक्कुसि ईरान की खाड़ी द्वारा इरीदु के बंदरगाह में सुमेर जाति को ले कर पहुँचा था। बेबीलोन का प्रथम राजा अनुवामुवाइत ई० पू० २११३ में गद्दी पर बैठा था। इस से ज्ञात होता है कि ई० पू० ३३८३ में प्रथम सुमेर-राजा उक्कुसि मेसोपोटामिया पहुँचा था। उक्कुसि के पुत्र ब्रकुस ने इस घटना के ३३ वर्ष पश्चात् ई० पू० ३३५० में सुसा-द्वितीय को बसाया था। सुसा-द्वितीय के नीचे के घूल के स्तर की उन्न से पता चलता है कि इस से सवा सौ वर्ष पूर्व प्रलय के कारण सुसा-प्रथम के निवासी भारत चले गए थे। अर्थात् ई० पू० ३४७५ में प्रलय आया था। मनु इसी समय भारत में राज्य कर्त्ता था जो यहाँ का प्रथम राजा था।

इस प्रकार ज्ञात होता है कि ई० पू० ३४७५ के करीब भारत का राजवंशीय इतिहास शुरू होता है।

सुसा-प्रथम और आमरी की सभ्यता एक ही थी, यह हम देख चुके। आमरी में इस सभ्यता के ऊपर सिंधु-सभ्यता के अवशेष प्राप्त हुए हैं। इन दोनों सभ्यताओं की

सिंधु और सुमेरियन
सभ्यताएँ

वस्तुओं के अध्ययन-द्वारा ज्ञात होता है कि आमरी की प्रोटो-इलामाइट-सभ्यता (जिस को मैं सरस्वती-सभ्यता कहता हूँ)

में से ही सिंधु-सभ्यता उत्पन्न हुई थी, अर्थात् उसी का

विकसित रूप सिंधु-सभ्यता थी। इस प्रकार सरस्वती-सभ्यता में से इलाम और मेसोपोटामिया में सुमेर-सभ्यता आई, और भारत में इस में से सिंधु-सभ्यता उत्पन्न हुई। जब हम सुमेर और सिंधु-सभ्यताओं की वस्तुओं का अध्ययन करते हैं, तो ज्ञात होता है कि दोनों सभ्यताएँ एक-सी ही थीं। सुसा-द्वितीय, उर, किश और जमदेतनल आदि सुमेर-जाति के सब से प्राचीन नगरों की नींव में मुहेंजोडरो के आकार की पकी हुई ईंटें और सिंधु-लिपि में लिखी हुई मुद्राएँ मिली हैं। इस से ज्ञात होता है कि सुमेर-सभ्यता वास्तव में सिंधु-सभ्यता ही थी, जो पश्चिम-भारत से मेसोपोटामिया पहुँची थी। प्रोटो-इलामाइट, सिंधु और प्रारंभिक सुमेरियन चित्र-लिपियों द्वारा भी यही प्रमाणित होता है कि प्रोटो-इलामाइट-लिपि में से सिंधु-लिपि और सिंधु-लिपि में से प्रारंभिक सुमेरियन-लिपि उत्पन्न हुई थी।

आज से बीस वर्ष पूर्व तक मिश्री अर्थात् इजिप्शियन-सभ्यता को ही संसार में सब से अधिक प्राचीन माना जाता था। जब मेसोपोटामिया में पाश्चात्य पुरातत्त्ववेत्ताओं ने सुमेर-नगरों की खुदाई प्रारंभ की तो सुमेर-सभ्यता मिश्री-सभ्यता से भी अधिक प्राचीन सिद्ध हुई। सर फ़्लाड्डर्स पेट्री के प्रयत्नों से मिश्र के प्रथम राजवंश के पूर्व की सभ्यता का भी पता लगा है। आश्चर्य की बात है कि यह मिश्र की प्राक्-राजवंशीय और प्रथम राजवंश के समय की सभ्यता राजा सर्गन के समय की सुमेर-सभ्यता से बिल्कुल मिलती-जुलती पाई गई है, इस से असंभव नहीं कि सुमेर-सभ्यता में से ही मिश्री-सभ्यता का जन्म हुआ हो; और सुमेर-सभ्यता सिंधु-सभ्यता से उत्पन्न हुई थी, जैसा कि मैं यहां सिद्ध करूँगा।

प्रोटो-इलामाइट अर्थात् सरस्वती-सभ्यता में से कला की दृष्टि से दो सभ्यताएँ

उत्पन्न हुई थीं। प्रथम, वह सभ्यता जिस के अवशेष हड़प्पा और मुहेंजोडरो में प्राप्त हुए हैं। इस सभ्यता के मिट्टी के पात्र सुसा-द्वितीय और उर तथा किश के पात्रों के समान

झुकार-सभ्यता

हैं। इस की वहिन दूसरी सभ्यता के मिट्टी के पात्र, जो आकार में इस के समान ही हैं परंतु जिन के ऊपर की आकृतियों के रंग और चित्रण में कुछ फर्क है, वह सर्वप्रथम रोहड़ी के निकट झुकार नामक स्थान में पाए गए। इस लिए वह झुकार-सभ्यता कहलाती है। झुकार-सभ्यता के रंगीन मिट्टी के वर्तन मुहेंजोडरो में सिंधु-सभ्यता के वर्तनों के साथ भी मिले हैं, जिस से सिद्ध होता है कि वह सिंधु-सभ्यता की समकालीन थी। इस समय सिंधु में नवावशाह जिले के चान्हु-डरो नामक स्थान में अमेरिका के शिकागो फ्रील्ड म्यूजियम आदि पुरातत्त्व-संस्थाओं की ओर से मिस्टर मैके के निरीक्षण में खुदाई हो रही है। यहां सिंधु-सभ्यता के अवशेषों के ऊपर झुकार-सभ्यता की वस्तुएं प्राप्त हुई हैं, जिस से सिद्ध होता है कि सिंध में सिंधु-सभ्यता के पश्चात् झुकार-सभ्यता का आगमन हुआ था। सिंधु और झुकार सभ्यता की कला-कृतियों की तुलना से यह बात स्पष्ट सिद्ध होती है कि सिंधु-सभ्यता में से झुकार-सभ्यता उत्पन्न हुई थी। हां, दोनों में वहिन-वहिन का संबंध था, यह बात अवश्य स्पष्ट दिखाई देती है। दोनों सभ्यताओं की लिपि का एक समान होना इस का बहुत बड़ा प्रमाण है। अब देखना चाहिए कि झुकार-सभ्यता किस प्रदेश से सिंध में पहुँची थी।

सरस्वती नदी दक्षिण पंजाब, पश्चिमोत्तर राजपूताना और रण कच्छ में से बहती हुई खंबात की खाड़ी में गिरती थी, यह मैं बता चुका हूँ। उस समय कच्छ आज की

काठियावाड़

भाँति द्वीप नहीं था परंतु उत्तर में सिंध से जुड़ा हुआ था। भूगर्भ-शास्त्र की दृष्टि से यह बात सिद्ध हो चुकी है। इसी प्रकार संस्कृति की दृष्टि से भी कच्छ सिंध का ही भाई है। वहाँ की राजभाषा यद्यपि गुजराती है, तथापि जनता की भाषा तो सिंधी ही है जिन में कुछ गुजराती मिल जाने से वह कच्छी कहलाती है। यही बात काठियावाड़ के विषय में भी है। आज भी उस के उत्तरी और पश्चिमी समुद्र-तट पर सिंधी से मिलती-जुलती कच्छी, बाघेरी आदि बोलियाँ बोल्यी जाती हैं। उस समय काठियावाड़ एक द्वीप के समान था, परंतु इस के दो ओर जहाँ आज कच्छ की खाड़ी और गुजरात प्रदेश हैं उस समय सिंधु और सरस्वती के प्रवाह बहते थे। सरस्वती का प्रवाह इस को गुजरात से अलग करता था और सिंधु का प्रवाह

इस को उत्तर में कच्छ से अलग करता था। सिंधु आज की भाँति कराँची के निकट नहीं, परंतु पूर्व की ओर कच्छ के रन में सरस्वती से जा मिलती थी। चान्हुडेरो इस के इस प्राचीन प्रवाह पर ही स्थित है। रन कच्छ के दक्षिण में इन दोनों नदियों के सम्मिलित प्रवाह की दो धाराएँ हो जाती थीं। प्रथम कच्छ और काठियावाड़ के बीच से गुजर कर अरब-सागर से जा मिलती थी, जो सिंधु की धारा कहलाती थी और काठियावाड़ को गुजरात से अलग करती हुई, खंवात की खाड़ी में गिरने वाली सरस्वती की धारा कहलाती थी। परंतु नदियों के प्रवाह, आवागमन में समुद्र की भाँति बाधक नहीं होते, इस दृष्टि से काठियावाड़ द्वीप होते हुए भी उत्तर में कच्छ द्वारा सिंध से मिला हुआ था और पूर्व में गुजरात से। उस समय सरस्वती के तट-प्रदेश पर संस्कृति उत्पन्न हुई थी, अतः वह काठियावाड़ तक फैली हुई थी, इस के प्रमाणों का मैं उल्लेख कर चुका हूँ।

जब सिंधु में सरस्वती-सभ्यता विकसित हो कर सिंधु-सभ्यता के रूप में परिणत हो गई तो अवश्य यह विकास काठियावाड़ में भी होना चाहिए। काठियावाड़ में जहाँ-जहाँ प्रागैतिहासिक काल की वस्तुएँ मिली हैं, वहाँ-वहाँ मुहेंजोडेरो के सुसा-द्वितीय से मिलते हुए मिट्टी के वर्तन प्राप्त नहीं हुए। परंतु उन के स्थान में झुकार-सभ्यता के वर्तन मिलते हैं। खीजड़िया टप्पा, जैतपुर, अंवावल्ली, रंगपुर आदि स्थानों में ऐसे ही वर्तन और कुछ काँसे की वस्तुएँ प्राप्त हुई हैं। इस से सिद्ध होता है कि सरस्वती-सभ्यता में से सिंध और पंजाब में हड़प्पा और मुहेंजोडेरो की सिंधु-सभ्यता उत्पन्न हुई और काठियावाड़ में झुकार-सभ्यता। मिट्टी के इन वर्तनों के साथ कुम्हार की भट्टियाँ भी प्राप्त होने से इस बात की पुष्टि होती है। दूसरे इन वस्तुओं के साथ जो पत्थर के माला के गुरिए मिले हैं वे चान्हुडेरो में झुकार-सभ्यता के गुरियों के समान ही हैं। इस प्रकार हम मान सकते हैं कि काठियावाड़ झुकार-सभ्यता का मूल-प्रदेश था, और यहीं से वह सिंधु-सभ्यता के पश्चात् सिंध में फैली थी। मि० मैके का स्पष्ट कथन है कि झुकार-सभ्यता किसी और प्रदेश से सिंध में आई थी।

सिंधु और सरस्वती दोनों उत्तर-भारत से जा कर काठियावाड़ में समुद्र से मिलती थीं, यह हम देख चुके। इस परिस्थिति में उत्तर-भारत का सामुद्रिक केंद्र काठियावाड़ बने, यह स्वाभाविक बात है। यों तो उस समय सिंध का वह भाग, जहाँ आज कराँची है समुद्र

के किनारे था। परंतु प्राचीन काल में अधिकांश व्यापार और आवागमन नदियों द्वारा होता था, और इस प्रदेश में कोई ऐसी नदी समुद्र में नहीं गिरती थी, जिस के प्रवाह-द्वारा सारे उत्तर-भारत में नावों-द्वारा माल लाया और ले जाया जावे। परंतु काठियावाड़ के एक तो दो ओर समुद्र था, और दूसरे सिंधु और सरस्वती (जो सारे उत्तर भारत में फैली हुई थीं) के विशाल प्रवाह यहां आते थे और सारी नदियां उन में ही गिरती थीं। इस कारण काठियावाड़ ही उस समय की भारतीय सभ्यता का सामुद्रिक केंद्र बना। यहां से इन सभ्यताओं के अनुयायी विदेशों के साथ व्यापार और आवागमन जारी रखते थे।

मुहेंजोडैरो, और चान्हुडैरो में प्राप्त पुरातत्त्व-सामग्री द्वारा सिद्ध होता है कि सिंधु-उपत्यका-वासी नाविक नहीं थे। इस विषय में मि० मैके लिखते हैं—

“परंतु इस बात का अभी कोई प्रमाण नहीं प्राप्त हो रहा है कि सिंधु देश के नगर-निवासी एक नाविक जाति के थे; और जो कुछ व्यापार भारतवर्ष और सुमेर के बीच होता था वह संभवतः एक तीसरी जाति के जहाजों द्वारा होता था।”^१

सिंधु-उपत्यका और मेसोपोटामिया के बीच व्यापार करने वाली यह तीसरी जाति काठियावाड़-वासियों की ही हो सकती है। इस स्टीमरों के युग में आज भी देशी लकड़ी के जहाजों-द्वारा काठियावाड़ और मेसोपोटामिया के बीच बहुत बड़े पैमाने पर व्यापार होता है। आज भी भादों और माघ के महीनों में जब कि पश्चिम की ओर जाने की हवा अनुकूल होती है काठियावाड़ के सैकड़ों मल्लाह अरबी में वातें करते हुए आप को बसरा और बगदाद के बाजारों में मिलेंगे।

सुमेर-साहित्य और वंशावलियों में स्पष्ट उल्लेख है कि सुमेर-जाति पूर्व की ओर से ईरान की खाड़ी-द्वारा अपने कृषि, कला, लिपि आदि के ज्ञान को ले कर मेसोपोटामिया आई थी। मेसोपोटामिया से पूर्व की ओर तो भारत ही है, जहां सिंधु-उपत्यका में सुमेर-सभ्यता के समान सभ्यता मिली है, परंतु सिंधु-उपत्यका-वासी नाविक नहीं थे, और सुमेर-सभ्यता समुद्र-द्वारा मेसोपोटामिया में आई थी, इसी लिए डा० वुली ने भी अपनी

^१ मैके, 'दि इंडस सिविलिजेशन', पृ० १७५

पुस्तक 'उर अव दि चैलिडज' में सिंधु-उपत्यका के अतिरिक्त किसी अन्य प्रदेश से ही समुद्र द्वारा सुमेर-जाति को मेसोपोटामिया पहुँची हुई माना है।

सुमेर-वंशावलियों में लिखा है कि प्रथम राजा उक्कुसि ने समुद्र-मार्ग द्वारा पहुँच कर इरीदु वंदरगाह में अपनी प्रथम राजधानी स्थापित की। यही सुमेर-जाति को ले कर मेसोपोटामिया पहुँचा था। इस का पुत्र वक्कुस था। वक्कुस का युन-युन और युन-युन का अनेनु। यह सुमेर के प्रथम राजवंश (जो इरीदु का राजवंश कहलाता था) का राजा था। इन चारों सुमेर राजाओं के नामों को जब हम भारत के सव से प्राचीन सूर्य-वंश के कुछ प्रारंभिक राजाओं के नामों से मिलते हैं, तो आश्चर्य-जनक समानता पाते हैं। पहले सुमेर राजा उक्कुसि का नाम इक्ष्वाकु से मिलता है। उक्कुसि के पुत्र वक्कुस का नाम इक्ष्वाकु के पुत्र विकुक्षि से मिलता है। वक्कुस का भाई निमी था, तो उसी प्रकार विकुक्षि का भाई निमि था। वक्कुस का पुत्र पुन-पुन था तो विकुक्षि का पुत्र पुरंजय था। पुन-पुन का पुत्र अनेनु था तो पुरंजय का पुत्र अनेना था। दोनों देशों की वंशावलियां केवल थोड़े से नामों को छोड़ कर जो शायद शासकों के रहे होंगे, रामचंद्र के पोते और लव के पुत्र अतिथि के नाम तक उत्तराधिकार के क्रम के साथ मिलती हुई आती हैं। इस प्रकार सिद्ध होता है कि भारत के सूर्य-वंशी और सुमेरियन राजा एक ही थे। सुमेर-वंशावलियों में इन राजाओं का राज्य-काल भी लिखा हुआ है, जिस से भारत के प्राचीन राजाओं के समय और राज्य-काल का उद्धार हो जाता है, जिस का भारतीय साहित्य द्वारा पता नहीं चलता।

इक्ष्वाकु मनु का पुत्र था, जिस के समय में ई० पू० ३४७५ में प्रलय आया था। हम देख चुके हैं कि वह ई० पू० ३३८३ में मेसोपोटामिया पहुँचा था, और विश-वंशावली के अनुसार उस ने वहाँ ३० वर्ष राज्य किया। मनु भारत का प्रथम राजा था, और उस का पुत्र इक्ष्वाकु सुमेर का। इस प्रकार सिद्ध होता है कि इक्ष्वाकु भारत से ही सुमेर पहुँचा था। भारत से सुमेर-जाति को ले कर उपनिवेश बसाने के लिए मेसोपोटामिया जाने के करीब २०-२५ वर्ष पूर्व वह मनु के राज्य का उत्तराधिकारी हो चुका होगा। इस प्रकार ई० पू० ३४०३ या ३४०८ में मनु का राज्य-काल समाप्त हुआ होगा। प्रलय इस से ७२ या ६७ वर्ष पूर्व मनु के राज्य-काल में ई० पू० ३४७५ में घटित हुआ था। मनु के कार्यों से पता चलता है कि अवश्य उस ने ७५ या ८०

वर्ष राज्य किया होगा। इस प्रकार दोनों पद्धतियों द्वारा निकाला हुआ काल-क्रम मिल जाता है।

पुराणों-द्वारा ज्ञात होता है कि इश्वाकु की राजधानी पाताल थी। पाताल सिकंदर के आक्रमण तक सिंधु-नदी के मुख पर एक प्रधान वंदरगाह था। हम लोग अब तक सिंध में उस को हंदरावाद के पास मानते चले आए हैं। परंतु मेगास्थनीज ने उस को सिंधु नदी के मुख पर 'ओराप्त्रे' द्वीप में बताया है। इसी प्रकार क्लेन्डियास टोलेमीयास नामक एक ग्रीक लेखक 'पैटालीन' को 'आभीरिया' अर्थात् कच्छ के दक्षिण में 'सुराष्ट्रीन' में लिखता है। इस से सिद्ध होता है कि पाताल सुराष्ट्र अर्थात् वर्तमान काठियावाड़ में सिंधु-नदी के मुख पर स्थित था। यह पाताल वंदरगाह इश्वाकु की राजधानी थी। सेस ने इस को ९००० वर्ष का प्राचीन माना है। इस प्रकार कथानकों के आधार पर भी काठियावाड़ से सुमेर-लोगों और सभ्यता का मेसोपोटामिया पहुँचना सिद्ध होता है, जिस को कि इश्वाकु समुद्र-द्वारा ले गया था। मेसोपोटामिया गरम देश है। अतः वहाँ पकी ईंटों की अपेक्षा कच्ची ईंटों के मकान ठंडे रहते हैं। पुरातत्त्ववेत्ता किश को सुमेर-जाति-द्वारा स्थापित सब से अधिक प्राचीन नगर मानते हैं। जमदेतनस भी इसी समय का है। आश्चर्य की बात है कि इन कच्ची ईंटों के नगरों की नींव में डाक्टर लैंग्डन को पकी हुई ईंटें ठीक आकार और माप में मुहेंजोडरो के समान ही प्राप्त हुई हैं। इस के अतिरिक्त प्रथम सुमेर राजवंश की वस्तुओं के साथ किश, उर, जमदेतनस और सुसा-द्वितीय में हड़प्पा और मुहेंजोडरो में प्राप्त मुद्राओं के समान मुद्राएं मिली हैं और उन पर सिंधु-लिपि ही खुदी हुई मिली है। सुमेर-सभ्यता की नींव में सिंधु-सभ्यता की इन वस्तुओं के पाए जाने के कारण पाश्चात्य पुरातत्त्व-वेत्ता विचारग्रस्त हो गए हैं कि क्या सिंधु-सभ्यता ही सुमेर-सभ्यता की जननी थी। परंतु मेसोपोटामिया और इलाम में प्राप्त ये सिंधु-लिपि की मुद्राएं आकार में मुहेंजोडरो, हड़प्पा और चान्हडरो में प्राप्त मुद्राओं के समान नहीं हैं, इस लिए डा० बुली, लैंग्डन और मैके आदि विद्वान यह मानते हैं कि भारत के और किसी प्रदेश से, जहां भी सिंधु-सभ्यता फैली हुई होगी, ये मुद्राएं समुद्र-मार्ग द्वारा मेसोपोटामिया आईं। काठियावाड़ ही ऐसा दूसरा समुद्र-तट-स्थित प्रदेश हो सकता है, जहां तक कि सिंधु-सभ्यता फैली हुई थी। अतः ये मुद्राएं यहीं से सुमेर-लोगों के साथ मेसोपोटामिया पहुँची थीं। फादर हेरास भी यही मानते हैं। जमदेतनस, किश और इरीदु की नींव में

जो मिट्टी के वर्तन प्राप्त हुए हैं, वे भी मुहेंजोडरो और हड़प्पा के समान न हो कर उस झुकार-सभ्यता के रंगीन वर्तन हैं जिन की सभ्यता की मूल-भूमि का होना मैंने काठियावाड़ को सिद्ध किया है।

अब लिपि को लीजिए। सुमेरियन-लिपि सिंधु-लिपि से मिलती-जुलती है। परंतु जमदेतनस में प्राप्त सुमेरियन-लिपि जो प्रारंभिक-सुमेरियन-लिपि कहलाती है, वह सिंधु-लिपि से बहुत ही अधिक मिलती-जुलती है। डाक्टर हंटर ने 'दि स्कूप्ट अन्ड हड़प्पा आर मुहेंजोडरो' में लिखा है :—

“मुहेंजोडरो की लिपि जमदेतनस की आरंभिक सुमेरियन (ई० पू० ३५००)

लिपि से, आधुनिक सुमेरियन-लिपि की अपेक्षा अधिक मिलती है।”

इस प्रकार प्रत्येक दृष्टि-विंदु से यही सिद्ध होता है कि सुमेर-सभ्यता भारत से ही मेसोपोटामिया में गई थी।

जब भारतीयों की सु-जाति सु-राष्ट्र से उपनिवेश बसाने के लिए इक्ष्वाकु के साथ मेसोपोटामिया गई, तो वहां पर इस समय तक फ़रात नदी की बाढ़ें बंद नहीं हुई थीं। इस से इस नदी के किनारे नगर बसाना उन के लिए असंभव हो हिटाइट (खत्ती) सभ्यता गया। अतएव शीघ्र इक्ष्वाकु इरीदु को छोड़ कर उत्तरी मेसोपोटामिया के ऊँचे मैदानों में चला गया। यहाँ ऊँचाई के कारण बाढ़ों का भय न रहा। सुमेर-जाति के सब से प्राचीन नगर किश और जमदेतनस इस ऊँचे प्रदेश में ही बसाए गए। इस बात का दूसरा प्रमाण यह है कि इस घटना के ३०० वर्ष पश्चात् जब फ़रात की बाढ़ें बंद हो गई तभी दक्षिण मेसोपोटामिया कि नीचे मैदानों में उन्होंने ने उर बसा कर अपनी राजधानी बनाई। उर की खुदाई से ज्ञात हुआ कि भविष्य में फ़रात की बाढ़ उस को नष्ट न कर दे इस लिए फ़रात के किनारे टूटे-फूटे मिट्टी के वर्तनों का कोट बाँध कर और फिर मिट्टी द्वारा सारी भूमि को समतल कर के उर को बसाया गया था। उत्तर मेसोपोटामिया से कुर्दिस्तान और एशिया माइनर के उपजाऊ मैदान सटे हुए थे, अतः इक्ष्वाकु ने कुर्दिस्तान में अपनी दूसरी राजधानी स्थापित की। तलहलफ़ नामक स्थान में इस के भग्नावशेष प्राप्त हुए हैं। पारचात्य-विद्वानों के अनुसार एशिया-माइनर

की हिटाइट जाति की यही सब से प्राचीन राजधानी थी। यहां जो मिट्टी के वर्तन और अन्य कला-सामग्री प्राप्त हुई हैं, वह चान्हुडरो में प्राप्त झुकार-सभ्यता के वर्तन और कला-सामग्री से बिल्कुल मिलती-जुलती हैं। मि० मैके को यह बात स्वीकार करनी पड़ी है, जिस का गत २४ नवंबर के 'इलस्ट्रेटेड लंडन न्यूज' में उन्होंने ने सचित्र विवरण लिखा है।

जब हम हिटाइट लोगों की चित्र-लिपि पर विचार करते हैं, तो उस को भी सिंधु-लिपि से बहुत कुछ मिलती-जुलती पाते हैं। हिटाइट-लोग अपने लेखों में अपनी जाति का नाम खत्तीया लिखते थे। वेवीलोनियन और असीरियन लेखों में इन को खत्ती और मिस्री लेखों में खेता कहा गया है। इन का वाइविल में हिटाइट नाम लिखा है, इस लिए पाश्चात्य विद्वान इन को हिटाइट कहते हैं। परंतु हम इन को इन के असली नाम 'खत्तीया' से ही पुकारेंगे।

धार्मिक दृष्टि से खत्ती लोग वैदिक आर्यों से बहुत अधिक मिलते-जुलते थे। ये वैदिक देव इंद्र, वरुण, नसत्य आदि के उपासक थे यह बात इन की एक शाखा मित्तानी के राजा दुश्शरत के संधि-पत्र द्वारा सिद्ध हो चुकी है। इन की भाषा का अध्ययन कर के डाक्टर रोजनी आदि विद्वान इस मत पर आए हैं कि ये संस्कृत से मिलती-जुलती आर्य-भाषा बोलते थे। इस शोध के पश्चात् अब यूरोपियन विद्वान यह मानने लगे हैं, कि आर्य-लोग वास्तव में मध्य-एशिया के नहीं परंतु एशिया-माइनर के मूल-निवासी थे, और यहीं से मेसोपोटामिया और ईरान के स्थल-मार्ग-द्वारा भारत में पहुँचे थे। परंतु वास्तव में यूरोपियन विद्वानों के खत्तीया-आर्य किस प्रकार भारत से मेसोपोटामिया हो कर एशिया माइनर पहुँचे, यह हम देख चुके हैं। इस प्रकार यह प्रश्न भी हल हो जाता है कि आर्य भारत के ही मूल-निवासी थे, और कहीं बाहर से नहीं आए थे, वरन् भारत से ही अपनी अनुपम सभ्यता को ले कर सर्वत्र फैले थे।

सुमेर और सिंधु-उपत्यका-वासियों को पाश्चात्य विद्वान द्रविड़-जाति का मानते हैं, परंतु किसी भी प्रकार यह बात सिद्ध नहीं होती। खत्ती-भाषा की भाँति सुमेर-भाषा भी संस्कृत से निकली हुई सिद्ध होती है। इस के लिए कुछ एकार्थवाची उदाहरण देता हूँ। जैसे संस्कृत के मरुत, वात, द्यु, सूर्य आदि सुमेरियन भाषा में मारुत, वाजत, दू और शूर हो जाते हैं। मानववंश-विज्ञान की दृष्टि से भी सुमेरियन और सिंधु-उपत्यका-वासियों

के अस्थिपिंजर आर्य-जाति के सिद्ध होते हैं। डाक्टर गुह अगस्त १९२८ के 'माडर्न रिव्यू' में 'सम एंथ्रपालॉजिकल प्रॉब्लेम्स ऑफ़ इंडिया' शीर्षक लेख में लिखते हैं कि :—

“ऐसा कोई कापालिक अथवा पुरातत्व-संबंधी प्रमाण इस मत के लिए नहीं है, जो आजकल भारतवर्ष में प्रचलित हो रहा है, अर्थात् यह कि द्रविड़ जाति ही सिंधु और सुमेर-सभ्यताओं की जननी थी, क्योंकि दोनों ही सभ्यताएं त्रैकिसिफ़ैलिक-कपाल के लोगों की थीं, जैसा कि किश और अल-अवैद के पूर्व-सारगानी स्थलों और मुहेंजोडैरो में प्राप्त कपालों से ज्ञात होता है।”

अतः सिद्ध होता है कि भारत की सरस्वती, सिंधु आदि सभ्यताएं आर्य थीं, और इन से उत्पन्न सुमेरियन, खत्ती, मिस्री आदि सभी सभ्यताएं आर्य थीं।

खत्तीया-जाति की अनेक ऐसी मुद्राएं मिली हैं जिन पर इक्ष्वाकु और विकुक्षि के चित्र पाए जाते हैं, और उन पर खत्ती-चित्रलिपि में उन के नाम खुदे हुए हैं। खत्तियों की दूसरी राजधानी बोगाज़केई के निकट एक प्राचीन चट्टान पर राजा वक्कुस अर्थात् विकुक्षि का बहुत बड़ा चित्र है जिस में वह एक हाथ में गेहूं और जी की वालें तथा दूसरे में हल लिए खड़ा है। इस से प्रकट होता है कि भारत के ये आर्य-राजा किस उद्देश्य से विदेशों में गए थे। सर जार्ज वर्डवुड ने 'स्वा' नामक पुस्तक में 'हिटाइट लोगों का साम्राज्य' नामक अपने निबंध में इस मूर्ति के विषय में लिखा है कि “विषभूपा की दृष्टि से यह भारत के गुजरात-प्रांत के किसी भद्र-पुरुष की आकृति उद्भासित होती है,” जो इस बात को सिद्ध करता है कि ये शासक पश्चिम भारत से ही पश्चिम एशिया में पहुँचे थे।

खत्तीया-जाति की अपनी अलग ही कला थी, जिस में से क्रीटन और ग्रीक कला उत्पन्न हुई थी। तल-हलफ़ में प्राप्त मूर्तियों द्वारा सिद्ध होता है कि मिश्री मूर्ति-निर्माण-कला इस से उत्पन्न हुई थी। जिस प्रकार सुमेर-जाति ने पश्चिम एशिया के दक्षिणी भाग को अपनी प्रवृत्तियों का केंद्र बनाया, उसी प्रकार खत्तियों ने उत्तरी-पश्चिम एशिया को। ये लोग एक ओर कास्पियन-सागर के निकट मध्य-एशिया तक पहुँच गए, जहाँ अनाउ-ओसिस में इन की सभ्यता के अवशेष प्राप्त हुए। तल-हलफ़ की भाँति यहाँ की पुरातत्व-सामग्री भी चान्हुडैरो की झुकार-सभ्यता से बिल्कुल मिलती हुई है, जिस को मि० मैके ने स्वीकार किया है।

एशिया-माइनर के निकट यूरोप की भूमि में ग्रीस के थ्रेसली प्रदेश, बोलो की खाड़ी के आसपास का प्रदेश, डेन्यूव और राइन की उपत्यकाओं और काले समुद्र के आस-पास से ले कर कारपीथियन पर्वतों तक वही यूरोप की प्राचीन सभ्यता झुकार-सभ्यता से मिलती हुई तल-हलफ़ और जमदेतनस की सभ्यता के मिट्टी के रंगीन वर्तन और अन्य पुरातत्त्व-सामग्री पाई जाती हैं। यूरोपियन पुरातत्त्ववेत्ता इस को यूरोप की सबसे प्राचीन प्रागैतिहासिक काल की सभ्यता मानते हैं, और इस को रंगीन मिट्टी के वर्तनों की सभ्यता (पेंटेड पाटरी कल्चर) कहते हैं। एक ओर यह पुरातत्त्व-सामग्री तल-हलफ़, जमदेतनस और अनाउ की सामग्री से मिलती है, तो दूसरी ओर भारत की झुकार-सभ्यता से मिलती है। यूरोप के इन प्राचीन रंगीन वर्तनों पर डेन्यूव और राइन की उपत्यका में जो लिपि मिली है, वह भी खत्ती-लिपि, जमदेतनस की प्रारंभिक सुमेरियन और सिंधु-लिपि से मिलती हुई है। इस प्रकार सिद्ध होता है कि भारतीय आर्य-सभ्यता एशिया-माइनर से खत्तियों-द्वारा यूरोप में फैली।

जिस जाति की यह सभ्यता थी उस को नार्डिक कहा जाता है। ये लोग कृषक थे, जैसा कि इन के काँसे के हथियार-औज़ार और मिट्टी के अनाज भरने के वर्तनों द्वारा ज्ञात होता है। ये हल में भारतीयों की भाँति बँल जोतते थे, नार्डिक जाति और आवागमन के लिए बँलगाड़ियों का उपयोग करते थे। ये पृथ्वी माता की पूजा करते थे, जिस की मिट्टी की मूर्तियाँ, मुहेंजोडैरो, चान्हुडैरो, उर, किश, जमदेतनस, तल-हलफ़, ट्राय, क्रीट-द्वीप में प्राप्त हुई हैं। मिट्टी के पात्रों में मृतक-भस्म प्राप्त होने से ज्ञात होता है कि भारतीय आर्यों की भाँति ये मृतकों का अग्नि संस्कार करते थे। इन की प्राचीन काव्यमय कथाओं के संग्रह का नाम 'एडा' है जो वेद का वेडा हो कर बन गया है। यूरोप की प्राचीन और अर्वाचीन भाषाएँ सभी आर्य-भाषाएँ हैं और इसी लिए वे इंडो-आर्यन कहलाती हैं। सुमेर-वंशावलियों में इश्वाकु का उक्कुसि के अतिरिक्त एक और नाम तोर भी मिलता है। यही तोर एडाओं में थोर हो गया है। एडाओं की कथा के अनुसार राजा थोर जिनगंगेप अर्थात् अर्थात् एशिया-माइनर के मैदानों से वरफ़ के पुल अर्थात् वास्फ़ोरस के मुहाने को पार कर के स्वस्तिक और गरुड़ को ले कर यूरोप में पहुँचता है। इस से ज्ञात होता है कि ई० पू० ३३वीं सदी में भारतीय सभ्यता ने यूरोप में प्रवेश किया था। स्केन्डिनेवियन जाति की

रस्में और कथाएं भी भारत से बहुत अधिक मिलती-जुलती हैं। यूरोप की प्राचीन जातियों में भिन्न-भिन्न रूपों में प्रलय-कथा का पाया जाना भी महत्वपूर्ण है।

प्रलय, जो मेसोपोटामिया में आर्य-जाति पर घटित हुआ, एक महान दुर्घटना थी। सुमेरियन प्रलय-कथा से ज्ञात होता है कि सरस्वती-सभ्यता वाले प्रारंभिक आर्य नाविक-कला से अनभिज्ञ थे, और इसी लिए उन को मेसोपोटामिया में इतनी भयंकर हानि उठानी पड़ी कि यह घटना एक जातीय दुर्घटना मानी गई। समुद्र-पार के देशों में सरस्वती-सभ्यता के चिन्हों का प्राप्त न होना भी इन लोगों की नाविक-कला की अनभिज्ञता का परिचय देता है। इस घटना के कारण ही आर्य-जाति में नाविक-कला की प्रवृत्ति जगी और इस के पश्चात् हम आर्यों को बड़े-बड़े समुद्र पार करते हुए पाते हैं, जो उन की सभ्यता के संसार-व्यापी होने का मुख्य कारण हुई। इसी लिए प्रलय की घटना को उस समय महत्वपूर्ण माना गया था क्योंकि वह आर्यों की जागृति का कारण हुई। आज जो मूल्य रामायण और महाभारत की कथा का है, वही मूल्य उस समय प्रलय-कथा का था। यही कारण है कि आर्य-जाति के प्रसार के साथ-साथ प्रलय-कथा का भी प्रसार हुआ।

मेसोपोटामिया, एशिया-माइनर और यूरोप के अतिरिक्त यह कथा पैसिफ्रिक के द्वीपों से ले कर अमेरिका तक पाई जाती है। इस से ज्ञात होता है कि जिस प्रकार आर्य-जाति भारत से पश्चिम में यूरोप तक फैल गई उसी प्रकार पूर्व में वह अमेरिका तक फैली।

कुछ वर्ष पूर्व पैसिफ्रिक के ईस्टर और नेकर-निहोआ द्वीपों में प्रागैतिहासिक काल की सभ्यता के भग्नावशेष प्राप्त हुए थे। यह किस जाति की सभ्यता थी यह अब तक

**पैसिफ्रिक में भारतीय
सभ्यता**

ज्ञात न था। सन् १९३२ में ईस्टर-द्वीपों के इन खंडहरों में लकड़ी की तख्तियों पर कुछ लेख मिले, जिन की लिपि को देखने से ज्ञात हुआ कि वह मुहेंजोडरो की सिंधु-लिपि से मिलती-जुलती है। इस साम्य को देख कर पाश्चात्य पुरातत्त्ववेत्ता आश्चर्य-चकित हो गए हैं। 'दि स्क्रिप्ट अन्ड हडप्पा एन्ड मुहेंजोडरो' की प्रस्तावना में डाक्टर लैंग्डन लिखते हैं कि :—

“सिंधु और ईस्टर-द्वीपों की लिपि की समता के संबंध में कोई संदेह नहीं हो सकता।

हमारे सामने कोई आश्चर्यजनक ऐतिहासिक साम्य का प्रश्न उपस्थित

होता है, अथवा किसी अज्ञात ढंग से यह लिपि चल कर पैसिफ़िक के सुदूर द्वीपों में फैल जाती है, कहा नहीं जा सकता। ईस्टर-द्वीपों की लकड़ी की पट्टियों की तिथि अज्ञात है। यही लिपि, ठीक भारतीय मुहरों की भाँति प्राचीन सुमेर के भिन्न भागों में, सुसा और टाडग्रिस के पूर्व के किनारे की भूमि में मुहरों पर प्राप्त हुई है।”

जो लोग आज से दो वर्ष पूर्व सिंधु-सभ्यता को केवल सिंधु-उपत्यका में ही सीमित मानते थे, और फ़िनीशियनों को ही सब से प्राचीन मल्लाह समझते थे, वे कहते हैं कि :—

“एक बात निश्चित है कि पुरा काल में यात्रा तथा आवागमन जितना समझा जाता है, उस से कहीं अधिक होता था। टायर के समुद्रगामी जहाजों के समय से एथेन्स के जहाजों के समय तक, समुद्री यात्रा के इतिहास में ह्रास ही हुआ था, उन्नति नहीं हुई थी। परंतु फ़िनीशियनों के पूर्व स्थिति विपरीत ही थी, और जो यात्रा नियरचुस के लिए साहसी यात्रा मानी जाती वही मुहेंजोडैरो के नाविकों के लिए एक साधारण बात थी।”

लिपि के अतिरिक्त पैसिफ़िक के इन द्वीपों में जो विशालकाय मूर्तियाँ मिली हैं, उन की कला से स्पष्ट भारतीयता टपकती है। इन में की ‘हो-हा-हाका-नाना-हिया’ नामक मूर्ति जो ब्रिटिश-म्यूजियम में रखी है, उस के विषय में लिखा गया है कि मुखाकृति और कला की दृष्टि से ज्ञात होता है, कि यह भारतवासियों की कृति थी।^१

यह सभ्यता भारत से कब और कैसे पैसिफ़िक में पहुँची यह देखना चाहिए। आश्चर्य की बात तो यह है कि पैसिफ़िक के काले और वदशकल निवासियों के मध्य में इन द्वीपों पर एक गौरवर्ण और सुंदर जाति पाई जाती है। मानव-वंश-विज्ञान के सारे आचार्यों ने इस को यूरोपियनों के समान माना है, इस लिए ये ओशेनिक आर्य कहलाते हैं। इन लोगों की दंतकथाएँ बहुत सुंदर होती हैं, और इन में की मुख्य-मुख्य संस्कृत-साहित्य के ब्राह्मण-ग्रंथों की कथाओं से मिलती-जुलती हैं, जैसे कि आदि में पृथ्वी और आकाश का मिला होना, और अंधकार होना, फिर इन का अलग हो जाना और बालक के रूप में माउहं अर्थात् सूर्य का आगमन। यह कथा ‘ऐतरेय-ब्राह्मण’ (४-२७) की कथा से मिलती है। इन

^१ ‘डेली एक्सप्रेस इंडाइक्लोपीडिया’, जिल्द ३, पृ० २६६

लोगों में भारतीय आर्यों के ब्राह्मण वर्ण की भाँति एक सर्वोच्च पुजारी वर्ग है, जो गा-गा कर दंतकथाएं भी सुनाते हैं। ये कथा-काव्य वैदिक मंत्रों की भाँति प्राथमिक अंधकार, शोक-निमग्न रातों, पृथ्वी, जगत, अंतरिक्ष और टांगाओरा अर्थात् सर्वव्यापी ईश्वर की भावनाओं से ओत-प्रोत होते हैं। ये टांगाओरा को सर्व-व्यापी, त्रिकाल-व्यापी और अनंत मानते हैं। डाक्टर कीन के शब्दों में “मानो वैदिक भावनाएँ ही पोलीनीशिया के एक द्वीप से दूसरे द्वीप तक पैसिफिक में फैली हुई हों।”

वास्तव में यही ओशेनिक आर्य ईस्टर-द्वीपों में प्राप्त सभ्यता को भारत से ले कर यहां आए थे जिस में सिंधु-लिपि के लेख प्राप्त हुए हैं। इन में भी प्रलय की कथा प्रचलित है, इस से प्रतीत होता है कि आर्यों के भारत से पश्चिम-एशिया और यूरोप में प्रसार के पश्चात् शीघ्र ही इन्होंने ने पैसिफिक में अपने उपनिवेश स्थापित किए। मिश्र में प्रलय की कथा नहीं पाई जाती, इस से ज्ञात होता है कि आर्यों के मिश्र-गमन के समय कथा के रूप में उस का महत्त्व नष्ट हो चुका था। मिश्री सभ्यता का प्रारंभ ई० पू० २७०० के करीब हुआ था, जैसा कि हम आगे देखेंगे। अतः पैसिफिक में इस से पूर्व ही आर्यों का प्रवेश हो चुका था। ई० पू० ३२०० के करीब की यह घटना है।

ईस्टर और नेकरनिहोआ और पैसिफिक के अन्य द्वीपों में केवल ऐसे स्थानों पर ही इन भारतीय सभ्यता-स्थापकों की वस्तियों के अवशेष पाए गए हैं; जहां कोई क्रीमती घातु की प्राचीन खान हो या निकट में समुद्र में मोती निकलते हों। इस से अनुमान होता है कि व्यापार के लिए क्रीमती घातु और मोतियों के निकालने के लिए ही ये उपनिवेश स्थापित किए गए थे। इस से यह भी ज्ञात होता है कि पश्चिम की भाँति पूर्व में पैसिफिक तक आर्यों के पोत आते-जाते रहते थे।

पेरु और चीली में एंडियन पर्वत पर कुछ अत्यंत प्राचीन काल के दुर्ग, प्रासाद, मूर्तियां, सड़कें, नहरें आदि पाए जाते हैं, जिन के निर्माताओं का पता नहीं लगता। अमे-
दक्षिण अमेरिका की रिक्कन पुरातत्त्ववेत्ता इन के निर्माताओं को प्रागैतिहासिक प्रागैतिहासिक एंडियन- एंडियन जाति कहते हैं। पेरु में टिटिकाका झील के निकट सभ्यता

इन की सर्व-प्रथम राजधानी तियाहुयानाको के भग्नावशेष पाए जाते हैं। यहां दरवाजों और दीवारों पर सूर्य और स्वस्तिक की आकृतियां चित्रित पाई गई हैं, जिस से ज्ञात होता है कि ये लोग सूर्य-पूजक थे। वैदिक आर्य प्रधानतः सूर्य-

पूजक थे। सिंधु-उपत्यका-वासियों के प्रधान देव सूर्य ही थे, जैसा कि मि० मंके ने सिद्ध किया है।^१ इसी प्रकार सुमेरियन सूर्य-पूजक थे। खत्ती सूर्य-पूजक थे और इन के वंशज आज भी काठियावाड़ में सूर्य-पूजक हैं। प्राचीन मिश्र-वासियों की सूर्य-पूजा तो प्रसिद्ध ही है। इन सभी जातियों की सभ्यता के चिन्हों में स्वस्तिक की आकृतियां मिली हैं। एंडियन जाति की स्थापत्य-कला से भी यही बात प्रकट होती है कि वे सूर्य-पूजक थे और स्वस्तिक को सौभाग्य-चिन्ह मानते थे। अतः वे भी बहुत कर के भारतीय आर्य थे जो पैसिफिक के पश्चात् उस के किनारे स्थित दक्षिण अमेरिका की एंडियन-घाटी में आ बसे थे। इन की स्थापत्य-कला ईस्टर-द्वीप की स्थापत्य-कला से मिलती-जुलती है। ईस्टर-द्वीपों की भांति यहां भी ऐसी विशाल मूर्तियां प्राप्त हुई हैं, जिन की कला से भारतीयता टपकती है।

इन के कला-कौशल को देख कर आज के पाश्चात्य इंजिनियर दाँतों तले उँगली दवाते हैं। एंडियन पर जो दुर्ग और प्रासाद हैं वे करीब ३० फुट लंबे, १० फुट चौड़े और ११ फुट मोटे पत्थर के महाकाय टुकड़ों को जोड़ कर बनाए गए हैं। १७००० फुट की ऊँचाई पर ये सहस्रों पापाण-खंड कैसे चढ़ाए गए होंगे यह एक पहेली है। सिंचाई के लिए नदियों से नहरें निकाल कर पुलों और सुरंगों द्वारा पार्वत्य-प्रदेशों के पार उन को निकाल कर इन्होंने ऊसर भूमि को हरा-भरा बनाया। इन की निकाली हुई सड़कों आज की सड़कों के समान हैं। कई स्थानों पर ग्रह-नक्षत्रादि की स्थिति देखने के लिए वेधशालाएं बनाईं। ये सब ज्यों के त्यों आज तक मौजूद हैं।

इन प्राचीन विदेशी सभ्यता-स्थापकों के विषय में पेरू के प्राचीन निवासी 'इंकाओं' में अनेक कथाएं प्रचलित थीं, जिन को स्पेन के यात्रियों ने लिखा है। इन कथाओं में सर्व-प्रथम प्रलय-कथा आती है, जिस के अंत में नवीन सृष्टि-रचना होती है। फिर सूर्य-देव अपने पुत्र मेंको-कापक को तथा उस की स्त्री मामा-उलो-हुआका को सभ्यता-स्थापन के लिए स्वर्ग से भेजते हैं। यह दंपति टिटीकाका झील के किनारे तिया-हुआनाको और कुजको नगर बसाते हैं। यहां के निवासियों को सभ्य बनाते हैं। उन को ऊन के वस्त्र बुनना और खेती करना सिखलाते हैं। और उन को ईश्वर की सर्वश्रेष्ठता का ज्ञान देते हैं, और जीवनदाता के रूप में सूर्य-पूजा का आदेश देते हैं। कुजको सूर्य-पूजा

^१ 'दि इंडस सिविलिजेशन', पृ० ८८

का केंद्र बन जाता है। वहां सोने की दीवारों का मंदिर बनाया जाता है, जिस को स्पेन-निवासियों ने जा कर लूटा था। इस प्रकार एंडियन-जाति के लोगों ने जो भारतीय आर्य थे वहां के मूल-निवासियों को सभ्य बनाया। यही मूल-निवासी पेरू के प्राचीन इंका थे। इंका का अर्थ सूर्य का पुत्र होता है। इन में चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था थी। इन का सामाजिक संगठन साम्यवादी ढंग का था। अमेरिकन पुरातत्त्ववेत्ता अब स्वीकार करने लगे हैं कि इन की स्थापत्य-कला सुमेरियन-शैली के समान थी। इंका-लोगों के जो मिट्टी के खिलौने मिले हैं वे मुंहेजोडेरो में प्राप्त खिलौने से बहुत अधिक मिलते हैं। हम एंडियन-शैली में सभ्यता के प्रारंभ का समय ईस्टर-सभ्यता से एक या दो शताब्दी बाद ई० पू० ३००० के करीब मान सकते हैं।

पेरू के पश्चात् आर्य-सभ्यता मेक्सिको पहुँची, परंतु इस से पूर्व वहां दक्षिण-भारतीय द्राविड़ों की सभ्यता जो नाग-द्वीप से वहां पहुँची थी स्थापित हो चुकी थी।

मेक्सिको के प्राचीन स्तूप दक्षिण-भारतीय मंदिरों के छत्रों से बिल्कुल मिलते-जुलते हैं। इन्होंने वहां नाग-पूजा का प्रचार किया। इस के पश्चात् आर्य वहां पहुंचे, और उन्होंने नाग-

पूजा को हटा कर सूर्य-पूजा प्रचलित की। मेक्सिको-वासियों में भी प्रलय-कथा प्रचलित थी, और उस के पश्चात् वहां सूर्य-पुत्र क्वेत्ज़ाल-को-अतल ने सभ्यता, कृषि और सूर्य-पूजा का प्रचार किया। मेक्सिको में क्रमशः कीचे, टोल्टेक, नाहुआ, अज़टेक और माया-जाति की सभ्यताएं स्थापित हुईं। इन सब की प्रलय की और अन्य कथाएं भारतीय कथाओं से मिलती हुई हैं।

माया-जाति का एक पुराण है जो 'पोपोलवुह' कहलाता है। प्रलय के पश्चात् वेहरिंग के स्थल-मार्ग और पैसिफ़िक के जल-मार्ग द्वारा मायाओं के पूर्वज कीचे किस प्रकार अमेरिका आए इस का इस में वर्णन है। इस के अतिरिक्त इन की उत्पत्ति-संबंधी कथाएं भी हैं। ऋग्वेद और अवेस्ता की भाँति पोपोलवुह में भी उत्तर-ध्रुव के दृश्यों का वर्णन है। और बहुत से साम्य बताए जा सकते हैं; परंतु वह एक लेख की सीमा से बाहर की बात होगी। अतएव प्राचीन मिश्र की सभ्यता की उत्पत्ति पर संक्षेप में दृष्टिपात कर के इस लेख को समाप्त करूँगा।

मिश्र के प्रथम राजा जिस ने वहां सभ्यता स्थापित की थी उस का नाम मेनीथेने

मेनेज़ लिखा है। सेती-प्रथम की वंशावली में मिश्र की चित्रलिपि में इस का जो नाम लिखा

है उस का उच्चारण अंग्रेज़ पुरातत्त्वज्ञ 'मेना' और जर्मन 'मंज' करते हैं। 'मेना' की अपेक्षा 'मंज' मेनीथो के ग्रीक नाम 'मेनेज़'

प्राचीन मिश्र

से अधिक मिलता है, इस लिए हम इस को 'मंज' कहेंगे। इस मंज ने ही मिश्र में सभ्यता स्थापित की और वहाँ का प्रथम राजा तथा वंश-प्रवर्तक हुआ। उस ने मिश्र में जो समाज-व्यवस्था स्थापित की वह भारतीय समाज-व्यवस्था के समान थी। मिश्र के राजा और प्रजा कट्टर सूर्य-पूजक थे, यह प्रसिद्ध ही है। अनेक भारतीय और पाश्चात्य विद्वान मंज और भारत के मनु को एक समझते हैं। यह बात गलत है। वास्तव में मंज भारत का मनु नहीं था परंतु उस का वंशज था।

आज से कुछ वर्ष पूर्व तक मंज को काल्पनिक राजा माना जाता था क्योंकि उस के समय की कोई वस्तु नहीं मिलती थी। कुछ वर्ष पूर्व सर फ़िलिन्डर्स पेट्री को मिश्र के एविन्डोस नामक स्थान में मिश्र के प्राक्-राजवंशीय काल का एक क़ब्रिस्तान मिला। इस में जो मिट्टी के पात्र और पुरातत्त्व-सामग्री मिली है, वह मुहेंजोडैरो और चान्हुडैरो में प्राप्त पात्रों और वस्तुओं के समान ही है। इस के अतिरिक्त सर पेट्री को अनेक लेख ऐसी लिपि में मिले जो, मिश्री-चित्राक्षरों की माता सिद्ध हुई है। आश्चर्य की बात है कि यह लिपि सिंधु और सुमेरियन दोनों लिपियों से बहुत-अधिक मिलती हुई है। इस क़ब्रिस्तान में सर पेट्री को एक खाली क़ब्र मिली है, जिस में इस आदिम मिश्री-लिपि में आवनूस की लकड़ी पर खुदे हुए लेख मिले हैं। इन लेखों द्वारा ज्ञात हुआ कि यह मिश्र के प्रथम राजा 'मंज' की समाधि है, इन लेखों में मंज का पूरा नाम 'अहामंज' लिखा हुआ है। वह इन लेखों में अपने को सूर्य-वंशी उक्कुसी कुलोत्पन्न राजा शगुर का पुत्र 'अहामंज' लिखता है। इस से यह भली भाँति सिद्ध होता है कि मंज सूर्य-वंशी इक्ष्वाकु कुलोत्पन्न राजा सगर का पुत्र असमंज था, जिस ने ई० पू० २७१२ में मिश्र में राज्य स्थापित किया और इसी समय से मिश्र के इतिहास का प्रारंभ हुआ। सुमेर-वंशावलियों में भी उक्कुसि के वंश में राजा शगुर या शरुगिन के बड़े पुत्र का नाम मनिश या मंज मिलता है। इस प्रकार भारत, सुमेर और मिश्र की वंशावलियाँ एक-सी मिल जाती हैं। सगर या शगुर वह राजा था जिस को पाश्चात्य पुरातत्त्ववेत्ता सर्गन कहते हैं, और जो प्राचीन जगत का सब से बड़ा सम्राट् हुआ है। जिनेवा में प्राप्त असुरवानी पाल के पुस्तकालय में असीरियन भाषा में शगुर का

आत्मचरित मिलता है जो उस के विष्णु आदि पुराणों में वर्णित चरित्र से बिल्कुल मिलता हुआ है। वह अपनी मूल राजधानी का नाम अजुदु लिखता है, जो अजुध्या या अयोध्या से मिलता है। सगर या सर्गन के निप्पुर और किश में जो लेख प्राप्त हुए हैं, उन से पता चलता है कि भारत, पश्चिम एशिया से ले कर मिश्र, उत्तर अफ़रीका और ब्रिटिश-द्वीपों तक उस का साम्राज्य था। आयरलैंड में उस के समय की कुछ वस्तुएं प्राप्त हुई हैं। स्पेन और कर्नवाल की रांगे की प्राचीन खानों में भी ऐसी ही वस्तुएं प्राप्त हुई हैं। सगर की समाधि भी असमंज की समाधि के बाजू में सर पेद्री को एविडोस में प्राप्त हुई है। यह प्रागैतिहासिक काल में भारतीय सभ्यता के संसार-प्रसार की कथा का अति संक्षिप्त वर्णन है।

अध्यापक सर सर्वपल्ली राधाकृष्णन्

[लेखक—श्रीयुत भोलानाथ शर्मा, एम्० ए०]

(१)

इस युग में भारतवर्ष की जिन भव्य विभूतियों ने इस को गौरव प्रदान किया है, और अपनी विलक्षण प्रतिभा से भारत की प्राचीन महत्ता की वास्तविकता को प्रमाणित किया है, उन में अध्यापक राधाकृष्णन् का स्थान बहुत ऊँचा है। उन की प्रतिष्ठा लोक-व्यापी है। भारतीय विचारपरंपरा का जितना सजीव, और हृदयस्पर्शी व्याख्यान इन के ग्रंथों में मिलता है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। पर राधाकृष्णन् ने जिन महान् सत्यों का अपने ग्रंथों में प्रतिपादन किया है वे केवल उन के मानसिक-क्षेत्र की क्रीड़ामात्र की सामग्री नहीं रहे हैं; उन्होंने ने अपने ऋषितुल्य सरल जीवन में उन का क्रियात्मक सन्निवेश किया है। अतएव न केवल उन के ग्रंथ ही आकर्षक हैं, अपितु उन का जीवन भी अनुकरणीय है। यदि किसी विदेशी को भारतीय दर्शनों के सिद्धांतों का सर्वोच्च विवेचन देखना हो तो उस को अध्यापक राधाकृष्णन् के ग्रंथों से उत्तम साधन उपलब्ध नहीं हो सकता। उन की विद्वत्ता और सच्चरित्रता ने आज उन को संसार में प्रथम श्रेणी का दार्शनिक सिद्ध कर दिया है। आक्सफ़ोर्ड विश्वविद्यालय में उन का प्राच्य-जगत के आचार एवं धर्म का प्रथम अध्यापक नियुक्त होना उन की महत्ता की स्पष्टतम स्वीकृति है।

आंध्र देश में, मद्रास से लगभग ४० मील पश्चिम की ओर, तिरुतणी नामक तीर्थ-स्थान है। यहीं सन् १८८८ में ५ सितंबर को अध्यापक राधाकृष्णन् का जन्म हुआ। उन के पूर्वपुरुष किसी समय सर्वपल्ली नामक स्थान में निवास करते थे, अतएव उन के कुल में सर्वपल्ली शब्द प्रत्येक पुरुष के नाम का पूर्वांश बन गया है। इन के पिता मध्य-स्थिति के साधारण ब्राह्मण गृहस्थ थे, तथा स्थानीय ज़मींदार के यहां तहसीलदारी कर के अपनी जीविका चलाते थे। यद्यपि उन के माता-पिता अधिकांश दक्षिणी ब्राह्मणों के समान धार्मिक कट्टरता के पक्षपाती थे, तथापि अध्यापक राधाकृष्णन् की प्रायः सारी शिक्षा ईसाई शिक्षणा-

लयों में ही हुई। अध्यापक राधाकृष्णन् के प्रारंभिक विद्यार्थी-जीवन में कोई विशेषता नहीं लक्षित होती थी। उस समय उन के स्वभाव में समधिक चांचल्य और औद्धत्य अवश्य था, जिस के कारण माता-पिता एवं शिक्षकों का अनुशासन उन्हें अखरता ही रहता था। जब आप ने इंट्रेंस परीक्षा प्रथम श्रेणी में पास कर के एफ० ए० कक्षा की पढ़ाई वेलोर के अमेरिकन मिशन कालेज में प्रारंभ की तब वहां के प्रिंसिपल का ध्यान इन की प्रतिभा की ओर आकृष्ट हुआ, और उन्होंने इन की ओर अधिक ध्यान देना प्रारंभ कर दिया। एफ० ए० परीक्षा भी इन्होंने प्रथम श्रेणी में पास की और इस के उपरांत यह मद्रास के क्रिश्चियन कालेज में भर्ती हुए और १९०७ में बी० ए० तथा १९०९ में एम्० ए० परीक्षाएं पास कीं। बी० ए० परीक्षा में आप सर्वप्रथम रहे और एम्० ए० में अपने विषय—दर्शनशास्त्र—में केवल आप ही परीक्षोत्तीर्ण हुए।

ईसाई शिक्षणालयों में धार्मिक शिक्षा अनिवार्य है। वाइविल का नित्यपाठ और ईसाई-धर्म की श्रेष्ठता पर प्रवचन इस शिक्षा के मुख्य अंग हैं। राधाकृष्णन् ने यह शिक्षा १२ वर्ष से अधिक प्राप्त की। उन दिनों स्वामी विवेकानंद वेदांत का प्रचार कर रहे थे। अमेरिका की अत्यंत सफल यात्रा से लौट कर उन्होंने ने भारतवर्ष में भी प्रचार किया। उन के ग्रंथों और व्याख्यानों की सर्वत्र धूम मची हुई थी। इधर कालेज में वर्षों से ईसाई-धर्म की श्रेष्ठता के व्याख्यान सुनते-सुनते राधाकृष्णन् का चित्त इधर से ऊब-सा उठा था; उधर स्वामी विवेकानंद की प्रतिभा का प्रभाव पड़ा। इस का फल यह हुआ कि यद्यपि पाठ्यक्रम में कहीं भारतीय दर्शन-शास्त्र का जिक्र न था, तथापि राधाकृष्णन् ने वेदांत का अध्ययन प्रारंभ कर दिया और एम्० ए० परीक्षा में जो एक थीसिस लिखना होता था उस का विषय इन्होंने 'दि इथिक्स अन् वेदांत' रक्खा। १९०९ में राधाकृष्णन् का विद्यार्थी-जीवन समाप्त हो गया।

एम्० ए० पास करते ही राधाकृष्णन् को मद्रास के प्रेसीडेंसी कालेज में दर्शन-शास्त्र के सहायक अध्यापक का स्थान मिल गया और यह प्रांतीय शिक्षा-विभाग के निचले ग्रेड में रक्खे गए। एक वर्ष अध्यापन करने के उपरांत यह ट्रेनिंग कालेज में शिक्षण-कला का अध्ययन करने के लिए भेज दिए गए। १९११ में यह अपने पुराने पद पर स्थायी रूप से नियुक्त कर दिए गए। पांच वर्ष के उपरांत इन्हें मुख्याध्यापक के पद पर नियुक्त कर दिया गया और ग्रड भी बढ़ा दिया गया। मद्रास कालेज

में अध्यापन-कार्य करते हुए आप ने दो ग्रंथ भी लिखे। एक का नाम 'दि एसेंसलस् अन्ड् साइकालोजी' (मनोविज्ञान के सारतत्त्व) और दूसरे का 'दि फ़िलासोफी अन्ड् रवीन्द्रनाथ टैगोर' (रवीन्द्रनाथ ठाकुर के दार्शनिक विचार) है। इन ग्रंथों का विवरण आगे यथास्थान दिया जायगा। राधाकृष्णन् की विद्वत्ता एवं अध्यापन-कुशलता की ख्याति दिन-प्रतिदिन बढ़ती जाती थी, जिस से प्रभावित हो कर मैसूर विश्वविद्यालय के अधिकारियों ने सन् १९१८ में मद्रास की सरकार से इन की सेवाओं को माँग लिया। अतएव यह पाँच वर्षों के लिए मैसूर विश्वविद्यालय में दर्शनशास्त्र के मुख्य अध्यापक नियुक्त हो गए। विद्यार्थी-जीवन के अंतिम दिनों में जो उन की रुचि भारतीय दर्शनशास्त्र के अध्ययन की ओर झुक गई थी, वह मैसूर में आ कर संभवतया म० म० श्रीनिवासाचार्य और प्रो० हिरिअण्णा इत्यादि सज्जनों के संपर्क से और भी गहरी हो गई। म० म० श्रीनिवासाचार्य जी के हाल ही में प्रकाशित हुए 'दर्शनोदय' नामक ग्रंथ की भूमिका में राधाकृष्णन् ने लिखा है कि आचार्य महोदय के पास उन्होंने विशिष्टाद्वैत तत्त्व का अध्ययन किया था। इस प्रकार मैसूर में राधाकृष्णन् भारतीय एवं पाश्चात्य दर्शनों से भली भाँति परिचित हो गए। यहीं रहते हुए इन्होंने सर्वप्रथम विशुद्ध दार्शनिक ग्रंथ 'दि रेन अन्ड् रेलिजन इन कंटेम्पोरेरी फ़िलासफ़ी' (आधुनिक दर्शनों में धर्म का आधिपत्य) का प्रणयन किया। मैसूर विश्वविद्यालय में नियुक्त होने के दो वर्ष उपरांत सरकार ने इन्हें शिक्षा विषयक सर्वोच्च ग्रेड दे दिया।

सन् १९२० में सर ब्रजेंद्रनाथ सील के मैसूर विश्वविद्यालय के वाइस-चांसलर नियुक्त हो जाने पर कलकत्ता विश्वविद्यालय में सम्राट् पंचम जार्ज के नाम से निर्दिष्ट दर्शनशास्त्र के अध्यापक का स्थान रिक्त हो गया। उस समय सर आशुतोष मुखोपाध्याय कलकत्ता विश्वविद्यालय के वाइस-चांसलर थे और वे राधाकृष्णन् की प्रतिभा से परिचित थे। कहा जाता है कि उन्होंने एक उभयनिष्ठ मित्र के द्वारा अध्यापक राधाकृष्णन् को यह विश्वास दिला कर उपरोक्त पद के लिए आवेदन-पत्र भेजने को प्रेरित करवाया कि वह पद उन्हीं को दिया जायगा। फलतः सन् १९२० में राधाकृष्णन् कलकत्ता विश्वविद्यालय में लगभग ३२ वर्ष की अवस्था में दर्शनशास्त्र के मुख्याध्यापक नियुक्त हो गए। इन के 'इंडियन फ़िलासफ़ी' (भारतीय दर्शन) नामक सुविशाल ग्रंथ का प्रथम भाग १९२३ में प्रकाशित हुआ, और पाश्चात्य में विशेष-रूप से प्रतिष्ठित हुआ। १९२६ में केंब्रिज

में ब्रिटिश साम्राज्य के समस्त विश्वविद्यालयों की कांग्रेस होना निश्चय हुआ, तब कलकत्ता विश्वविद्यालय ने आप को अपना प्रतिनिधि बना कर इंग्लैंड भेजा। इस अवसर पर अनेक संस्थाओं ने इन को व्याख्यान देने के लिए निमंत्रित किया। इन में सब से विशिष्ट आक्स-फ़ोर्ड विश्वविद्यालय का निमंत्रण था जिस में इन से अप्टन ट्रस्ट के लिए व्याख्यान देने की प्रार्थना की गई थी। यह व्याख्यान मॉन्चेस्टर कालेज में दिए गए थे। जिन दिनों में इन व्याख्यानों की आयोजना की गई थी उन दिनों वहाँ नाविक दौड़ का सप्ताह था जो आक्स-फ़ोर्ड में एट्सवीक कहलाता है। इस सप्ताह में विद्यार्थी और अध्यापक सभी नौ-प्रतिस्पर्धा देखने के लिए नदी तट पर जा डटते हैं और अच्छे से अच्छे व्याख्यानदाता को भी दीवारों को ही व्याख्यान सुनाना पड़ता है। पर राधाकृष्णन् के व्याख्यानों में कुछ ऐसा आकर्षण है कि मॉन्चेस्टर कालेज का हाल श्रोताओं से खचाखच भर गया। अंतिम व्याख्यान की समाप्ति पर मॉन्चेस्टर कालेज के प्रिंसिपल जैक्स साहब ने जो धन्यवादात्मक शब्द कहे उन में उन्होंने ने बतलाया कि आप के व्याख्यान इतने महत्त्वपूर्ण थे कि जिन लोगों ने नाविक दौड़ के तमाशे से आकर्षित न हो कर इन व्याख्यानों को सुनना पसंद किया वे ही अधिक नफ़े में रहे। वे स्वयं इतने प्रभावित हुए कि व्याख्यानों को सुनते हुए अनेक बार उन की हिंदू हो जाने की रुचि हुई। यह व्याख्यान 'हिंदू व्यू अन् लाइफ़' (हिंदू जीवन-दृष्टि) नाम से पुस्तकाकार प्रकाशित हो चुके हैं। केंब्रिज विश्वविद्यालय में मॉरल साइंस क्लब में इन्होंने 'ब्रैडले और शंकर' पर एक प्रभावशाली व्याख्यान दिया, जब विश्वविद्यालय के दर्शन-शास्त्र, तर्कशास्त्र इत्यादि के आचार्य और विद्यार्थी उपस्थित थे।

इंग्लैंड से अध्यापक राधाकृष्णन् कलकत्ता यूनिवर्सिटी के प्रतिनिधिस्वरूप अमरीका में हार्वर्ड यूनिवर्सिटी में होने वाले अंतर्राष्ट्रीय छठे दार्शनिक सम्मेलन में भाग लेने के लिए गए और वहाँ भी इन्होंने ने बड़ा प्रभाव उत्पन्न किया। बिना लेख के अथवा लिखित संकेतों के आप की अजल वाग्धारा ने सब श्रोताओं को मंत्र-मुग्ध कर दिया। अत्यंत स्पष्ट, प्रांजल एवं मर्मस्पर्शी शब्दों में आप ने आधुनिक जगत की संस्थाओं की, विशेष कर विज्ञान की समालोचना प्रस्तुत की, तथा पाश्चात्य-दर्शन में नव्यन्याय के सदृश बढ़ती हुई जटिल पारिभाषिक शब्दावली की उपहासास्पदता को प्रदर्शित करते हुए, दर्शन-शास्त्रियों को अनुपयुक्त विचार-प्रणाली का परित्याग कर मनुष्य जाति की प्रस्तुत समस्याओं की ओर अग्रसर होने का उपदेश दिया। इस के अतिरिक्त इन्होंने ने शिकागो विश्व-

विद्यालय में हैस्कल ट्रस्ट के लिए भी व्याख्यान दिए। इस प्रकार वर्षात में अटलांटिक के दोनों तटों को भारत की कीर्ति-मुद्रा से मुद्रित कर के यह कलकत्ता लीट आए।

सन् १९२७ में इन के 'भारतीय दर्शन' नामक विशालकाय ग्रंथ का दूसरा भाग प्रकाशित हुआ। लगभग इसी समय डाक्टर ऐस्टलिन कार्पेंटर के अवकाश ग्रहण कर लेने पर मांचेस्टर कालेज में तुलनात्मक धर्मशास्त्र के प्रोफेसर का स्थान रिक्त हुआ। लार्ड हाल्डेन ने अपने प्रभाव से यह पद अध्यापक राधाकृष्णन् के लिए सुरक्षित करवाने का उद्योग किया। यह पद आप को स्थायी रूप से दिया गया था, पर भारतवर्ष में ही अनेक प्रकार के कार्यों की पूर्ति में व्यस्त रहने के कारण इन्होंने इसे अस्थायी रूप में ही स्वीकार किया। सन् १९२८ में ही इन्होंने अपने स्थान पर पहुँच जाना चाहिए था पर कार्य-भार-वश आप १९२९ में इंग्लैंड जा सके। एक वर्ष तक वह स्थान आप के लिए रिक्त रखा गया। इसी बीच में नवजात आंध्र विश्वविद्यालय ने अपने द्वितीय कन्वोकेशन में इन्हें सम्मानार्थ डी० लिट्० उपाधि दी। आंध्रदेश को राधाकृष्णन् की जन्मभूमि होने का अभिमान होना उचित ही है।

इस वार भी अध्यापक राधाकृष्णन् को अनेक संस्थाओं से व्याख्यान देने के लिए निमंत्रण मिले जिन में से सब से अधिक महत्त्वपूर्ण निमंत्रण हिवर्ट ट्रस्ट की ओर से था। हिवर्ट ट्रस्ट के व्याख्यान विश्वविश्रुत व्यक्तियों द्वारा दिए जाते हैं। राधाकृष्णन् प्रथम भारतीय हैं जिन को यह सम्मान मिला। इस के उपरांत विश्वकवि रवींद्रनाथ ठाकुर को भी उक्त ट्रस्ट ने निमंत्रित किया। राधाकृष्णन् ने इस ट्रस्ट के तत्त्वावधान में ४ व्याख्यान मांचेस्टर विश्वविद्यालय में, और चार लंदन विश्वविद्यालय में, कुल मिला कर आठ व्याख्यान दिए। मांचेस्टर के व्याख्यानों के अंत में प्रोफेसर वीस ने इन को धन्यवाद देते हुए कहा "हम भूत-काल में संस्कृति, दर्शनज्ञान, और धर्म के लिए पूर्व के ही ऋणी रहे हैं। आज हम को एक प्रमुख प्राच्य दार्शनिक के चरणों में बैठने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है, और उन के शब्दों और विचारों से हम ने शांति और सात्वता प्राप्त की है।" लंदन विश्वविद्यालय में भी राधाकृष्णन् के व्याख्यानों की बड़ी प्रशंसा हुई। जिस व्याख्यान-भवन में यह व्याख्यान हुए थे उस में तिल भर स्थान भी शेष नहीं रहा था। श्रोताओं में ऐसे मनुष्यों की संख्या भी पर्याप्त थी जो दिन भर के परिश्रम से चूर होते हुए भी व्याख्यान-दाता के संदेश को सुनने और उस के व्यक्तित्व से प्रभावित होने के लिए अपने विश्राम

की सुखद गोद को छोड़ कर उपस्थित होते थे। इन व्याख्यानों के अंत में सर कॉलिन्स ने प्रो० राधाकृष्णन् को संबोधन कर के कहा “श्रीमन्, मुझे अभिलाषा होती है कि जब अब से चालीस वर्ष पूर्व मैं लंदन विश्वविद्यालय में दर्शनशास्त्र का विद्यार्थी था, तब मुझे आप जैसा गुरु प्राप्त हुआ होता।” उपरोक्त आठों व्याख्यान कुछ अन्य व्याख्यानों के सहित ‘एन आइडलिस्ट व्यू अव् लाइफ़’ (आध्यात्मिक दर्शन) के नाम से पुस्तकाकार प्रकाशित हो चुके हैं। उपरोक्त ट्रस्ट के अतिरिक्त जोवेट व्याख्यान-निधि के ट्रस्टियों ने भी इन्हें व्याख्यान देने के लिए निमंत्रित किया। इस ट्रस्ट के लिए आप ने ‘ईस्ट एंड वेस्ट इन रेलिजन’ (धर्म में पूर्व तथा पश्चिम) विषय पर व्याख्यान दिया। यह भी उपरोक्त नाम से पुस्तक-रूप में प्रकाशित हो चुका है। कहते हैं कि केंब्रिज में राधाकृष्णन् के व्याख्यान को सुन कर एक बृद्ध ईसाई-महिला ने अपने पास बैठे मित्र से कहा कि “आज मुझे लज्जा आती है कि हम भारतवर्ष में ईसाई-धर्म का प्रचार करने के लिए मिशनरियों को भेजते हैं।”

इन व्याख्यानों के अतिरिक्त राधाकृष्णन् ने एक वर्ष तक आक्सफ़ोर्ड में मांचेस्टर कालेज में अध्यापन-कार्य भी किया, क्योंकि इसी के लिए वह इंग्लैंड गए थे। अध्यापक के रूप में जिस किसी का भी आप से संपर्क हुआ वही आप की शिष्टता, अगाध विद्वत्ता और जीवन की सात्विकता से प्रभावित हुए बिना न रहा। कालेज के मुख्याधिष्ठाता प्रिंसिपल जैक्स ने इन की विदा के समय कहा था कि “मैं यह आशा प्रकट करने का साहस करता हूँ कि हम को भविष्य में भी आप के संभाषण सुनने का अवसर प्राप्त होगा।”

एक वर्ष आक्सफ़ोर्ड में व्यतीत कर यह १९३० के मध्य में कलकत्ता लौट आए। इसी समय के लगभग कलकत्ता विश्वविद्यालय में इन की नियुक्ति के पाँच वर्ष पूरे हो गए। इन की नियुक्ति पाँच वर्ष के ही लिए हुई थी। पर पाँच वर्ष के अंत में कलकत्ता विश्वविद्यालय के अधिकारी इन के कार्य से ऐसे प्रसन्न हुए, कि उन्होंने ने इन की नियुक्ति जीवन भर के लिए स्वीकार की। यह घटना कलकत्ता विश्वविद्यालय के इतिहास में अपने ढंग की पहली ही थी। महामना मालवीय जी के उद्योग से जब बनारस में अखिल एशिया की शिक्षा-कान्फ़रेन्स हुई तो उस का सभापति-पद भी इन को ही मिला। भारत-सरकार ने इन्हें राष्ट्र-संघ की बौद्धिक सहयोग समिति के लिए भारतवर्ष का प्रतिनिधि नियुक्त किया। सन् १९३१ में सरकार ने इन्हें ‘नाइट’ का पद प्रदान किया। आंध्र देश ने आंध्र विश्वविद्यालय के वाइस-चांसलर के निर्वाचन के समय इन्हें उक्त पद से सम्मानित किया। भारत की केंद्रीय सरकार

ने इन्हें अपने शिक्षावोर्ड में भी सदस्य बनाया है, और आप देश-भाषा-विभाग के अध्यक्ष हैं। हिंदी-भाषा बोलने वालों को यह जान कर हर्ष होगा कि राधाकृष्णन् हिंदी को सार्व-देशिक भाषा बनाने के पक्ष में हैं, और दक्षिण में हिंदी-प्रचार-कार्य से इन की पूर्ण सहानु-भूति है। आंध्र-विश्वविद्यालय के कार्य का संचालन इन्होंने जिस दक्षता के साथ किया है, उस से स्पष्ट है कि यह केवल शाब्दिक ज्ञान-सम्पन्न ही नहीं हैं, प्रत्युत कार्यक्षेत्र में भी पूर्ण सफलता प्राप्त करने की समता रखते हैं। अब आक्सफ़ोर्ड विश्वविद्यालय में प्राच्य आचार-शास्त्र एवं धर्म के प्रोफ़ेसर के पद पर इन की नियुक्ति हुई है।

पिछले पांच वर्षों में भारतवर्ष में भी इन्होंने ने अनेक व्याख्यान दिए हैं। इन में कुछ का संग्रह 'फ्रीडम एंड कल्चर' (स्वतंत्रता और संस्कृति) के नाम से प्रकाशित हो गया है। इस के पूर्व अध्यापक राधाकृष्णन् की स्फुट रचनाओं एवं व्याख्याओं का संग्रह 'हार्ट अफ् हिंदुस्तान' (हिंदुस्तान का हृदय) प्रकाशित हुआ था। 'कल्क' और 'दि रेलिजन वी नीड' नामक इन की दो और पुस्तकें इंग्लैंड में प्रकाशित हो चुकी हैं। इन के अतिरिक्त और कई भाषण इन के इस देश में तथा इंग्लैंड में हो चुके हैं जो पुस्तक-रूप में नहीं आए हैं।

(२)

अध्यापक राधाकृष्णन् के व्यक्तित्व की रूप-रेखा उपस्थित करना भी आवश्यक है। श्रीमती राधाकृष्णन् के साक्ष्य के आधार पर यह बतलाया गया है कि विद्यार्थी-जीवन में तथा प्रारंभिक अध्यापक-जीवन में राधाकृष्णन् में पर्याप्त निरंकुशता विद्यमान थी, पर धीरे-धीरे उन की साधना ने उन के रोपीले स्वभाव पर विजय पाई। अब तो अध्यापक राधाकृष्णन् सरलता और सौम्यता की प्रतिमा हैं। सुसंस्कृत जनता एवं सरकार दोनों ही इन्हें सम्मान की दृष्टि से देखती हैं, फिर भी अभिमान इन्हें छू भी नहीं गया है। कोई भी मनुष्य इन के संपर्क में क्यों न आए यह उस को महत्त्व-जनित दूरता का अनुभव नहीं होने देते। यह कई बार यूरोप गए हैं पर कहा जाता है कि वहां के जीवन से यह संतुष्ट नहीं हैं। इस बार भी जो इन्होंने स्पेल्डिंग प्रोफ़ेसरशिप स्वीकार की वह बहुत दिनों तक सोच विचार कर की है। इन के लिए आक्सफ़ोर्ड का प्रमुख आकर्षण वहां का बौद्धिक वातावरण तथा अध्ययन और अध्यापन-संबंधी सुविधाएं हैं, जो भारत-

वर्ष में अप्राप्य हैं। यह कहा जाता है कि आंध्र विश्वविद्यालय के वाइस-चांसलर पद पर रहते हुए अंतिम वर्ष में मद्रास की सरकार ने इन्हें शिक्षा-विभाग का डाइरेक्टर बनाना चाहा था। इसी समय आक्सफ़ोर्ड विश्वविद्यालय का भी प्रस्ताव मिला। वेतन और प्रभाव स्पष्टतया ही डाइरेक्टर होने में अधिक था; परंतु जिस जीवन का वरण उन्होंने ने किया वह उन के स्वभाव के उपयुक्त ही है।

राधाकृष्णन् का जीवन एक मनीषी का जीवन है। अध्ययन, अध्यापन और मनन इन के जीवन का सतत व्यापार है। यद्यपि वह दर्शन-शास्त्र के विशेषज्ञ हैं तथापि गणित एवं विज्ञान की कुछ शाखाओं को छोड़ कर प्रायः कोई भी विषय ऐसा नहीं है कि जिस में इन की गति न हो, विशेष कर आप का साहित्य का ज्ञान तो संभवतया इतना ही विस्तृत और गंभीर है जितना दर्शन-शास्त्र का।

अध्यापक राधाकृष्णन् के जीवन में एक बात ऐसी है जिस की व्याख्या नहीं की जा सकती। यदि आप को कहीं उन से भेंट हो तो आप देखेंगे कि उन का शरीर कृश है, लंबाई सामान्य से तनिक अधिक है, शिर पर पगड़ी है, आँखों पर चश्मा। यदि पगड़ी उतार कर रख दी जाय तो लंबे वाल इस प्रकार बिखर जायेंगे जैसे कि अध्यापक आइंस्टाइन के शिर के बाल बिखरे रहते हैं। मुख और कान आवश्यकता से कुछ अधिक लंबे हैं। अनावश्यक मांसलता का शरीर में नितांत अभाव है। चश्मे के पीछे दो बड़े-बड़े नेत्र हैं और उन के पीछे एक ऐसा मस्तिष्क है जिस के सहारे वह नेत्र आप को आरपार देख सकते हैं। व्याख्यान देते समय वह प्रायः तनिक आगे को झुक जाते हैं। पर आप को उन के शरीर को देख कर उन की अटूट कार्यक्षमता और अपार स्फूर्ति का आभास नहीं मिल सकता। उन की आश्चर्यमयी कार्यक्षमता का पता तो आप उन्हें कार्य में जुटा हुआ देख कर ही कर सकते हैं। यूनीवर्सिटी की कार्यकारिणी समिति के सामने उपस्थित लंबे से लंबे कार्यक्रम आप शीघ्रातिशीघ्र समाप्त कर देते थे। अमेरिका-यात्रा में आप को प्रति दिन व्याख्यान देने पड़ते थे और रात्रि में यात्रा करनी पड़ती थी, जिस के दोनों छोरों पर व्याख्यानों के लिए तैयार रहना पड़ता था। साथ ही साथ अध्ययन का क्रम निरंतर चलता रहता था। इसी कारण कुछ आदमी राधाकृष्णन् पर जल्दवाजी का दोषारोपण करते हैं, पर वास्तव में बात यह है कि राधाकृष्णन् की बुद्धि इतनी निर्मल और सुव्यवस्थित है कि उन के सामने कौसी भी समस्या क्यों न उपस्थित हो उस के निर्णय तक पहुंचने में उन को

विलंब नहीं लगता। उपरोक्त गुणों के अतिरिक्त अध्यापक राधाकृष्णन् में एक गुण अन्य व्यक्तियों के चरित्र और भावों को एक दम जान लेने का है। कहा तो यहां तक जाता है कि यदि आप राधाकृष्णन् से बातचीत करते हुए कोई कथन प्रारंभ करें तो आप के वाक्य पूरा करने के पूर्व ही आप के विचारों को आप से अच्छी तरह आप से पहले ही वह आप को सुना देंगे। ऐसा होने से कभी-कभी बातचीत करने वाले को इन में शिष्टता का अभाव प्रतीत होने लगता है पर वास्तव में बात ऐसी नहीं है। राधाकृष्णन् की निर्मल त्वरितगति वृद्धि आप के विचारों में प्रविष्ट हो कर बीच में ही आप की सहायता को दीड़ पड़ती है।

पुस्तकाध्ययन को इन के जीवन का मुख्य व्यसन कहिए, चाहे व्यवसाय कहिए। किसी प्रकार के खेल-तमाशों का शीक इन्हें प्रायः नहीं के बराबर है। इन के मन वहलाने का क्षेत्र इन के परिवार का स्नेहमय वातावरण है। राधाकृष्णन् की चार पुत्रियां और एक पुत्र है।

यद्यपि इन का जन्म कट्टर दक्षिणी ब्राह्मण-कुल में हुआ है पर इन की शिक्षा-दीक्षा के कारण इन के विचार अत्यंत उदार हैं। भारतवर्ष की वर्तमान परिस्थिति का इन्होंने ने अत्यंत गम्भीरता के साथ अध्ययन किया है, एवं तद्विषयक अपने विचारों को अत्यंत निर्भीकता के साथ प्रदर्शित किया है। उन के व्याख्यानों एवं ग्रंथों के पढ़ने से पता चलता है कि उन की नीति “शत्रोरपि गुणाः वाच्याः दोषाः वाच्याः गुरोरपि” रही है। राजनीति, समाजनीति एवं भारतीय संस्कृति इन तीनों का जितना ज्ञान राधाकृष्णन् को है इतना हमारे प्रथम श्रेणी के राजनैतिक नेताओं में बहुत कम को होगा। भारतवर्ष की वर्तमान दुर्दशा से उन का हृदय पीड़ित है, अतएव अपने समावर्तन व्याख्यानों एवं ‘इंडियन फ़िलोसफ़ी’ नामक ग्रंथ के अंत में उन्होंने ने सरकार की भी स्पष्ट शब्दों में आलोचना की है। अस्पृश्यता जसी घृणित प्रथा का घोर विरोध किया है। राजनीति का उद्विग्नतामय क्षेत्र उन के स्वभाव से मेल नहीं खाता अन्यथा इस में संदेह नहीं कि यदि अध्यापक राधाकृष्णन् राजनीति-क्षेत्र में प्रवेश करें तो वह ऐसा कार्यक्रम देश के समक्ष अवश्य रख सकते हैं जो भारत की आत्मा के अनुकूल एवं भारत की समस्याओं के लिए उपयुक्त हो सकता है। पर आप के स्वभाव को दृष्टि में रखते हुए ऐसा होने की संभावना बहुत कम है।

अध्यापन-कार्य के साथ ही राधाकृष्णन् ने ग्रंथ-प्रणयन कार्य भी प्रारंभ किया। उन की बहु-प्रसू लेखनी ने अब तक अनेक ग्रंथों की रचना की है।

‘दि एसेंशल्स अवं साइकालोजी’ (मनोविज्ञान का सार) राधाकृष्णन् की प्रथम पुस्तक है। इस में मनोविज्ञान के सारभूत तत्त्वों का अत्यंत सरल और संक्षेप वर्णन उपस्थित किया गया है। लैंग जेम्स के अनुभावों को भावों के प्रेरक माननेवाले सिद्धांत का विवेचन विशेष द्रष्टव्य है। इस ग्रंथ की उपयोगिता निर्विवाद है। आक्सफ़ोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस द्वारा इस का प्रकाशित होना भी इस की सारवत्ता का प्रमाण है। यदि किसी को मनोविज्ञान के मूलतत्त्वों का ज्ञान थोड़े समय में प्राप्त करने की इच्छा हो तो इस से अधिक सरल दूसरी पुस्तक उपलब्ध नहीं हो सकती।

‘रवींद्रनाथ ठाकुर के दार्शनिक विचार’ (फ़िलासफी अवं रवींद्रनाथ टैगोर) की रचना अध्यापक राधाकृष्णन् ने मद्रास के प्रेसीडेंसी कालेज में अध्यापन-कार्य करते हुए की। इस के प्रारंभ में उन्होंने उन पाश्चात्य पंडितों के मतों का सप्रमाण खंडन किया है, जो रवींद्रनाथ ठाकुर के विचारों को ईसाई-धर्म से प्रभावित हुआ सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। ग्रंथ के शेष भाग में इन्होंने रवींद्रनाथ के विचारों की सारवत्ता, उन की साधना की अव्यर्थता तथा उन के मनन की वर्तमान जगत की समस्याओं के प्रति उपयोगिता का प्रतिपादन किया है। तथा अपने प्रत्येक कथन को विश्व-कवि की रचनाओं के उद्धरणों से समर्थित किया है। इस ग्रंथ की एक कमी कही जा सकती है। यह ग्रंथ विश्व-कवि के अंग्रेजी में अनुवादित ग्रंथों के आधार पर रचा गया है, जो कि उन की समग्र रचनाओं का एक अंश मात्र है। राधाकृष्णन् स्वयं अत्यंत कवित्वमय हृदय से संपन्न हैं। इसी कारण वह विश्व-कवि के विचारों को इतनी अच्छी तरह से विवृत करने में सफल हुए हैं।

मैसूर विश्वविद्यालय में अध्यापक रहते हुए राधाकृष्णन् ने अपने प्रथम विशुद्ध दार्शनिक ग्रंथ का प्रणयन किया। इस का नाम ‘रेन अवं रेलिजन इन कंटेंपोरेरी फ़िलासफी’ (वर्तमान दार्शनिक मनन में धर्म का साम्राज्य) है। पाश्चात्य देशों के विद्वानों को अपनी विशुद्ध विवेकपरता का अत्यंत अभिमान है। प्रायः दर्शन-शास्त्र के जितने भी इतिहास यूरोपीय भाषाओं में लिखे गए हैं सभी में पूर्व के दर्शन-ज्ञान का तिरस्कारात्मक परिहार

किया गया है, क्योंकि यूरोप के पंडितमानी विद्वानों की सम्मति में प्राच्य देशों में दर्शन-शास्त्र अपने को कभी धर्म एवं पौराणिकता से मुक्त नहीं कर सका। उस ने कभी केवल विवेक-पथ का ग्रहण नहीं किया। यूवरवैक्, विंडलवांट, वेवर, लियोरोविन इत्यादि सब की सम्मति इसी प्रकार की है। पाश्चात्य पंडितों के ऐसे विचारों का कारण यह था कि भारतीय विचारों से उन का परिचय इस देश में ईसाई-धर्म का प्रचार करने वाले मिशनरी लोगों की रचना से हुआ था। भारतीय विद्वानों ने यद्यपि अंग्रेजी भाषा में भारतीय दर्शनों के उदात्त तत्त्वों को व्यक्त करने का प्रयत्न अवश्य किया था पर यह प्रयत्न केवल आत्म-रक्षण का प्रयत्न था, आक्रमणात्मक न था। अध्यापक राधाकृष्णन् ने ही सब से पहले आक्रमणात्मक स्थिति को ग्रहण किया और इन पंडितमानी दार्शनिकों की तोपों का मुख स्वयं उन के घर की ओर मोड़ दिया। इस प्रकार का प्रयत्न राधाकृष्णन् के पूर्व नहीं हुआ था। इस ग्रंथ की भूमिका में अध्यापक राधाकृष्णन् ने यह बतलाया है कि यदि दार्शनिक लोग केवल विवेक का नेतृत्व ग्रहण कर के अपने मार्ग पर अग्रसर हों तो निश्चय ही वह आध्यात्मिक केवल-द्वैत पर पहुँचेंगे। आधुनिक काल के यूरोपीय दार्शनिकों के अपने रास्ते से बहकने का कारण दार्शनिकता के क्षेत्र में धर्म का साम्राज्य है। इस ग्रंथ में यूरोपीय दर्शन के आधुनिक नेताओं की विचार-धाराओं का अवगाहन कर के राधाकृष्णन् ने बतलाया है कि यह लोग जब तक शुद्ध-विवेक का पक्ष ग्रहण करते हैं, उन की धारा की दिशा आध्यात्मिक अद्वैतवाद की ओर रहती है, पर आध्यात्मिक अद्वैतवाद इन लोगों के स्वीकृत धार्मिक सिद्धांतों के विपरीत है, अतएव वह शुद्ध-विवेक का पथ छोड़ कर पथ-भ्रष्ट हो जाते हैं। लाइबनिट्स, जेम्स वार्ड, वर्गसां, विलियम जेम्स, रुडल्फ आयकन, वर्ट्रॉड रसल, शिलर वालफ़ोर, रैशडल इत्यादि प्रमुख दार्शनिकों के विचारों का विवेचन इस ग्रंथ में किया गया है। जर्मनी से ले कर अमेरिका तक कोई ऐसा प्रमुख दार्शनिक नहीं है जो राधाकृष्णन् की आलोचना का विषय न बना हो। हाँ, जान ड्यूवी, जार्ज संतयाना, और फ़्रेडरिक नीट्शे अवश्य छूट गए हैं, जो नहीं छूटने चाहिए थे। सब से लंबी विवेचना वर्गसां के सिद्धांतों की की गई है, क्योंकि वर्गसां आधुनिक यूरोपीय दार्शनिकों में सर्वश्रेष्ठ माने जाते हैं। इस ग्रंथ के अंत में संपूर्ण यूरोपियन विचार-धारा के मंथन के उपरान्त एक अध्याय उपनिषदों के दृष्टिकोण पर भी लिखा गया है। इस के कुछ अंश तो १९१६ से ले कर १९१९ तक प्रसिद्ध दार्शनिक पत्रों में प्रकाशित हो चुके थे। अतएव यह ग्रंथ अध्यापक राधाकृष्णन् की २८ से ले कर ३२ वर्ष की अवस्था

तक की रचना है। पर इस की विचार-प्रीति, मनन-गांभीर्य, तथा शैली की मनोरमता आश्चर्यचकित करने वाली हैं। आलोचकों ने राधाकृष्णन् की आलोचना से अवश्य ही असम्मति प्रकट की है पर उन्होंने ने उक्त दार्शनिकों के सिद्धांतों का जो विवरण उपस्थित किया है, उस की प्रामाणिकता के विषय में किसी को कोई आपत्ति नहीं हुई है। अतएव विवरणात्मक दृष्टि से यह ग्रंथ आधुनिक यूरोपीय दर्शन का ज्ञान प्राप्त करने का उत्तम साधन है। अनेक यूरोपीय विश्वविद्यालयों ने इस ग्रंथ को दर्शनशास्त्र के विद्यार्थियों के लिए पाठ्य-पुस्तकों की सूची में सम्मिलित किया है। इस के प्रकाशन के उपरांत दर्शन-शास्त्र के क्षेत्र में अध्यापक राधाकृष्णन् की महत्ता में किसी को संदेह नहीं रहा।

इस ग्रंथ के उपर्युक्त विवरण से यह भ्रम उत्पन्न हो सकता है कि राधाकृष्णन् धार्मिक प्रवृत्ति के विरोधी हैं। पर यह धारणा ठीक नहीं है क्योंकि, राधाकृष्णन् स्वयं अत्यंत गंभीर, धार्मिक-भावना-संपन्न व्यक्ति हैं। इस के अतिरिक्त उन्होंने ने अनेक ऐसे ग्रंथों की रचना की है जो धार्मिक प्रवृत्ति की उच्चतम समर्थक युक्तियों से अलंकृत हैं। वास्तव में राधाकृष्णन् ने उन धार्मिक प्रवृत्तियों की निंदनीयता का प्रतिपादन किया है, जो संकीर्ण सांप्रदायिक भावनाओं की समर्थक और सच्ची धर्म-भावना की विरोधिनी हैं। ऐसी ही प्रवृत्तियां दार्शनिकों के सत्य के अन्वेषण के मार्ग का रोड़ा बन कर उन के विशुद्ध सत्य तक न पहुंचने का कारण बनी हैं। प्रकृत ग्रंथ के २३ पृष्ठ पर अध्यापक राधाकृष्णन् ने सच्चे दर्शन-शास्त्र और सच्चे धर्म के सामंजस्य का प्रतिपादन करते हुए बतलाया है कि अंततोगत्वा विशुद्ध विवेक और विशुद्ध धार्मिक विश्वास में किसी प्रकार का विरोध नहीं हो सकता, क्योंकि मनुष्य-स्वभाव के विभिन्न पहलुओं में कोई छिपी हुई वैर-भावना नहीं है। इस दृष्टि से देखने पर यह विशालकाय ग्रंथ “सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज” (गीता १८।६६) का एक भाष्य प्रतीत होता है। यह ग्रंथ अनेक दृष्टियों से महान होते हुए भी अपूर्ण है। इस में प्रस्तुत विषय की पूर्ति ‘ऐन आइडियलिस्ट व्यू ऑफ़ लाइफ़’ में हुई है, जिस का विवरण हम आगे करेंगे।

सन् १९२० में सर ब्रजेंद्रनाथ सील के मैसूर विश्वविद्यालय के वाइस-चांसलर नियुक्त हो जाने पर अध्यापक राधाकृष्णन् उन के स्थान कलकत्ता विश्वविद्यालय में दर्शन-शास्त्र के ‘किंग जार्ज फ़िफ़थ प्रोफ़ेसर’ नियुक्त हुए। सन् १९२१ के दिसंबर मास में उन के ‘भारतीय दर्शन’ नामक ग्रंथ का प्रथम भाग तैयार हो चुका था, और उस की पांडुलिपि प्रका-

शक के पास भेजी जा चुकी थी। इस का प्रकाशन सन् १९२३ में प्रारंभ में हुआ। तीन वर्ष के उपरांत इस ग्रंथ के द्वितीय भाग का प्रकाशन हुआ। जार्ज ऐलन ऐंड अनविन् की दर्शन ग्रंथमाला में इंग्लैंड के प्रमुख दार्शनिक प्रो० म्योरहेड के संपादकत्व में यह प्रकाशित हुआ है। इस ग्रंथमाला के अन्य लेखक दार्शनिक जगत के सुप्रसिद्ध व्यक्ति ही हैं। यह ग्रंथ राधाकृष्णन् के अद्यावधि प्रकाशित ग्रंथों में सब से बड़ा है।

मैक्समूलर के 'सिक्स सिस्टेम्स अफ् इंडियन थाट' के प्रकाशन के उपरांत भारतीय-दर्शन के क्षेत्र में बहुत कुछ शोध कार्य हो चुका था, पर उस का समावेश किसी एक ग्रंथ में नहीं हुआ था। यह कार्य अध्यापक राधाकृष्णन् ने किया। और इसी कार्य को दास-गुप्त, रानडे और वेत्सेलकर भी करने में सन्नद्ध हैं। अध्यापक राधाकृष्णन् ने अपने 'भारतीय दर्शन' के प्रथम भाग की भूमिका में प्रकृत कार्य की कठिनाता तथा अपनी योग्यता की सीमाता को स्पष्टतम शब्दों में स्वीकार किया है। विविध दर्शनों का एकत्रः पूर्णज्ञान प्राप्त करने के लिए बहुत से मनुष्य अपनी सारी आयु खपा देते हैं; अतएव एक व्यक्ति सभी दर्शनों का सर्वस्वीकृत विवरण उपस्थित करने में कदापि पूर्णतया सफल नहीं हो सकता। इस प्रकार का कोई भी प्रयत्न सब समालोचकों को संतुष्ट कर सकेगा, ऐसी आशा करना ही व्यर्थ है। इस के अतिरिक्त भारतीय दर्शन के सिद्धांतों को किसी आधुनिक भाषा में अभिव्यक्त करने में और भी अनेक समस्याएं सामने आती हैं। भारतीय दार्शनिक विचार जिस समय सजीव था, उस समय मनन-प्रणाली आधुनिक मनन-प्रणाली से इतनी भिन्न थी कि उस समय के विचारों को आज कल की समझ में आ जाने वाली भाषा में प्रकट करना सरल काम नहीं है। इस के अतिरिक्त भारतवर्ष में मौलिक मनन के युग की समाप्ति के उपरांत ऐसे दार्शनिकों का आविर्भाव हुआ जिन में मौलिक विचार-शक्ति की न्यूनता विपुल-जटिल वाग्वैभव के साथ अवतरित हुई थी। साधारण बात को भी बुद्धि के जवड़े को तोड़ डालने वाली वाक्यावलि में उलझा कर प्रकट करना इन दार्शनिक-पुंगवों का व्यसन था। भारतीय दर्शन के अनुपम विचार-रत्न सर्वसाधारण के जीवन में अनुप्रविष्ट हो कर जीवन को उठाने में दृश्येष्ट रूप से सफल न हो सके, इस का एक प्रमुख कारण यह भी है कि वे विचार सर्वसाधारण की भाषा के आवरण में न आ कर पंडितों के मनोरंजन की सामग्री मात्र बने रहे। अतएव भारतीय दर्शन को प्राचीन ग्रंथों के अध्ययन के उपरांत आधुनिक समय की भाषा में सुगम रूप में

प्रस्तुत करना विशाल और अगाध जलराशि में डुबकी मार कर मोतियों को निकालने के सदृश कठिन कार्य है। तिस पर ऐसा कौन साहसी 'मरजीवा' हो सकता है जो यह दम भर सके कि उस ने रत्नाकर के सभी रत्नों की खोज कर ली है।

भारतीय दर्शन की समस्याओं को दृष्टि में रखते हुए यदि हम अध्यापक राधा-कृष्णन् के प्रकृत ग्रंथ की आलोचना करें तो अवश्य मानना पड़ेगा कि उन को असाधारण सफलता प्राप्त हुई है। उन्होंने ने एक ओर विविध भारतीय दर्शनों के मूल-भूत सिद्धांतों का कभी परित्याग नहीं किया है, दूसरी ओर अनावश्यक बाल की खाल खींचने की प्रवृत्ति को रोका है। अतएव उक्त ग्रंथ में भारतीय मनन-धारा अपने सजीव रूप में प्रकट होती है। इस के अतिरिक्त आदि से अंत तक स्थान-स्थान पर पाश्चात्य विचारकों एवं भारतीय विचारकों के विचार-साम्य का भी दिग्दर्शन कराया गया है। इसी कारण यह ग्रंथ पाश्चात्य देशों में भारतीय दर्शन को अधिक बोधगम्य और जनप्रिय बनाने में सफल हुआ है। भारतीय दर्शनों की विविध शाखाएं सहस्रों वर्षों के मनन-व्यापार से विचार-संपन्न हैं, और साथ ही साथ प्रत्येक दर्शन ने एक विशेष प्रकार के दृष्टि-कोण और पारिभाषिक शब्दों को स्वीकार किया है। अतएव विदेशी लोगों को इस मनन-संपदा से अवगत करा देना और उन के चित्त में उस के प्रति रुचि उत्पन्न कर देना एक महान कृत्य है। स्वामी विवेकानंद एवं स्वामी रामतीर्थ वेदांत के लिए ऐसा ही कार्य कर गए थे। अध्यापक राधा-कृष्णन् ने उसी दिशा में कदम बढ़ाया है। संपूर्ण ग्रंथ तो विशेषज्ञों के लिए ही है, फिर भी प्रथम अध्याय, अंतिम अध्याय, एवं भूमिका सभी पढ़ सकते हैं, और उस से लाभान्वित हो सकते हैं। प्रथम अध्याय में भारतीय दर्शन की विशेषताओं का विशद स्पष्टीकरण है, तथा इसी अध्याय में यह भी बतलाया गया है कि भारतीय दर्शन का पाश्चात्य विचारकों से किन-किन बातों में मौलिक भेद है, और किन बातों में साम्य है। साथ ही भारतीय दर्शनों के सिद्धांतों के ज्ञान का क्या महत्व है, यह भी स्पष्ट कर दिया गया है। अंतिम अध्याय में वर्तमान काल में भारतीय मनन में मौलिकता के अभाव के कारणों का विवेचन किया गया है, तथा इस दयनीय स्थिति से छुटकारा पाने के उपाय बतलाए गए हैं। इस अध्याय में हम को अध्यापक राधाकृष्णन् के गंभीर देश-प्रेम का परिचय मिलता है।

उपर्युक्त ग्रंथ के प्रथम भाग का दूसरा संस्करण प्रकाशित हो चुका है। इस संस्करण के परिशिष्ट में राधाकृष्णन् ने आलोचकों के आक्षेपों का उत्तर दे कर अपने दृष्टि-

कोण का स्पष्टीकरण किया है। प्रथम भाग से उपनिषद् वाला अंश एवं द्वितीय भाग से वेदांत वाला अंश पृथक् पुस्तकाकार प्रकाशित हो चुका है और उपनिषद् वाले अंश के तो एकाधिक संस्करण हो चुके हैं।

‘रेन अक् रेलिजन इन कंटेंपोरेरी फ़िलासफ़ी’ तथा ‘इंडियन फ़िलासफ़ी’ के प्रणयन से अध्यापक राधाकृष्णन् ने भारतीय एवं पाश्चात्य दर्शनों के प्रामाणिक ज्ञान का परिचय दिया है। इन के प्रकाशन के उपरांत दार्शनिक जगत में उन का निर्विवाद नेतृत्व स्थापित हो गया। पर राधाकृष्णन् दार्शनिक ही नहीं वे प्राच्य और पाश्चात्य संस्कृति का भी अत्यंत गंभीर ज्ञान रखते हैं। उन की ‘हिंदू व्यू अक् लाइफ़’ नामक पुस्तक तो हिंदू संस्कृति का दर्पण ही है। इस पुस्तक में अष्टन ट्रस्ट वाले व्याख्यान संग्रहीत हैं। यदि केवल प्रचार ही किसी ग्रंथ की श्रेष्ठता का प्रमाण माना जाय तो यह ग्रंथ अध्यापक राधाकृष्णन् की रचनाओं में सर्वोत्तम ठहरेगा। इस के अंग्रेजी भाषा में अनेक संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं, तथी कई यूरोपीय भाषाओं में इस का अनुवाद हो चुका है। ‘भारतीय दर्शन’ नामक ग्रंथ तो विशेषज्ञों की रुचि-तर्पण की सामग्री है, पर यह पुस्तक इतनी सरल और सुचारु भाषा में लिखी गई है कि इस को सब कोई पढ़ कर लाभान्वित हो सकते हैं। संपूर्ण पुस्तक चार अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय में धर्म के स्वरूप का निरूपण किया गया है। इस के साथ ही साथ हिंदू-धर्म के स्वरूप और विकास की रूप-रेखा का भी वर्णन किया गया है। दूसरे अध्याय में धर्मों के संघर्ष के ऐतिहासिक विवेचन के साथ धर्म-संघर्ष में हिंदू-धर्म की विशाल उदारता का अत्यंत प्रांजल रूप पाठकों के सम्मुख उपस्थित किया है। यह अध्याय वर्तमान समय के सांस्कृतिक संघर्ष की गुलियों को सुलझाने के लिए एक आदर्श प्रणाली का प्रदर्शक है। शेष दो अध्यायों में भी हिंदू-धर्म का स्वरूप अधिक विस्तार के साथ समझाया गया है।

हिंदू-जाति के पतन के अनेक कारणों में से सब से प्रबल कारण आत्मविस्मृति है, और यह पुस्तक हिंदू-धर्म के सच्चे स्वरूप का प्रतिपादन कर उसी आत्मविस्मृति के मूल में कुठाराघात करती है। पर आदि से अंत तक इस में हिंदू-धर्म की स्तुति-मात्र ही नहीं है। जहां राधाकृष्णन् ने हिंदू-धर्म की उदार आत्मा का स्पष्टीकरण करने में कोई कसर नहीं उठा रखी है, वहां हिंदू-जीवन में घुसी हुई बुराइयों की स्पष्टतम निंदा भी की है। यदि भविष्य में संपूर्ण मनुष्य-जाति की सांस्कृतिक एकता की स्थापना का स्वप्न सफल होने का

अवसर आए तो हिंदू-जाति उस महदनुष्ठान में क्या सेवा कर सकेगी ? इस प्रश्न का उत्तर इस ग्रंथ में दिया गया है। प्रत्येक हिंदू युवक और संस्कृतियों के विद्यार्थी के लिए यह पुस्तक पठनीय है। हिंदू-धर्म पर इतनी छोटी और साथ ही साथ महान् दूसरी पुस्तक शायद ही कहीं मिल सके।

‘दि रेलिजन वी नीड’ (अभीष्ट धर्म) नामक पुस्तिका का प्रकाशन अर्नेस्ट बेन की ‘अफ्रमेशन’ नामक ग्रंथमाला में हुआ है। इस पुस्तक में सभ्य जगत का धर्म के प्रति क्या दृष्टि-कोण है, वर्तमान धर्मों की क्या स्थिति है, और अधिक संस्कृत बुद्धि-संपन्न व्यक्ति उन से क्यों असंतुष्ट हैं, धर्म के अस्तित्व की अनिवार्यता क्यों है, एवं उपयोगिता क्या है तथा अभीष्ट धर्म में किन-किन तत्वों की आवश्यकता है, इत्यादि प्रश्नों का समाधान किया गया है। प्रायः मनुष्यों का विश्वास है कि विज्ञान की प्रगति से धर्मभावना निर्बल पड़ती जा रही है, और वह धीरे-धीरे निर्वाणोन्मुख हो रही है। ऐतिहासिक दृष्टि से विविध धर्मों के मूल की खोज तथा, धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन ने भी धर्म के मूल में निहित रहस्य और आकर्षण के रंग को बहुत कुछ फीका कर दिया है। तर्क के सिद्धांतों एवं दार्शनिक विचारों के प्रचुर प्रचार से भी धार्मिक श्रद्धा के स्थान पर संशयालुता की वृद्धि हुई है। विज्ञ जनों के विचार में धर्म की माया अंधकार के युगों में ही अपने को चरितार्थ कर सकती थी, इस प्रकाश के युग में धर्म अतीत का अनावश्यक एवं अनुपयोगी बखेड़ा है, तथा शिष्टों के समाज में उस की चर्चा करने का क्रैशन नहीं है। राधाकृष्णन् ने ऐसे संपूर्ण तर्कों के मूल की खोज कर के उन का संतोषप्रद समाधान उपस्थित किया है। विज्ञान की विचारधारा का अवगाहन कर उन्होंने ने सिद्ध किया है कि विज्ञान विना आत्मविप्रतिपत्ति के धार्मिक भावना का विरोध नहीं कर सकता। यह संभव है कि वर्तमान धर्म विज्ञान और तर्क की दृष्टि में दोष-पूर्ण भले ही हों पर सार-धर्म, जिस के विना मनुष्य की आत्मा की पूर्ण तुष्टि और मनुष्यजाति का वास्तविक कल्याण असंभव है, कदापि त्याज्य नहीं ठहराया जा सकता। यह ठीक है कि मनुष्य जाति की बाल्यावस्था में जो वस्त्र उस के लिए बनाए गए थे वे आज उस की प्रौढ़ावस्था में उस को नहीं सोहते पर यह अवस्था वस्त्रों को त्याज्य ठहराने की दलील नहीं हो सकती। मनुष्य के अंतरतम की प्यास की तृप्ति, सत्य की खोज, सामाजिक संबंधों एवं कर्तव्यों का समुचित एवं सुचारु संचालन तथा संपूर्ण मानव-जाति का प्रगतिशील कल्याण आदर्श धर्म के सहारे ही संभव है। पूर्ण मानवता की प्राप्ति भी अभीष्ट धर्म के

विना एक स्वप्नमात्र रह जायगी। वर्तमान धर्म आजकल सामाजिक व्यवहार में इतने स्थानों पर रोड़े अटकाता है कि उन से वचने के लिए यह कहने का चलन हो गया है कि प्रत्येक मनुष्य का धर्म उस का व्यक्तिगत मामला है, पर अभीष्ट धर्म इस त्रुटि को दूर कर देगा। वह व्यक्तिगत मामला बन कर केवल व्यक्ति और परमात्मा के पारस्परिक व्यवहार की 'सँकरी डगर' न हो कर राजपथ होगा, जिस पर मनुष्य के व्यक्तिगत, सामाजिक, नैतिक एवं राजनैतिक जीवन के सारे व्यवहार चल सकेंगे। तर्क और विज्ञान की कसीटी पर इस अभीष्ट धर्म को कसा जा सकेगा। ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने पर भी एक आदर्श धर्म की कल्पना की उपयोगिता अकाट्य बनी रहती है। मानव-जाति के जीवन-संकटों के आने पर नवीन धर्मों की सृष्टि हुई है और उन धर्मों से मानव-जाति का कल्याण हुआ है। पर मानव की आत्मा की गंभीरता की पूर्ण थाह तो कदापि मिल ही नहीं सकती, अतएव यह स्वाभाविक ही है कि कल का धर्म, आज त्रुटिपूर्ण दिखलाई देने लगे, और एक नवीन धर्म आवश्यक जान पड़े। पर इस ग्रंथ का यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि राधाकृष्णन् एक नए मसीहा बन कर नया धर्म-पंथ चलाने के लिए कटिबद्ध हुए हैं। केवल उन्होंने ने मानव-जाति के भावी कल्याण के लिए किए जाने वाले प्रयत्नों में अध्यात्मपक्ष को विस्मृत कर देने के विरुद्ध स्वर उठाया है।

सन् १९३० में अध्यापक राधाकृष्णन् ने जो हिक्ट ट्रस्ट के व्याख्यान दिए थे वे 'ऐन आइडियलिस्ट व्यू अफ लाइफ' (आध्यात्मिक जीवन-दृष्टि) के नाम से प्रकाशित हो चुके हैं। यह पुस्तक कई दृष्टियों से 'रेन अफ रेलिजन इन कंटेम्पोरेरी फ़िलासफ़ी' की विचार-धारा की संपूरक है। इस पुस्तक में प्राच्य जगत की आध्यात्मिक दृष्टि से पाश्चात्य जगत के ज्ञान एवं विज्ञान की आलोचना उपस्थित की गई है। 'रेन अफ रेलिजन' में तो केवल आधुनिक दार्शनिकों के ही विचारों की त्रुटियों का दिग्दर्शन कराया गया था, प्रकृत ग्रंथ में पाश्चात्य जगत के प्रायः समग्र मनन को ही चुनौती दी गई है। प्रारंभिक अध्यायों में पाश्चात्य जगत में आध्यात्मिकता के प्रति जो उदासीनता दृष्टिगोचर होती है, उस का वर्णन एवं उस के कारणों का व्यौरा दिया गया है। इस के उपरान्त उन सब आंदोलनों का विवरण उपस्थित किया गया है, जो बहिष्कृत धर्म-भावना के स्थान की पूर्ति के लिए उठ खड़े हुए हैं। विश्लेषणात्मक मनोविज्ञान, जीवविज्ञान, गणित, ज्योतिष, समाजविज्ञान, इत्यादि नाना विज्ञानों ने धर्म और आध्यात्मिकता के स्थान पर जो अन्य मत-वाद प्रचलित किए

हैं, अध्यापक राधाकृष्णन् ने उन सब का अत्यंत सारवान् विवरण उपस्थित कर के उन की त्रुटियों को दिखला कर सिद्ध कर दिया है कि धर्म के रिक्त स्थान को ग्रहण करने की योग्यता इन में से एक में भी नहीं है। ग्रंथ के इस भाग को प्रस्तुत करने के लिए अध्यापक राधा-कृष्णन् को कितना अध्ययन करना पड़ा होगा, यह सोच कर चकित हो जाना पड़ता है, और इस से भी अधिक चकित होना पड़ता है उन की विचारों के प्रस्तुत करने की अत्यंत स्पष्ट, हृदयस्पर्शी तथा अभीष्ट संक्षेपता से युक्त शैली पर। इस के उपरांत अध्यापक राधा-कृष्णन् ने पाश्चात्य विज्ञान की शैली की मूलतः आलोचना की है और यह बतलाया है कि यूरोप की विचार-धारा क्योंकि आध्यात्मिकता से दूर हटती जाती है। विज्ञान की उपयोगिता को स्वीकृत करते हुए उन्होंने एक अध्याय में यह बतलाया है कि मनुष्य की अंत-रात्मा उस के जीवन का गंभीरतम अंग है। विज्ञान मनुष्य की जिन आवश्यकताओं की पूर्ति कर मानवीय तोप का विधान करता है, मनुष्य का जीवन-क्षेत्र उन्हीं तक सीमित नहीं है। केवल विज्ञानमय जीवन अनेक दृष्टियों से एक दैन्यमय एवं अपूर्ण जीवन होगा, और उस में मनुष्य की आत्मा को पूर्ण संतोष नहीं मिल सकेगा। मनुष्य-जीवन की कुछ आवश्यकताएं ऐसी भी हैं, जिन की पूर्ति का साधन विज्ञान के पास नहीं है। वास्तव में विज्ञान एवं विज्ञान ही के समान विश्लेषणात्मक विचारशैली का उपयोग करने वाली दार्शनिक विवेचनाएं इन आवश्यकताओं के अस्तित्व को ही असिद्ध ठहराती हैं। पर प्रत्यक्ष-बोध का साक्ष्य इस के विपरीत है। साहित्य, संगीत इत्यादि उच्च कलाओं एवं वास्तविक वार्मिक भावना तथा अव्यात्मानुभव के मूल में यही प्रत्यक्षानुभव अथवा प्रत्यक्ष-बोध अथवा सहज ज्ञान ही काम कर रहा है। स्वयं विज्ञान इस प्रत्यक्ष-बोध का विरोध नहीं कर सकता। इस से बढ़ कर और कोई दूसरा प्रमाण नहीं है। यह स्वतः प्रमाण है। प्रत्यक्ष-ज्ञान की साधना का उच्चतम फल है, आत्मैक्य की प्रतीति। यही भारतीय वेदांत की संसार को सब से बड़ी देन है। बहुत से आलोचक इस आत्मैक्यवाद को सदाचार-भावना का विलोपक और ईश्वर के अस्तित्व का विरोधी मानते हैं। अध्यापक राधाकृष्णन् ने बतलाया है कि ऐसी धारणा नितान्त निर्मूल है। उन्होंने ने जिस आत्मैक्यवाद का प्रतिपादन किया है उस में वास्तविक विश्व के संपूर्ण अंगों की यथास्थान स्वीकृति के साथ-साथ मानवीय स्वभाव की गहरी से गहरी आवश्यकताओं की पूर्ति की व्यवस्था है। उन की आध्यात्मिकता का विज्ञान से विरोध नहीं है। वह जगत को माया नहीं किन्तु परब्रह्म की लीला-सृष्टि मानते हैं।

‘टुडे ऐंड टुमारो सीरीज़’ में राधाकृष्णन् की ‘कल्क, आर दि प्रयूचर अन् सिविलाइजेशन’ (कल्क अथवा मानव-संस्कृति का भविष्य) नामक पुस्तिका प्रकाशित हुई (१९२६)। यह तीन अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय में संसार की वर्तमान अव्यवस्थित अवस्था का वर्णन उपस्थित किया गया है। विज्ञान ने पुराने आचार और विश्वासों को विध्वस्त तो कर दिया है, पर उन के स्थान पर नवीन आचरणादर्शों, विश्वासों एवं संस्थाओं का निर्माण न होने के कारण मानव-जाति के घर में एक अस्तव्यस्तता फैली हुई है। द्वितीय अध्याय में वर्तमान मानव-जीवन की समस्या पर विचार किया गया है। विज्ञान ने मानव-जीवन की भौतिक एवं मानसिक आवश्यकताओं की तृप्ति के उपाय तो प्रस्तुत कर दिए हैं, पर आध्यात्मिकता के लिए विज्ञान ने कोई प्रबंध नहीं किया है। पर कोई भी समाज केवल भौतिक समृद्धि की प्राप्ति कर लेने पर ही सन्तुष्ट नहीं कहला सकता। जीवन की पूर्णता की प्राप्ति तो मानवीय आत्मा की गंभीरता की खोज कर विश्व भर में एकात्मवाद की प्रतीति प्राप्त करने में है। भौतिक एवं मानसिक क्षेत्रों में अभूतपूर्व उन्नति होते हुए भी आज संसार नाना प्रकार की व्याधियों का शिकार बना हुआ है। क्या यह निश्चय ही इस बात का परिचायक नहीं है कि कहीं न कहीं मानवीय जीवन अस्वस्थ है? संसार की परिस्थिति ऐसी है कि बड़े-बड़े आशावादियों ने आशा का परित्याग कर दिया है; पर अध्यापक राधाकृष्णन् धार्मिकवृत्ति-संपन्न व्यक्ति हैं, अतएव घोर निराशा के अंधकार में भी वे आशा का पल्ला नहीं छोड़ते। प्रकृत ग्रंथ का अंतिम अध्याय ‘पुनर्निर्माण’ से संबंध रखता है। यदि मनुष्य-जाति को अपनी प्रस्तुत परिस्थिति से निकल कर कल्याण की ओर अग्रसर होना है, तो अवश्य ही उस को दृष्टि-कोण और संस्थाओं में परिवर्तन करना पड़ेगा। जीवन की गति को आध्यात्मिकता की ओर मोड़ना पड़ेगा। ज्ञान और विज्ञान का परित्याग न कर के जीवन-यात्रा में उन से जो सहायता मिल सकती है, उस को ग्रहण करना होगा पर उन को जीवन का पथ-प्रदर्शक नहीं बनाना होगा। जीवन की गति को तो विश्वात्मभाव के ध्रुव की ही ओर अग्रसर करना होगा। अध्यापक राधाकृष्णन् का विश्वास है कि मनुष्य-जाति अंततोगत्वा अवश्य ही ध्रुव लक्ष्य तक एक दिन पहुँचेगी।

‘कल्क’ के उपरान्त राधाकृष्णन् के कतिपय स्फुट निबंधों एवं कुछ आलोचनाओं का संग्रह ‘हार्ट अन् हिंदुस्तान’ (हिंदुस्तान का हृदय) के नाम से मद्रास की नटेशन कंपनी द्वारा प्रकाशित किया गया। यह एक अत्यंत उपयोगी पुस्तक है। डाक्टर जे० के० मजूम-

दार ने प्रस्तावना-स्वरूप एक निबंध इस के प्रारंभ में जोड़ दिया है, जिस में अध्यापक राधाकृष्णन् के जीवन-चरित्र एवं ग्रंथों का अच्छा परिचय दिया हुआ है। प्रस्तुत निबंध में मजूमदार महाशय की प्रस्तावना के जीवनी-खंड से पर्याप्त सहायता ली गई है, अतएव उन के प्रति कृतज्ञता प्रकट करना मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ। 'हार्ट अफ हिंदुस्तान' को यदि भारतीय धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन की भूमिका माना जाय तो अनुचित न होगा। इस ग्रंथ में अध्यापक राधाकृष्णन् ने हिंदू, मुसलमान, ईसाई एवं बौद्ध धर्मों की मौलिक समानताओं का दिग्दर्शन कराया है। उक्त धर्मों में समन्वय स्थापन करना ही इस ग्रंथ का ध्येय प्रतीत होता है। भारत में धर्म-कलह का अंत चाहने वालों का कर्तव्य है कि वे स्वयं इस पुस्तक को पढ़ें और अन्य मित्रों को इस के अस्तित्व से अवगत करा दें। इस को पढ़ कर देश के शिक्षित युवा परस्पर एक दूसरे के धर्मों को आदर की दृष्टि से देखना सीखेंगे तथा धार्मिक मैत्री का मार्ग प्रशस्त होगा। धार्मिक शिक्षा के अभाव का समर्थन शिक्षा-विभाग के अधिकारी यह कह कर किया करते हैं कि भारतवर्ष में किस धर्म की शिक्षा का प्रचार किया जाय; एक धर्म की शिक्षा दूसरे धर्म को मानने वाले विद्यार्थियों को अरुचिकर होगी। इस पुस्तक में इस समस्या का समाधान है। किसी धर्मावलंबी का हृदय न दुखा कर सब धर्मों और सदाचार की चर्चा इस ग्रंथ में की गई है।

उक्त पुस्तक के उपरांत इंग्लैंड से राधाकृष्णन् के पाँच व्याख्यानों का संग्रह 'ईस्ट एंड वेस्ट इन रिलिजन' (पूर्व और पश्चिम में धर्म की स्थिति) के नाम से प्रकाशित हुआ। प्रथम व्याख्यान में तुलनात्मक धर्म-शास्त्र के स्वरूप, विषय, और प्रणाली का प्रतिपादन किया गया है। आक्सफ़ोर्ड के मांचेस्टर कालेज में तुलनात्मक धर्म-शास्त्र के अध्यापक पद से यह उन का पहला व्याख्यान है। दूसरा व्याख्यान लंदन में जोवेट ट्रस्ट के तत्वावधान में हुआ था। इस व्याख्यान में प्रसंगवश अध्यापक राधाकृष्णन् ने भारतीय धर्म के प्रति ईसाई धर्म के दृष्टि-कोण के इतिहास का भी प्रतिपादन किया है, और भारत के राज-नैतिक इतिहास से उस की समानता का परिचय कराया है। इसी व्याख्यान में उन्होंने ने एक स्थान पर लिखा है कि ज्ञानवान् मनुष्यों के लिए मिलन का प्रयत्न करने का प्रयत्न विलग करने के प्रयत्न की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण होता है। तृतीय और चतुर्थ व्याख्यान मांचेस्टर कालेज के गिरजाघर में दिए हुए उपदेश हैं। इन में कविता के गुण विद्यमान हैं। इन को पढ़ कर यह मान लेना पड़ता है कि राधाकृष्णन् ने अवश्य ही कवि-हृदय पाया है।

अंतिम व्याख्यान में रवीन्द्रनाथ ठाकुर के महत्व का प्रतिपादन किया गया है। यह व्याख्यान कलकत्ते में कवि की ७०वीं वर्षगांठ के उत्सव में दिया गया था।

‘फ्रीडम एंड कल्चर’ (संस्कृति और स्वातंत्र्य) अध्यापक राधाकृष्णन् की अद्यावधि प्रकाशित पुस्तकों में सब से अंतिम है। यह भी मद्रास से निकली है। पुस्तक में सन् १९२७ से १९३६ तक के सात समावर्तनोपदेश (कन्वोकेशन एड्रेसेज) संग्रहीत हैं और तीन विभिन्न शिक्षा-संस्थाओं में विद्यार्थियों को दिए हुए अन्य व्याख्यान हैं। इस संग्रह में अध्यापक राधाकृष्णन् के शिक्षा एवं राजनीति-संबंधी विचारों का परिचय प्राप्त होता है, और यह भी पता चलता है कि व्यवहारिक जीवन का आदर्श उन की सम्मति में क्या होना चाहिए। शिक्षा-क्षेत्र में अध्यापक राधाकृष्णन् भारत के पुरातन ज्ञान और आध्यात्मिक दृष्टिकोण के समर्थक हैं। ऐसा होना स्वाभाविक भी है। उन का विचार है कि यदि भारतीय विद्यार्थियों को ज्ञान-सुधा-जन्य मृत्यु से आत्मरक्षा करनी है तो उन को अपने पूर्वजों द्वारा अर्जित ज्ञान-राशि को पचा कर आत्मसात् करना ही होगा। ऐसा करने पर ही हम विदेशी ज्ञान को पचा कर जीवनीपयोगी बना सकेंगे। इस के बिना हमारा अध्ययन अर्द्धपक्व भोजन के सदृश केवल विकार-पोषक मात्र बन सकेगा। पर भारतीय ज्ञान की उपलब्धि के साधनों और प्रकारों को बदलना आवश्यक है। शिक्षा के क्षेत्र में घोर परिवर्तनवादी तो भूतकालीन ज्ञान के पूर्ण परित्याग पर जोर देते हैं, तथा अपरिवर्तनवादी ‘द्वादशवर्षों: व्याकरणो श्रूयते’ के पक्ष को नहीं छोड़ना चाहते। इन उभय अतिवादियों के मध्य में कौन मार्ग अनुसरणीय है? अध्यापक राधाकृष्णन् आधुनिक शिक्षा-प्रणाली के गुण-दोषों से जितना परिचित हैं, वैसे बहुत कम अन्य व्यक्ति होंगे। उन का विचार है कि यह शिक्षा-प्रणाली सर्वथा निर्दोष न होते हुए भी साम्य-भाव, विवेक-प्रियता, इत्यादि की जननी एवं अंधविश्वासों और दुराग्रहों को निवारण करने वाली सिद्ध हुई है, और इस से भारत का उपकार हुआ है। राजनीति के क्षेत्र में अध्यापक राधाकृष्णन् भारत के लिए पूर्ण प्रजातंत्र-शासन के पक्ष में हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि अध्यापक राधाकृष्णन् अंग्रेज जाति और भारत के संबंध को अभीष्ट समझते हैं, पर गत-वर्षों की राजनैतिक स्थिति ने अंग्रेज जाति में उन की श्रद्धा को जवरदस्त धक्का पहुँचाया है। इस धक्के के प्रभाव को हम अनेक स्थलों पर उन के व्याख्यानों में प्रतिध्वनित पाते हैं। पर साथ ही साथ यह भी स्पष्ट ही है कि वह अभी तक इस दिशा में पूर्णतया निराश नहीं हुए हैं, क्योंकि किसी भी परिस्थिति में निराश होना तो

उन के मानसिक गठन के विरुद्ध है। इस पुस्तक को पढ़ने से पता चलता है कि वे विद्यार्थियों में सच्चरित्रता, स्वाभिमान, देशप्रेम, विवेकप्रियता तथा सक्रियता आदि सद्गुणों को देखना चाहते हैं। उन्नति के इसी सरल-सोपान से उन का परिचय है और इसी का वह उपदेश करते हैं।

इस लेख के लिखे जाने के अनंतर सर राधाकृष्णन् की कुछ अन्य रचनाएं प्रकाशित हुई हैं। 'दि वर्ल्ड्स अनवॉर्न सोल' (विश्व की अज्ञात आत्मा) प्राच्य धर्मों के आचार्य के पद पर से दिया हुआ वह प्रारंभिक व्याख्यान है, जो उन्होंने ने आक्सफ़ोर्ड विश्वविद्यालय में दिया था। यह व्याख्यान इतना लोक-प्रिय हुआ कि अब इस की प्रतियां अप्राप्य हैं। 'रेलिजन इन ट्रांजिशन' नामक ग्रंथ में इन्होंने अपना आत्मचरित 'माइ सर्व् आफ्टर ट्रुथ' (मेरा सत्यानुसंधान) शीर्षक दे कर लिखा है। 'कंटेपोरेरी इंडियन फ़िलासफी' (समकालीन भारतीय दर्शन-विचार) नामक पुस्तक में, जिस का संपादन इन्होंने ही किया है, राधाकृष्णन् का 'दि स्पिरिट इन मैन' (मानवीय आत्मा) शीर्षक लेख सन्निविष्ट है। 'हेरिटेज अन्ड इंडिया' नामक ग्रंथ में इन का हिंदू-धर्म और सभ्यता पर 'हिंदूइज्म' नामक लेख निकला है। श्री रामकृष्ण परमहंस की पुण्य-स्मृति में प्रकाशित 'क्लचरल हेरिटेज अन्ड इंडिया' नामक विशाल ग्रंथ के लिए राधाकृष्णन् ने एक सुविस्तृत एवं सारगर्भित भूमिका लिखी है। इन के अतिरिक्त ब्रिटिश इंस्टिट्यूट अन्ड फ़िलासफी की त्रैमासिक पत्रिका 'फ़िलासफी' में उन का एक व्याख्यान 'विकासवाद एवं जीवनसार' नाम से प्रकाशित हुआ है। यह व्याख्यान सर राधाकृष्णन् ने उक्त संस्था की अवधानता में प्रस्तुत वर्ष के आरंभ में दिया था। इस में उन्होंने ने यह बतलाया है कि सक्रिय आध्यात्मिकता ही जीवन का पूर्ण विकास है।

(४)

यह प्रश्न अत्यंत स्वाभाविक है कि अध्यापक राधाकृष्णन् के दार्शनिक विचार क्या हैं। उन के अद्यावधि प्रकाशित ग्रंथों की पृष्ठ संख्या ३००० से ऊपर होगी। इस ग्रंथ-राशि को मथ कर थोड़े से वाक्यों में उस का सार उपस्थित कर देना कठिन है। अब तक ऐसा प्रयत्न अध्यापक जोड ने किया है, पर उन की सफलता भी संदिग्ध है। आज जब कि अध्या-

पक राधाकृष्णन् का नाम पाश्चात्य जगत में प्रख्यात है बहुत से आदमी संक्षेप में उन के विचारों से परिचित होना चाहते हैं। ऐसे ही एक महाशय ने जोड़ की पुस्तक पढ़ कर तथा उन के विचारों से संतुष्ट न हो कर सीधा अध्यापक राधाकृष्णन् को ही पत्र लिखा। अध्यापक राधाकृष्णन् ने उन महाशय को लिख भेजा कि यदि आप मेरे दार्शनिक दृष्टि-कोण को जानना चाहते हैं तो मेरे ग्रंथों को पढ़िए, केवल प्रो० जोड़ का दिया हुआ परिचय पर्याप्त नहीं है। एक बात का ध्यान उन के ग्रंथों का अध्ययन करते समय में रखना उचित है। अध्यापक राधाकृष्णन् के अधिकांश ग्रंथ भारतीय संस्कृति एवं दर्शन-शास्त्र का स्पष्टीकरण ही करते हैं, अतएव उन की मौलिकता, शैली एवं दृष्टि-कोण तक ही परिमित है। 'ऐन आइडियलिस्ट व्यू अफ् लाइफ़' अवश्य ऐसा ग्रंथ है जिस में उन्होंने अपने मनन के निष्कर्ष को स्वतंत्र रूप में अभिव्यक्त किया है। अतएव जो सज्जन संपूर्ण ग्रंथों को न पढ़ सकें वे केवल इसी ग्रंथ को पढ़ सकते हैं। यद्यपि शैली एवं कल्पना के औदार्य में यह ग्रंथ कवि एवं उपन्यासकार से प्रतिस्पर्द्धा करने वाला है, तथापि यह न भूल जाना होगा कि है यह ग्रंथ दर्शन-शास्त्र का ही।

राधाकृष्णन् सत्य के अनन्य-भक्त हैं। उन का कहना है कि सत्य के अनुसरण का परिणाम चाहे कुछ भी हो, सत्य की खोज चाहे हमें कहीं भी ले जाय, हम को सत्य का ही अनुसरण करना चाहिए। विवेक-भ्रष्ट हो जाना उन के मत में घोरतम पतन है। विवेक के नेतृत्व को स्वीकार कर वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि यह जगत नाना-रूपों में एक अद्वैत शुद्धचैतन्य तत्त्वसत्ता की लीलात्मक अभिव्यक्ति अथवा रचना है। वही सारतत्त्व सर्वत्र वर्तमान है और मनुष्य की आत्मा में भी उस की ज्योति का अस्तित्व है। जीवात्मा तथा विश्वात्मा में अद्वैत भाव है। जगत के मूल में निवास करने वाली सत्ता वास्तव में आध्यात्मिक सत्ता है। कुछ विद्वानों का विचार है कि अद्वैतवाद एवं ईश्वरवाद में विरोध है पर अध्यापक राधाकृष्णन् के मत में अद्वैतवाद एवं ईश्वरवाद में कोई विरोध नहीं है। मानव-जीवन में भी वही सत्ता अनुस्यूत है अतएव उस का अनुभव सब के लिए संभव है, और बहुतों ने उस का अनुभव किया है। धार्मिक भावना के मूल में उसी परमार्थ सत्य के साक्षात्कार का रहस्य निहित है, और इस साक्षात्कार के बिना धर्म केवल दिखावे की वस्तु रह जाता है। मानव-जीवन की साधना का एकमात्र ध्येय उस निर्विशेष सत्ता का अपरोक्ष अनुभव प्राप्त करना है। सक्रिय साधनात्मक जीवन में अध्यापक राधाकृष्णन्

शंकर के निवृत्तिमार्ग को स्वीकार न कर के प्रेम और लोकसंग्रह की भावना से अनु-प्राणित जीवन के समर्थक हैं। समाज-सुधार का दम भरने वालों के लिए उन के निम्न-लिखित वाक्य सर्वदा स्मरणीय हैं—“दीन और खोए हुआओं के प्रति सहानुभूति और उन को समझने के लिए उन के धावों का धोना और धब्बों को साफ़ करना आवश्यक है। एक मनुष्य की आत्मा अपने को दूसरे के प्रति केवल प्रेम और सहानुभूति द्वारा प्रकट करती है, प्रश्नोत्तर और तर्क द्वारा नहीं। यह सहानुभूति-पूर्ण प्रेम की भूखी है और नीरस जिज्ञासा से दूर रहने वाली।”

इन थोड़े से वाक्यों में अध्यापक राधाकृष्णन् के दार्शनिक विचारों का जो अत्यंत संक्षेप विवरण दिया गया है उस पर अनेक आक्षेप किए जा सकते हैं। जीवात्मा एवं परमात्मा में यदि अद्वैतभाव है तो मानव-जीवन में अपूर्णता क्यों है? यदि आधारभूत सत्ता सर्वत्र समान रूप से व्याप्त है, तो संसार में दुःख, दैन्य, अज्ञान इत्यादि क्यों डेरा डाले हुए हैं? उक्त सिद्धांत को स्वीकार कर लेने पर जीवन साधना और सुधार का क्या प्रयोजन है, इत्यादि अनेक प्रश्न किए जा सकते हैं। अध्यापक राधाकृष्णन् ने अधिकांश आक्षेपों के अत्यंत विश्रंभोत्पादक उत्तर दिए हैं। उन के बहुत से समाधान शंकाओं को निर्मूल कर देते हैं, पर कुछ शंकाएं अवश्य ऐसी हैं जिन का समाधान राधाकृष्णन् ही क्या किसी दार्शनिक के पास नहीं है। जीवात्मा एवं ब्रह्म में अद्वैत स्वीकार कर लेने पर जीवात्मा की अपूर्णता का परिहार इस प्रकार किया गया है कि ‘मनुष्य में ईश्वर न केवल वस्तुतः है वरन् साधना-रूप भी विराजमान है’। यदि यह समाधान स्वीकार हो तो साधना एवं सुधार भी व्यर्थ नहीं हैं, यह मानना ही पड़ेगा। दुःख-दैन्य का समाधान यह है कि पूर्णता की साधना के मार्ग में कष्ट का होना अवश्यभावी है। ऊँचे चढ़ने में कष्ट और नीचे गिरने में सरलता स्वाभाविक ही है। पर इस शंका का क्या समाधान है कि विश्वात्मा ने अज्ञानान्वित जीवों की क्यों सृष्टि की? गौडपादाचार्य ने इन सब झमेलों को मिटाने के लिए अजातवाद सिद्धांत का प्रतिपादन किया था। राधाकृष्णन् के ग्रंथों को पढ़ने से वह संभवतया अजातवाद से सहमत नहीं जान पड़ते। और फिर स्वयं अजातवाद भी कोई विशेष विश्वासोत्पादक समाधान नहीं है। यद्यपि अध्यापक राधाकृष्णन् के ग्रंथों में कुछ समस्याओं के उत्तर नहीं हैं, तथापि सच्ची धार्मिक साधना एवं उस की सार्थकता का जितना अच्छा विवरण उन के ‘ऐन’ आइडियलिस्ट व्यू अंव लाइफ़’ में दिया गया है वैसा

अन्यत्र दुर्लभ है। शंकराद्वैत का भक्ति-भावना के साथ जैसा सुंदर समन्वय अध्यापक राधाकृष्णन् ने किया है, देखते ही बनता है। साथ ही साथ उन्होंने न पाश्चात्य विज्ञानों की विचार-पद्धति का विवेचन करके स्पष्ट सिद्ध कर दिया है कि विज्ञान के मूल में भी अध्यात्मतत्त्व निहित है।

अध्यापक राधाकृष्णन् की रचनाओं एवं उन की विद्वत्ता पर अनेक विद्वानों ने आक्षेप किए हैं। भारतवर्ष में ही ऐसे पंडितमानियों का अभाव नहीं है जो यह कहते हैं कि अध्यापक राधाकृष्णन् भारतीय-दर्शन का गंभीर ज्ञान नहीं रखते। एक महाशय तो यहां तक कहते सुने गए हैं कि राधाकृष्णन् को न भारतीय दर्शन का ज्ञान है न पाश्चात्य दर्शनों का; वह तो केवल एक 'पत्रकार' हैं। पंडित लोग कठिन शैली के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार की रचना का स्वागत नहीं करते। राधाकृष्णन् का अपराध यह है कि उन्होंने न दार्शनिक विचारों को सुचारु और सरल रूप दे कर उन को सर्व-साधारण को बोध-गम्य बना दिया है। रही भारतीय दर्शन के पूर्ण ज्ञान की बात; इस विषय में विचारणीय बात यह है कि कोई भी एक व्यक्ति संपूर्ण भारतीय दर्शन के सब अंगों का समान ज्ञान रखने का दावा नहीं कर सकता। इस बात को अध्यापक राधाकृष्णन् ने 'भारतीय दर्शन' के प्रथम भाग की भूमिका में स्पष्टतम रूप में स्वीकार किया है। यह संभव हो सकता है कि उन के 'भारतीय दर्शन' के कुछ अंश दूसरे अंशों के समान उच्च कोटि के न हों पर इस में तनिक भी संदेह नहीं है कि उन्होंने न भारतीय दर्शन एवं संस्कृति का जैसा स्पष्ट साक्षात्कार किया है, वैसा शायद ही किसी अन्य भारतीय दार्शनिक ने किया हो। कुछ अत्यंत उच्च कोटि के भारतीय विद्वानों ने उन की विद्वत्ता को स्वीकार किया है। कलकत्ता विश्वविद्यालय के सुप्रसिद्ध अद्वैती प्रो० कोकिलेश्वर भट्टाचार्य शास्त्री ने उन के 'भारतीय दर्शन' के अंतर्गत गीता के विवेचन का दंगला में अनुवाद किया है। कोकिलेश्वर शास्त्री जैसा विश्वविश्रुत विद्वान् अध्यापक राधाकृष्णन् की रचना के अनुवाद का परिश्रम स्वीकार करे इस से बढ़ कर प्रमाण राधाकृष्णन् के पांडित्य का क्या हो सकता है? म० म० अनंतकृष्ण शास्त्री अद्वैतवाद एवं मीमांसा दर्शन के बेजोड़ पंडित हैं। उन्होंने ने अपनी 'वेदांत-परिभाषा' की टीका की भूमिका अध्यापक राधाकृष्णन् से लिखवाई थी। जिन लोगों का यह कहना है कि अध्यापक राधाकृष्णन् संस्कृत नहीं जानते, वे इस भूमिका को पढ़ कर अपने निर्णय की समीक्षा कर लें तो अच्छा हो। म० म० प० श्रीनिवासाचार्य

विशिष्टाद्वैत के अप्रतिम आचार्य हैं। उन्होंने ने अपने हाल ही में प्रकाशित हुए ग्रंथ की भूमिका राधाकृष्णन् से ही लिखवाई है। जो व्यक्ति इन पुराने ढर्रे के पंडितों के स्वभाव से परिचित हैं वह स्वयं समझ सकते हैं कि वे लोग जिस किसी का इस प्रकार सम्मान न करेंगे।

जैसे भारतवर्ष में अध्यापक राधाकृष्णन् के प्रशंसक एवं निंदक विद्यमान हैं उसी प्रकार पाश्चात्य देशों में भी हैं। वहां कुछ ऐसे व्यक्ति वर्तमान हैं जो वर्तमान भारतीय जाग्रति को ईसाई धर्म के प्रभाव से उत्पन्न मानते हैं। विश्वकवि रवींद्रनाथ ठाकुर के दार्शनिक विचारों की समीक्षा करते हुए स्वयं अध्यापक राधाकृष्णन् को ऐसे आलोचकों की युक्तियों का खंडन करना पड़ा था। राधाकृष्णन् के विचारों में भी उक्त आलोचकों को ईसाइयत का गहरा प्रभाव दिखलाई पड़ा है, और उन के विषय में उन के पास सब से बड़ी दलील है यह कि राधाकृष्णन् की सारी शिक्षा ईसाई शिक्षालयों में हुई है। क्या हम इन तार्किकमन्य विद्वद्पुंगवों से पूछ सकते हैं कि क्या उन शिक्षालयों में उन के अतिरिक्त किसी दूसरे विद्यार्थी ने शिक्षा नहीं पाई? और यदि पाई तो उस ईसाइयत की शिक्षा के जादू से कम से कम एक भी दूसरा राधाकृष्णन् क्यों न बन सका? स्वयं राधाकृष्णन् तो ज्ञान के क्षेत्र में पूर्व और पश्चिम एवं हिंदू और ईसाई का भेद स्वीकार करते ही नहीं हैं, अतएव वह अपने ईसाई गुरुओं के प्रति अत्यंत श्रद्धा का भाव रखते हैं। पर इस के विपरीत मेरे अनुभव में एक नया ही विचार आया है। मैंने अपने एक धार्मिक दृष्टिसंपन्न मित्र को अध्यापक राधाकृष्णन् की 'हार्ट अन् हिंदुस्तान' नामक पुस्तक पढ़ने को दी। उन्होंने ने पुस्तक पढ़ कर लौटाने पर मुझ से कहा कि इस पुस्तक में ईसाई धर्म पर जो अध्याय है उस से पता चलता है कि लेखक ने ईसाई धर्म को ठीक-ठीक नहीं समझा है। उक्त सम्मतियों से जो निर्णय निकलता हो पाठक स्वयं निकाल लें।

पर पाश्चात्य देशों में अध्यापक राधाकृष्णन् के प्रशंसकों की संख्या ही अधिक है। अध्यापक म्यूरहेड इंग्लैंड के जीवित दार्शनिकों में अत्यंत निर्मल-दृष्टि-संपन्न हैं। उन्होंने ने राधाकृष्णन् की 'ऐन आइडिलिस्ट व्यू अन् लाइफ़' की समीक्षा में लिखा था "उन (राधाकृष्णन्) में एक अमूल्य गुण है अर्थात् वह महान् यूरोपीय और उसी प्रकार महान् एशियाई विचारों की परंपरा से अभिन्न हैं, और इन दो परंपराओं के बीच कहा

जा सकता है कि संसार का आध्यात्मिक ज्ञान समाविष्ट है। अतएव वह एक दार्शनिक बहुभाषिण के तुल्य है।”

प्रो० जोड ने सुप्रसिद्ध यूनानी विद्वान् और दार्शनिक प्लेटो एवं राधाकृष्णन् के विचारों में अनेक स्थलों पर समानता पाई है। लार्ड हाल्डेन राधाकृष्णन् के निर्मल ज्ञान पर मुग्ध थे। इसी प्रकार प्रिंसिपल जैक्स, प्रो० कार्पेंटर, डा० वाइस इत्यादि चोटी के विद्वान् राधाकृष्णन् के प्रशंसकों में हैं।

भारतीय-मुस्लिम वास्तुकला के आदर्श

[लेखक—डाक्टर बनारसीप्रसाद सक्सेना, एम्० ए०, पी-एच्० डी० (लंदन)]

किसी देश की वास्तुकला उस देश के अतीत गौरव तथा वर्तमान निष्पत्ति का जीता-जागता लेखा है; और कुछ अंशों में भविष्य-विषयक जातीय ईप्सा का द्योतक भी है। भारतीय वास्तुकला का सांगोपांग इतिहास यथार्थ में अभी लिखा ही नहीं गया। कतिपय यूरोपीय लेखकों ने इस विषय पर पुस्तकें अवश्य लिखी हैं, परंतु उन्होंने ने जो कुछ भी लिखा है वह यदि विचार-पूर्वक देखा जाय तो या तो यूरोपीय दृष्टिकोण से उत्पन्न किसी कल्पना की व्याख्या है, या किसी विशेष विचार-विंदु की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से पृथक् की हुई और अतिशयोक्तिपूर्ण विवेचना।

भारतीय कला के साधारण स्वरूप के विषय में विचार प्रकट करते हुए विसेंट स्मिथ महोदय ने लिखा था—“हिंदुस्तान की भूमि पर रची हुई कृतियां बहुत कुछ विदेशी उत्पत्ति की हैं, और ऐतिहासिक दृष्टि से उन्हें विदेशी शैलियों का स्थानीय रूपांतर मात्र समझना चाहिए।” वही महोदय यह भी लिखते हैं कि—“हिंदुस्तान की विशिष्ट मुस्लिम कला सब की सब विदेशी है, और मक्का, इस्फ़हान तथा कुस्तुंतुनिया की शैलियों के आधार पर रची गई है। . . . मुगल-काल की भारतीय-मुस्लिम कला मुख्यतः ईरानी है, और सम्यक् तर्क के सिद्धांत पर उस की विवेचना ईरानी कला के परिशिष्ट के रूप में की जानी चाहिए न कि हिंदुस्तानी कला की एक शाखा के रूप में।” इसी प्रकार के मत कई अन्य लेखकों ने भी प्रकट किए हैं। परंतु इस का श्रेय डाक्टर आनंदकुमार स्वामी और ई० बी० हैवेल महोदय को है, कि उन के निरंतर प्रयत्न के परिणाम-स्वरूप आज ‘विशेषज्ञों’ के हिंदुस्तानी कला के संबंध में विचारों में परिवर्तन हो रहा है।

हिंदुस्तानी कला का अपना एक आदर्श रहा है, यह बात अस्वीकार नहीं की जा सकती। संभव है यह बात उन लोगों को प्रतीत न हो जो वस्तुओं पर अमरीका के सैलानियों जैसी दृष्टि डालते हैं। परंतु जो भी इस विषय में तनिक सूक्ष्मता के साथ पैठेगा वह यह

अनुभव किए बिना न रहेगा कि इस की अपनी विशेषताएं हैं, कल्पना-संबंधी वारीकियां हैं, और रचना-विषयक विशालता है। साधारण रीति से यह बताया जाता है कि हिंदू शिल्प धार्मिकता का पुट लिए हुए है परंतु बहुत कम लोगों ने इसे व्यक्त करने का प्रयत्न किया है कि यह शिल्प धर्म के आदर्शों की किस भांति पूर्ति करता है और हिंदू धार्मिक विचारों की गहनताओं को यह किस भांति निर्दिशित करता है। खंजुराहो, भुवनेश्वर और मदुरा के मंदिर; अजंता, एलोरा और वाता की गुफाएं; सांची, भारहुत और अमरावती के स्तूप—इन के विस्तृत वर्णन हुए हैं, परंतु इस बात का बहुत कम प्रयत्न हुआ है कि इन स्मारकों का संबंध उन लोगों के जीवन तथा विचार से दिखाया जाय जिन की यह वास्तव में कृतियां हैं, जिन्हें हम आज इतनी प्रशंसा की दृष्टि से देखते हैं।

इसी प्रकार की कमी उन लोगों के विषय में भी अनुभव में आती है जिन्होंने ने भारतीय-मुस्लिम वास्तुकला के संबंध में लिखा है। इस की उत्पत्ति, विशेषताओं आदि के विषय में जो अनेक भिन्न मत प्रकट किए गए हैं उन्हें देखते हुए यही कहा जा सकता है कि लेखकों को तत्कालीन सामाजिक और मानसिक जीवन का या तो ज्ञान ही नहीं रहा है, या उन्होंने ने अपने विषय को एक प्रकार से उस जीवन से पृथक् रख कर प्रतिपादित किया है। किसी भी जाति के उच्चतम आदर्शों का सार हमें उस जाति की कला में मिलता है और हम उस का सम्यक् अध्ययन उस समय तक नहीं कर सकते जब तक हम उस वातावरण से परिचय न प्राप्त करें जिस में वह पली और पुष्ट हुई है।

अपनी पृष्ठभूमि से अलग हो कर भारतीय-मुस्लिम वास्तुकला भारतीय संस्कृति से एक असंवद्ध चीज जान पड़ती है। वास्तव में वह ऐसी है नहीं।

भारतीय-मुस्लिम वास्तुकला के आदर्शों की विवेचना करने से पूर्व यह बात नितांत आवश्यक जान पड़ती है कि उस भ्रम का निराकरण हो जाय, जो फ़र्गुसन और विसेंट स्मिथ द्वारा दिए गए अशुद्ध नामकरण के कारण उस कला के साथ संवद्ध हो गया है। फ़र्गुसन इसे 'इंडो-सार्सेनिक' और विसेंट स्मिथ 'इंडो-पर्शियन' कहते हैं। दूसरे शब्दों में, एक का यह विश्वास है कि भारतीय-मुस्लिम वास्तुकला को प्रेरणा तथा आदर्श अरब से मिले हैं और दूसरे का मत है कि फ़ारस या ईरान से। निर्माण-संबंधी सूक्ष्मताओं में प्रवेश किए बिना ही यह बात सहज में स्वीकार की जा सकती है, कि यद्यपि मध्य-काल

की ईरानी और भारतीय कृतियों में एक प्रकार का सादृश्य है, फिर भी उन दोनों के आदर्श जुदा हैं, उन की प्रेरणाएं भिन्न हैं ।

इस प्रकार का उदाहरण देना किंचित भद्दा अवश्य होगा, परंतु यदि उर्दू या हिंदी भाषा रोमन लिपि में लिखी जाय तो क्या वह एक यूरोपीय भाषा बन जायगी ? अथवा क्या अंग्रेजी के विषय में इटालियन, फ़्रांसीसी या जर्मन होने का धोका हो सकता है—केवल इसी लिए कि वह भी रोमन लिपि में लिखी जाती है ? एक लिपि होते हुए भी भाषाओं के विषय में जो बात सत्य पड़ती है वही फ़ारसी अथवा ईरानी और हिंदुस्तानी वास्तुकला-शैलियों के विषय में भी यथार्थ आती है । अर्थात् वाहरी साम्य के प्रत्युत यह भिन्न हैं । दोनों देशों की प्रेरणाएं भिन्न हैं ; ईरान और भारत के वातावरण न एक हो सकते थे, न थे । दोनों देशों के निवासियों में भिन्नता थी । अतएव उन के आदर्श एक कैसे होते ? यह कहना कि चूँकि हिंदुस्तान के शासकों और ईरानियों का धर्म एक था इस लिए दोनों ने अपनी प्रेरणाएं अरब से प्राप्त कीं नितांत व्यर्थ है । अरब के पास तो अपना वास्तुकला का कोई आदर्श था भी नहीं । सारसेनी नमूने, जिन की उत्पत्ति इस्लाम के जन्म के बाद हुई, ऐसे थे जिन्होंने अधिकांश उस देश के बाहर विकास पाया—या तो सिरिया में, या मिश्र में, या स्पेन अथवा ईरान में । जिस अर्थ में इस्लाम अरब की देन है, उस अर्थ में यह अरब की देन नहीं कहला सकते ।

यदि इस्लाम के भारतीय धर्म से संपर्क ने यहां के निवासियों की भक्ति-भावना को सचेत किया और भक्ति-आंदोलन प्रचारित किया, जिस का प्रभाव स्वयं तत्कालीन सूफ़ी विचारों पर हुए बिना न रह सका, यदि हिंदुस्तान के निवासी फ़ारसी भाषा तक की शैली और भाव में परिवर्तन लाने में समर्थ हुए, तो यह अनुमान कठिन न होना चाहिए कि यदि विजेता नए आदर्शों को ले कर इस देश में उतरे (जो कई कारणों से संदिग्ध है) तो वे आदर्श शीघ्र ही स्थानीय परंपरा में मिल-जुल गए । इस लिए वास्तुकला की इस शैली को भारतीय-ईरानी अथवा भारतीय-सारसेनी कहना अशुद्ध होगा, क्योंकि इस प्रकार का नामकरण विदेशी अंश पर अत्यधिक जोर देता है । इसे भारतीय-मुस्लिम कहना अधिक उचित होगा क्योंकि यह हिंदुस्तान में मुस्लिम शासकों के समय में विकसित हुई ।

परंतु स्थापत्य की इस शैली के नामकरण से महत्व का प्रश्न यह है कि इस के

आदर्श क्या रहे हैं। इस के निर्माण के भीतर क्या प्रेरणाएं काम करती रहीं हैं। इस संबंध में यह बता देना अनुचित न होगा कि सौंदर्य-संबंधी रुचियां नैतिक आदर्शों की भाँति स्थिर नहीं होतीं वरन् परिवर्तनशील होती हैं। जहाँ तक स्थापत्य-कला का संबंध है, अनेक प्रभाव ऐसे हैं जो परिवर्तन उपस्थित करते रहते हैं। इन में व्यक्तिगत रुचि, राज-नैतिक तथा सामाजिक वातावरण, और विशेषतया कारीगरों की व्यक्तिगत योग्यता तथा समय-विशेष पर सामग्रियों की उपलब्धि हैं। भारतीय-मुस्लिम स्थापत्य-कला पर विचार इस कारण से भी सीमित हो जाता है कि प्रायः जितनी इमारतें बची हुई हैं, वह शासकों या राजाओं द्वारा बनवाई गई हैं। इस से हमें साधारण जनता के आदर्शों का या उन की निर्माण-पद्धति का पता नहीं चलता।

मुस्लिम इस देश में विजेताओं के रूप में आए, और कई सदियों तक देश में उन की स्थिति का आधार बल-प्रयोग रहा। उन की स्थिति देश-निवासियों के लिए अप्रिय रही और वह अवसर पाने पर शासन को उलट देने के लिए उद्यत रहे। विरोध के इस वातावरण तथा साधारण अरक्षित स्थिति ने शासकों को ऐसी इमारतें बनाने के लिए विवश किया जिस में कि बैरियों तथा आततायियों से रक्षा का ध्यान मुख्य रहा। इस के अतिरिक्त प्रत्येक शासक सिपाही होता था और वह फ़ौजी आदर्शों से प्रेरणा ग्रहण करता था। ऐसी दशा में एक ही प्रकार की इमारत की ओर उस का ध्यान जाना स्वाभाविक था और वह थी क़िला या दुर्ग। इस के अर्थ यह नहीं है कि मुस्लिमों की बनवाई हुई प्रत्येक इमारत क़िला है; लेकिन प्रत्येक निर्माण-कार्य में यह दुर्ग अथवा रक्षा का आदर्श किसी न किसी रूप में उपस्थित अवश्य रहा। बड़ी मोटी और ऊँची दीवारें जिन के ऊपर पनाहें बनी हुई हैं, दीवारों में उचित स्थलों पर ठोस लकड़ी के लोहे के फ़र्मों में बसे हुए भारी दरवाज़े, जिन में लोहे के मोटे काँटे जड़े हुए हैं—इस शैली की भारतीय-मुस्लिम काल की प्रमुख इमारतें हैं। इस प्रकार की दीवारें महलों, मक़बरों, मसजिदों, बाग़ों के चारों ओर बनी होती थीं। मध्य-युग में यह सुदृढ़ दीवारें भीतरी इमारतों की बैरियों से रक्षा किया करती थीं; और आज भी यह समय और जलवायु की अवहेलना करती हुई दिखाई देती हैं।

नागरिकों में बादशाह का पद सब से मुख्य और प्रतिष्ठित था, और इसी कारण वह उतना ही आपद्ग्रस्त भी था। वही शासक, जनता का नेता, न्याय वितरण करने वाला

तथा जीवन और संपत्ति की रक्षा करने वाला था। जब तक वह अपनी प्रजा पर आतंक बनाए रख सके तभी तक वह अपनी स्थिति सुरक्षित रख सकता था। दूसरे शब्दों में बादशाह के सम्मान को बनाए रखने की आवश्यकता प्रबल थी। इस के कारण दरबार की आडंबर-पूर्ण शिष्टता का जन्म हुआ, शानदार जलूसों की आयोजना की गई और अन्य ढंग निकाले गए परंतु इन में सब से अधिक प्रभावशाली ढंग था बादशाह के लिए विशाल महलों का बनाया जाना। महल ऐसे विशाल बनते कि साधारण जनता उन्हें देखने मात्र से चकाचौंध हो जाती थी। बलवन का विशालता और शक्ति का प्रेम कहावत बन गया है। उस ने अपने लिए कोशक लाल नाम का महल बनवाया। उस की मृत्यु के उपरांत साम्राज्य में घोर अशांति फैली जिस के परिणाम-स्वरूप राज्य-क्रांति हुई। जलालुद्दीन फ़ीरोज़ ने अपने को बादशाह घोषित किया और गद्दी पर बैठा। परंतु जब वह ताजपोशी के लिए दिल्ली गया और वहां वह लाल कोशक के सामने पहुंचा तो उस पर कुछ ऐसा आतंक छाया कि वह धोड़े पर से उतर पड़ा और पहले की भांति उस में पैदल प्रविष्ट हुआ। गद्दी, ताज, और राजदंड की भांति महल भी बादशाहत का चिन्ह था और बादशाह की महत्ता का अनुमान उस के महलों की विशालता को देख कर किया जाता था।

इस संबंध में यह जान लेना मनोरंजक होगा कि अंध-विश्वास और गर्व द्वारा भी भारतीय-मुस्लिम वास्तुकला को बड़ी प्रेरणा प्राप्त हुई है। पठान-वंश के सुल्तान इस बात को शुभ नहीं मानते थे कि साम्राज्य का शासन पुरानी राजधानी अथवा पुराने शासक के महल से किया जाय। अतएव दिल्ली का प्रत्येक नया बादशाह जो गद्दी पर बैठा उस ने या तो अपने लिए नया महल निर्माण किया, या अपनी राजधानी का स्थल बदल दिया। 'पृथ्वी पर ४५ वर्ग मील का कोई दूसरा स्थल इतिहास के विद्यार्थियों के लिए इतने दिल-चस्पी का नहीं है जितना कि वह स्थल जहां क्रमशः दिल्ली के सुल्तानों ने अपने निवास बनाए। कायकुवाद ने राजधानी दिल्ली से हटा कर किलोखारी में बनाई; इसी का नाम जलालुद्दीन फ़ीरोज़ खिलजी ने बदल कर शहरे-नी रखवा। सिरि, तुग़लक़ाबाद, फ़ीरोज़ाबाद, शाहजहाँनाबाद, अपने-अपने ढंग से उन सुल्तानों की आकांक्षाओं के स्मारक हैं, जिन के नामों के साथ वह संबद्ध हैं।

राजधानी बदल देने का विचार सुल्तान-वंश के शासकों तक ही सीमित नहीं था। मुग़लों के समय में भी राजधानी का आगरा से सीकरी में बदला जाना, और बाद में शाह-

जहां के समय में आगरा से दिल्ली बदला जाना तो था ही, हमें इस बात के भी प्रमाण मिलते हैं कि बादशाह लोग यदि अपनी राजधानियों को नहीं तो अपने खास महलों को सजाने का तथा अपने अन्य प्रिय स्थलों की उन्नति का विशेष ध्यान रखते थे। लाहौर, काबुल और काश्मीर अब तक इस वंश के शासकों की निर्माण-संबंधी रुचि और कला-प्रेम का परिचय अपने अवशेषों द्वारा देते हैं।

दूरस्थ प्रांतों में हम यही बातें होते हुए देखते हैं। मालवा, धार, मांडू में, बंगाल, गना, पांडुआ, राजमहल में, गुजरात, अहमदाबाद, चंपानेर में, कुलवर्ग और विदर में वहमनियों के यहां और गुलबर्ग और हैदराबाद में कुतुबशाहियों के यहां राज-व्यवस्था ऐसी थी कि इन भिन्न नगरों की प्रतिष्ठा राजधानी की भाँति थी। इन सभी जगहों में शासकों के परिवर्तन के साथ नए निर्माणों की बहुतायत होती थी, जिन के द्वारा वास्तु-कला की भारतीय-मुस्लिम शैली में निस्संदेह बहुत विकास हुआ। और इस कारण कि प्रत्येक शासक अपनी प्रतिष्ठा के लिए नई इमारतें बनवाता, उन्नति की प्रगति तेज रही होगी।

प्रारंभिक सुल्तानों के समय के सैनिक वातावरण ने उन्हें मजबूर किया कि वे ऐसी इमारतें बनावें जो कि विशाल हों और जिन्हें देख कर भय उत्पन्न हो। मुस्लिम सैनिक थे ही, अतएव स्थापत्य-कला में भी उन्होंने ने एक दृढ़ और वलयुक्त शैली का समर्थन किया। उत्साह के आधिक्य ने उन्हें बड़ी अलंकृत शैली ग्रहण करने पर विवश किया। इस का यह भी कारण हो सकता है कि उन पर हिंदू शैली से संपर्क की प्रतिक्रिया का असर रहा हो।

हिंदू निर्माणकार मुख्यतया शिल्पकार था। उस की कला का रहस्य ही अलंकार-कता में था। वह अपनी व्यवस्था की विशालता तथा गूढ़ता से आँखों को चक्काचौंध कर देता था। कुतुबुद्दीन ऐबक, इल्तुतमिश और अलाउद्दीन का उद्देश्य हिंदुओं पर प्रभाव उत्पन्न करना था। चूँकि उन के अधिकांश कारीगर गैर-मुस्लिम थे, इस लिए उन्होंने ने स्वाभाविकतया उन तरीकों से प्रभाव उत्पन्न करना चाहा जिन का उपयोग उन के वैरी करते हैं। इस उक्ति का सब से अच्छा उदाहरण दिल्ली की कुतुबुल-इस्लाम मसजिद में मिलता है जिस को कुतुबुद्दीन ऐबक ने सन् ११९१ ई० में आरंभ कराया था।

इल्तुतमिश और अलाउद्दीन खिलजी ने इस का विस्तार किया। कुतुबुद्दीन के समय के परदों की नक्काशियाँ और अन्य दो सुल्तानों के समय में जो विस्तार हुआ है उस की

भी नक्काशियां, उन अंशों को छोड़कर जिस में तुग़रा तथा कूफ़ी खतों में लिखे लेख हैं और इमारत का इस्लामीपना दिखाते हैं, सब व्यवस्था और कृति में हिंदू हैं। सभी इसे स्वीकार करते हैं, कि इस मसजिद के एक-एक खंभे हिंदू शैली के हैं। इसी प्रकार का काम अजमेर के अरबई-दीन-का-झोपड़ा नामक मसजिद में मिलता है। यह मसजिद भी ऐवक के नाम से संबद्ध है।

इस प्रकार दूसरा आदर्श जिस पर कि प्रारंभिक मुस्लिम सुल्तानों ने जोर देने का प्रयत्न किया धर्म-संबंधी था। चूंकि वह विदेशी थे इस लिए इन शासकों ने आवश्यकता किसी ऐसे बंधन की महसूस की जो उन को एक में मिला हुआ रख सके। उन के लिए इस से सहज कोई दूसरी बात न जान पड़ी कि ऐसी परिस्थिति उत्पन्न करने का प्रयत्न करें जिस से कि उन के इस्लाम धर्म के कम से कम बाहरी रूप का पालन किया जा सके। इस के अतिरिक्त बहुत से मुस्लिम संत बाहरी देशों से आ कर देश में बस गए थे। उन्हें अपने रहने के लिए ऐसे स्थानों की आवश्यकता थी जो कि उन के कार्यों के केंद्र भी बन सकें। अतएव इन प्रारंभिक सुल्तानों का एक कर्तव्य-सा हो गया कि इन के लिए मसजिदें निर्माण करावें और उन के व्यय के निमित्त भी प्रबंध करें। इस लिए इस में कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि भारतीय-मुस्लिम वास्तुकला का इतिहास मध्ययुग के बादशाहों द्वारा बनाए इन प्रार्थना-गृहों में अंकित है।

इन मसजिदों के बनवाने में शासकों और निर्माण करने वालों दोनों ही ने अपना कौशल दिखाया। इन की संख्या देश में अनगिनत है। इन के नमूने भी जुदा-जुदा हैं, फिर भी उन में एक समानता है। दिल्ली और अजमेर की कुतबुद्दीन ऐवक की मसजिदों से ले कर आगरे की शाहजहां की मोती मसजिद तक और कुलवर्ग की मसजिद को ले कर, जो कि हिंदुस्तान में अपना जवाब नहीं रखती, निर्माण-कौशल की सभी विभिन्नताएं आ जाती हैं।

मसजिदों की भांति, मुस्लिम सुल्तान मक़बरों के बनवाने के लिए भी उत्सुक रहते थे। इन इमारतों में भी धर्म के आदर्शों को ग्रहण किए रहने का प्रयत्न किया गया, लेकिन साथ-साथ इस बात का भी ध्यान रखा गया कि यह उन शाहों की प्रतिष्ठा के अनुकूल भी हों जिन की स्मृति में यह बनाए जावें। गयासुद्दीन तुग़लक, फ़ीरोज़ तुग़लक, सय्यद मोहम्मद शाह, होशंग शाह, गुलवर्ग के बहमन शाह और फ़ीरोज़ शाह, सय्यद मुबारक,

शेरशाह, हुमायूँ आदि के मक़बरे एक ही आदर्श, अथवा आदर्शों का संमिश्रण प्रदर्शित करते हैं। देखने में वे न्यूनाधिक क़िले जैसे लगते हैं, और अपने वातावरण के अनुसार या तो उन सुलतानों के चरित्रों का निदर्शन कराते हैं जिन की वे स्मृतियाँ हैं अथवा उन के चरित्रों का जिन्होंने उन्हें निर्माण कराया है।

सोलहवीं सदी के आरंभ से, देश के सामाजिक, धार्मिक तथा विचार-संबंधी वातावरण में नई प्रवृत्तियाँ आगे आईं। धीरे-धीरे शासन ने विदेशीयता के जाने का परित्याग कर दिया था। यह ठीक है कि मिश्रित अथवा पृथक् प्रतिनिधित्व के ढंग का कोई समझौता नहीं हुआ था, न इसी संबंध में कोई निश्चित समझौता हुआ था कि एक दूसरे की संस्कृति की रक्षा कैसे हो, परंतु इस में कोई संदेह नहीं किया जा सकता कि प्रत्येक वर्ग दूसरे वर्ग के प्रति उचित आदर का भाव रखने लगा था। किस प्रकार इस देशवाले अपने विदेशी शासकों का साथ देने लगे थे इस के उदाहरण में हम लोदियों के शासन को ले सकते हैं। लोदी विदेशी तो थे ही, लेकिन इब्राहीम के परास्त होने और मृत्यु के उपरांत हिंदू वावर के आधीन नहीं होना चाहते थे। वरन् उन्होंने ने क्रियात्मकरूप से उस के वैरियों की सहायता की। जब कि दोनों वर्ग राजनीति के क्षेत्र में एक-दूसरे से इतने सन्निकट हो गए थे तो इस का अनुमान करना अनुचित न होगा कि वह अपने सांस्कृतिक आदर्शों में परस्पर और भी निकट थे। जो पतली भेद की दीवार अब भी थी वह धर्म की थी; परंतु यह भी शीघ्र ही दूर हो गई क्योंकि प्रारंभिक मुग़ल शासक धार्मिक मामलों में इतने कट्टर न थे।

ऐसी दशा में भारतीय-मुस्लिम वास्तुकला के आदर्शों ने एक नया रंग ग्रहण किया। मुस्लिम-शासन के आरंभ काल में इमारतों की रूप-रेखा ऐसी होती थी जिस से कि उन की दृढ़ता का देखने वालों को अनुमान तथा उस से आतंक हो सके, शासकों के बल का निदर्शन हो सके और जिसे देख कर मुस्लिम स्वयं एक आश्वासन ग्रहण कर सकें। परंतु जब शेरशाह ने यह सिद्धांत निश्चित किया कि किसान और रियाया का हित राज-हित से अभिन्न है तब शासकों और शासितों के बीच किसी प्रकार के भेद की दीवार को बनाए रखने की आवश्यकता जाती रही। इस लिए नई इमारतों में यद्यपि अब भी कुछ परंपरागत दृढ़ता बनी रही, फिर भी उन का बाह्य रूप ऐसा नहीं होता था जो दर्शकों के हृदयों पर आतंक का प्रभाव उत्पन्न कर सके। इस परिवर्तन का उदाहरण हमें सहसराम के शेरशाह के मक़बरे में मिलेगा।

परंतु यदि देखा जाय तो नई इमारतों में भी शासकों का दिखावे तथा विशालता का प्रेम तनिक भी कम नहीं हुआ है। मुगल बादशाह पिछले सुल्तानों से इस विषय में कुछ बढ़ कर ही ठहरेंगे। सीकरी का बुरंद दरवाजा तथा दिल्ली और आगरा के महल, मुगल बादशाहों की विशाल कल्पना, आकांक्षा तथा रुचि के परिचायक हैं। यदि वह हिंदुओं के कौशल का उपयोग करते हैं, तो केवल कला की उन्नति के लिए। सैनिक आदर्श अब भी मौजूद है।

सर यदुनाथ सरकार ने मुगल शासन-पद्धति को 'हल्के परदे के साथ लूट' बताया है, परंतु उन के विरुद्ध सब कुछ कह लेने के बाद भी इसे स्वीकार करना पड़ता है कि उन्होंने ने वास्तुकला में मानवता के अंश को सम्मिलित किया।

सौंदर्य के आदर्श का विस्तार और भी अधिक उस समय हुआ जब कि मुगलों ने इमारतों के साथ बागों का चलन किया। जिस देश से मुगल हिंदुस्तान में आए थे वह अपने हरित बागों के लिए प्रसिद्ध था। तैमूर की जन्मभूमि 'शहरे-सब्ज़' के नाम से प्रसिद्ध थी। बाबर ने काबुल में कई बाग लगवाए थे। उस के उत्तराधिकारियों ने हिंदुस्तान में इस का चलन किया और उन्हें कोई इमारत उस समय तक पूरी नहीं जान पड़ती थी जब तक उस में बाग न हो—वह भी इस तरह नहीं कि बाद में लगाए गए हों, वरन् व्यवस्था का अंग हों। इस नई प्रवृत्ति का कारण मुगलों का गहरा प्रकृति-प्रेम था। वह अपनी इमारतों के चारों ओर प्राकृतिक वातावरण उत्पन्न करना चाहते थे। वह बागों की व्यवस्था करना तथा वृक्षों के लगाने की कला को खूब जानते थे और मकानों, महलों, मसजिदों आदि के साथ उचित रीति से बाग लगाते रहते थे।

आगरे में आने पर बाबर ने पहला काम जो किया वह यह था कि अपने लिए एक अच्छे सुखकर निवास को बनावे। उस के प्रयत्न के फल-स्वरूप आगरे में जो महल बना वह बाग के बीच व्यवस्थित था। इसे इमारत का जो हम विस्तृत वर्णन बाबर के 'आत्म-चरित' में पाते हैं उस से हमें इस का अच्छा अनुमान हो जाता है कि किस प्रकार के बागों का प्रचलन बादशाह ने हिंदुस्तान में किया। उसे अद्भुत सफलता मिली। वह लिखता है :—“हिंद के लोगों ने, जिन्होंने ऐसे व्यवस्थित तथा सुरम्य स्थल पहले नहीं देखे थे, यमुना के उस तट की भूमि को जिस पर यह महल बने थे काबुल का नाम दे दिया था।”

वाग की व्यवस्था ने ताजमहल के सौंदर्य को किस प्रकार वृद्धि प्रदान की है इस का वर्णन कई लेखकों ने किया है ।

वास्तव में उद्यान मुगलकालीन कला में सजावट का मुख्य आधार रहा है । “हम चाहे जिस छोटी या बड़ी इमारत को अथवा अन्य कलात्मक कृति को देखें, यही आधार सब जगह दिखाई देगा । चाहे हम दीवान खास की फूलों की बगारियों के तख्ते को देखें, या उसी प्रकार के तख्ते ताज के गिर्द देखें हम इस आधार को पावेंगे । इसी प्रकार गुलाब-जल के पात्र, गुलदान, फल की तश्तरियों और पुराने ईरानी शराब के प्यालों और हिंदुस्तानी चीनी की ईंटों में उद्यान ही सजावट का आधार मिलेगा । कालीनों, चीनी की ईंटों, नक्काशियों और चित्रों में लपेटदार सरो और फल के वृक्षों का जो अंकन हमें मिलता है वह साक्षात् वागों के आधार पर बने हैं और सरो के अनंतर फल के वृक्षों का रचना-क्रम जीवन, मृत्यु और अनंत का प्रिय लाक्षणिक चिन्ह है ।” इस प्रकार मुगल-कालीन वास्तुकला ने सौंदर्य तथा विशालता के आदर्शों में सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया । यह उन्नति तथा विकास का सूचक है । वास्तुकला का आदर्श संकुचित तथा सीमित नहीं रह गया है । यह अब कलात्मक वातावरण में स्वाभाविक और सहज सौंदर्य उत्पन्न करने का प्रयत्न करता है । इस का उद्देश्य शासकों के निकट के वातावरण तथा जीवन का कला-पूर्ण चित्रण है । धर्म अब इस की प्रेरणा का मूल नहीं है । धर्म अब पृष्ठभूमि में पहुँच गया है । अब इस का उद्देश्य रक्षा अथवा एकता का साधन बनना नहीं रहा । वास्तुकला संबंधी आदर्शों पर अब लौकिक रंग चढ़ गया है । परंतु इस ने उन्हें पतित नहीं होने दिया । वल्कि इस ने उन्हें वास्तविक हृदय की भावनाओं को सुस्पष्ट-रूप में प्रकट करने की विशेष क्षमता प्रदान कर दी है ।

प्राचीन वैष्णव-संप्रदाय

[लेखक—डाक्टर उमेश मिश्र, एम्० ए०, डी० लिट्०, (इलाहाबाद)]

तत्त्वदृष्ट्या ब्रह्मरूपमवाङ् मनसगोचरम् ।

साकारतां गतं कृष्णं धर्मसंस्थापनाय च ॥

नत्वा श्रीमदुमेशोऽयं जयदेवात्मजो द्विजः ।

तनोति वैष्णवमतं प्राचीनं विष्णुप्रीतये ॥

भारतीय शास्त्रों के दो प्रधान विभाग हैं—निगम और आगम। वेद तथा वेदमूलक ज्ञान एवं क्रियाप्रधान शास्त्र को 'निगम' कहते हैं। 'आगम' से साधारण रूप में सभी शास्त्र लिए जाते हैं, किंतु जब यह 'निगम' शब्द के साथ-साथ प्रयुक्त होता है, तब इस से तंत्र-शास्त्र या शक्ति या भक्तिप्रधान शास्त्र ही समझा जाता है। इसी लिए 'आगम' शब्द का अर्थ करते हुए प्राचीन ग्रंथकारों ने लिखा है—

आगतं शिववक्त्रेभ्यो गतं च गिरिजाश्रुतौ ।

मतं च वासुदेवस्य तस्मादागममुच्यते ॥

इस श्लोक में 'वासुदेवस्य मतं' यह देख कर 'आगम' के साथ वैष्णव-संप्रदाय का संबंध भी स्पष्ट हो जाता है। इस में भक्ति की प्रधानता है, और प्रायः यह शास्त्र शिव-पार्वती के संवाद-रूप में पूर्व में रहा है, ऐसा मालूम होता है। ज्ञान, इच्छा, और क्रिया—ये सब भक्ति के व्याप्य हैं और उसी को पुष्ट करते हैं। नारद ने अपने 'भक्ति-सूत्र' में भी कहा है—'सा तु कर्मज्ञानयोगेभ्योऽप्यधिकतरा'^१। अर्थात् कर्म, ज्ञान और योग से भी बढ़ कर भक्ति है। 'देवीभागवत' में भी कहा है—'मत्सेवातोऽधिकं किञ्चित् नैव जानाति

कहिचित्'^१। अगम के अनुसार मोक्ष भी भक्ति का व्याप्य ही है। जैसा कि 'नारद-पंचरात्र' में कहा गया है—

हरिभक्तिमहादेव्याः सर्वा मुक्त्यादिसिद्धयः ।

भुक्तयश्चाद्भुतास्तस्याः चेदिकावदनुन्नताः ॥

अर्थात् हरि की भक्ति तो महादेवी हैं, और मुक्ति एवं भुक्ति आदि उन की चेटियां हैं। अतएव मुमुक्षुओं को भक्ति ही को ग्रहण करना चाहिए। इसी लिए नारद ने कहा है— 'तस्मात् सैव ग्राह्या मुमुक्षुभिः'^२। इन के मत में 'पराभक्ति' ही जीवन का चरम पुरुषार्थ है।

भक्तिशास्त्र के अनेक प्राचीन आचार्य हुए हैं—पाराशर्य, गर्ग, शांडिल्य, नारद, कुमार, शुक, विष्णु, कौंडिन्य, शेष, उद्धव, अरुणि, बलि, हनुमान्, विभीषण, काश्यप तथा वादरायण^३। किंतु इन सभी आचार्यों ने अपने भिन्न-भिन्न ग्रंथ लिखे या नहीं, यह मालूम नहीं। केवल नारद और शांडिल्य के भक्ति-सूत्रों से हम परिचित हैं। इस के अतिरिक्त काशी के किसी दाक्षिणात्य विद्वान् के घर से एक और भी भक्तिसूत्र-रूप ग्रंथ मिला है, जो कि 'सरस्वती भवन स्टडीज़' में प्रकाशित हुआ है^४। इसी भक्तिशास्त्र के बल पर 'पंचरात्र' और 'भागवत' संप्रदायों ने अपने-अपने अस्तित्व को स्थिर किया है। ये दोनों संप्रदाय यद्यपि इस समय एक ही हो गए हैं, किंतु पूर्व में दोनों अलग-अलग थे। इस समय ये दोनों ही वैष्णव-संप्रदाय के नाम से भी विख्यात हैं।

वैष्णव-संप्रदाय प्राचीन काल से चार प्रधान विभागों में विभक्त है :—

१—श्रीसंप्रदाय—इस की आदिम प्रवर्तक श्री या लक्ष्मी हैं। इस के प्रधान संस्थापक श्रीरामानुजाचार्य हुए। बाद में श्रीरामानंद स्वामी ने इस का प्रचार बढ़ाया, इस लिए इसे 'रामानंद-संप्रदाय' और इस के अनुयायी को 'रामानंदी' भी कहते हैं। इस का दार्शनिक मत 'विशिष्टाद्वैत' के नाम से प्रसिद्ध है।

२—हंससंप्रदाय—इस के प्रवर्तक सनकादि और प्रधान संस्थापक निवाकर्चाचार्य

^१ ७.३७

^२ ४.३३

^३ 'नारदसूत्र', १०—२३; 'शांडिल्यसूत्र', २.१. २६—३०

^४ भाग २, पृष्ठ ७४—८१

हुए। अतएव यह 'निर्वार्क-संप्रदाय' भी कहलाता है; और वाद को हरिव्यासस्वामी ने इस का प्रचार किया इस लिए यह 'हरिव्यासी' भी कहा जाता है। इस का दार्शनिक मत 'द्वैताद्वैत' या 'भेदाभेद' कहा जाता है।

३—ब्रह्मसंप्रदाय—इस के प्रधान प्रवर्तक ब्रह्मा, और संस्थापक मध्वाचार्य हुए। पश्चात् गौड़स्वामी ने इस का विशेष प्रचार किया। इस लिए यह 'मध्वसंप्रदाय' और 'गौड़िया-संप्रदाय' भी कहलाता है। इस का दार्शनिक सिद्धांत 'द्वैतवाद' कहलाता है।

४—छद्रसंप्रदाय—छद्र इस के प्रधान प्रवर्तक और विष्णुस्वामी प्रधान संस्थापक हुए। वाद को वल्लभाचार्य ने इस का विशेष प्रचार किया। इस लिए यह 'विष्णुस्वामी-संप्रदाय' और 'वल्लभ-संप्रदाय' भी कहलाता है। इस का दार्शनिक मत 'शुद्धाद्वैत' कहलाता है।

'शक्तिसंगमतंत्र'^१ के अनुसार गौण और मुख्य भेद से तंत्रोक्त वैष्णव-संप्रदायों की संख्या निम्नलिखित दश है—

१—वैखानस—यह स्मार्त-वैष्णव कहा जाता है। इस के अनुयायी वैखानस मुनि के उपदेश के अनुसार दीक्षित होते हैं।

२—श्रीराधावल्लभी—वैष्णवों के प्रसिद्ध आचार तथा व्यवहार का पालन विशेष रूप से इस संप्रदाय में नित्य होता है। विष्णुमंत्रों का जप ये लोग सदैव करते रहते हैं। शांतभाव को प्रधान मान कर संसार की प्रत्येक वस्तु से अपने चित्त को हटा कर केवल विष्णु की चिंता में लगाना, इन का प्रधान ध्येय है।

इस के आदि-प्रवर्तक एक हरिवंश गोस्वामी थे जिन का जन्म संवत् १५५६ (१५०३ ई०) में आगरा में हुआ था। इन का पैत्रिक स्थान सहारनपुर जिला के 'देव-वनवास' नामक ग्राम में था। पूर्ण वयस्क होने पर यह वृंदावन गए, और वहां इन्होंने एक नवीन संप्रदाय स्थापित किया जिसे लोग 'राधावल्लभ' के नाम से कहने लगे। कहा जाता है कि इन के स्वशुर ने इन्हें एक राधावल्लभ की मूर्ति दी थी और उसी के नाम पर यह संप्रदाय प्रसिद्ध हुआ। इन्होंने बड़े खर्च से संवत् १६४१ में राधावल्लभ का एक सुंदर मंदिर वृंदावन में बनवाया। ये लोग वैष्णव-चिन्ह शरीर में धारण करते थे।

३—**गोकुलेश**—इस संप्रदाय के लोग नाना प्रकार के आभूषणों का धारण करना, सुगंधित द्रव्यों को शरीर में लगाना, तथा गौओं से प्रेम करना अपना मुख्य कर्तव्य समझते हैं। ये लोग कृष्ण के केलि-समय के स्वरूप को धारण करते हैं, और अपने शरीर, अर्थ, तथा प्राण को कृष्ण को समर्पण करते हैं। ऊपर से ये लोग कृष्ण के उपासक मालूम होते हैं किंतु अंतःकरण में ये शक्ति के उपासक हैं। गानविद्या में इन का अधिक प्रेम होता है। ये अपने शरीर को लताओं से लपेटना पसंद करते हैं। इस संप्रदाय को वैष्णवों ने सर्वसिद्धि-कर माना है। ये सब स्मार्त और वैष्णव के लौकिक कलह में लगे रहते हैं, और शिव और विष्णु के ऐक्य भाव को नहीं मानते।

४—**बृंदावनी**—इस संप्रदाय के लोगों को किसी बात की आशा नहीं रहती है। ये सब अपने को पूर्णकाम मानते हैं। ये सर्वदा प्रसन्नचित्त हो कर विष्णु की भक्ति में लीन रहते हैं। स्त्रियों के ध्यान में भी ये लगे रहते हैं, और उन के संग से चंचल भी हो जाते हैं। ये वन-विहार पसंद करते हैं। और सुगंधित द्रव्य शरीर में लगाते हैं। सारूप्य-मोक्ष का ज्ञान इन्हें रहता है।

५—**रामानंदी**—‘रा’ से शक्ति तथा ‘म’ से शिव समझा जाता है। इन दोनों का सामरस्यप्रयुक्त जो आनंद है, उसी में ये लोग मग्न रहते हैं। ये शांतचित्त, प्रसन्नात्मा तथा विचारवान् होते हैं और वस्तुमात्र में समानरूप का अनुभव करते हैं। रामानंद स्वामी ने, जिन का जन्मकाल १३०० ई० कहा जाता है, इस संप्रदाय को चलाया।

६—**हरिव्यासी**—पापों को नाश करने में ये तत्पर रहते हैं। ये विष्णुभक्त और जितेंद्रिय होते हैं। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा तथा समाधि—इस अष्टांग योग का पूर्ण अभ्यास करते हैं; परार्थ ही में अपना समय लगाते हैं। ये शिव और शक्ति के स्वरूप को धारण करते हैं।

इस संप्रदाय के आदि-संस्थापक बृंदेलखंड के निवासी एक हरिराम शुक्ल थे जिन का जन्म १५१० ई० में हुआ था। इन्हीं का दूसरा नाम हरिव्यास मुनि था। यह श्री भट्ट के शिष्य और परशुराम के गुरु थे। निवाकाचार्य की वनाई हुई ‘दशश्लोकी’ की एक टीका भी इन्होंने लिखी है। इन्होंने १५५५ ई० में बृंदावन जा कर पहले रावावल्लभ संप्रदाय को स्वीकार किया, किंतु बाद में उसे छोड़ कर एक दूसरा नया संप्रदाय अपने नाम पर ही चलाया।

७—निर्वाक—इस संप्रदाय वाले स्वातंत्र्यप्रेमी होते हैं। ये लोग पूजा के बाह्य स्वरूप ही में नियम-पूर्वक लगे रहते हैं। ये विष्णु के अनन्यभक्त होते हैं और प्रसन्नचित्त रहते हैं। ये अपने आचरणों को तथा शरीर एवं वस्त्रों को स्वच्छ रखते हैं। ये स्मार्तों के द्रोही होते हैं।

८—भागवत—इस संप्रदाय के लोग पूर्ण विष्णुभक्त होते हैं। ये अपने इंद्रियों को अपने वश में रखते हुए सदैव प्रसन्न रहते हैं। स्मार्तों का गौरव इन्हें रहता है, किंतु ये शिव के विद्वेपी यहां तक होते हैं, कि भूल से यदि किसी शैव का संसर्ग हो जाय तो झट स्नान कर लेते हैं। शरीर को स्वच्छ रखना और सुंदर वेष बनाना इन का कर्तव्य है। ये अरुण वेष धारण करते हैं।

९—पांचरात्र—इस संप्रदाय वाले पंचरात्रि-व्रत करते हैं। ये रंडा को श्रीकृष्ण का प्रसाद कह कर उसे पूजते हैं। शिव की निंदा तो करते ही हैं, वैष्णवों की भी निंदा करते हैं।

१०—वीरवैष्णव—ये केवल विष्णुभक्त होते हैं और अन्य सब देवताओं की निंदा करते हैं।

अब यहां उपर्युक्त चार प्रधान वैष्णव संप्रदायों का परिचय दिया जाता है।

१—श्रीसंप्रदाय

श्री या लक्ष्मी इस की प्रवर्तक हैं, इस लिए इस संप्रदाय के लोग लक्ष्मीनारायण के उपासक होते हैं। इस का प्रधान केंद्र तामिल प्रांत कहा जा सकता है।^१ इस प्रांत के इतिहास से ज्ञात होता है कि वहां बहुत पूर्व वैष्णव धर्म-प्रवर्तक वारह भक्त हुए हैं, जिन के नाम ये हैं—सरोयोगिन्, भूतयोगिन्, महद्योगिन् या भ्रांतयोगिन्, भक्तिसार, शठ-कोप, मधुरकवि, कुलशेखर, विष्णुचित्त, गोदा, भक्तांगिरेणु, योगिवाहन और पर-काल^२। इन के बाद छः वैष्णवाचार्य हुए जिन में नाथमुनि^३ और उन के पौत्र यामुनाचार्य

^१ 'श्री मद्भागवत', ११—५—३८—४०

^२ एल्. कृष्णस्वामी ऐयंगर, 'लाइफ एंड टाइम्स इत्यादि', पृ० ३—४

^३ 'तत्त्वमुक्ताकलाप' के अंत में।

बहुत प्रसिद्ध थे। मध्यवीथिभट्ट और कृष्णपाद भी प्राचीन आचार्य थे^१। नाथमुनि दसवीं शताब्दी में हुए यह कहा जाता है^२। यह परकालमुनि के शिष्य थे। 'न्यायतत्व' और 'योगरहस्य' इन के प्रसिद्ध ग्रंथ हैं^३।

इन के बाद यामुनाचार्य हुए जिन्होंने ने वैष्णव-संप्रदाय को वैदिक सिद्ध करने का पूर्ण प्रयत्न किया। 'आगमप्रामाण्य', 'महापुरुषनिर्णय', 'सिद्धित्रय', 'गीतार्थ-संग्रह', 'चतुःश्लोकी' तथा 'स्तोत्ररत्न' इन के प्रसिद्ध ग्रंथ हैं। यामुनमुनि श्रीरंगम में रहते थे।

यामुनमुनि के प्रधान शिष्य प्रसिद्ध रामानुजाचार्य थे। रामानुज का दूसरा नाम लक्ष्मण था। इन का जन्म १०१७ ई० में हुआ। इन के पिता का नाम केशव था जो रामानुज के जन्म के कुछ ही दिन बाद परलोक सिधारे। बाल्यावस्था में साधारण शिक्षा प्राप्त कर इन्होंने वेदांत पढ़ने की उत्कट इच्छा हुई, और यह अपने मौसी के पुत्र गोविंद के साथ कांची आकर यादवप्रकाश से वेदांत पढ़ने लगे। किंतु यहां उन्हें संतोष नहीं हुआ। इतने में यामुनमुनि ने रामानुज के गुणों से प्रसन्न हो कर इन्हें श्रीरंगम बुलाया। परंतु रामानुज के श्रीरंगम पहुँचने के पूर्व ही यामुनमुनि का देहांत हो चुका था। श्रीरंगम पहुँच कर रामानुज ने वादरायण सूत्र के ऊपर भाष्य रचने की प्रतिज्ञा की, और पुनः कांची लौट कर चले आए। पेरियनंबि-नामक संन्यासी से इन्होंने संन्यास ग्रहण किया, पुनः श्रीरंगम जा कर स्थिर हो गए। पश्चात् अपने एक शिष्य (जिसे 'बोधायनवृत्ति' कंठस्थ थी), की सहायता से रामानुज ने 'श्रीभाष्य' की रचना की और बाद में 'वेदांतसार', 'वेदार्थसंग्रह', 'वेदांतदीप' तथा 'गीताभाष्य' आदि ग्रंथों की भी रचना की।

इन के अनुयायियों में 'तत्त्वत्रय' के रचयिता लोकाचार्य, 'पंचरात्ररक्षा' आदि ग्रंथों के कर्ता वेदांतदेशिक, 'यतींद्रमतदीपिका' के रचयिता श्रीनिवासाचार्य आदि बहुत प्रसिद्ध हुए हैं।

^१'तत्त्वत्रयभाष्य', पृ० २, ५

^२सर एस्० राधाकृष्णन्—'इंडियन फ़िलासफ़ी', भाग १, पृ० ६६८

^३वही।

रामानुज के अनुसार चित्, अचित् और ईश्वर ये ही तीन मूल-तत्त्व हैं। इन में ईश्वर तो प्रधान अंगी है, और चित् तथा अचित् इस के दो विशेषण या अंग हैं। इसी लिए यह मत 'विशिष्ट-अद्वैतवाद'

तत्त्व

कहलाता है।

चित् तत्त्व ही जीवात्मा है, जो देह, इंद्रिय, मन, प्राण तथा बुद्धि से भिन्न है। यह स्वप्रकाश, आनंदरूप या सुखरूप, नित्य, अणु, अव्यक्त या अतीन्द्रिय, अचित्, निरवयव, निर्विकार तथा ज्ञान का आश्रय है। ईश्वर इस का नियामक है, अर्थात् ईश्वर की बुद्धि के अधीन इस का सब व्यापार होता है। ईश्वर ही इस का धारक है और यह ईश्वर का अंगभूत भी है।^१

चित् तत्त्व

जीवात्मा का ज्ञान सर्वव्यापक है इसी लिए इसे भोग में कोई भी प्रतिबंधक नहीं होता, और एक ही काल में एक आत्मा अनेक शरीर ग्रहण कर सकता है।^२ यही जीव ज्ञाता, भोक्ता और कर्त्ता है। संसारी कार्यों के प्रति आत्मा में स्वाभाविक कर्तृत्व नहीं है।^३ जीव में जो स्वातंत्र्य है वह ईश्वर-प्रदत्त है। इन दोनों में सेव्य-सेवक-भाव है। जीव जो कुछ करता है, सब ईश्वर-प्रेरित हो कर ही करता है।^४

जीवात्मा के तीन भेद हैं—बद्ध, मुक्त तथा नित्य।

बद्धजीव—'बद्ध' उन्हें कहते हैं जिन का सांसारिक जीवन अभी समाप्त नहीं हुआ है। इन के रहने का स्थान चौदहों भुवन हैं। ब्रह्मा से ले कर अति तुच्छ कीड़े-मकोड़े तक सभी बद्ध हैं। इन बद्ध जीवों की उत्पत्ति के संबंध में कहा गया है कि भगवान् के नाभिकमल से ब्रह्मा हुए और उन से रुद्र, सनक, सनंदन, सनातन तथा सनत्कुमार; नारद आदि देवर्षि; वशिष्ठ, भृगु, आदि ब्रह्मर्षि; तथा पुलस्त्य, मरीचि, दक्ष, कश्यप आदि नी प्रजापति उत्पन्न हुए।^५ इन से देव लोग; इंद्र, वह्नि, यम, निर्ऋत, वरुण, मरुत्, कुबेर, ईश, ब्रह्मा तथा अनंत ये दश दिक्पाल; विश्वभुक्, विपश्चित्, विभु, प्रभु, शिखि, मनोजव, अद्भुत,

^१ 'तत्त्वत्रय', पृ० ५, २४

^२ वही, पृ० १३

^३ वही, पृ० १६-२०

^४ वही, पृ० २०-२१

^५ 'यत्पतिभूतदीपिका', पृ० ३२। यहाँ 'मनुस्मृति' में लिखा है कि ब्रह्मा ने प्रजाओं की उत्पन्न करने के लिए दश प्रजापति बनाए जिन्हें ब्रह्मर्षि कहते हैं। इन के नाम दिए हैं—मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, प्रलह, ऋतु, प्रचेता, वसिष्ठ, भृगु और नारद—१-३४, ३५

त्रिदिव, वलि, इंद्र, सुशांति, सुकीर्त्ति, ऋतुधाता तथा दिवस्पति ये चौदह इंद्र; ^१ स्वायंभुव, स्वारोचिष, उत्तम, तामस, रैवत, चाक्षुष, वैवस्वत, सार्वणि, दक्षसार्वणि, ब्रह्मसार्वणि, धर्मसार्वणि, रुद्रसार्वणि, देवसार्वणि तथा इंद्रसार्वणि ये चौदह मनु; असुर; पितृगण; सिद्ध; गंधर्व; किन्नर; किंपुरुष; विद्यावर आदि; धर, ध्रुव, सोम, विष्णु, अनिल, अनल, प्रत्यूष, तथा प्रभास ये आठ वसु; अज, एकपात्, अहिर्वृध्न, पिनाकी, अपराजित, त्र्यंवर, महेश्वर, वृषाकापि, शंभु, हरण तथा ईश्वर ये ग्यारह रुद्र; विवस्वान्, अर्यमा, पूषा, त्वष्टा, सविता, भग, धाता, विधाता, वरुण, मित्र, शक्र तथा उरुक्रम ये बारह आदित्य; दोनों अश्विनीकुमार; दानव, यक्ष, राक्षस, पिशाच, गुह्यक आदि देवयोनि; ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र आदि मनुष्य-गण; पशु, मृग, पक्षी, सरीसृप, पतंग, कीट आदि तिर्यक्-गण; वृक्ष, गुल्म, लता, वीरुध तथा तृण आदि स्थावर; ये सब क्रमशः उत्पन्न हुए।

इन में से तिर्यक्-गण, स्थावर आदि को छोड़ अन्य सब 'शास्त्रवश्य' कहलाते हैं। इन में से कुछ तो भोग की इच्छा रखते हैं और कुछ मोक्ष की। भोगियों में भी कुछ तो अर्थ और काम को अपना ध्येय मानते हैं और कुछ केवल धर्म को। धार्मिक बुद्धि वाले परलोक को मानते हैं, तथा देवताओं एवं भगवान् में श्रद्धा और भक्ति रखते हैं। मुक्ति की इच्छा रखने वाले कुछ तो केवल ज्ञान-द्वारा प्रकृति तथा पुरुष के 'दिवेक' को ही अपना ध्येय समझते हैं, कुछ 'भक्ति' तथा 'प्रपत्ति' के द्वारा भगवान् में लीन होना अपना कर्तव्य समझते हैं। इस भक्तिमार्ग में देवताओं के अतिरिक्त केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य ही को अधिकार है, शूद्र को नहीं। जो सब तरह से दरिद्र हैं, तथा जिन्हें भगवान् की शरण छोड़ अन्य उपाय न हो तथा जो अपना सर्वस्व भगवान् को समर्पण कर दें वे ही 'प्रपन्न' कहलाते हैं। इन में से कोई तो भगवान् द्वारा धर्म, अर्थ और काम इन तीनों की प्राप्ति को अपना ध्येय मानते हैं और कोई केवल मोक्ष को ही अपना चरम उद्देश्य समझते हैं। मोक्ष की इच्छा रखने वाले संसार से विरक्त हो कर, सत्संग से विवेकबुद्धि को प्राप्त कर, सद्गुरु के समीप जा कर भगवान् के चरणों में अपने को समर्पण कर देते हैं। इस के अधिकारी सभी होते हैं। इन में से कुछ तो ऐसे होते हैं जो प्रारब्ध-कर्म को मानते हुए

अपने शरीर के स्वाभाविक अवसान-समय की प्रतीक्षा करते हैं। वे 'दृप्त' कहलाते हैं। और जो इस संसार में अपने को प्रज्वलित अग्नि के मध्य में जलते हुए के समान मान कर शीघ्र से शीघ्र इस से छुटकारा चाहते हैं वे 'आर्त' कहलाते हैं।

मुक्तजीव—इन के अतिरिक्त कुछ ऐसे जीव हैं जो 'मुक्त' कहलाते हैं। ये लोग भगवान् की आराधना का उपाय जान कर अपना कर्तव्य समझ कर भगवान् की नित्य तथा नैमित्तिक आज्ञा का किंकर के समान पालन करते हैं, भगवान् तथा भगवद्भक्तों के प्रति कोई अपराध भूल से भी न हो इस का सतत ध्यान रखते हैं। अपने शरीर को छोड़ने के समय ये अपने सुकृत तथा दुष्कृत के भोग को नाश कर हृदय में परमात्मा का ध्यान करते हुए मुक्ति के द्वारस्वरूप सुषुम्ना नाड़ी में प्रवेश कर ब्रह्मरंध्र से निकल कर हृदय के साथ-साथ सूर्य की किरणों के सहारे अग्नि लोक को चले जाते हैं। मार्ग में दिन, पूर्वपक्ष, उत्तरायण, संवत्सर के अभिमानी देवता लोग तथा वायु इन का सत्कार करते हैं। इस के बाद जीव सूर्यमंडल को भेद कर नभोरंध्र से होते हुए सूर्य लोक को पहुँच जाते हैं। इस के बाद चंद्र, विद्युत्, वरुण, इंद्र तथा प्रजापतियों द्वारा मार्ग दिखाए जाने पर आतिवाहिकगणों के साथ-साथ चंद्रादि लोकों से होते हुए जीव वैकुण्ठ की सीमा में विद्यमान 'विरजा' नाम के तीर्थ में पहुँच जाते हैं। यहां आ कर ये जीव सूक्ष्म शरीर का परित्याग करते हैं।

यहां पर जीव अमानुषीय हाथों के स्पर्श के कारण अप्राकृतिक दिव्य-शरीर को धारण करते हैं। यहां पर इन का स्वरूप चतुर्भुजी हो जाता है तथा ये ब्रह्म अलंकारों से युक्त हो जाते हैं। फिर इंद्र, प्रजापति आदि नगर-द्वारपालों की आज्ञा से श्रीवैकुण्ठ नाम के दिव्य नगर में ये प्रवेश करते हैं। इसके बाद गरुड़ तथा अनंत से युक्त झंडों से सजाए हुए दीर्घ प्राकारों सहित गोपुरों को पार करते हुए 'ऐरम्मद' नाम के अमृत सरोवर तथा 'सोम-सवन' नाम के अश्वत्थ को देख कर, हाथ में माला लिए हुए पाँच सौ दिव्य अप्सराओं द्वारा आदर-सत्कार पाते हुए, ब्रह्म-गंधादियों से अलंकृत हो कर, अनंत, गरुड़, विष्वक्सेन आदि को प्रणाम करते हुए तथा उन से सम्मान पा कर, महामणि-मंडप के पास पहुँच कर, पलंग के पास अपने आचार्य को देखते हैं। उन्हें प्रणाम कर जीव पलंग के पास जाते हैं।

वहां धर्मादि पीठ के ऊपर अनंत-कमल पर बैठे हुए, हाथ में चामर लिए हुए विमला आदि से सेवित, श्रीभूलीला के साथ, शंख, चक्र आदि दिव्य-आयुधों से युक्त, चमकते हुए किरीट, मकराकृति कुंडल, गले के हार, केयूर, कटक, श्रीवत्स, कौस्तुभ मणि, मुक्ता,

दामोदर-बंधन, पीतांबर, कांचीगुण, नूपुर आदि अनेक दिव्य-भूषणों से विभूषित, अनंत उदार कल्याण गुणों के सागर श्रीभगवान् को देख कर उन के कमल-चरणों पर अपना सिर रख कर जीव प्रणाम करते हैं। इस के बाद श्रीभगवान् अपनी गोद में बिठा कर प्रत्येक जीव से पूछते हैं—‘तुम कौन हो?’ उत्तर में जीव कहता है—‘मैं ब्रह्म प्रकार हूं’ अर्थात् एक प्रकार का ब्रह्म हूं। फिर भगवान् उस की तरफ देखते हैं और इसी से जीव को अत्यंत हर्षानुभव प्राप्त होता है, तथा सब तरह के, सभी अवस्था के उपयुक्त भगवान् के प्रति सेवक-भाव तथा स्नेह जीव में आविर्भूत हो जाता है, और इस सब का अनुभव, जीव को होने लगता है। ऐसे जीव ‘मुक्त’ कहलाते हैं। ये मुक्त जीव ब्रह्म के समान भोग करते हैं। ये भी अनेक हैं, तथा सब लोकों में अपनी इच्छा से विचरण कर सकते हैं।^१

नित्यजीव—‘नित्यजीव’ उन्हें कहते हैं जो कभी भी संसार में न आए हों।^२ इन में ज्ञान का संकोच कभी नहीं रहता है। ये भगवान् के विरुद्ध आचरण कभी नहीं करते। ईश्वर की नित्य इच्छा से ही इन के भिन्न-भिन्न अधिकार अनादि काल से नियत हैं। भगवान् के अवतार के समान इन के भी अवतार स्वेच्छा से ही होते हैं। अनंत, गरुड़, विष्वक्-सेन आदि ‘नित्यजीव’ हैं।^३

आत्मा में ‘अचित्’ के संसर्ग से अविद्या, कर्म, वासना तथा रुचि उत्पन्न होते हैं, और अचित् के निवृत्त होने से ही ये अविद्या आदि भी निवृत्त होते हैं।^४ इन तीनों प्रकार के चेतनों में जो ज्ञान है वह आत्मा के स्वरूप के समान नित्य, द्रव्यात्मक, अजड़ तथा आनंद-स्वरूप है।^५ आत्मा के स्वरूप में संकोच और विकास नहीं है और न तो अपने को छोड़ वह दूसरे किसी का प्रकाशक ही है। किंतु ज्ञान, संकोच तथा विकासवान् है, तथा अपने से अतिरिक्त का ही प्रकाशक है। मुक्तावस्था में ज्ञान सभी आत्मा में पूर्णतया विकसित रहता है। किसी का ज्ञान सदैव व्यापक रहता है, जैसे—देवताओं का; किसी का कभी भी व्यापक नहीं रहता है, जैसे—वृद्धजियों का; तथा किसी का कभी-कभी व्यापक रहता है, जैसे मुक्त पुरुषों का।^६

^१ ‘यतिपतिमतदीपिका’, पृ० ३२—३६

^२ ‘यतिपतिमतदीपिका’, पृ० ३६

^५ वही, पृ० ३५

^३ ‘तत्त्वत्रय’, पृ० २६

^४ ‘तत्त्वत्रय’, पृ० २६

^६ ‘तत्त्वत्रयभाष्य’, पृ० ३५-३६

यह तत्त्व जड़ तथा विकारवान् है। इस के तीन भेद होते हैं—शुद्धसत्त्व, मिश्रसत्त्व, तथा शून्यसत्त्व। 'शुद्धसत्त्व' में रजोगुण तथा तमोगुण नहीं रहते। इसी लिए यह नित्य है।

यह ज्ञान एवं आनंद का जनक है। बिना किसी कर्म के केवल अचित् तत्त्व

भगवान् की इच्छा से यह शुद्धसत्त्व नित्यधाम के वस्तुमात्र का आकार धारण कर लेता है। इसी से समस्त वैकुण्ठधाम, विमान, गोपुर, मंडप, प्रासाद आदि तथा नित्यमुक्त जीव एवं भगवान् का देह-पर्यंत बना है। यह अपूर्व तेजोमय वस्तु है जिस का पता नित्यमुक्तों को तथा ईश्वर को भी नहीं मिलता है। इस के स्वरूप को निर्णय करना अत्यंत कठिन है।^१ कोई इसे जड़ कहते हैं और कोई अजड़। अजड़ कहने वालों के मतानुसार नित्यमुक्त तथा ईश्वर के ज्ञान बिना ही यह स्वयं प्रकाशमान है। संसारियों को इस का अनुभव नहीं होता। शुद्धसत्त्व शरीरादि रूप में परिणत होता है और बिना किसी विषय के ही इस का भान होता है। शब्द, स्पर्श आदि इसके धर्म हैं।

'मिश्रसत्त्व' में तीनों गुण मिश्रित रहते हैं। यह बद्ध पुरुषों के ज्ञान तथा आनंद का आवरणस्वरूप है। इसी के कारण विपरीत ज्ञान भी उत्पन्न होता है। यह नित्य तथा ईश्वर की जगत्सृष्टिस्वरूप क्रीड़ा में 'परिकर' अर्थात् सहायक है। यही विकारों के उत्पादक होने के कारण 'प्रकृति', ज्ञान के विरोधी होने के कारण 'अविद्या', तथा विचित्र सृष्टि करने के निमित्त 'माया' कहलाता है। शब्दादि पाँच विषय, पाँच इंद्रिय, पाँच भूत पाँच प्राण, प्रकृति, महत्, अहंकार तथा मन इसी के बढ़ते हुए परिणाम हैं।

'सत्त्वशून्य' त्रिगुणशून्य तत्त्व 'काल' है। यह प्रकृति तथा प्राकृतिक पदार्थों के परिणाम का हेतु है। यह भी नित्य तथा ईश्वर का क्रीड़ापरिकर एवं शरीर है। बिना काले के अधीन हुए ईश्वर भी जगत की सृष्टि नहीं कर सकते हैं। नित्य, नैमित्तिक तथा प्राकृत-प्रलय इसी काल के अधीन हैं।

शुद्ध तथा मिश्रसत्त्व से जीवात्मा तथा ईश्वर का भोग्य (विषय), भोगस्थान (चतुर्दश भुवन), तथा भोगसामग्री (चक्षुरादि) बनते हैं।

आत्मा तथा जड़ ईश्वराश्रित हैं। चित् और अचित् इस के देह हैं। इन को छोड़

कर पृथक् स्वरूप में चित् और अचित् नहीं रह सकते। अनंत ज्ञानवान्, आनंद का एकमात्र स्वरूप, ज्ञान, शक्ति आदि अच्छे गुणों से विभूषित, समस्त जगत की सृष्टि-स्थिति एवं संहार करने वाला, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष का देने वाला, विचित्र शरीर धारण करने वाला तथा लक्ष्मी, भू एवं लीला का नायक ईश्वर है। यह चारों प्रकार के भक्तों का आश्रयदाता है। अज्ञानियों के लिए ज्ञानस्वरूप, अशक्तों के लिए शक्तिस्वरूप, अपराधियों के लिए क्षमास्वरूप, दुःखियों के लिए कृपास्वरूप, अविद्यादि दोषों से युक्तों के लिए वात्सल्यस्वरूप, मंदों के लिए शीलस्वरूप, कुटिलों के लिए सीधे स्वभाव का धारण करने वाला, दुष्ट हृदय वालों के लिए सुहृदस्वरूप ईश्वर ही है।

ईश्वर इतना दयालु है कि दूसरों को दुःख में देख कर आह भरता है, तथा उन के कल्याण के मार्ग को ढूँढ़ निकालता है। यही ईश्वर अपनी इच्छा से सकल जगत का कारण-स्वरूप है। संसार को उत्पन्न करने का एक-मात्र प्रयोजन भगवत्लीला है। संसार का संहार करना भी भगवान् की लीला ही है। यही ईश्वर स्वयं जगद्रूप में परिणत हो जाता है।

भगवान् की देह के स्वरूप को वर्णन करते हुए लोकाचार्य ने कहा है^१—यह उस के अपने स्वरूप तथा गुण के अनुरूप, नित्य, एक-रूप, शुद्धसत्त्वमय, अत्यंत तेजोमय, सुकुमार, सुंदर, लावण्ययुक्त, सुगंधियुक्त, यौवनावस्था को धारण करने वाला, दिव्य रूपवान् तथा योगियों का एक मात्र ध्येय है। भगवान् का शरीर उस के असली स्वरूप को जीव के देह के समान कभी भी नहीं छिपा सकता है। भगवान् का शरीर सकल जगत को मोहनेवाला है। इस रूप के दर्शन से सांसारिक समस्त भोग्य पदार्थों के प्रति विरक्ति उत्पन्न हो जाती है। यह तीनों तापों को नाश करने वाला है। नित्यमुक्तों से सतत ध्यान करने योग्य यह भगवान् का स्वरूप है। दिव्य भूषणों से तथा दिव्य अस्त्रों से सदैव यह शरीर युक्त रहता है। यह भक्तों का रक्षक है, धर्म की रक्षा के लिए जब कोई जगत में अवतार लेता है तो वह भगवद्देह से ही आविर्भूत होता है।

ईश्वर का स्वरूप पाँच प्रकार का है।

^१ 'तत्त्वत्रय', पृ० ११८-११९; 'तत्त्वत्रयभाष्य', पृ० ११९-१२१

१—पर—यही वासुदेवस्वरूप कहलाता है। यह स्वरूप काल की गति से परे है। इस का कभी परिणाम नहीं होता है, निरवधि आनंद से सदा विभूषित रहता है। यही भगवान् का पाङ्गुण्यविग्रह^१ कहलाता है इसी को वैकुण्ठ में देवता लोग नेत्रों से तथा ज्ञान से देखते रहते हैं।

२—व्यूह—यह स्वरूप विश्व की लीला के निमित्त है। यह संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध के स्वरूप में वर्तमान है। संसारियों की रक्षा तथा भक्तों के प्रति अनुग्रह दिखाने के लिए यह स्वरूप है। 'पर' स्वरूप में तो ज्ञान, बल, ऐश्वर्य, वीर्य, शक्ति तथा तेज ये छः गुण सदैव वर्तमान हैं, किंतु 'व्यूह' में केवल दो ही दो गुण प्रकट रूप में वर्तमान रहते हैं। अर्थात् ज्ञान तथा बल संकर्षण के स्वरूप में प्रकट हैं, प्रद्युम्न में ऐश्वर्य तथा वीर्य गुण एवं अनिरुद्ध में शक्ति और तेज रहता है।

३—विभव—यह अनंत होने पर भी गौण और मुख्य भेद से दो प्रकार का होता है। मुख्य विभव श्रीभगवान् का अंश तथा अप्राकृत देहयुक्त है। यही स्वरूप मुमुक्षुओं के लिए उपास्य है।

४—अंतर्दामी—इस स्वरूप से भगवान् जीवों के अंतःकरण में प्रवेश कर जीवों की सकल प्रवृत्तियों का नियमन करते हैं। इसी रूप से भगवान् सभी अवस्था में सभी जीव की सहायता करते हैं।

५—अर्चवितार—यह घट में रहने वाली भगवान् की उपास्य मूर्ति है।

भगवान् की उपासना को ही निदिध्यासन, योग, ज्ञान, या भक्ति कहते हैं। ध्यान के द्वारा भक्तिसाधन होता है और उसी से भगवान् प्रसन्न होते हैं। इन के मत में वंघन पारमार्थिक है। अतएव जीव और ब्रह्म-संबन्धी अभेदबुद्धि-द्वारा उस वंघन का नाश-नहीं हो सकता है। वंघननिवृत्ति केवल ईश्वर की प्रीति और प्रसन्नता पर निर्भर है। अभेद ज्ञान एक प्रकार से मिथ्या होने के कारण इस से वंघन और दृढ़ हो जाता है। जीव भोक्ता है, प्रकृति भोग्य है तथा ईश्वर इस का प्रेरक है। यह भेद इन के स्वरूप में रहता है। और अभेद-ज्ञान इस पारमार्थिक स्वरूपभेद को नष्ट करता है। इसी लिए उसे मिथ्या ज्ञान माना है।

^१ज्ञान, बल, ऐश्वर्य, वीर्य, शक्ति तथा तेज से परिपूर्ण भगवान् का देह है—
'तत्त्वत्रयभाष्य', पृ० १२४

रामानुज के मतानुसार वर्णाश्रमोचित कर्म करने से चित्तशुद्धि होती है। चित्त-शुद्धि से भक्ति और भक्ति से मोक्ष-प्राप्ति होती है।

प्रसंगवश रामानुज के मत के अनुसार यहां ज्ञान का स्वरूप विवेचन किया जाता है। ज्ञान स्वयंप्रकाश तथा विभु है। नित्य-जीवों का तथा ईश्वर का ज्ञान नित्य एवं व्यापक है।

ज्ञानस्वरूप विचार वदजीव का ज्ञान तिरोहित रहता है। मुक्तों का पहले तिरो-

हित रहता है पश्चात् आविर्भूत होता है। ये लोग भी ज्ञान को स्वतः प्रमाण मानते हैं। संकोच तथा विकासावस्था ले कर ही ज्ञान की उत्पत्ति एवं नाश का प्रयोग होता है। ज्ञान को रामानुज-मत वाले द्रव्य मानते हैं। यद्यपि आत्मा का गुण भी ज्ञान है तथापि प्रभा के समान यह गुण और द्रव्य दोनों हो सकता है। और इसी लिए अपने आश्रय से अन्यत्र भी ज्ञान रह सकता है।^१ मुक्तों का ज्ञान एक ही काल में नेत्र या सूर्य के तेज के समान अनंत देहों के साथ संयुक्त हो सकता है। सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष तथा प्रयत्न ये सब ज्ञान ही के स्वरूप हैं। ज्ञान मन का सहकारी है। प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, स्मृति, संशय, विपर्यय, भ्रम, विवेक, व्यवसाय, मोह, राग, द्वेष, मद, मात्सर्य, धैर्य, चापल्य, दंभ, लोभ, क्रोध, दर्प, स्तंभ, द्रोह, अभिनिवेश, निर्वेद, आनंद, सुमति, दुर्मति, सुप्रीति, तुष्टि, उन्नति, शान्ति, कान्ति, विरक्ति, रति, मैत्री, दया, मुमुक्षा, लज्जा, तितिक्षा, विचारणा, जिगीषा, मुदिता, क्षमा, चिकीर्षा, जुगुप्सा, भावना, कुहना, असूया, जिघांसा, तृष्णा, दुराशा, वासना, दुर्वासना, चर्चा, श्रद्धा, भक्ति, प्रपत्ति आदि जो जीव के गुण हैं वे सब ज्ञान ही की अवस्था-विशेष हैं।^२

उक्त सभी गुणों में भक्ति तथा प्रपत्ति का विशेष स्थान है। इन्हीं दोनों से प्रसन्न हो कर ईश्वर मोक्ष देता है। यही मोक्ष के साधन हैं। कर्मयोग तथा ज्ञानयोग आदि भी भक्ति ही के द्वारा मोक्षसाधक हैं, अन्यथा नहीं।^३ इसी प्रपत्ति को शरणागति भी कहते हैं। इसी के सहारे अर्जुन को श्री कृष्णभगवान् ने उपदेश दिया था, जैसा गीता में कहा गया है—

^१ 'यत्तिपत्तिमतदीपिका', पृ० २६

^२ वही, पृ० २७

^३ वही, पृ० २९

यच्छ्रेयः स्यान्नश्चित्तं ब्रूहि तन्मे ।

शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्^१ ॥

रामानुज के मत में भी समस्त पदार्थ प्रमाण और प्रमेय के भेद से दो प्रकार के के हैं। प्रमेय का संक्षिप्त वर्णन ऊपर हो चुका, अब प्रमाण के संबंध में भी कुछ लिखना आवश्यक है। प्रमा, अर्थात् यथार्थज्ञान, के करण को 'प्रमाण' कहते हैं। इन के मत में प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द ये तीन प्रमाण के भेद हैं।

प्रमाण-निरूपण

१—प्रत्यक्ष-प्रमाण—हम लोगों के इंद्रिय के द्वारा साक्षात् यथार्थज्ञान का जो करण है वही 'प्रत्यक्ष' है। इस के निर्विकल्पक और सविकल्पक दो भेद हैं। नीला, पीला आदि गुण तथा अवयव-संस्थान आदि से विशिष्ट प्रथम बार जो विषय का ज्ञान होता है वही 'निर्विकल्पक' है, और ऊहापोह-सहित गुण तथा अवयव-संस्थान आदि से विशिष्ट दूसरी, तीसरी बार जो वस्तु का ज्ञान है, वही 'सविकल्पक' प्रत्यक्ष है। दोनों ही भेदों में विशिष्ट-विषयक ज्ञान इन के मत में, माना गया है। नैयायिकों के सिद्धांत से यह विलक्षण है। रामानुज के मत में अविशिष्टग्राही ज्ञान होता ही नहीं^२। इंद्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से पाँचों इंद्रियों के द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकार का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। ये लोग 'समवाय-संबंध' के स्थान में एक 'आश्रय-संबंध' मानते हैं। ये इन भेदों के अतिरिक्त 'अर्वाचीन' और 'अनर्वाचीन' और भी दो भेद मानते हैं। फिर 'अर्वाचीन' के भी दो भेद हैं—'इंद्रियसापेक्ष' और 'इंद्रियानपेक्ष'। 'इंद्रियानपेक्ष' भी फिर दो प्रकार का है—'स्वयं-सिद्ध' और 'दिव्य'। योगजन्य प्रत्यक्ष 'स्वयं-सिद्ध' है तथा भगवत्प्रसाद-जन्य प्रत्यक्ष 'दिव्य' है। 'अनर्वाचीन' प्रत्यक्ष में इंद्रिय की कोई भी अपेक्षा नहीं रहती, जैसे—नित्यमुक्तजीव तथा ईश्वर का ज्ञान।^३

स्मृति, प्रत्यभिज्ञा, अभाव—जो कि इन के मत में भाव-स्वरूप ही है—ऊह, संशय तथा प्रतिभा ये सब प्रत्यक्ष प्रमाण ही के अंतर्भूत माने जाते हैं। ये लोग 'सत्-ख्याति' वादी हैं इस लिए इन के मत में ज्ञान के सभी विषय सत्य हैं। यथार्थ में 'सर्व

^१ २-७

^२ वही, पृ० ४

१०

^३ 'यतिपत्तिमतदीपिका', पृ० ३

विज्ञानं यथार्थम्' इस के अनुसार 'भ्रम' आदि भी यथार्थ है, मिथ्या नहीं। इस पर भी जो किसी ज्ञान को भ्रमात्मक कहते हैं, वह केवल लौकिक व्यवहार में बाधा उत्पन्न होने के कारण से ही। इस लिए स्वप्नज्ञान भी इन के मत में सत्य ही है।

ये तीन प्रकार के चैतन्य मानते हैं—अंतःकरणावच्छिन्न, अंतःकरणवृत्त्यवच्छिन्न, तथा विषयावच्छिन्न चैतन्य। जब ये तीनों चैतन्य एकत्रित होते हैं तभी 'साक्षात्कार' कहा जाता है।^१

२—अनुमान-प्रमाण—'व्याप्य' के व्याप्यत्व के अनुसंधान से किसी व्यापक का जो ज्ञान है उसे ही 'अनुमान' और उस के करण को 'अनुमति' कहते हैं। व्याप्य और व्यापक में 'उपाधि'-रहित जो नियत संबंध है उसे ही 'व्याप्ति' कहते हैं। इस का ज्ञान बार-बार दो वस्तुओं को एकत्रित देखने से होता है। 'अन्वय' और 'व्यतिरेक' दो प्रकार की व्याप्ति होती है। 'अन्वयव्यतिरेकी' और 'केवलान्वयी' अनुमान के दो भेद ये लोग मानते हैं। 'केवल-व्यतिरेकी' में साध्य अप्रसिद्ध होने के कारण व्यतिरेक-व्याप्ति दुर्ग्रह है, इस लिए इसे ये लोग नहीं मानते।^२

साधारणरूप से तो प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय तथा निगमन ये पाँचों अनुमान के अवयवों को ये भी स्वीकार करते हैं, किंतु व्याप्ति और पक्षधर्मता इन दोनों अनुमान के प्रधान अंगों की सिद्धि केवल उदाहरण तथा उपनय ही के द्वारा होती है, इस लिए कभी तीन ही और कभी दो ही अवयवों को ये मानते हैं। यथार्थ में इन का कहना है कि जितने अवयवों के द्वारा विपक्षी को अपना सिद्धांत समझा सके, उतने ही अवयवों को मानना चाहिए।

उपमान, अर्थापत्ति और तर्क तथा कथा, जल्प, वितंडा, छल, जाति और निग्रह-स्यान ये सब अनुमान ही के अंतर्भूत हैं।

३—शब्द-प्रमाण—अनाप्तों से नहीं कहा गया जो वाक्य, उस से उत्पन्न जो उस का अर्थ, उसी के ज्ञान को शाब्दज्ञान तथा उस के करण को शब्द-प्रमाण कहते हैं। इन के मत में वेद अपौरुषेय और नित्य हैं। शिक्षा आदि पङ्ग से युक्त वेद प्रमाण हैं। आप्त-रचित स्मृति यदि श्रुति से अविरोध हो तथा आचार, व्यवहार और प्रायश्चित्तादि की प्रतिपादक

हो तो वह भी प्रमाण है। वेद-मूलक पुराण और इतिहास भी प्रमाण हैं। इन में भी जो विरोध-प्रतिपादक हैं वह अप्रमाण हैं। 'श्रीपंचरात्रयागम' में वेदों से कहीं भी विरोध नहीं होने के कारण यह सर्वथा प्रमाण है। 'वैखानस-आगम' और 'धर्मशास्त्र' वेदों के अविरुद्ध होने से प्रमाण हैं। वकुल आभरण आदि विद्वानों की उक्तियां सभी प्रमाणतर हैं, और श्रीरामानुज का श्रीभाष्य आदि तो प्रमाणतम है।

मिश्र-सत्त्व में तीनों गुण हैं। इसी को प्रकृति, माया, अत्रिया आदि कहते हैं। यह नित्य है। भगवान के संकल्प से इस की साम्यावस्था में वैपम्य उत्पन्न होता है। इसी से यह

सृष्टि-प्रक्रिया कार्यान्मुखावस्था को प्राप्त कर अव्यक्त कहलाता है। पहले

'महत्' की उत्पत्ति होती है। गुण के अनुसार इस के तीन भेद हैं। इस से अहंकार उत्पन्न होता है। गुणानुरूप इस के भी तीन भेद हैं—वैकारिक, तैजस, और भूतादि। वैकारिक और भूतादि से ग्यारह इंद्रियां उत्पन्न होती हैं। मन भी इन के मत में ज्ञानेंद्रिय है, इस लिए छः तो ज्ञानेंद्रिय और पांच कर्मेन्द्रिय हैं। इंद्रिय का परिणाम 'अणु' है। जब जीव योग के बल से दूसरे के शरीर में प्रवेश करता है, और अन्य लोकों में भी भ्रमण करता है, उस समय भी इंद्रियां जीव के साथ रहती हैं। मुक्ति में ये जीव का साथ छोड़ देती हैं, और प्रलय-पर्यंत या तो इसी संसार में रहती हैं या जिन के इंद्रियां नहीं हैं वे इन्हें ग्रहण कर लेते हैं।^१

२—हंस-संप्रदाय

भगवान् ने हंस के रूप में सब से पहले इस संप्रदाय के सिद्धांतों को सनक आदि को सिखलाया। उन सबों ने फिर कुमार को सिखाया। कुमार से नारद और नारद से निवारकाचार्य को वही उपदेश मिले।^२ इसी लिए यह 'हंस-संप्रदाय' और 'निवारक-संप्रदाय' भी कहलाता है। निवारक सुदर्शन-चक्र के अवतार माने जाते हैं। इन के पिता अरुणमुनि और माता जयंतीदेवी थीं। किसी-किसी मत से इन के माता और पिता के नाम क्रमशः सरस्वती और जगन्नाथ थे। ये निवापुर या निव या नैद्वर्यपत्तन के रहने वाले तैलंगी ब्राह्मण थे। इन का जन्म किसी वैशाख शुक्ल तृतीया में हुआ था। डाक्टर

^१ 'यतिपत्तिमतदीपिका', पृ० १७

^२ वेदांतपारिजातसौरभ, १—३—८; केशवस्वामी-रचित गीता की टीका।

भंडारकर के मतानुसार ये लगभग ११६२ ई० में मरे थे।^१ इस लिए इन का जीवन-काल चारहवीं सदी का प्रथम भाग होना चाहिए।

निर्वार्काचार्य बड़े विद्वान् थे। इन में अलौकिक शक्ति भी थी। एक समय इन्होंने अपनी शक्ति से एक संन्यासी को, नीम के पेड़ पर, अस्त हो जाने पर भी सूर्य का दर्शन कराया था, इसी लिए इन का निर्वार्क नाम भी पड़ा यह कहा जाता है।^२

‘वेदांतपारिजातसौरभ’, ‘सिद्धांतरत्न’, ‘दशश्लोकी’ ‘श्रीकृष्णस्तव,’ ‘वेदांत-कौस्तुभ’, ‘वेदांतकौस्तुभप्रभा’, ‘पांचजन्य’, ‘तत्त्वप्रकाशिका’ तथा ‘सकलाचार्यमतसंग्रह’ आदि ग्रंथ इन के मत के प्रतिपादक हैं।

निर्वार्क-मत का दार्शनिक सिद्धांत ‘भेदाभेद’ या ‘द्वैताद्वैत’ है। इस मत में जीवात्मा, परमात्मा या ईश्वर और प्रकृति या जड़ ये तीन तत्त्व हैं। ये तीनों आपस में

तत्त्व-निरूपण भिन्न-भिन्न हैं। इसी लिए ये द्वैतवादी हैं। जीव तथा प्रकृति ये दोनों परमात्मा के अधीन हैं। परमात्मा ओतप्रोत-भाव से

जीव और जड़ में वर्तमान है। परमात्मा के बिना इन दोनों की स्थिति ही नहीं हो सकती है। परमात्मा से उन का इतना ही अंतर है जितना कि समुद्र का उस के तरंग से।^३ इसी लिए एक प्रकार से ये अभेदवादी भी हैं।

‘एपोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः’ इत्यादि श्रुति के आधार पर ये लोग जीव को ‘अणु’ मानते हैं।^४ प्रत्येक प्राणी में जीव भिन्न-भिन्न है, और इसी से सुख-दुःख के वैचित्र्य

जीवात्मा-निरूपण का समाधान हो सकता है। यह अनंत और गुणमयी माया से बद्ध है। यह ज्ञान का आश्रय और ज्ञानस्वरूप भी है। इसी लिए इंद्रिय के बिना भी जीव में ज्ञान रहता है।^५

जीव द्रष्टा, भोक्ता, कर्त्ता और श्रोता सभी है। यह अणु होने पर भी समस्त शरीर के सुख-दुःख का अनुभव करता है। इसी समस्त शरीर में प्रकाश भी है। अणु होने पर भी

^१ ‘वेदांतपारिजातसौरभ’—भूमिका, पृ० ३; डाक्टर आर० जी० भंडारकर—‘वैष्णविज्म ऐंड शैविज्म’, पृ० ६२

^२ ‘भक्तमाल’, सर्ग २२ ^३ ‘वेदांतपारिजातसौरभ’, १-२-५-६; २-१-१३

^४ ‘सकलाचार्यमतसंग्रह’, पृ० १०; ‘वेदांतपारिजातसौरभ’, २-३-१९, २२

^५ ‘सकलाचार्यमतसंग्रह’, पृ० ६-११

गुणों के कारण जीव विभु भी है किन्तु इस में सर्वगतत्व नहीं है। जीव स्वतंत्र नहीं है। यह अपने ज्ञान, कर्म, मोक्ष तथा बंधन सब के निमित्त ईश्वर पर निर्भर है। परमात्मा के अनुग्रह से सज्जन लोग जीवात्मा का भी ज्ञान प्राप्त करते हैं।^१ यह आनंदमय नहीं हो सकता है। अपने किए हुए कर्म का भोग यह स्वयं करता है। यह भी नित्य है।

जीव दो प्रकार के हैं—बद्ध और मुक्त। अनादि कर्म और वासना के फलस्वरूप देव, मनुष्य तथा तिर्यक् आदि का शरीर धारण कर उस में आत्मा या आत्मीय वस्तु का जो दृढ़ अभिमान रखते हैं वही 'बद्ध' हैं। ये जीव वर्णाश्रम धर्म का पालन करते हुए मरने के बाद अपने कर्मानुसार फल का भोग कर अवशिष्ट भोग के लिए पुनः जन्म ग्रहण करते हैं। एक शरीर से दूसरे शरीर में जाने के समय जीव सूक्ष्मभूत से युक्त रहता है। इन के अतिरिक्त जीव 'मुक्त' हैं। मुक्त-जीव भी दो प्रकार के होते हैं—एक तो नित्य-मुक्त, जैसे गरुड़, विष्णुक्सेन, भगवान् के विविध आभूषण जैसे वंशी आदि। दूसरे जो सत्कर्म करते हुए पूर्व जन्म के कर्मों का भोग संपन्न कर संसार के बंधन से मुक्त हो जाते हैं। मुक्त होने पर ये सब अचिरादि मार्ग से पर ज्योतिःस्वरूप को पा कर अपने यथार्थ स्वरूप में आविर्भूत होते हैं, और फिर लीट कर इस संसार में नहीं आते। इन में से कोई तो ईश्वर-सादृश्य प्राप्त करते हैं और कोई अपने आत्मा के स्वरूप के ज्ञानमात्र ही से तृप्त हो जाते हैं।

मुक्त-जीव भी भोग भोगते हैं। इस के लिए जीव को अपना कोई शरीर धारण करना आवश्यक नहीं है। स्वप्न के समान भगवत्-सृष्ट-शरीर आदि के द्वारा कदाचित् भगवान् की लीला के अनुसार केवल संकल्पमात्र से शरीर उत्पन्न कर मुक्त-जीव भोग प्राप्त करता है।^२ इन का ऐश्वर्य जगत के व्यापार से शून्य है।

जड़ पदार्थ के तीन भेद हैं—१—अप्राकृत—इस का उपादान सत्त्व, रजस् और तमस् नहीं है।^३ यह प्रकाशस्वरूप है। भगवान् का शरीर, सब आभूषण, नगर, उपवन

आदि सभी वस्तु इसी से बने हैं, और ईश्वर की नित्य-विभूति
जड़-निरूपण
का स्वरूप भी इसी में देख पड़ता है।

^१ 'सकलाचार्यमतसंग्रह', पृ० ११; वेदांतपारिजातसौरभ २—३—२३, २४, २५, २८, २९ ^२ वेदांतपारिजातसौरभ, ४—४—१३, १५

^३ 'सकलाचार्यमतसंग्रह', पृ०-१२

२—प्राकृत—इस श्रेणी के समस्त पदार्थ प्रकृति से उत्पन्न होते हैं। संसार के सभी पदार्थ प्राकृतिक हैं।

३—काल—यह तत्त्व प्राकृत और अप्राकृत दोनों से भिन्न है। यह नित्य और विभु है।^१

उक्त तीनों जड़-तत्त्व जीवात्मा के समान नित्य हैं। तीसरा तत्त्व ईश्वर, परमात्मा, वैश्वानर, ब्रह्मा, पुरुषोत्तम, भगवान् आदि नाम से प्रसिद्ध है। यह तत्त्व स्वभाव ही से अविद्या,

अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश इन पाँचों दोषों से शून्य ईश्वर-निरूपण है। यह क्षर और अक्षर दोनों ही से उत्कृष्ट है। सर्वज्ञ, सब से

अचिंत्य और अनंत शक्ति वाला, ब्रह्मा, ईश और काल आदि सब का नियंता, स्वतंत्र, यज्ञ आदि सत्कर्मों का फल देने वाला, विश्व और जन्म आदि का कारण, एक मात्र वेद-प्रमाण से जानने योग्य, सब से भिन्न और फिर सब से अभिन्न भी विश्वरूप भगवान् ही ईश्वर-तत्त्व हैं।^२ यह स्वयं आनंदमय है, और जीव के आनंद का कारण भी है। यह पुण्य-पाप से परे है। मुमुक्षु लोग इसी ईश्वर का ध्यान करते हैं। यह जीवात्मा से भिन्न है इस लिए अहित और अकरणादि दोष इस में नहीं लगता। यह सब का द्रष्टा है। अमृतत्व और अभयत्व इसी में हैं।

अनन्यशरण उपासकों के ऊपर अनुग्रह दिखाने के लिए भगवान् उन के इच्छानुरूप स्वरूप धारण करते हैं। निरतिशय सुखस्वरूप भी यही हैं। तीनों काल में रहने वाले कार्यमात्र का और आकाश का धारक ईश्वर हैं। भूत और भविष्य का स्वामी तथा नित्य आविर्भूत स्वरूप यही हैं। इस में स्वाभाविक आनंद, ज्ञान, बल, और क्रिया हैं। ईश्वर सभी शक्तियों से संपन्न है और सब कुछ कर सकता है। वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध ये चारों स्वरूप इन्हीं के अंग हैं।^३ मुमुक्षु लोग गोपियों के सहित वृषभानुकन्या के साथ वैकुण्ठ में बैठे हुए श्रीकृष्ण भगवान् ही की उपासना करते हैं। केवल प्रतिपत्ति ही से इन का अनुग्रह होता है। यही संसार का उपादान तथा निमित्त कारण हैं। सर्वशक्तिमान

^१ 'सकलाचार्यमतसंग्रह', पृ० १२

^२ वेदांतपारिजातसौरभ, १—१—२, ४, १०, १२

^३ वही, १—१—११, १५, २१, २२; १—२—२, ५, ६, ८, १०, १३, २५, २७, ३०; १—३, ६, १०, १६, २४, २७; २—१—२१, २६

ब्रह्म अपनी शक्ति के विक्षेप के द्वारा अपने को जगत के आकार में परिणत कर, अव्याकृत स्वरूप, शक्ति और कृति से युक्त हो परिणत होता है। अर्थात् जिस प्रकार दूध कार्यरूप में परिणत हो जाता है उसी प्रकार अपनी असाधारण शक्ति से युक्त परमात्मा भी जगत के आकार में परिणत होता है।^१ प्रलयावस्था में जीवात्मा और जगत दोनों ही सूक्ष्मरूप में भगवान् ही में लीन हो कर रहते हैं। यह सब भूतों के अंतरात्मा हैं इस लिए जगत के वस्तुमात्र चर और अचर सब ब्रह्मस्वरूप ही है। अतएव यथार्थ वस्तु का ज्ञान भी यथार्थ ही है। यह भी इसी से मालूम होता है। मिथ्याज्ञान इन के मत में नहीं हो सकता है।^२

‘मन’ अपनी नानाविध वृत्ति से जीव का उपकार करता है। त्रिवृत्करण प्रक्रिया के अनुसार शरीर की सृष्टि इस मत में मानी जाती है। इस लिए पृथ्वी से विष्टा, मांस और मन; जल से मूत्र, शोणित एवं प्राण; तथा तेजस् से हड्डी, मज्जा और वाक् शरीर में उत्पन्न होता है। इस से यह भी मालूम होता है कि ‘मन’ पार्थिव वस्तु है।^३

अवस्थांतर-प्राप्त वायु ही ‘प्राण’ है। महाभूतों के समान यह भी उत्पन्न होता है। यह भी जीव का उपकरण है। देह और इंद्रियों का विधारण प्राण का असाधारण कार्य है। यह ‘अणु’ परिमाण का है।^४

यथार्थ में जाग्रत जीव के वैराग्य के निमित्त ही संसार की गति मानी जाती है। सृष्टि भाव-पदार्थ से होती है। इंद्रियां भी एक प्रकार की तत्त्व हैं। जीव के साथ इन्हें स्वस्वामिभाव-संबंध है। विषय का ग्रहण करना इन का काम है। ये ग्यारह हैं।

स्थूल देह में जो गर्मी है वह सूक्ष्म शरीर का घर्म है। पापियों को चंद्रगति नहीं मिलती। दक्षिणायन में भी मरने पर विद्वानों को ब्राह्म-प्राप्ति होती है। यमालय में जो जाते हैं उन्हें दुःख का अनुभव होता है। शूद्रों को ब्रह्मविद्या का अधिकार नहीं है। वेद नित्य हैं। विश्व चित् और अचित् रूप, अचित्य विचित्र-संस्थानसंपन्न तथा असंख्येय नाम और रूप आदि विशेषों का आश्रय है।

^१ ‘दशश्लोकी’, ५, ८—९; वेदांतपारिजातसौरभ १—४—३६; २—१—२३

^२ वेदांतपारिजातसौरभ १—१—२; १—२—१६

^३ वही, २—४—१२, २०

^४ वही, २—४—७, ९, १०, ११, १३, १७

इस प्रकार के सिद्धांतों को मानते हुए निवार्काचार्य ने अपना देश छोड़ कर वृंदावन आ कर वैष्णव-मत का प्रचार किया। रामानुज ने लक्ष्मीनारायण को प्राधान्य दिया और

रामानुज और निवार्क
मत में विशेष भेद

निवार्क ने राधाकृष्ण को। रामानुज ने भक्ति और प्रपत्ति में भेद माना किंतु निवार्क ने भक्ति को भी प्रपत्ति ही में मिला दिया। रामानुज ने चित् और अचित् मानते हुए भी विशिष्ट

ईश्वर की ही प्रधानता स्वीकार कर अद्वैतवाद को माना परंतु, निवार्क ने द्वैत तथा अद्वैत दोनों में एक ही प्रकार की प्रधानता मानी, अतएव द्वैताद्वैत-सिद्धांत ही की स्थापना की। इन प्रधान भेदों के अतिरिक्त अन्य गौण बातों में इन दोनों मतों में अधिकतर समानता ही मालूम होती है।

(अपूर्ण)

जमाल के दोहे

[लेखक—श्रीयुत नरोत्तमदास स्वामी, एम्० ए०]

जमाल एक प्रसिद्ध कवि हो गया है। उस के दोहे जन-साधारण में बहुत प्रचलित हैं। कूटों के लिए उस की विशेष प्रसिद्धि है। यह कवि जाति का मुसलमान था। पर कीन था, कव हुआ और कहां हुआ, इन बातों का निश्चित पता नहीं चलता। 'मिश्रबंधु-विनोद' में इस कवि का जन्मकाल संवत् १६०२ वि० और कविताकाल संवत् १६२७ वि० बताया गया है।^१ कवि के एक दोहे में अकबर का नाम आया है, और वह भी इस प्रकार मानो कवि उस का समकालीन हो।^२ इस से जान पड़ता है कि 'विनोद' में बताया हुआ समय ठीक है।

'मिश्रबंधु-विनोद'^३ में 'जमाल-पचीसी' और 'भक्तमाल की टिप्पणी' नाम की जमाल की दो रचनाएं बताई गई हैं, और यह भी कहा गया है कि इस ने गूढ़ काव्य लिखा है। इस निबंध का लेखक कई बरसों से राजस्थान की जनता में प्रचलित दोहों का संग्रह करता आ रहा है। इस संबंध में जमाल के बहुत से दोहे उसे मिले। इन दोहों को तीन भागों में बांटा जा सकता है—

- (१) नीति-संबंधी,
- (२) शृंगार-रस-संबंधी और
- (३) कूट-काव्यात्मक।

मौखिक रूप के अतिरिक्त लिखित रूप में भी जमाल के दोहे इस निबंध-लेखक के देखने में आए। एक दोहा-संग्रह में कोई ३७ दोहे मिले। एक और अलग पत्रे पर ३५ दोहे प्राप्त हुए जिन में कुछ नवीन भी थे। उक्त 'जमाल-पचीसी' हमारी समझ में कोई अलग रचना

^१ 'मिश्रबंधु-विनोद', भाग १, पृष्ठ ३२१, (द्वितीय संस्करण)।

^२ आगे देखिए, दोहा नंबर ६२

^३ भाग १, पृष्ठ ३२१, (द्वितीय संस्करण)

नहीं किन्तु इन्हीं में से पचीस दोहों का संकलन मात्र है, जो किसी ने वाद में कर दिया है। यह नाम भी वाद का ही रक्ता जान पड़ता है। भक्तमाल की टिप्पणी के विषय में हमें संदेह है, कि वह जमाल की रचना है।

जमाल के जो दोहे हमें मिले हैं, उन की भाषा राजस्थानी है। बीच-बीच में ब्रज और खड़ीवोली का प्रभाव भी पाया जाता है। हम नहीं कह सकते कि जमाल राजस्थान का निवासी था या नहीं। लोक-प्रचलित साहित्य की भाषा समय और देश के साथ बदलती रहती है। हमारा संग्रह राजस्थान में किया गया है, अतः उस की भाषा का राजस्थानी होना स्वाभाविक है। फिर भी राजस्थान में इस कवि के 'दूहों' का इतना अधिक प्रचार है कि उस का राजस्थानी होना बहुत संभव है। मुसलमान होने के कारण खड़ीवोली का प्रभाव स्वाभाविक ही है।

हमारे पास संगृहीत जमाल के दोहों की संख्या ७२ है, पर वास्तविक संख्या कुछ कम ही समझना चाहिए, क्योंकि कई दोहे दूसरे दोहों के पाठांतर मात्र हैं। कूटात्मक दोहों में कुछ कूटों के उत्तरवाले दोहे भी मिले हैं, पर अधिकांश के नहीं मिल सके।

हम समझते हैं कि जमाल के दोहों की संख्या और अधिक है। संभव है इस प्रयत्न को देख कर खोज-प्रेमियों का ध्यान इस ओर आकर्षित हो, इस लिए अब तक प्राप्त समस्त दोहों को हम यहां प्रकाशित किए देते हैं। साधारण जनता को भी इन में पर्याप्त रस मिलेगा।

दोहे

(१) नीति

पूनम चाँद, कुसूँभ रँग, नदी-तीर द्रुम-डाल।

रेत भीत, भुस लीपणो, ऐ धिर नहीं, जमाल ॥१॥

१. पूनों का चाँद, कुसुम का रंग, नदी किनारे के पेड़ की डाल, रेत की भीत और भुस का लीपना—ये कभी स्थिर नहीं रहते।

हुतिया चाँद, मजीठ रँग, साध-वचन-प्रतिपाळ ।

पाहण रेख, करम्म गत, ऐ नहिँ मिटत, जमाल ॥२॥

इक रँग रंग^१ कुसुंभ रँग, नदी-तीर द्रुम-डाळ ।

रेत-भीत, भुस लीपणो, किम ब्रढ रहँ, जमाल ॥३॥

रंग ज चोळ मजीठ का, संत वचन प्रतिपाळ ।

पाहण रेख 'र करम गत, ऐ किम मिटै, जमाल ॥४॥

(२) प्रेम

जमला, ऐसी प्रीत कर, ज्यूँ बाळक^२ की माय ।

मन लै राखै पालणे, तन पाणी कूँ जाय ॥५॥

जमला, ऐसी प्रीत कर, जैसी मच्छ कराय ।

दुक एक जळ थी चीछड़ँ, तड़फ तड़फ मर जाय ॥६॥

जमला, ऐसी प्रीत कर, जैसी निस अर चंद ।

चंदे विन निस साँवळो, निस विन चंदो मंद ॥७॥

२. हूज का चाँद, मजीठ का रंग, सज्जनों का प्रतिज्ञा-पालन, पत्थर पर खींची हुई रेखा, और भाग्य की गति—ये कभी नहीं मिटते ।

३. एकांगी प्रेम (?) कुसुम का रंग, नदी के किनारे खड़े पेड़ की डाल, रेत की भीत और भुस का लीपना—ये क्यों कर स्थायी रह सकते हैं ?

४. मजीठ का रंग, सज्जनों का प्रतिज्ञा-पालन, पत्थर की रेखा और भाग्य की गति—ये क्यों कर मिट सकते हैं ?

५. ऐसी प्रीति करो जैसी बालक की मा बालक से करती है । वह चाहे जो काम कर रही हो पर ध्यान उस का सदा बच्चे में ही रहता है । शरीर से पानी को जाती है, तब भी अपने मन को सदा झूले में ही रखती है, जहाँ उस का बालक सोया है ।

६. ऐसी प्रीति करो जैसी मछली जल से करती है, जो जल से जरा भी अलग होते ही तड़फ-तड़फ कर मर जाती है ।

७. ऐसी प्रीति करो जैसी रात और चाँद में है । चाँद के बिना रात काली पड़ जाती है, और रात के बिना चाँद ज्योतिहीन हो जाता है ।

जमला, ऐसी प्रीत कर, जैसी हिंदू जोय ।
 पूत पराये कारणै, जळ-वळ कोयला होय^१ ॥८॥
 जमला, ऐसी प्रीत कर, जैसी केस कराय ।
 कै काळा कै ऊजळा, जब तब सिर सूँ जाय^२ ॥९॥
 जमला, जा सूँ प्रीत कर, प्रीत सहित रह पास ।
 ना वह मिलै न बीछड़ै, ना तो होय निरास ॥१०॥
 प्रीत ज कीजै देह घर, उत्तम कुळ सूँ, लाल ।
 चकमक जुग जळ में रहै, अगन न तजै, जमाल ॥११॥
 जमला, कपड़ा धोइये, सत का सावू लाय ।
 बूँद ज लागी प्रेम की, छींट-छींट^३ होय जाय ॥१२॥
 जमला, लट्ठ काठ का, रंग दिया करतार ।
 डोरी बाँधी^४ प्रेम की, घूम रह्या संसार ॥१३॥

८. ऐसी प्रीति करो जैसी हिंदू की स्त्री करती है, जो एक पराए के पुत्र (अपने पति) के लिए जल कर राख हो जाती है (सती हो जाती है) ।

९. ऐसी प्रीति करो जैसी सिर के केश करते हैं। (आगे का अर्थ स्पष्ट नहीं) ।

१०. उस से प्रीति करो जो प्रेमपूर्वक पास में रहे, कभी मिले-विछड़े नहीं और कभी आशा न छोड़े (या जिस से निराशा प्राप्त न हो) । (अर्थ संदिग्ध है)

११. हे प्यारे, संसार में जन्म ले कर उत्तम कुल के व्यक्ति से प्रेम करना चाहिए जो कभी प्रेम करना न छोड़े जिस तरह चकमक का पत्थर युगों तक पानी में रहने पर भी अपनी आग को नहीं छोड़ता ।

१२. सत्य का सावुन लगा कर कपड़ा धोओ । प्रेम की बूँद लगते ही टूक-टूक हो जायगा ।

१३. काठ का बना हुआ एक लट्ठ है, जिस को विधाता ने रंग दिया है । उस में प्रेम की डोर बाँधी है जिस के कारण वह संसार में घूम रहा है ।

^१सम्मन कवि का भी एक ऐसा ही दोहा मिलता है जो इस प्रकार है:—

सम्मन, ऐसी प्रीत कर, ज्यों हिंदू की जोय ।

जीताँ जी तो संग रहै, मर्याँ प सत्ती होय ॥

^२पाठ संदिग्ध है ।

^३पाठांतर—टूक-टूक ।

^४डोर ज लागी ।

जमला, प्रीत सुजाण सैं, जे कर जाणें कोय ।
 जैसा मेळा निजर का, तैसा सेज न होय^१ ॥१४॥
 जोवन की हूँ जिह् फरूँ, तन-मन करूँ कवाण ।
 नेणा के दो सर करूँ, जे कोय मिलै सुजाण ॥१५॥
 मन उमगे हसती भयो, चिके पाट अतराळ ।
 संकळ तोड़ै सार का, मुझ बस नहीं, जमाल ॥१६॥
 या तन की जूती करूँ, काढ़ रेंगाऊँ खाल ।
 पांयन सैं लिपटी रहूँ, आठूँ पोर, जमाल ॥१७॥
 बकरी होस्पूँ राज री, काढ़ रेंगावो खाल ।
 पांयन विच लिपटी रहूँ, आठूँ पोर, जमाल ॥१८॥
 जमला, तो सूं कह रही, काढ रेंगावूँ खाल ।
 तेरे पग कूं पानही, जूती करूँ, जमाल ॥१९॥

१४. यदि प्रिय से कोई सच्चा प्रेम कर जाने, तो जैसा सुखकर मिलन नेत्रों का होता है, वैसा सेज का भी नहीं होता । (प्रिय के दर्शन का आनंद सब से बढ़ कर होता है) ।

१५. यदि कोई सच्चा प्रेमी मिले तो मैं जीवन की डोरी, तन-मन का कमान और नेत्रों के दो बान करूँ ।

१६. मन उमड़ कर हाथी बन गया हूँ, जो लोहे की जंजीरों को भी तोड़े डालता हूँ । अब वह मेरे बस में नहीं रहा ।

१७. अपने शरीर की चमड़ी को निकाल कर रेंगाऊँगी, उस की जूती बनाऊँगी और प्रियतम के पैरों में आठों पहर लिपटी रहूँगी ।

१८. हे प्रियतम, मैं तुम्हारी बकरी होऊँगी; मेरी चमड़ी को निकाल कर रेंगा लो, और उस की जूती बना लो जिस से मैं तुम्हारे पैरों में आठों पहर लिपटी रहूँ ।

१९. हे प्रियतम, मैं तुम से कह रही हूँ कि अपनी चमड़ी को निकाल कर रेंगाऊँगी और तुम्हारे पैर के लिए जूती बनाऊँगी ।

^१ ऐसा ही एक और दोहा नीचे लिखे अनुसार है—

नेणाँ हंडी प्रीतड़ी, जे कर जाणें कोय ।

जो रस नेणाँ ऊपजै, सो रस सेज न होय ॥

(३) विरह

जमला, प्रीत न कीजिये, काहू सो चित लाय ।

अलप मिलण, विछड़न बहुत, तड़फ-तड़फ जिय जाय^१ ॥२०॥

पिव कारण सब अरपियो, तन-मन-जोवन, लाल ।

पिया पीड़ जाणै नहीं, किण सूँ कहूँ, जमाल ॥२१॥

जमला, जोगण में भई, घात गळे भ्रग-छाळ^२ ।

वन-वन डोलत हूँ फिरूँ, करत जमाल जमाल ॥२२॥

जमला, सहु जग हूँ फिरी, बाँध कमर भ्रग-छाळ ।

अजहूँ कंत न मानही (?) अवगुण कोण, जमाल ॥२३॥

तन सरवर, मन माछळी, पड़ी विरह के जाळ ।

तड़फ-तड़फ जिय जात है, वेगा मिलो, जमाल ॥२४॥

मन दारू, तन तपक है^३, विरह पलीता, लाल ।

आह अवाज न निकसती जाती फूट, जमाल ॥२५॥

२०. किसी से भी चित्त लगा कर प्रेम मत करो क्योंकि प्रेम में मिलन तो थोड़ा होता है, पर वियोग अधिक होता है, और तड़फ-तड़फ कर प्राण देने पड़ते हैं ।

२१. हे प्यारे, प्रियतम को मैं ने तन, मन और यौवन सब कुछ दे दिया, पर प्रियतम मेरी व्यथा को नहीं जानते । अब किस से कहूँ ?

२२. गले में मृगछाला डाल कर मैं जोगिन बन गई हूँ, और वन-वन में 'हे जमाल, हे जमाल' करती फिरती हूँ । (जमाल=प्रियतम का नाम)

२३. कमर में मृगछाला बाँधे हुए मैं सारे संसार में फिर ली । पर प्रियतम अब भी नहीं मिलते (या, ध्यान में नहीं लाते) । मेरा क्या दोष है ?

२४. यह शरीर सरोवर है और मन सछली है जो विरह के जाल में जा पड़ी है । तड़फ-तड़फ कर प्राण जा रहे हैं । हे प्रियतम, जल्दी मिलो ।

२५. हे प्यारे, तन तोप है, मन बारूद है, और विरह पलीता है, यदि 'आह' रूपी आवाज न निकलती तो यह तोप फट ही जाती ।

^१ पाठांतर—अलप मिलण बहु वीछड़न सोचत ही जिय जाय ।

^२ ओढ़ मिरग की छाल ।

^३ दुखदाई, छतियाँ तपक ।

साजण विसराया भला, सुमरचा करं बेहाल ।
 देखो चतर विचार कै, साची कहै जमाल ॥२६॥
 या तन की भट्टी कहैं, मन कूं कहैं कलाल ।
 नैणां का प्याला करूं, भर-भर पियो, जमाल ॥२७॥
 नैणां का लड्डुवा कहैं, कुच का कहैं अनार (?) ।
 सीस नाय आगे धरूं, लेवो चतर, जमाल ॥२८॥
 मनसा तो गाहक भए, नैणा भए दलाल ।
 धनी वसत वेचैं नहीं, किस विध वणै, जमाल ॥२९॥
 गुण के गाहक लख भए, नैणा भए दलाल ।
 वसत खसम वेचैं नहीं, बाढे कहा, जमाल ॥३०॥
 जमला, जिय गाहक भए, नैणा भए दलाल ।
 धनी वसत नाहि वेचही, भूले फिरत जमाल ॥३१॥
 जोवन आए गाहकी, नैणां मिले दलाल ।
 गाहक आए लेण कूं, वेचो क्यूं न, जमाल ॥३२॥

२६. प्रियतम को भुला देना ही अच्छा है, क्योंकि याद करने से बुरा हाल हो जाता है। चतुर, विचार कर देख लो, जमाल सच कहता है।

२७. नैणां का प्याला=नयनों के प्याले ।

२८. लड्डुवा=लड्डू। नाय=नवा कर। लेवो=लो। चतर=हे चतुर प्रियतम !

२९. मन गाहक हैं, नयन दलाल हैं परंतु मालिक अपनी चीज को बेचता ही नहीं। अब कैसे बने ?

३०. गुण के लाखों ग्राहक हैं, नयन दलाल हैं; परंतु मालिक चीज को नहीं बेचता। फिर लाभ कैसे हो ?

३१. प्राण ग्राहक हैं, नयन दलाल हैं, परंतु मालिक चीज को बेचता नहीं। जिस से वे भूले से फिरते हैं।

३२. यौवन की खरीद के लिए ग्राहक आए हैं, नयनरूपी दलाल भी मिल गए हैं। हे प्रियतम, तुम क्यों नहीं बेचते ?

(४) यौवन

जमला जोवन फूल है, फूलत ही^१ कुमलाय ।

जाण बटाऊ पंथसिर, बैसै भी^२ उठ जाय ॥३३॥

जब तरणापो मुद्वन्न थो, पाय परत नित, लाल ।

कर ग्रह सीस नवावती, जोवन गरव, जमाल ॥३४॥

तरवर पत्त निपत्त भयो, फिर पतयौ ततकाळ ।

जोवन पत्त निपत्त भयो, फिर पतयौ न, जमाल ॥३५॥

(५) नायिका

नयण रंगीले, कुच कठिन, मधुर वयण पिक, लाल^३ ।

कामण चली गयंद-नाति, सब विध वणी, जमाल ॥३६॥

सिस, खंजण, माणक, कँवळ, कीर, वदन^४ अंक डाल ।

भवंग पूछ तें डसत है, निरखत डरचो, जमाल ॥३७॥

३३. यौवन एक फूल है, जो फूलने के बाद तुरंत कुम्हला जाता है। वह मानो बटाऊ है, जो मार्ग में बैठता है और बैठ कर उठ जाता है (थोड़ी देर बैठने के बाद चल देता है, ठहरता नहीं) ।

३४. हे प्यारे, जब मेरे पास यौवन था, तब सभी मेरे पाँवों पड़ते थे। मैं अपने यौवन के गर्व में हाथ पकड़ कर सिरों को झुका देती थी। (अर्थ स्पष्ट नहीं)

३५. पेड़ पत्तों से रहित हुआ, पर तुरंत ही नए पत्तों से युक्त हो गया। पर यौवन का पेड़ जब पत्तों से रहित हुआ तो फिर कभी पत्तों से युक्त नहीं हुआ।

३६. कामण=कामिनी। वणी=सजी हुई।

३७. चंद्रमा, खंजन, माणिक्य, कमल, शुक, और वदन (?) को एक ही डाल में देखा और देखा कि साँप पूँछ से डस रहा है। देख कर मैं डर गया।

(डाल=स्त्री का शरीर। सिस=मुख। खंजन=आँखें। कमल=मुख। कीर=नासिका। भुजंग=वेणी।)

^१ पाठांतर—अंक फूले।

^२ बैठत ही।

^३ अघर डसण पिक लाल।

^४ पाठ संदिग्ध है।

जमला, एक परव्व छवि, चंद मधे विवि चंद ।
 ता मधे होय नीकसे, केहर चढे गयंद ॥३८॥
 प्रयस सर्म कुच ऊगते, कंचुकि फसण वणाय ।
 मनु अनंग तंवू दिए, अरि-गंजण कूँ आय ॥३९॥
 कर ज्यो गोर जमाल की, नगर कूप के माँय ।
 अग-नैणी चपळा फिरै, पड़ै कुचन की छाँय ॥४०॥

(६) कूट

दधसुत कामण कर लिए, करण हंस-प्रतिपाळ ।
 बीच चकोरन चुग लिए, कारण कोण, जमाल ॥४१॥
 अरुणी राची करन पै, ताकी झिलकत कोर ।
 पावक के भोरे भए, ता तें चुगत चकोर ॥४२॥
 गोरी दधसुत कर गह्यो, हंस करण प्रतिपाळ ।
 उडै न हंस चकोर चुग, कारण कोण, जमाल ॥४३॥

३८. एक अपूर्व पर्व (पूर्णिमा) की छवि है कि चाँद के अंदर दो चाँद दिखाई पड़े और उन में से हाथी पर चढ़ा हुआ सिंह निकला । (अर्थ स्पष्ट नहीं)

३९. युवादस्था के आरंभ में कुच उदित हुए, उन के ऊपर कंचुकी बंधनों से कसी हुई हैं । मानो शत्रुओं को जीतने के लिए काम ने आ कर तंबू फसे हैं ।

४०. जमाल कहता है कि मेरी कन्न नगर के कूप के अंदर बनाना, जहां चपल मृगनयनियां फिरती हों और उन के कुचों की छाया पड़े ।

४१. हंसों को चुगाने के लिए कामिनी ने मोती हाथ में लिए; पर बीच में ही चकोर उन्हें चुग गए । क्या कारण हुआ ?

४२. हाथों में मेहेंदी की लाली रची हुई थी, उस का प्रतिबिम्ब मोतियों में पड़ रहा था, जिस से मोतियों को चकोरों ने अंगारे समझा और चुग गये ।

४३. हंसों को चुगाने के लिए नायिका ने मोती हाथ में लिए पर हंस उड़ कर पास नहीं आते, और चकोर चुग रहे हैं । क्या कारण है ?

कामण जावक रंग रच्यो, दमकत मुगता-कोर ।
 इस हंसा मोती तजे, इस चुग लिए चकोर ॥४४॥
 वायस राह भुजंग हर, लिखत त्रिया तत काळ ।
 लिख-लिख मेढे सुंदरी, कारण कोण, जमाल^१ ॥४५॥
 ससि पिक मैण समीर डर, खीण भयो अति वाळ ।
 ता पिवरख (?) के कारणे, मेढत लिखत जमाल^२ ॥४६॥
 आज अमावस, सवन घर, है जर दीपक माळ ।
 मो मन में संकट भयो, कारण कोण, जमाल ॥४७॥
 सब के पीतम निकट है, मो पीतम नहिं, लाल ।
 इण कारण मो चित्त में, संकट भयो, जमाल ॥४८॥
 त्रसावंत सुंदर भई, गई सरोवर-पाळ ।
 सर सूक्यो, आणेंद भयो, कारण कोण, जमाल ॥४९॥

४४. नायिका के हाथों में महावर का रंग रचा हुआ है, जिस का प्रतिबिम्ब मोतियों में पड़ रहा है, जिस से मोतियों का रंग लाल हो गया है, और वे मोती न दिखाई दे कर अंगारे दीख रहे हैं। इसी कारण हंसी ने उन्हें छोड़ दिया, और चकोरों ने चुंग लिया।

४५. नायिका काग, राहु, सर्प और महादेव के चित्र लिखती है और लिख-लिख कर मिटा देती है। क्या कारण है?

४६. चंद्रमा, कोयल, कामदेव और मलय पवन के डर से वह विरहिणी बहुत क्षीण हो गई है। इस लिए उन्हें हटाने को राहु, काग, महादेव और सर्प के चित्र बार-बार लिखती और मिटाती है।

४७. आज अमावस्या है। सब के घर सुहावनी दीप-मालिका हो रही है। परंतु मेरे मन में संकट हो रहा है। क्या कारण है?

४८. सब के प्रियतम पास में है, परंतु हे प्यारे, मेरे प्रियतम पास नहीं है। इसी कारण मेरे चित्त में संकट हो रहा है।

४९. सुंदरी प्यासी हुई, और सरोवर के किनारे गई। जाते ही सरोवर सूख गया, पर उस को आनंद हुआ। क्या कारण?

^१ पाठांतर—वायस राह भुजंग य (व ?) पु, लिखत त्रिया त्रिण काळ ।

लिख लिख मेढे भी लिखै, कारण कोण जमाल ॥

^२ वचन हतें वायस डरूं (?), कामदेव सूं जाल (?) ।

पन्नग यै पवनह डरूं (?) ससि मुख राह जमाल ॥

अवधि दीय है मिलण की, त्याँ आय मिले जु लाल (?) ।

सर सूके आणंद भयो, कारण एह, जमाल ॥५०॥

मालण वेचत कँवल फूँ, चदन छिपावत बाळ ।^१

लाज न काहू की करै, कारण कोण, जमाल ॥५१॥

चंद-गहण जघ होत है, दुनी देत है माल ।

विरहिणि लोंग ज देत है, कारण कोण, जमाल ॥५२॥

बाळपणे धोळा भया, तरुणपणे भया लाल ।

ग्रधपणे काळा भया, कारण कोण, जमाल ॥५३॥

उमड़ घटा घन देख कै, चढ़ी अटा पर बाळ ।

मोतिन लड़ मुख में लई, कारण कोण, जमाल ॥५४॥

सजि सोळह, वारह पहिर, चढ़ी अटा अँक बाल ।

उतरी कोयल बोल सुण, कारण कोण, जमाल ॥५५॥

५०. प्रियतम ने मिलने की अवधि दी थी, और वहाँ आ कर वे मिले। इस कारण सरोवर के सूखने पर भी आनंद हुआ। (इस दोहे का पाठ और अर्थ दोनों संदिग्ध हैं।)

५१. मालिन कमल के फूल बेचती है। उन को देख कर वाला अपना मुख छिपा लेती है। वह किसी की लाज नहीं करती। फिर मुँह छिपाने का क्या कारण? (उत्तर—मुख सामने करने से कमल मुरझा जाते हैं, इस लिए)

५२. जब चंद्र-ग्रहण होता है तब दुनिया माल (माला? धन?) का दान करती है, पर विरहणी लवंग देती है। किस कारण?

५३. बालपन में सफ़ेद हुआ, युवावस्था में लाल हुआ, और वृद्धावस्था में काला हुआ। क्या कारण है? (उत्तर—अक्रोम जो पहले सफ़ेद, फिर लाल और अंत में काली हो जाती है।)

५४. बादलों की घटा का उमड़ना देख कर वाला अटारी पर चढ़ी और मोतियों की लड़ी मुख में ली। किस कारण से?

५५. एक वाला सोलह शृंगार सजा कर और वारह आभूषण पहन कर अटारी पर चढ़ी पर कोयल का बोल सुन कर नीचे उतर आई। किस कारण से?

^१ आगे के दोहों के उत्तरवाले दोहे प्राप्त नहीं हुए।

सिव-अंग-भूखण कर ग्रहे, वण बैठी यों बाळ ।
 पिव कारण विग्रह करै, कारण कोण, जमाल ॥५६॥
 इत आवत, उत जात है, भगतन के प्रतिपाळ ।
 वंसी सजवत कदम चढ़, कारण कोण, जमाल ॥५७॥
 जमला, हूँढण हूँ^१ गई, भूल पड़ी अंक^२ ताल ।
 एक कँवळ, दो पाँखड़ी, बीचोबीच^३ जमाल ॥५८॥
 अगर चंदण की सिर घड़ी, विच वोटळी गुलाल ।
 एक ज दरसण हम कियो, तीरथ जात, जमाल ॥५९॥

(७) फुटकर

सकल छत्रपति वस किये, अपने ही वळ बाळ ।
 सवळा कूँ अवला कहै, मूरख लोग,^४ जमाल ॥६०॥
 जमला, करै त क्या डरै^५, कर कर क्या^६ पछताय ।
 रोपै पेड़ बबूल कां, आम कहाँ तें खाय ॥६१॥

५६. (अर्थ स्पष्ट नहीं) सिव-अंग-भूखण=विप ?

५७. भक्तों के प्रतिपात्तक इधर आते हैं, और उधर जाते हैं; तथा कदम पर चढ़ कर वंसी सजाते हैं। किस कारण ?

५८. मैं प्रियतम को हूँढने के लिए गई। मार्ग में भूल कर एक तालाब में जा पहुँची। वहाँ देखा कि एक कमल है, जिस की दो पाँखुरियाँ हैं, और ठीक बीच में प्रियतम बैठे हैं। (कमल=नेत्र। पाँखुरी=पलक)

५९. सिर पर अगर और चंदन का घड़ा है; बीच में गुलाल की कटोरी है। तीर्थ जाते हुए ऐसा एक दर्शन हम ने देखा। (अर्थ स्पष्ट नहीं)

६०. बाला ने छत्रपतियों (राजाओं) तक को अपने ही वल से वश में कर रखा है। ऐसी सवला को मूर्ख लोग ही अवला कहते हैं।

६१. यदि करता है तो क्या डरता है, और करने के बाद क्या पछताता है ? जो बबूल का पेड़ रोपता है, वह आम कहाँ से खावेगा ?

^१ पाठांतर—मैं। ^२ निसि। ^३ जा में छिपे। ^४ कारण कोण।

^५ करौ त क्या डरी। ^६ भी।

जमला, अकबर^१ फर ग्रहे, वरसत कंचन-नीर ।
 हम सिर छत्र बलिह का, बूंद न पड़त सरीर ॥६२॥
 जमला, तहाँ न जाइयै, जाँ केहरी निवाण ।
 आ तँभराइसि दुखलड़ा, माराइसि अप्पाण ॥६३॥
 जमला, जात तँबोलियो, उलटै पलटै पान ।
 अपणा साँइ कूँ यूँ मिलै, ज्यूँ जेह कुन में कवाण ॥६४॥
 जमला, गुडी उडावता, तन की फरता डोर ।
 कोह जवाव जव थी गयो, गई बीच थी तोड़ ॥६५॥
 जमला, बँठो चीतरे, नयण गए टँकसाळ ।
 अंगूठी फर ही रही, गया नगीना, लाल ॥६६॥
 गिर परवत डोलै नहीं, डोलै मंझ दुवार ।
 प्रीत ज लागी प्रेम की, सो क्यूँ भिदै, जमाल ॥६७॥
 जो कछु किया सो तुम किया, में न किया, मेरे लाल ।
 लंका सा गढ भेळिया^२, घर के भेद, जमाल ॥६८॥
 अलक जु^३ लागी पलक सूँ, पलक रही ग्रह झाल ।
 आँखिन प्रेम फरकिया, नोंद न पड़त, जमाल ॥६९॥
 अलक जु लागी पलक सूँ, देख एल के ताल ।
 दोय बगला एक माछळी, दोय दुख भए जमाल ॥७०॥
 अलक जु लागी पलक सूँ, थिरक तरण तक ताल ।
 निरखि गरे छवि मीन कूँ, फिरि निकसे न जमाल ॥७१॥
 अलक जु लागी पलक सूँ, पलक रही तिहाँ, लाल ।
 खिड़की खोलि न आवही सूरतियाक, जमाल ॥७२॥

६२. सम्राट् अकबर हाथ में ले कर सोने की वर्षा कर रहे हैं, पर बीच में दरिद्रता का छत्ता होने से मेरे शरीर पर उस वर्षा की बूंद भी नहीं पड़ने पाती ।

६३-७२. (इन दोहों का अर्थ स्पष्ट न होने से नहीं दिया गया है ।)

समालोचना

कविता

सिद्धार्थ—रचयिता, श्री अनूप शर्मा, एम्० ए०, एल्० टी०। प्रकाशक, हिंदी-ग्रंथ-रत्नाकर कार्यालय, बंबई। पृष्ठ-संख्या १८+३०२+१२। १९३७। मूल्य ३।

श्री जयशंकर 'प्रसाद' की 'कामायनी' के शीघ्र अनंतर श्री अनूप शर्मा के 'सिद्धार्थ' नामक महाकाव्य का प्रकाशित होना इस बात का सूचक है कि महाकाव्यों की रचना का युग अतीत नहीं हो गया। आज भी हमारे अनेक कविगण परंपरानुसार महाकाव्य की रचना करना अपना परम ध्येय समझते हैं। आद्यंत पढ़ लेने पर पाठक को यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि रचयिता ने इस महाकाव्य के प्रस्तुत करने में बड़ा परिश्रम किया है। सब कुछ देखते हुए यह परिश्रम असफल न कहा जायगा। हम कवि को उस के इस कृत्य पर हार्दिक वधाई देते हैं।

कवि ने अपने काव्य की रचना संस्कृत अथवा वर्णिक वृत्तों में की है। इस मार्ग में श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय अपने 'प्रियप्रवास' की रचना द्वारा अग्रणी रहे हैं। विषय भी अच्छा नहीं है। कई भाषाओं में कवियों ने बुद्धचरित को अपनी प्रेरणा का आधार मान कर अपनी वाणी को पवित्र किया है। लेखक ने स्वयं सर एडविन अर्नाल्ड (जिसे वह भूल से मैथ्यू अर्नाल्ड लिखता है) की 'लाइट अन् एशिया' तथा अश्वघोष और श्री रामचंद्र शुक्ल के 'बुद्धचरित' की चर्चा की है। फिर भी कौन कह सकता है कि भगवान् शाक्यमुनि का पावन, शाश्वत, चरित्र अनेक कवियों की कल्पना को निरंतर सजग और प्रेरित नहीं कर सकता? इस दृष्टि से विषय के चुनाव में कवि के प्रति किसी को आपत्ति नहीं होनी चाहिए। यह काव्य अठारह सर्गों में विभाजित हुआ है, जिन के शीर्षक शुभ स्वप्न, भाग्योदय, उन्मेप, अनुकंपा, अवरोध, संयोग, राग, अभिज्ञान, चिंतना, भावी, अभिनिवेदन, महाभिनिष्क्रमण व्यथा, संवोध, संदेश, यशोधरा, दर्शन और निर्वाण हैं। इस प्रकार प्रधान पात्र का चरित्र

जन्म के पूर्व से लेकर निर्वाण तक इस कृति में समाविष्ट हो सका है। महाकाव्य की मर्यादा का और विषय के महत्त्व का सर्वत्र कवि को ध्यान रहा है और कथा का कवि ने उचित रीति से निर्वाह किया है। हां, हम जानते हैं कि कविवर मैथिलीशरण गुप्त ने अपनी 'यशोधरा' में राहुल का कैसा सुंदर चित्रण किया है। अतएव प्रस्तुत कृति में राहुल का चित्रण न लाना कथा के एक और मार्मिक अंग को छोड़ना है। भाषा अधिकतर परिमार्जित व्याकरण-सम्मत, प्रवाहिनी है; भाव उचित और मर्यादित हैं। इन बातों को ले कर रचना पर समग्र रूप से आक्षेप कदाचित् नहीं किया जा सकता। फिर भी कोई त्रुटि है जिसे हृदय अनुभव करता है। यों तो कविता का प्रभाव बहुत कुछ वाचक की मानसिक प्रवृत्ति और ग्रहण शक्ति पर अवलंबित है, फिर भी यह कहा जा सकता है कि समग्र रूप से रचना में वह नव्यता, वह अलौकिकता नहीं है जो इसे साहित्य में अडिग स्थान दिला सके। भगवान् बुद्ध के चरित्र के विश्लेषण में कोई भी ऐसी बात नहीं है जो हमें कवि की मौलिकता तथा उस की चमत्कारिक बुद्धि से प्रभावित करे। महाकाव्य में हम पद्यात्मक प्रबंध से विशेषतर गुणों की अपेक्षा करते हैं।

कवि ने अपने काव्य के प्रारंभ में 'कवि और काव्य' शीर्षक एक १४ पृष्ठों की भूमिका लिखी है। इन पंक्तियों के लेखक को कविता-ग्रंथों में विस्तृत भूमिकाओं के लिखे जाने पर आपत्ति है। कवि की रचना की कसौटी उस की कविता है, न कि कविता-संबंधी उस के विचार। ऐसी भूमिका और भी अनावश्यक उस समय हो जाती है जब कि (जैसा इस पुस्तक में है) उस का रचना से कोई साक्षात् संबंध न हो। कवि और कविता के संबंध में लेखक के जो विचार हैं उन की समीक्षा एक अलग विषय हो सकता है और स्पष्ट है कि लेखक के सभी विचारों से साहमत्य असंभव है। कवि के आदर्श यहां पर उस की रचना की जांच करने में सहायक नहीं, बाधक होते हैं। 'कवियों के मस्तिष्क की वनावट' आदि की व्याख्या स्पष्टतः कविता के रसास्वादन की दृष्टि से अप्रासंगिक है।

रचना की भाषा के विषय में कवि का वक्तव्य है:—“इस ग्रंथ को, मैंने जहां तक हो सका, शुद्ध खड़ीबोली में लिखने का प्रयत्न किया है—अर्थात् मिश्रित समास, उलटे समास, व्याकरण-असम्मत प्रयोग तथा ब्रजबोली अथवा अन्य किसी बोली की पुट इस में आप बहुत कम पावेंगे।” लेखक को निस्संदेह भाषा के प्रयोग में बहुत सफलता प्राप्त हुई है, यह देखते हुए कि रचना सर्वत्र वर्णिक वृत्तों में हुई है। केवल इस दृष्टि से 'प्रियप्रवास'

से 'सिद्धार्थ' कदाचित् अधिक सफल है। फिर भी 'पर' के स्थान में 'पै' का पुस्तक में बहु-प्रयोग खटकता है। अन्य बातों में भी स्वतंत्रता ली गई है। 'अंगराग' को 'अँगराग' (पृ० ६६) 'सिंहासन' को 'सिँहासन' (पृष्ठ.२८०), संदेश को 'सँदेश' (पृ० ११३) खड़ीबोली में लिखना उचित नहीं। प्रकाशित करने के लिए 'प्रकाशने' (पृ० १६१) भी खड़ीबोली का शुद्ध प्रयोग न कहा जायगा। 'वड़रे' और 'उनई' शब्द भी अनुपयुक्त हैं। इस प्रकार के यत्र-तत्र अन्य संदिग्ध प्रयोग मिलेंगे। इस के अतिरिक्त एक बात और है जो कि खटकती है। वह है हिंदी विशेषणों में संस्कृत के अनुसार लिंग-निदर्शन। देखिए—'मानी गई मदन की प्रभुता अजेया' (पृ० ६७) यहां साधारण हिंदी में अजेय का प्रयोग 'अजेया' के स्थान पर होगा और वह शुद्ध होगा। परंतु कदाचित् वर्णिक वृत्तों के ग्रहण करने के कारण इस प्रवृत्ति को वश में रखना रचयिता के लिए कठिन होता। इन छंदों के चुनाव के कारण ही अक्सर पदावली इतनी संस्कृतमय हो गई है कि पढ़ते हुए यह ध्यान क्षण भर के लिए विरत हो जाता है कि रचना हिंदी की है। उदाहरण के लिए कुछ स्फुट और विना विशेष प्रयास के चुने हुए छंद लीजिए—

“आजन्म-कोकनद-कानन-कामचारी

मातंग-गंड-मद-चारण-चक्रवर्ती

मंदार-मेढुर-मरंद-रसाल-लोभी

हं पश्यतोहर सुखी सर-मध्य-वर्ती।” (पृ० ६६)

“सकंप-शीर्षा, हरिता, मनोहरा,

महामनोज्ञा, अतिरम्यपल्लवा,

सुगंधयुक्ता, बृहती सुखावहा,

कदंबकी थी, अटवी सु-पुष्पिता।” (पृ० १०६)

“कुमुद्वती-संग पराग-राशिनी,

सुहासिनी वार-वधू-विलासिनी,

महा-तमोमंडल की प्रकाशिनी,

प्रबुद्ध ज्योत्स्ना यह मत्त-काशिनी।” (पृ० १३३)

परंतु अन्यत्र सहज, सरल भाषा का भी प्रयोग बराबर मिलता है।

पुस्तक का प्रकाशन बहुत सुंदर ढंग से हुआ है, जिस के लिए प्रकाशकों की प्रशंसा होनी चाहिए।

रोटी का राग—रचयिता, श्री श्रीमन्नारायण अग्रवाल। प्रकाशक, सस्ता-साहित्य-मंडल, दिल्ली। पृष्ठ-संख्या ७८। १९३७। मूल्य ॥॥

‘रोटी का राग’ श्री श्रीमन्नारायण अग्रवाल की ४३ छोटी-छोटी कविताओं की पुस्तक का, किंचित् आकर्षक शीर्षक है। इस का पहला प्रस्तावित शीर्षक कदाचित् ‘नए युग का राग’ था परंतु इस वाद वाले शीर्षक से कविताओं के विषय का विशेष रूप से स्पष्टीकरण हो जायगा। इस कविता-संग्रह का संपादन श्री मैथिलीशरण गुप्त ने किया है, प्रस्तावना आचार्य काका कालेलकर ने लिखी है और सब से ऊपर बात यह है कि इसे महात्मा गांधी का आशीर्वाद प्राप्त हुआ है। महात्मा जी लिखते हैं—“कविताएं मुझे अच्छी लगी हैं। हेतु स्पष्ट और निर्मल है।” कवि शिक्षित, भावुक, नवयुवक हैं और इस से पूर्व वह अंग्रेजी में भी पद्य-रचना का अभ्यास कर चुके हैं। अपने विषय में वह लिखते हैं—“मैं भी पहले कुछ ‘छायावादी’-सा था। किंतु दरिद्रनारायण के दर्शन से मेरा स्वप्न टूट गया, हृदय सिहर उठा, और ‘रोटी का राग’ ध्वनित होने लगा। मैं मानता हूं कि ‘रोटी जीवन नहीं है’ और शायद उस का राग अलापना कविता का अपमान करना है, किंतु एक भूखे देश की अनंत वेदना को देख कर मैं कैसे चुप रहूं?”

कवि ने इन रचनाओं द्वारा अपनी शिष्ट, परिमार्जित रचि का परिचय दिया है। परंतु हमें यह न समझना चाहिए कि इस प्रकार की कविताएं, जो कि देश की दीनता और कृपकों तथा परिश्रमी जनों के दुःख से आर्द्र हों, आधुनिक हिंदी में प्रथम बार लिखी गई हैं। हम इस संबंध में स्वयं श्री मैथिलीशरण गुप्त की कृतियों को भूल नहीं सकते। ‘भारत-भारती’, ‘किसान’ आदि रचनाओं की मूल-प्रेरणा प्रस्तुत कवि की प्रेरणा से अभिन्न थी। फिर भी कवि की इन रचनाओं का स्वागत होना चाहिए और उसे हमें प्रोत्साहन देना चाहिए।

कविताएं सावारणतया अच्छी हैं यद्यपि अनेक स्थलों पर उपदेश देने की प्रवृत्ति कवित्व में बाधक भी हुई है। एक अनुभव पाठक को यह भी हुआ बिना न रहेगा कि यद्यपि इन रचनाओं में से बहुत सी देश के गरीबों की दशा पर आँसू गिराती हैं, फिर भी कवि उन से आत्मत्व नहीं स्थापित कर सका है। कवि जब तक यह आत्मत्व नहीं स्थापित

करता तब तक उस की कविता, अनुप्राणित न होगी। उदाहरणार्थ २१ वें पद्य की यह पंक्तियां देखिए—

हम तो निर्धन हैं जमीन पर
धूल घूसरित सो रहते हैं,
सोप क्रीम या इत्र नहीं कुछ,
अति गँवार इस से कहते हैं...

इन पंक्तियों में वस्त्रहीन काले स्वस्थ-वृद्धि किसान की पुकार नहीं है। यह तो उस सफ़ेदपोश की पुकार है, जो कदाचित् उतना काला नहीं है, और जिस के मन से सोप, क्रीम, इत्र की वासना बहिष्कृत नहीं हुई है। हमारे गरीबों को इस प्रकार के लेखकों से बहुत बचने की आवश्यकता है जो उन को गरीब कह कर दयाभाव प्रदर्शित करते से नज़र आते हैं। हमें तो ऐसे गायक चाहिए जो कि अपने को उन से अभिन्न कर दें। फिर भी कवि में एक विनम्रता है जो कि शुभ-सूचक है, एक निष्ठा है जो कि अनुभव बढ़ने के साथ उस की लेखनी को बल देगी, और उस के इस निश्चय को पुष्टि प्रदान करेगी—जो उस ने पहले गीत के अंत में दिया है—

साधारण जीवन के सुख-दुख गाऊँगा आडंबर त्याग,
संपत्ति-विद्या-हीन जनों का करुणामय रोटी का राग !

पुस्तक में ऐसे भी गीत हैं जो छायावादी तथा इतर कवियों की कृतियों से अभिन्न हैं। इन में हमें 'रोटी के राग' की ध्वनि नहीं मिलती। उदाहरण के लिए ३४ से ४० तक के गीत देखिए। इन से ज्ञात होता है कि कवि-हृदय मृदुल, भावुक, तरल है।

हार—लेखक, श्री पद्मकांत मालवीय। प्रकाशक, दि नेशलिस्ट न्यूज़पेपर्स कंपनी लिमिटेड, प्रयाग। पृष्ठ-संख्या ४८। मूल्य ॥१॥

श्री पद्मकांत मालवीय हिंदी के सुपरिचित और सफल कवि हैं। प्रस्तुत पुस्तक उन की छठी कृति है। इस में २५ छोटी-छोटी कविताएं एकत्र की गई हैं। 'मधुशाला', 'प्रियतम न आए', 'स्वागत', 'साक़ी से', 'प्रेम का श्राप' आदि शीर्षकों से उन का विषय जाना जा सकता है। कवि उर्दू कविता से बहुत प्रभावित है, और इस बात को वह स्वतंत्रता-पूर्वक स्वीकार करता है। अधिकांश कविताओं में एक कसक, एक वेदना और वियोग का

भाव है। कवि जीवन के दुःखों को विस्मृत करने के लिए साक्षी को निमंत्रित करता है। कदाचित् इसी कारण उस का वर्गीकरण आधुनिक 'हालावादी' हिंदी कवियों के साथ किया जाता है। पद्मकांत जी की भाषा, सहज, सरस और उर्दू पुट लिए हुए होती है। यत्र-तत्र कुछ त्रुटियां भी रह गई हैं। जैसे 'परिचय' शीर्षक कविता में 'गर्दिश में है अय्याम मेरा' पंक्ति शुद्ध नहीं है। 'अय्याम' का अर्थ टिप्पणी में भाग्य दिया हुआ है। परंतु शाब्दिक अर्थ दिन हुआ क्योंकि अय्याम योम (दिन) का बहुवचन है। शुद्ध पंक्ति होगी 'गर्दिश में है अय्याम मेरे।' 'जुदा के लिए 'जुदा', 'देकार' के लिए 'वेकार' आदि अवश्य छापे के गलतियां हैं। यों तो छापे की अशुद्धियों की संख्या इस छोटी पुस्तक में सैकड़ों पर पहुँचेंगी।

मीरा-पदावली—संपादिका, श्रीमती विष्णुकुमारी श्रीवास्तव 'मंजु'। प्रकाशक, हिंदी-भवन, लाहौर। पृष्ठ-संख्या ४२—१२०। मूल्य १)

प्रस्तुत संग्रह में सुयोग्य संपादिका ने मीराबाई के २०१ पद एकत्र किए हैं। पुस्तक विद्यार्थियों के काम की है। आरंभ में १६ पृष्ठों में संपादिका ने 'मीराबाई की जीवनी' दी है; और इस के बाद १० पृष्ठों में 'मीरा की कविता और उस की भाषा' पर विचार किया है। दोनों ही निबंध विचार और मनन के साथ लिखे गए हैं, और इन में मीरा-संबंधी सुलभ और यथा-संभव प्रामाणिक सामग्री का समावेश कर लिया गया है। यों तो इस पुस्तक से शास्त्रीय ढंग से शोध हुए मीरा के पदों के पाठ की आवश्यकता की पूर्ति नहीं होती; फिर भी जब तक वह किंचित् बृहद् कार्य विद्वानों द्वारा नहीं संपादित होता, तब तक प्रस्तुत पुस्तक मीरा के पदों के एक संग्रह-ग्रंथ का काम देगी। संग्रह के साथ जोड़ा गया डिगल शब्द-कोष, टिप्पणियां, तथा अंतर्कथाएं विद्यार्थियों के लिए सहायक सिद्ध होंगी।

रा० ट०

नाटक

अशोकवन—मूल-लेखक, श्री मुद्दु कृष्ण। अनुवादक, श्री व्रजनंदन शर्मा। प्रकाशक, हिंदी-ग्रंथ-रत्नाकर कार्यालय, बंबई। पृष्ठ-संख्या ८०। १९३७। मूल्य ॥—)

हमारे साहित्य की यह एक बड़ी कमी है कि उस ने दक्षिण-भारत के ग्रंथ-रत्नों को अनुवादों द्वारा अपनाने का कोई निश्चित प्रयत्न नहीं किया है। दक्षिण-भारत की

भिन्न भाषाओं के साहित्यों का इतिहास पुराना है, और वे भाषाएं समृद्ध भी हैं। अब जब कि उत्तरी और दक्षिणी भागों का साहित्यिक संपर्क बढ़ रहा है, यह कमी और भी खटकती है। अतएव दक्षिणी भाषाओं के जिन ग्रंथों के अनुवाद हिंदी में हों उन का विशेष रूप से स्वागत होना चाहिए।

प्रस्तुत पुस्तिका में तेलुगू के दो एकांकी नाटकों का अनुवाद हमारे सामने आया है। मूल-लेखक श्री मुद्दु कृष्ण तेलुगू के आधुनिक लेखकों में अपना विशेष स्थान रखते हैं। दोनों नाटकों में पहला अर्थात् 'अशोकवन' अधिक महत्व रखता है। लेखक ने इस बात का अनुभव किया है कि रामायण के मुख्य पात्रों के चरित्र, जैसे कि वह हमारे सामने साधारणतया रखे जाते हैं शास्त्रीय दृष्टि से यथार्थ नहीं हैं। राम के देवत्व में उस का विश्वास नहीं है। उस के विचार में लेखकों ने सदा राम के साथ पक्षपात और रावण के प्रति विपक्षपात किया है। श्री मुद्दु कृष्ण ने अपने चरित्रों को देवत्व और राक्षसत्व के कक्ष से उतार कर मानुषी कक्ष पर रक्खा है और तर्क-पूर्ण ढंग से उन्हें प्रस्तुत किया है। लेखक में दो प्रकार की प्रतिक्रियाएं काम कर रही हैं—एक तो 'आर्यत्व' के विरुद्ध 'अनार्यत्व' (किसी बुरे आशय में नहीं) की; दूसरी परंपरागत विश्वास के विरुद्ध ऐतिहासिक समीक्षा की। संभव है कि यह दोनों प्रतिक्रियाएं लेखक को भवत-श्रेणी के पाठकों में 'उग्र' और 'निरंकुश' का नाम दिलाएं। फिर भी यह प्रतिक्रियाएं स्वाभाविक हैं, ऐसा स्वीकार ही करना पड़ेगा। लेखक ने विशेष कर रावण और सीता के चरित्रों का अपने अनुसंधान के अनुसार 'उद्धार' किया है। जिस दृष्टिकोण को लेखक ने ग्रहण किया है, वह सब अंशों में चाहे मान्य न हो विचारणीय अवश्य है। उस की पुष्टि के लिए लेखक ने अधिकांश वाल्मीकि के आधार पर एक विस्तृत 'कैफ़ियत' भी लिखी है, यद्यपि स्वयं वाल्मीकि पर 'आर्यत्व' के प्रति पक्षपात का लेखक ने आरोप किया है। यह 'कैफ़ियत' भी पठनीय है।

दूसरे नाटक 'अनारकली' में कोई विशेषता नहीं है। अकबर और सलीम के समय में सोफ़े और मेजों का वर्णन किंचित् खटकता है।

बुविधा—लेखक, श्री पृथ्वीनाथ शर्मा। प्रकाशक, हिंदी-भवन, लाहौर। पण्ड-संख्या ६८। १९३७। मूल्य ११)

तीन अंक के इस छोटे से नाटक में लाहौर के शिक्षित संभ्रांत समाज का चित्रण मिलेगा। नाटक की प्रमुख पात्री सुधा विलायत में शिक्षा-प्राप्त एक युवती है, जो एक नव-

युवक वैरिस्टर, केशव, से प्रेम करती है और अपने संपन्न माता-पिता की अनुमति से उस से विवाह करने जा रही है। सुधा को यह नहीं ज्ञात है कि केशव का विवाह हो चुका है और उस के एक पुत्र भी है, और केशव स्वयं वस्तुस्थिति पर परदा डालने का प्रयत्न करता है। एक दूसरा शिक्षित नवयुवक, विनय, जो किसी समय सुधा के आकर्षण का पात्र रहा था, और जो वास्तविक स्थिति से परिचित है अपनी प्रेमिका की रक्षा करता है, और विवाह नहीं घटित होने देता। सुधा स्वभावतः कृतज्ञ है, और अपने को विनय के प्रति समर्पण करने के लिए तैयार; परंतु विनय यह देखते हुए कि वही सुधा और केशव के विवाह-विच्छेद का कारण बना, और वह स्वयं संपन्न नहीं है, सुधा से विवाह के लोभ का संवरण करता है। विनय के चरित्र का चित्रण अच्छा हुआ है। रचना सावारण कोटि की है।

रा० ८०

निबंध

निबंध-निचय—लेखक, श्री जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी; संपादक श्री दुलारेलाल भार्गव; प्रकाशक, गंगा-ग्रंथागार, लखनऊ; पृष्ठ-संख्या, २४७। मूल्य १।।

प्रस्तुत पुस्तक में लेखक के आठ चुने हुए निबंधों और भाषणों का संग्रह है। श्री चतुर्वेदी जी हिंदी के हास्यरस के प्रसिद्ध लेखक हैं। इस में के अधिकांश निबंध हिंदी साहित्य-सम्मेलन के विविध अवसरों पर पढ़े जा चुके हैं। कुछ निबंध साहित्यिक दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं और उन में हिंदी के व्याकरण और ब्रजभाषा-कविता के सौंदर्य के संबंध में बहुत सी जानने योग्य बातें बड़े ही रोचक ढंग से लिखी गई हैं। इन में “अनुप्रास का अन्वेषण” शीर्षक लेख तो इतना रोचक और साथ ही उपादेय सिद्ध हो चुका है कि कई परीक्षाओं के पाठ्यक्रम में भी रखा गया है।

उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम भाग में ही जो कि आधुनिक हिंदी गद्य का उदयकाल था, हिंदी में वालकृष्ण भट्ट तथा प्रतापनारायण मिश्र आदि कुछ उच्च-कोटि के साहित्यिक निबंध-लेखक हो गए हैं। इन के बाद अनुवादों का युग आया और फिर मौलिक उपन्यासों और कहानी-लेखकों का, जो कि अब तक जारी है। पर उच्च कोटि के साहित्यिक निबंध का तो एक प्रकार से पूर्ण अभाव है। यह एक तथ्य है कि निबंध भी साहित्य का एक उतना ही महत्वपूर्ण अंग है जितना कि उपन्यास, कहानी या नाटक आदि। निबंध के लिए

प्रतिभा के साथ-साथ गंभीर अध्ययन और विशेष ज्ञान की भी आवश्यकता है। लेखक को अपने विषय का विशेषज्ञ होना पड़ता है और थोड़े में बहुत कहने की शक्ति होनी अनिवार्य होती है। कदाचित् इन्हीं कारणों से हम आधुनिक हिंदी में साहित्यिक निबंधों का अभाव देखते हैं। दुर्भाग्य से हिंदी में निबंधों का उचित आदर भी नहीं है। परंतु यह संतोष की बात है कि लब्ध-प्रतिष्ठ लेखकों की निबंधावलियां क्रमशः निकल रही हैं। पर अभी बहुत सी निकलने को बाक़ी हैं। प्रस्तुत पुस्तक का इस दृष्टि से आदर होना चाहिए।

रामकृष्ण परमहंस—प्रकाशक, स्वामी सत्यानंद, श्री रामकृष्ण मिशन, लक्सा, बनारस। पृष्ठ-संख्या ३२०। मूल्य ॥८॥

प्रस्तुत पुस्तक स्वामी रामकृष्ण की शताब्दी जयंती के अवसर पर आए हुए निबंधों और श्रद्धांजलियों का स्मारक-ग्रंथ है। स्वामी रामकृष्ण इस देश के अंतर्राष्ट्रीय ख्याति के महापुरुष हो गए हैं। इस संग्रह में आए हुए लेख अधिकतर अध्यात्म, धर्म-चर्चा तथा दर्शन से संबंध रखते हैं, और लब्ध-प्रतिष्ठ विद्वानों तथा विचारकों के लिखे हुए हैं। कुछ लेख केवल स्वामी रामकृष्ण की जीवनी तथा साधना से ही संबंध रखते हैं। पर सभी लेख सुपाठ्य और ज्ञानोत्तेजक हैं और पुस्तक धर्म-जिज्ञासुओं के विशेष काम की है।

ग० द्वि०

धूप-दीप—लेखक, श्री 'माधव'। प्रकाशक, गीताप्रेस, गोरखपुर। पृष्ठ-संख्या २१६। मूल्य ॥३॥

इस पुस्तक में लेखक के २१ स्फुट निबंध एकत्र किए गए हैं। 'संतों की प्रेमानुभूति', 'समर्पण की ज्वाला', 'प्रेमयोगिनी मीरा', 'कबीर का हृदय', 'जायसी की प्रेमानुभूति', 'मृत्यु क्या है?', 'एकांत शांति' आदि शीर्षकों से पुस्तक के अंतर्गत विषयों का अनुमान हो जायगा। लेखक की भाषा में प्रवाह है, और शैली में एक प्रकार का धार्मिक उन्माद है। इस प्रकार के निबंधों में किसी भी विषय की शास्त्रीय विवेचना की अपेक्षा नहीं करनी चाहिए। धार्मिक वृत्ति के पाठकों के लिए पुस्तक मनोरंजक सिद्ध होगी। आरंभ में श्री हनुमानप्रसाद पोद्दार की लिखी 'निवेदन' के रूप में एक संक्षिप्त प्रस्तावना है।

भाषाशास्त्र

पश्चिम इन्प्लेन्स अन् हिंदी (अंग्रेजी)—(फ़ारसी का असर हिंदी पर)।

लेखक, पंडित अंबिकाप्रसाद वाजपेयी। प्रकाशक, कलकत्ता यूनिवर्सिटी।

पंडित अंबिकाप्रसाद वाजपेयी ने एक फ़्रेड्रिस्त उन फ़ारसी, अरबी और तुर्की शब्दों की तैयार की है जो हिंदी में इस्तेमाल हुए हैं। इन ३००० शब्दों को जमा करते समय यह विचार पैदा हुआ कि इन शब्दों के हिंदी में आने के कारण खोजे जाएं। इस संबंध में हिंदी भाषा के इतिहास पर और फ़ारसी-हिंदी के मेल-जोल पर प्रकाश डालने के लिए यह निबंध लिखा गया। पुस्तक पहले हिंदी में लिखी गई थी, लेकिन इसे कलकत्ता यूनिवर्सिटी ने अंग्रेजी रूप में छपवाया है।

मुसलमानों के हिंदुस्तान में आने का वर्णन करने और संस्कृत और फ़ारसी भाषाओं के शब्दों की समानता दिखाने के बाद वाजपेयी जी हिंदी का प्राकृत भाषाओं से संबंध बताते हैं और फिर अपने वास्तविक विषय की ओर ध्यान देते हैं।

हिंदी में ग़ैर भाषाओं के शब्द किस तरह आए, इस सवाल का जवाब यह है कि मुसलमानों ने हिंदी में कविता लिखना आरंभ किया और अमीर खुसरो हिंदी के आदि कवि हुए। मुसलमान और हिंदू कवियों ने इन का अनुकरण किया और इस प्रकार एक मिश्रित भाषा का जन्म हुआ जिसे रेखता कहते हैं। वाजपेयी जी का विचार है कि रेखता ही नई हिंदी की माता है। रेखते के आगे चल कर दो रूप हो गए—एक उर्दू और दूसरा हिंदी कहलाया। इन में धीरे-धीरे भेद बढ़ा। हिंदी नागरी अक्षरों में लिखी जाती थी। और संस्कृत और प्राकृत से इस की पुष्टि होती थी। उर्दू ने अरबी अक्षरों का सहारा लिया और फ़ारसी-अरबी शब्दों से अपना कलेवर बढ़ाया। इस के अलावा उर्दू फ़ारसी साहित्य और इसलामी सभ्यता के अधीन हो गई। इन कारणों से दोनों भाषाएं एक-दूसरे से परे हो गई और अब इन का मिलना असंभव जान पड़ता है।

इतिहास यह बताता है कि हिंदी की उत्पत्ति हिंदू और मुसलमानों के योग से हुई और इस योग के कारण हिंदी में अनेक फ़ारसी-अरबी और तुर्की के शब्द धुल-मिल गए।

पुस्तक लिखने में विशेष कर शब्दों की फ़्रेड्रिस्त तैयार करने में वाजपेयी जी ने

जिस मेहनत से काम किया है वह सब तरह सराहने योग्य है। परंतु यह मानना पड़ेगा कि पुस्तक शास्त्रीय ढंग से नहीं रची गई है। शब्दों की फ्रेडिस्त के साथ-साथ जिन पुस्तकों से वह लिए गए हैं, उन का उल्लेख जरूरी था। हिंदी भाषा पर जो फ़ारसी का प्रभाव पड़ा उस का संपूर्ण विश्लेषण नहीं किया गया; बहुत सी भाषा-संबंधी, व्याकरण-संबंधी और अर्थ-संबंधी बातें रह गईं। हिंदी भाषा की उत्पत्ति पर जो निबंध लिखा गया है वह वैज्ञानिक दृष्टि से संतोष-जनक नहीं है। इस पुस्तक ने हिंदी जानने वालों का ध्यान एक आवश्यक विषय की ओर दिलाया है, जिस पर हिंदी भाषा-विज्ञान के विद्यार्थियों को विचार करना चाहिए।

ताराचंद

इतिहास

राजपूताने का इतिहास जिल्द ३, भाग १। डूंगरपुर राज्य का इतिहास—लेखक, महामहोपाध्याय रायबहादुर गौरीशंकर हीराचंद ओझा। मुद्रक, वैदिक ग्रंथालय, अजमेर।

पंडित गौरीशंकर हीराचंद ओझा का नाम हिंदुस्तान के इतिहासकारों और पुरातत्ववेत्ताओं की सब से ऊंची श्रेणी में है। आप की कृतियों में 'भारतीय प्राचीन लिपि-माला', 'भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास की सामग्री', 'सोलंकियों का इतिहास', 'मध्यकालीन भारतीय संस्कृति' इत्यादि पुस्तकें आप की विद्वत्ता और खोज की साक्षी हैं। परंतु आप का सब से गंभीर कार्य 'राजपूताने का इतिहास' है जो १९२४ से छपना आरंभ हुआ था। इस की दो जिल्दें छप चुकी हैं, और यह पुस्तक तीसरी जिल्द का पहला, भाग है। पहली और दूसरी जिल्दें कई खंडों में छपी हैं। पहली जिल्द के एक भाग में राजपूताने का गजेटियर है, जिस में भूगोल-संबंधी तथा अन्य आवश्यक बातों का वर्णन है, दूसरे में राजपूत-जाति की उत्पत्ति की जाँच की गई है और क्षत्रिय तथा राजपूत घरानों का इतिहास दिया है। इस के बाद उदयपुर राज्य का इतिहास आरंभ होता है, जो दो खंडों में समाप्त होता है।

तीसरी जिल्द से अन्य राज्यों के इतिहास का सूत्रपात होता है। इन में पहला डूंगरपुर राज्य है। इस भाग में ग्यारह अध्याय हैं और चार परिशिष्ट। पहले अध्याय में डूंगरपुर राज्य का—जिस का प्राचीन नाम वागड़ देश है—भूगोल-संबंधी वर्णन है। दूसरे में गुहिल-वंश के वागड़ देश पर अधिकार प्राप्त करने से पहले का इतिहास है। अगले

आठ. अध्यायों में गुहिल-वंश की विजय और वागड़ पर राजसत्ता स्थापित करने के समय से आज तक का वृत्तांत दिया है। ग्यारहवें अध्याय में राजवंश के संबंधियों और सरदारों का संक्षेप से हाल लिखा है।

गुहिल-वंश के राजा मेवाड़ में राज्य करते थे और चित्तौड़ इन की राजधानी थी। बारहवीं शताब्दी में चित्तौड़ के राजा क्षेमसिंह के बड़े लड़के सामंतसिंह ने वागड़ देश पर हमला किया और वहां के राजा को मार उस के इलाक़े पर अपना अधिकार जमाया। सामंतसिंह का राज्य बहुत दिनों नहीं कायम रहा परंतु उस के उत्तराधिकारियों ने दुबारा वागड़ पर अधिकार किया और बड़ीदा को राजधानी बनाया। संभवतः सन् १३५८ में रावल डूंगरसिंह ने डूंगरपुर नगर बसाया और इसे अपनी राजधानी नियत किया। डूंगरपुर का राज्य जिस समय स्थापित हुआ वह हिंदुस्तान के इतिहास में बड़ी हलचल का समय था। तुर्कों के हमलों से उत्तरी हिंदुस्तान पायमाल हो रहा था, और सोलंकियों और परमारों के विरोध से राजपूतों की शक्ति दिनोंदिन घटती जा रही थी। डूंगरपुर के छोटे राज्य का इन झगड़ों में उलझना अनिवार्य था, परंतु राज्य के हस्तक्षेप का प्रतिस्पर्धियों के भाग्य पर क्या प्रभाव पड़ा कहना कठिन है। जब गुजरात और मालवा राजपूतों के हाथ से निकल कर मुसलमान सुलतानों के क़ब्ज़े में आए और इन में तथा मेवाड़ के महारानाओं में आपस में युद्ध होने लगे तो बीच की छोटी रियासतों का इन युद्धों से प्रभावित होना ज़रूरी था। मुग़लों के हिंदुस्तान पर विजय पाने से इन युद्धों का अंत हुआ। डूंगरपुर का स्वामी महारावल उदयसिंह वावर के विरुद्ध राना सांगा की सहायता करता हुआ खानवा की लड़ाई में मारा गया। उस के बाद उस के लड़कों में झगड़ा हुआ और राज्य दो भागों में बँट गया। जब अकबर ने राजपूताने पर चढ़ाई की तो डूंगरपुर और वाँसवाड़े के रावलों ने मुग़लों की अधीनता स्वीकार कर ली। इस के बाद वह मुग़ल मन्सबदारों में शामिल हो गए। जब मुग़ल-साम्राज्य की अवनति और मराठों का उत्कर्ष हुआ तो डूंगरपुर के रावलों ने मराठों को खिराज दे कर अपने राज्य की रक्षा करनी चाही परंतु मराठों ने रियासत को बहुत तंग किया और अंत में सन् १८१८ में महारावल जसवंत सिंह दूसरे ने ईस्ट इंडिया कंपनी से अधीनता की संधि कर ली।

इस संक्षिप्त वर्णन में हिंदुस्तान के मध्यकालीन इतिहास की सभी बड़ी घटनाओं की झलक मिलती है। जहां राजपूतों की वीरता और साहस का दिग्दर्शन होता है, उन के

आपस के घेर और द्वेष की तस्वीरें भी सामने आती हैं। यद्यपि राजपूताने के इतिहास की इस जिल्द में एक छोटे घराने की उन्नति और अवनति का व्योरा है परंतु यह छोटे पैमाने पर हमारे बड़े देश के महान संघर्षों और विप्लवों को चित्रित करता है।

पंडित गीरीशंकर हीराचंद की कृतियों से जो जानकारी रखते हैं वह इस जिल्द में इतिहास के उन सब गुणों को पाएंगे जो पहली जिल्दों में दिखाई देते हैं। इतिहास की सामग्री के इकट्ठा करने में इस अवस्था में इतनी गहरी खोज और ऐसा कठिन परिश्रम विरले ही लेखक का काम है। हम आप को बधाई देते हैं कि आप ने ऐसी बहुमूल्य पुस्तक तैयार की और आशा करते हैं कि आप की लेखनी से अभी ऐसी और जिल्दें निकलेंगी जिन के कारण हिंदुस्तानी लेखकों का माया ऊँचा हो।

ताराचंद

अर्थशास्त्र

बीमा—लेखक, ठाकुर कल्याणसिंह जी शेखावत, बी० ए०, जागीरदार रियासत जयपुर और जोधपुर। प्रकाशक, प्रेमप्रकाश मुद्रणालय, जयपुर। पृष्ठ-संख्या ५०३। मूल्य साधारण संस्करण २।।; राज-संस्करण ४।

भारतवासी बहुत गरीब हैं। इन की आर्थिक दशा अत्यंत शोचनीय है। इन की आर्थिक दशा सुधारने के लिए यह आवश्यक है कि देशवासी उन तरीकों के अनुसार समझ-बूझ कर कार्य करें जो वैज्ञानिक और शास्त्रीय दृष्टि से लाभदायक सिद्ध हो चुके हैं। इन सब तरीकों का अध्ययन अर्थशास्त्र में किया जाता है। भारतवासियों ने इस शास्त्र की खूब अवहेलना की है। जिस शास्त्र का ज्ञान प्रत्येक पढ़े-लिखे स्त्री-पुरुष के लिए आवश्यक है, उस के जानने वालों की संख्या बहुत ही कम है। इस का एक कारण हिंदी में अर्थशास्त्र पर उत्तम पुस्तकों की कमी है। अर्थशास्त्र का एक प्रधान अंग बीमा है। इस विषय पर हिंदी में एक भी पुस्तक अभी तक मेरे देखने में नहीं आई थी। समालोच्य पुस्तक ही इस विषय की हिंदी में प्रथम पुस्तक है, और बड़े परिश्रम के साथ सरल भाषा में लिखी गई है। इस में जीवन-बीमा-संबंधी सभी आवश्यक बातों का विस्तार-पूर्वक वर्णन किया गया है। परंतु अग्नि-बीमा, समुद्र-बीमा, मोटर-बीमा इत्यादि पर साधारण तौर से ही विचार किया गया है। इस पुस्तक के मुख्य प्रकरण हैं—बीमा का इतिहास, बीमा के सिद्धांत और उन

का व्यवहार, जीवन-वीमा की श्रेणियां, वार्षिक वृत्तियां, वीमापत्रों की शर्तें, भारत में इस व्यवसाय की वर्तमान दशा इत्यादि। एक प्रकरण में विद्वान लेखक ने यह समझाया है कि अपने लिए वीमा कंपनी पसंद करने में किन-किन बातों का ध्यान रखना चाहिए।

यदि पुस्तक के अंत में पारिभाषिक शब्दों की सूची और इंडेक्स दे दिया जाता तो पुस्तक की उपयोगिता बढ़ जाती। इस उत्तम पुस्तक लिखने के लिए हम ठाकुर कल्याणसिंह जी को हार्दिक बधाई देते हैं और आशा करते हैं कि हिंदी-संसार इस का उचित आदर करेगा।

दयाशंकर दुवे

देशदर्शन

जापान-रहस्य—मूल-लेखक, श्री चमनलाल। अनुवादक, श्री मुकुंदीलाल श्रीवास्तव। प्रकाशक, काशी विद्यापीठ, बनारस। पृष्ठ-संख्या १६५-२३८। मूल्य १।।

हिंदी में जापान के संबंध में लिखी हुई कई पुस्तकें मिलेंगी। प्रस्तुत पुस्तक उन में सब से नवीन और सुपाठ्य है। मूल-पुस्तक अंग्रेजी में लिखी गई थी। लेखक ने निजी अनुभव और भ्रमण के आधार पर ही यह पुस्तक रची है। लेखक को अपने देश से असीम प्रेम है और उस ने पुस्तक इस ढंग से लिखी है कि पाठक इसे पढ़ कर उन सभी परिस्थितियों से राष्ट्रीय उन्नति के लिए प्रेरणा प्राप्त करें जिन्होंने जापान को आधुनिक इतिहास में इतना अग्रसर किया है। जापानी जीवन और संस्थाओं का लेखक ने सहानुभूतिपूर्ण अध्ययन किया है। वह लिखते हैं—“मैं जापान या जापानी चीजों का अंधभक्त नहीं हूँ, किंतु इस पुस्तक को लिखते समय मैंने सिर्फ यही लक्ष्य अपने सामने रक्खा है, कि जापान की उन सब प्रशंसनीय बातों का वर्णन किया जाय, जिन से हम अपने राष्ट्र के पुनर्निर्माण के कार्य में सहायता प्राप्त कर सकें।” लेखक के मत में जापान की उन्नति का रहस्य ‘केवल सस्ती मुद्रा तथा सरकार की आर्थिक सहायता’ में नहीं छिपा हुआ है, वरन् जापानियों की गहरी देशभक्ति, राष्ट्र की एक भाषा, अनिवार्य शिक्षा, सम्राट् के प्रति भक्ति, सम्मिलित कुटुंबप्रथा, ईमानदार और संतुष्ट मजदूर, आविष्कारक बुद्धि तथा अपने को स्थिति के अनुकूल बना लेने की क्षमता, सस्ती विद्युत्-शक्ति, गमनागमन के सस्ते साधन, संभ्रांत महिलासमाज, प्रत्येक घर में रेडियो का होना, सस्ते से सस्ते अखबार, साहस आदि पर है। इस पुस्तक में पाठक इन सभी विषयों पर प्रकाश पावेंगे।

योरूप की सुखद स्मृतियाँ—लेखक, स्वामी सत्यदेव, परिव्राजक। प्रकाशक, सत्यज्ञान-निकेतन, ज्वालापुर (यू० पी०)। पृष्ठ-संख्या ३४०। १९३७। मूल्य १॥

हिंदी में यात्रा-संबंधी साहित्य उपस्थित करने में जिन महानुभावों ने विशेष रूप से योग दिया है उन में स्वामी सत्यदेव का नाम आगे आता है। अमरीका और कैलाश-यात्रा विषयक आप की पुस्तकों से हिंदी पाठक भली-भाँति परिचित हैं। अपनी १९२३ की जर्मन-यात्रा पर भी आप एक पुस्तक प्रस्तुत कर चुके हैं। सन् १९२७ से १९३० तक के अपने यूरोप के अनुभव समालोच्य पुस्तक में लेखक ने दिए हैं। साथ ही १९३४ की योरूप-यात्रा की स्मृतियाँ भी इस पुस्तक में समाविष्ट कर दी गई हैं। स्वामी जी के ये भ्रमण-वृत्तांत अधिकांश हिंदी पत्रिकाओं में निकल चुके हैं।

स्वामी सत्यदेव की वर्णन-शैली बड़ी सजीव और रोचक होती है। पाठकों को इस पुस्तक द्वारा बर्लिन, विएना, पेरिस, कोलोन, प्राग आदि प्रसिद्ध नगरों की काल्पनिक सैर का आनंद तो प्राप्त होगा ही उन प्रदेशों के रहन-सहन, आचार-विचार, धार्मिक तथा नैतिक आदर्शों का ज्ञान भी प्राप्त होगा। स्वामी जी एक अहम्मन्य तथा देशभक्त सज्जन हैं, साथ ही उन्होंने ने सरस हृदय पाया है। इस का परिचय पाठकों को सहज में हो जायगा। पुस्तक में यत्र-तत्र स्वामी जी की अपनी रची हुई कविताएँ भी उद्धृत हैं। यद्यपि इन में कवित्व-गुण विशेष रूप से व्यक्त नहीं हैं, फिर भी हमें रचयिता के भावुक, देशप्रेमी हृदय की झलक मिल जाती है।

अन्वेषण की कहानियाँ—लेखक, श्री मदनलाल जैन, एम्० ए०, एल्० टी०। प्रकाशक, मैकमिलन एंड कंपनी, कलकत्ता। पृष्ठ-संख्या २००। १९३७। मूल्य १।

साहसी जीवन की कथाएँ प्रत्येक अवस्था के लोगों के लिए एक विशेष प्रेरणा रखती हैं। परंतु नवयुवकों की शिक्षा में उन का निश्चित और मूल्यवान् स्थान है। इस दृष्टि से श्री मदनलाल जैन की पुस्तक का स्वागत होना चाहिए। जिन साहसी पर्यटकों ने अपनी कठिन और बहुत अंशों में रोमांचकारी यात्राओं तथा अनुसंधान द्वारा आदि काल से आज तक हमारे भौगोलिक ज्ञान को विस्तार दिया है, उन की कहानियाँ मनोरंजक और शिक्षाप्रद दोनों ही हैं। पुस्तक में पाँचों महाद्वीपों और ध्रुवप्रदेशों की खोज के वृत्तांत का समावेश हुआ है। अंत की दो कहानियों में समुद्र के गर्भ की खोज और एवरेस्ट शिखर के आरोहण के वर्णन दिए गए हैं।

पुस्तक की भाषा सहज-सरल और विषय के सर्वथा उपयुक्त है। इस में कुछ आवश्यक चित्र और मानचित्र भी दे दिए गए हैं, जिन से पुस्तक का मूल्य बढ़ गया है।

रा० ८०

स्फुट

पत्रकारकला—लेखक, श्री विष्णुदत्त शुक्ल। प्रकाशक, सत्साहित्य प्रकाशन मंदिर, कलकत्ता। द्वितीय संस्करण, १९३७। पृष्ठ-संख्या ३००। मूल्य २।।

समाचारपत्र इस युग की महान शक्तियों में हैं। उन के संगठन, संचालन, तथा अन्य अंतरंग बातों के विषय में जानकारी साधारण पाठकों के लिए भी एक मूल्य रखती है। परंतु उन लोगों के लिए जो व्यवसाय-रूप में इस धंधे से संवद्ध हैं, यह जानकारी अनिवार्य हो जाती है। हम चाहें तो अंग्रेजी में 'जर्नलिज्म' अथवा पत्रकारकला पर हमें आज सैकड़ों पुस्तकें मिल सकती हैं। शुक्ल जी की पुस्तक हिंदी में अपने ढंग की एक ही पुस्तक है। इस में हमें समाचारपत्रों के इतिहास, संगठन, रिपोर्टिंग, संवाददाता, समाचार समित्तियों, प्रूफ-रीडिंग आदि विषयों पर अनेक उपयोगी बातें एकत्र संकलित मिलेंगी। विषय को भारतीय पृष्ठभूमि में प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। समालोचना और भेंट, पारिश्रमिक और पत्रकारों की शिक्षा-व्यवस्था, संपादन और पत्रकार-परिषद् आदि आवश्यक विषयों पर उपयोगी परिच्छेद हैं। पुस्तक आद्यंत व्यावहारिक दृष्टि से लिखी गई है। हम लेखक को इस की रचना पर बधाई देते हैं।

रा० ८०

काव्यामृतविट्ठु—संपादक, पंडित ललितचंद्र रैणा; प्रकाशक, मोहन न्यूज एजेंसी, कोटा। पृष्ठ-संख्या ९६। मूल्य १।।

प्रस्तुत पुस्तक का विषय हिंदी अलंकार-शास्त्र है और यह इंटरमिडिएट तथा हाईस्कूल के विद्यार्थियों की आवश्यकताओं को दृष्टि में रख कर संपादित की गई है। जो अलंकार कोसं में हैं उन्हीं की परिभाषा सरल और सुवोच गद्य में विविध शैली-ग्रंथों के आधार पर दी गई है। उदाहरण विद्यार्थियों की सुविधा के लिए उन्हीं की पाठ्य-पुस्तकों से ही दिए गए हैं। पुस्तक शिक्षार्थियों के लिए उपयोगी है।

ग० द्वि

हिंदुस्तानी

हिंदुस्तानी एकेडेमी की तिमाही पत्रिका

१९३७

हिंदुस्तानी एकेडेमी

संयुक्तप्रांत, इलाहाबाद

संपादक—रामचंद्र टंडन

संपादक-मंडल

- १—डाक्टर ताराचंद, एम्० ए०, डी० फ़िल्० (ऑक्सन)
 - २—प्रोफ़ेसर अमरनाथ झा, एम्० ए०
 - ३—डाक्टर वेनीप्रसाद, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, डी० एस्-सी० (लंदन)
 - ४—डाक्टर रामप्रसाद त्रिपाठी, एम्० ए०, डी० एस्-सी० (लंदन)
 - ५—डाक्टर घोरेंद्र वर्मा, एम्० ए०, डी० लिट्० (पेरिस)
 - ६—श्रीयुत रामचंद्र टंडन, एम्० ए०, एल्-एल्० बी०
-

लेख-सूची

- (१) मयुरा-कला में ब्राह्मणधर्म-संबंधी देवताओं की मूर्तियाँ (सचित्र) —
लेखक, श्रीयुत वासुदेवशरण अग्रवाल, एम्० ए० .. १
- (२) वैष्णवधर्म वा संप्रदाय का क्रमिक विकास—लेखक, श्रीयुत परशुराम
चतुर्वेदी, एम्० ए०, एल्-एल्० बी० .. ३३
- (३) सत्यवती-कथा—ईश्वरदास कृत (स्वर्गीय रायबहादुर लाला सीता-
राम के संग्रह से) ८३
- (४) हिंदी भारत की राष्ट्रभाषा है—लेखक, रावराजा रायबहादुर पंडित
श्यामबिहारी मिश्र और रायबहादुर पंडित शुक्देव बिहारी मिश्र १०१
- (५) स्वर्गीय लाला सीताराम १०७
- (६) इलाहाबाद के सिक्के—लेखक, रायबहादुर बाबू प्रयाग दयाल .. १०९
- (७) सूरदास से पूर्व हिंदी—लेखक, मिश्रबंधु रावराजा रायबहादुर पंडित
श्यामबिहारी मिश्र और रायबहादुर पंडित शुक्देव बिहारी मिश्र .. ११५
- (८) संयुक्त प्रांत में हिंदू पुरुषों के नाम—लेखक, श्रीयुत डाक्टर वीरेंद्र
वर्मा, एम्० ए०, डी० लिट्० (पेरिस) १२७
- (९) महाराष्ट्र संत तुकाराम और उन की हिंदी कविता—लेखक, श्रीयुत
भोलानाथ शर्मा, एम्० ए० १३५
- (१०) राजस्थान के लोकगीत—लेखक, श्रीयुत सूर्यकरण पारीक, एम्० ए० १५९
- (११) भारतीय साहित्य के सौ वर्ष—लेखक, प्रोफ़ेसर अमरनाथ झा,
एम्० ए० २१९
- (१२) हिंदुस्तानी एकेडेमी का पंचम वार्षिक साहित्य-सम्मेलन, लखनऊ २२५
- (१३) रंगमंच—लेखक, श्रीयुत जयशंकर 'प्रसाद' २४७
- (१४) अवधी की कुछ प्रवृत्तियाँ—लेखक, श्रीयुत रामाज्ञा द्विवेदी, एम्० ए० २६१
- (१५) हिंदी के कुछ भूले हुए शब्द—लेखक, प्रोफ़ेसर अमरनाथ झा,
एम्० ए० २६७

- (१६) हिंदुस्तानी के संबंध में कुछ गलतफहमियाँ—लेखक, डाक्टर ताराचंद, एम्० ए०, डी० फिल्० (आक्सन) २७९
- (१७) भारतीय चित्रकला के सौ वर्ष (१८३७-१९३७)—लेखक, श्रीयुत रामचंद्र टंडन, एम्० ए०, एल्-एल्० बी० २९९
- (१८) काश्मीरी ग्रामगीत—लेखक, श्रीयुत रामनरेश त्रिपाठी ३१३
- (१९) स्फुट प्रसंग—लेखक, महामहोपाध्याय पंडित लक्ष्मीधर शास्त्री, एम्० ए०, एम्० ओ० एल्०; रायवहादुर पंडित ब्रजमोहन व्यास; श्रीयुत माताप्रसाद गुप्त, एम्० ए०, एल्-एल्० बी० ३३३
- (२०) सिंधु-सभ्यता और उस का विश्वव्यापी प्रभाव—लेखक, श्रीयुत अमृत वसंत ३५७
- (२१) अध्यापक सर सर्वपल्ली राधाकृष्णन्—लेखक, श्रीयुत भोलानाथ शर्मा, एम्० ए० ३७७
- (२२) भारतीय-मुस्लिम वास्तुकला के आदर्श—लेखक, डाक्टर बनारसी-प्रसाद सक्सेना, एम्० ए०, पी-एच्० डी० (लंदन) ४०५
- (२३) प्राचीन वैष्णव-संप्रदाय—लेखक, डाक्टर उमेश मिश्र, एम्० ए०, डी० लिट्० (इलाहाबाद) ४१५
- (२४) जमाल के दोहे—लेखक, श्रीयुत नरोत्तमदास स्वामी, एम्० ए० ४३७
- समालोचना ३४९, ४५१

हिंदुस्तानी एकेडेमी द्वारा प्रकाशित ग्रंथ

(१) मध्यकालीन भारत की सामाजिक अवस्था—लेखक, मिस्टर अब्दुल्लाह यूसुफ अली, एम्० ए०, एल्-एल्० एम्० । मूल्य १।)

(२) मध्यकालीन भारतीय संस्कृति—लेखक, रायबहादुर महामहोपाध्याय पंडित गौरीशंकर हीराचंद ओझा । सचित्र । मूल्य ३।)

(३) कवि-रहस्य—लेखक, महामहोपाध्याय डाक्टर गंगानाथ झा । मूल्य १।)

(४) अरब और भारत के संबंध—लेखक, मौलाना सैयद मुल्लमान साहब नदवी । अनुवादक, बाबू रामचंद्र वर्मा । मूल्य ४।)

(५) हिंदुस्तान की पुरानी सभ्यता—लेखक, डाक्टर बेनीप्रसाद, एम्० ए०, पी०-एच्० डी०, डी० एस्-सी० (लंदन) । मूल्य ६।)

(६) जंतु-जगत—लेखक, बाबू ब्रजेश बहादुर, बी० ए०, एल्-एल्० बी० । सचित्र । मूल्य ६।।)

(७) गोस्वामी तुलसीदास—लेखक, रायबहादुर बाबू श्यामसुंदरदास और डाक्टर पीतांबरदत्त बड़वाल । सचित्र । मूल्य ३।)

(८) सतसई-सप्तक—संप्रहर्ता, रायबहादुर बाबू श्यामसुंदरदास । मूल्य ६।)

(९) चर्म वनाने के सिद्धांत—लेखक, बाबू देवीदत्त अरोरा, बी० एस्-सी० । मूल्य ३।)

(१०) हिंदी सर्वे कमेटी की रिपोर्ट—संपादक, रायबहादुर लाला सीताराम, बी० ए० । मूल्य १।)

(११) सौर-परिवार—लेखक, डाक्टर गोरखप्रसाद, डी० एस्-सी०, एफ० आर० ए० एस्० । सचित्र । मूल्य १२।)

(१२) अयोध्या का इतिहास—लेखक, रायबहादुर लाला सीताराम, बी० ए० । सचित्र । मूल्य ३।)

(१३) घाघ और भट्टरी—संपादक, पंडित रामनरेश त्रिपाठी । मूल्य ३।)

(१४) वेलि क्रिसन रुकमणी री—संपादक, ठाकुर रामसिंह, एम्० ए० और श्री सूर्यकरण पारीक, एम्० ए० । मूल्य ६।)

(१५) चंद्रगुप्त विक्रमादित्य—लेखक, श्रीयुत गंगाप्रसाद मेहता, एम्० ए० । सचित्र । मूल्य ३।)

(१६) भोजराज—लेखक, श्रीयुत विश्वेश्वरनाथ रेड । मूल्य कपड़े की जिल्द ३।।; सादी जिल्द ३।)

(१७) हिंदी, उर्दू या हिंदुस्तानी—लेखक, श्रीयुत पंडित पद्मसिंह शर्मा ।
मूल्य कपड़े की जिल्द १।१; सादी जिल्द १।

(१८) नातन—लेसिंग के जरमन नाटक का अनुवाद । अनुवादक—मिर्जा
अबुलफ़ज़ल । मूल्य १।१

(१९) हिंदी भाषा का इतिहास—लेखक, डाक्टर धीरेन्द्र वर्मा, एम्० ए०,
डी० लिट्० (पेरिस) । मूल्य कपड़े की जिल्द ४।१; सादी जिल्द ३।१।

(२०) औद्योगिक तथा व्यापारिक भूगोल—लेखक, श्रीयुत शंकरसहाय
सक्सेना । मूल्य कपड़े की जिल्द ५।१; सादी जिल्द ५।

(२१) ग्रामीय अर्थशास्त्र—लेखक, श्रीयुत ब्रजगोपाल भटनागर, एम्० ए० ।
मूल्य ४।१ कपड़े की जिल्द; ४। सादी जिल्द ।

(२२) भारतीय इतिहास की रूपरेखा (२ भाग)—लेखक, श्रीयुत जय-
चंद्र विद्यालंकार । मूल्य प्रत्येक भाग का कपड़े की जिल्द ५।१; सादी जिल्द ५।

(२३) भारतीय चित्रकला—लेखक, श्रीयुत एन्० सी० मेहता, आई० सी०
एस्० । सचित्र । मूल्य सादी जिल्द ६।१; कपड़े की जिल्द ६।१।

(२४) प्रेम-दीपिका—महात्मा अक्षर अनन्यकृत । संपादक, रायबहादुर लाला
सीताराम, बी० ए० । मूल्य १।१

(२५) संत तुकाराम—लेखक, डाक्टर हरिरामचंद्र दिवेकर, एम्० ए०, डी०
लिट्० (पेरिस), साहित्याचार्य । मूल्य कपड़े की जिल्द २।१; सादी जिल्द १।१।

(२६) विद्यापति ठाकुर—लेखक, डाक्टर उमेश मिश्र, एम्० ए०, डी०
लिट्० । मूल्य १।१

(२७) राजस्व—लेखक, श्री भगवानदास केला । मूल्य १।१

(२८) मिना—लेसिंग के जरमन नाटक का अनुवाद । अनुवादक, डाक्टर
मंगलदेव शास्त्री, एम्० ए०, डी० फ़िल्० । मूल्य १।१

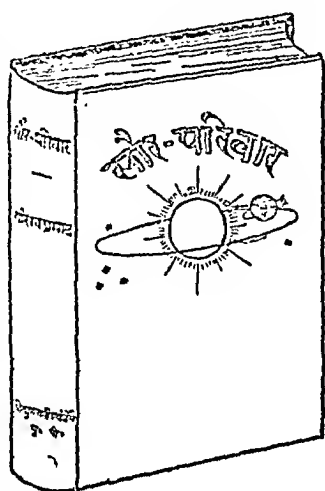
(२९) प्रयाग-प्रदीप—लेखक, श्री शालिग्राम श्रीवास्तव । मूल्य कपड़े की
जिल्द ४।१; सादी जिल्द ३।१।

(३०) भारतेंदु हरिश्चंद्र—लेखक, श्रीयुत ब्रजरत्नदास, बी० ए०, एल्-एल्०
बी० । मूल्य ५।१

(३१) हिंदी कवि और काव्य—(भाग १) संपादक, श्रीयुत गणेशप्रसाद
दिवेदी, एम्० ए०, एल्-एल्० बी० । मूल्य सादी जिल्द ४।१; कपड़े की जिल्द ५।१

सौर-परिवार

[लेखक—डाक्टर गोरखप्रसाद, डी० एस्-सी०]



आधुनिक ज्योतिष पर अनोखी पुस्तक

११६ पृष्ठ, ५८१ चित्र
(जिन में ११ रंगीन हैं)

इस पुस्तक को काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा से रेडिचे पदक तथा २००) का छत्रलाल पारितोषिक मिला है।

“इस ग्रंथ को अपने सामने देख कर हमें जितनी प्रसन्नता हुई उसे हमीं जानते हैं।

* * जटिलता आने ही नहीं दी, पर इस के साथ साथ महत्त्वपूर्ण अंगों को छोड़ा भी नहीं। * * पुस्तक बहुत ही सरल है। विषय

को रोचक बनाने में डाक्टर गोरखप्रसाद जी कितने सिद्धहस्त हैं, इस को वे लोग तो खूब ही जानते हैं जिन से आप का परिचय है।

* * पुस्तक इतनी अच्छी है कि आरंभ कर देने पर दिना समाप्त किए हुए छोड़ना कठिन है।”—सुधा।

“The explanations are lucid, but never, so far as I have seen, lacking in precision. * * I congratulate you on this excellent work.”

श्री० टी० पी० भास्करन, डाइरेक्टर, निजामिया वेधशाला

मूल्य १२)

प्रकाशक—हिंदुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद

हिंदुस्तानी एकेडेमी के उद्देश

हिंदुस्तानी एकेडेमी का उद्देश हिंदी और उर्दू साहित्य की रक्षा, वृद्धि तथा उन्नति करना है। इस उद्देश की सिद्धि के लिए वह

- (क) भिन्न भिन्न विषयों की उच्च कोटि की पुस्तकों पर पुरस्कार देगी।
- (ख) पारिश्रमिक दे कर या अन्यथा दूसरी भाषाओं के ग्रंथों के अनुवाद प्रकाशित करेगी।
- (ग) विश्व-विद्यालयों या अन्य साहित्यिक संस्थाओं को रुपए की सहायता दे कर मौलिक साहित्य या अनुवादों को प्रकाशित करने के लिए उत्साहित करेगी।
- (घ) प्रसिद्ध लेखकों और विद्वानों को एकेडेमी का फ़ेलो चुनेगी।
- (ङ) एकेडेमी के उपकारकों को सम्मानित फ़ेलो चुनेगी।
- (च) एक पुस्तकालय की स्थापना और उस का संचालन करेगी।
- (छ) प्रतिष्ठित विद्वानों के व्याख्यानों का प्रबंध करेगी।
- (ज) ऊपर कहे हुए उद्देश की सिद्धि के लिए और जो जो उपाय आवश्यक होंगे उन्हें व्यवहार में लाएगी।